आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन द्वारा पीएच. डी.
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध



लेखक :

डॉ. उत्तमचन्द जैन

एम. ए., बी. एड., पीएच. डी.

प्रस्तावना :

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न, एम. ए., पीएच. डी.

प्रकाशक :

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

ए-४, बापूनगर, जयपुर - ३०२०१५

प्रथम संस्करण : २२००
दि० १ जनवरी १९८८ ई०
(आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्राब्दि समारोह वर्ष)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य :
सामान्य संस्करण : बीस रुपये
पुस्तकालय संस्करण : चालीस रुपये

मुद्रक :
कपूर आर्ट प्रिन्टर्स
मनिहारों का रास्ता
जयपुर (राज.)

प्रकाशकीय (iii)
प्रस्तावना (v)
लेखकीय (xii)
पृष्ठभूमि (xvii)
संकेत सूची (xxv)
विषय सूची (xix)

प्रकाशकीय

आचार्य कुन्दकुन्द के द्विसहस्राब्दी समारोह के अवसर पर उनके अनन्य टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र पर विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन से 'पीएच. डी.' उपाधि के लिए स्वीकृत डॉ. उत्तमचन्द जी जैन द्वारा लिखित शोधप्रबन्ध "आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व" प्रकाशित करते हुए हमें अत्यधिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

डॉ. उत्तमचन्दजी ने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व सम्बन्धी गूढ़ तथ्यों को उजागर किया है। डॉ. उत्तमचन्दजी संस्कृत में एम. ए. हैं, अतः आपका संस्कृत भाषा पर प्रभुत्व होने से आपने अनेक ग्रन्थों का गम्भीरता एवं सूक्ष्मता से अध्ययन किया है। लगभग १८ वर्ष पूर्व आपको पूज्य श्री कानजी स्वामी का समागम प्राप्त हुआ, जिससे आपकी अध्यात्म की ओर रुचि और भी बढ़ गई। उसके पश्चात् आपने अनेक न्यायशास्त्रों एवं सिद्धान्तशास्त्रों का अध्ययन अध्यात्म की दृष्टि से किया है। इसी के फलस्वरूप आपने शोध-खोज हेतु आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व विषय को ही चुना।

आपने अफ्रीका के केनिया देश के प्रमुख शहर नाइरोबी में भी दो वर्ष तक सपरिवार निवास किया है, जहां आपने दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल में धर्माध्यापन का कार्य किया है।

आप वर्तमान में राजकीय उच्चतर माध्यमिक विद्यालय सिवनी में व्याख्याता के पद पर कार्यरत हैं। आपकी विद्वतापूर्ण व्याख्यान शैली अत्यन्त लोकप्रिय एवं प्रभावशाली होने से सारा जैन समाज आपसे भली-भांति परिचित है। १९८४ ई में आपका पर्यूषण दादर (बम्बई) में हुआ। उक्त अवसर पर आपकी ही प्रेरणा से इस शोध-प्रबन्ध के प्रकाशन के लिए मुमुक्षु मण्डल, दादर के सदस्यों से आवश्यक धनराशि के वचन प्राप्त हुए। दादर मुमुक्षु मण्डल की भावना थी कि इस ग्रन्थ का प्रकाशन किसी ऐसी प्रतिष्ठित संस्था से हो, जो इस काम को सहज भाव से कर सके, तथा इस ग्रन्थ का समुचित प्रचार-प्रसार भी हो सके, साथ में इस राशि से भविष्य में इसीप्रकार के ग्रन्थों का प्रकाशन होता रहे।

अतः श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट से अनुरोध किया गया, पर उक्त ट्रस्ट का उद्देश्य आचार्यों एवं दिवंगत प्राचीन विद्वानों के साहित्य प्रकाशन तक सीमित होने से पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट से अनुरोध किया गया। हमारे द्वारा सहर्ष स्वीकार कर लेने पर उक्त ग्रन्थ

का प्रकाशन का भार तथा उक्त राशि समर्पित कर दी गयी। परिणामस्वरूप प्रस्तुत कृति आपके हाथों में है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोग देने वालों की नामावली ग्रन्थान्त में सधन्यवाद प्रकाशित की जा रही है।

शोध-प्रबन्धों के प्रकाशन की शृंखला में यह हमारा तृतीय प्रकाशन है। सबसे पहले हमने डॉ. भारिल्ल द्वारा लिखित एवं इन्दौर विश्वविद्यालय से पीएच. डी. की उपाधि के लिए स्वीकृत "पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व" नामक शोध-प्रबन्ध का प्रकाशन किया था। दूसरा – डॉ. शुद्धात्मप्रभा द्वारा लिखित एवं राजस्थान विश्वविद्यालय से पीएच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत "आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार" का प्रकाशन किया था और यह तीसरा प्रकाशन है। इनके अतिरिक्त हमने दो लघु शोध-प्रबन्ध भी प्रकाशित किये हैं। राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा एम. ए. की परीक्षा के नवम प्रश्न-पत्र के लिए स्वीकृत शुद्धात्मप्रभा द्वारा लिखित "आचार्य अमृतचन्द्र और उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" तथा अध्यात्मप्रभा द्वारा लिखित "कविवर बनारसीदास : व्यक्तित्व और कर्तृत्व"।

इसके शीघ्र प्रकाशन हेतु अनेक प्रयास करते रहने पर भी अनुमान से भी अधिक समय लग गया है। साथ ही प्रकाशन में जितनी शुद्धता एवं सुन्दरता आनी चाहिए थी, वह भी नहीं आ सकी। तदर्थ क्षमा प्रार्थी हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखन हेतु डॉ. उत्तमचन्दजी धन्यवाद के पात्र हैं। डॉ हुकमचन्दजी भारिल्ल ने इसकी सुन्दर एवं विस्तृत प्रस्तावना लिखी है; अतः उनके भी हम हार्दिक आभारी हैं। इसके प्रूफ-संशोधन में पण्डित अभयकुमारजी जैन दर्शनाचार्य एव प्रकाशन व्यवस्था में अखिल बंसल का सराहनीय सहयोग रहा है, अतः हम उक्त दोनों महानुभावों के भी आभारी हैं। मुद्रण व्यवस्था हेतु कपूर आर्ट प्रिन्टर्स वाले भी धन्यवाद के पात्र हैं।

परमोपकारी पूज्य श्री कानजी स्वामी के उपकार को तो क्षणमात्र भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। उन्हीं के सदुपदेश एवं सत्प्रेरणा से डॉ. हुकमचन्दजी एवं डॉ उत्तमचन्दजी जैसे उच्चकोटि के विद्वान उनके द्वारा प्रसारित वीतराग मार्ग के प्रचार एवं प्रसार में संलग्न हैं।

१ जनवरी, १९८८ ई०

नेमीचन्द पाटनी
महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

प्रस्तावना

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल
शास्त्री, न्यायतीर्थ, साहित्यरत्न
एम. ए., पीएच. डी.

अध्यात्मसरोवर में आकण्ठ-निमग्न आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी कृतियों में अध्यात्म की ऐसी मन्थर मन्दाकिनी प्रवाहित की है कि जिसके अमल शीतल जल में डुबकी लगाने वाले आत्मार्थीजन अद्भुत सुख-शांति का अनुभव करते हैं। विगत एक हजार वर्ष में न जाने कितने आत्मार्थियों ने इस पावन अध्यात्मगंगा में मज्जन कर शुभाशुभ भाव के संताप से मुक्ति प्राप्त कर अतीन्द्रिय आनन्द का रसपान किया है, कर रहे हैं और भविष्य में भी करेंगे।

"अयि कथमपि मृत्वा तत्व कौतूहली सन्,
अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ॥[1]

अरे भाई! किसी भी प्रकार मरकर भी तत्वों का कौतूहली होकर - निज भगवान आत्मा का रुचिवंत होकर -- इन शरीरादि मूर्त पदार्थों का पड़ोसी होकर कम से कम एक मुहूर्त (४८ मिनट - दो घड़ी) अपने आत्मा का अनुभव तो कर।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ॥[2]

अरे भव्यात्मा! अन्य व्यर्थ के कोलाहल करने से क्या लाभ है? तू जगत के इस अकार्य कोलाहल से विराम ले, इसमें समय खराब मत कर। एक छह महिना जगत से निवृत्त होकर एकमात्र निज भगवान आत्मा को देख।"

मृदु सम्बोधनों से युक्त ऐसी असंख्य प्रेरणायें आचार्य अमृतचन्द्र के साहित्य-गगन में पग-पग पर दृष्टिगोचर होती हैं, जो साधकों के हृदय को झकझोर देती हैं, उन्हें आत्मानुभव करने की, आत्मा में ही समा जाने की ओर प्रेरित करती रहती हैं। अन्तर को छू लेने वाले ये मृदुल सम्बोधन आत्मार्थियों की ऐसी सम्पत्ति हैं, जो उन्हें अन्तर की गहराई में उतरने की प्रेरणा तो देती ही है, साथ ही सन्मार्ग से भटकने भी नहीं देती।

---

१. समयसार कलश, २३
२. समयसार कलश, ३४

आचार्य अमृतचन्द्र ने जिन-अध्यात्म के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म को आत्मसात् कर, उन्हीं के ग्रन्थों पर लिखी गई टीकाओं के माध्यम से जिन-अध्यात्म को ऐसा मृदुल किन्तु सशक्त रूप प्रदान किया कि लोगों को कुन्दकुन्द के समयसार से भी अधिक महिमा आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार की आत्मख्याति टीका की आने लगी। इससे बड़ी सफलता आचार्य अमृतचन्द्र की और क्या हो सकती थी ?

इस सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी जैसे वरिष्ठ आत्मार्थी विद्वान का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है —

"वर्तमान काल में अध्यात्मतत्व तो आत्मख्याति – समयसार ग्रन्थ की अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीका – में है और आगम की चर्चा गोम्मटसार में है तथा और अन्य ग्रन्थों में है।

जो जानते हैं, वह लिखने में आवे नहीं, इसलिए तुम भी अध्यात्म तथा आगम ग्रन्थों का अभ्यास रखना और स्वरूपानन्द में मग्न रहना।[1]"

इसमें विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी सुदूरवर्ती मुलताननगर में रहने वाले साधर्मी भाइयों को अध्यात्म के अध्ययन के लिए आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका के अध्ययन की सलाह देते हैं। अध्यात्म की गहराई जानने के लिए एकमात्र आत्मख्याति की सलाह देने वाले टोडरमलजी के हृदय में आत्मख्याति और उसके कर्त्ता आचार्य अमृतचन्द्र की कितनी महिमा होगी ? इसकी कल्पना सरलता से की जा सकती है।

सचमुच ही स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र जिन-अध्यात्म के स्तम्भ हैं। जिन-अध्यात्म की परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द के बाद यदि किसी का निर्विवादरूप से नाम लिया जा सकता है तो वे हैं – स्वरूपगुप्त आचार्य अमृतचन्द्र, जिनका प्रत्येक पद अध्यात्म-अमृत से सरावोर है। "स्वरूप गुप्त" आचार्य अमृतचन्द्र की एक ऐसी उपाधि है, जिसे उन्होंने स्वयं ली है और जो उनके जीवन और भावना को अभिव्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है। आत्मख्याति के अन्तिम छन्द में उक्त उपाधि को अपने नाम के साथ जोड़ते हुए वे लिखते हैं –

"स्वशक्तिसंसूचित वस्तुतत्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥

---

१. रहस्यपूर्ण चिट्ठी, अन्तिम पृष्ठ

जिन्होंने अपनी शक्ति से वस्तुतत्व को भलीभांति कहा है, ऐसे शब्दों ने इस समयसार नामक ग्रन्थ की अथवा शुद्धात्मा की व्याख्या की है, स्वरूपगुप्त (अपने स्वभाव में ही लीन रहने वाले) अमृतचन्द्र आचार्य का (मेरा) इसमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है अर्थात् मैंने इसमें कुछ भी नहीं किया है।"

बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य अमृतचन्द्र न केवल सिद्धहस्त कवि ही हैं, अपितु सुप्रतिष्ठित सफल गद्यकार भी हैं। उनकी प्रतिभा का चमत्कार गद्य और पद्य - साहित्य की दोनों ही विधाओं में समान रूप से प्रस्फुटित हुआ है। अमृतचन्द्र की कृतियों का अध्ययन करते समय एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होती है कि जब वे किसी बात को सिद्ध करना चाहते हैं, समझाना चाहते हैं तो गद्य का सहारा लेते हैं और जब वे अन्तर से गद्‌गद् होकर अध्यात्ममार्ग में चलने की प्रेरणा देना चाहते हैं तो सहज ही उनके कण्ठ से, उनकी कलम से कविता प्रस्फुटित होने लगती है। तात्पर्य यह है कि उनके साहित्य में बुद्धि एवं हृदय - दोनों का ही सुन्दरतम् समन्वय है। न तो वे एकान्ततः भावुक ही हैं और न शुष्क तर्कबाज. उनके ग्रन्थों में भावना और तर्क का सुन्दरतम सरस समन्वय है। जब उनकी बुद्धि हृदय पर हावी रहती है, तब वे परिमार्जित गद्य लिखते हैं और जब हृदय बुद्धि पर हावी हो जाता है, तब वे शान्तरस से सराबोर प्रवाहमयी प्रांजल पद्य लिखने लगते हैं। - इस बात को आत्मख्याति में विशेषरूप से देखा जा सकता है। यही कारण है कि 'आत्मख्याति' चम्पू बन गई है। गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते - गद्य और पद्य जिसमें मिश्रित हो, उसे चम्पू कहते हैं।

भावों को उद्वेलित कर देने वाले प्रेरणास्पद प्रवाह के लिए जो अनुकूलता पद्य में पाई जाती है, वह गद्य में नहीं। इसीप्रकार वस्तुस्वरूप के सतर्क प्रतिपादन के लिए जो विशाल क्षेत्र गद्य प्रदान करता है, वह क्षमता पद्य में नहीं होती।

किसी विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए तर्क-वितर्क जरूरी है। तर्क-वितर्क की उछल-कूद वाली भाषा के भार को पद्य बर्दास्त नहीं कर सकता, गद्य में ही वह क्षमता है कि जो तर्क-वितर्क की भाषा में बुद्धिपक्ष को निर्बाध विचरण करने के लिए असीमित क्षेत्र प्रदान करता है। अक्षर, मात्रा, स्वर, ताल आदि असीम बन्धनों के बीच सीमित पद्यक्षेत्र में तर्क-वितर्क का ताण्डव सम्भव नहीं है।

आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचन्द्र ने जिन-अध्यात्म के दार्शनिक पक्ष के स्पष्टीकरण के लिए गद्य एवं आत्मार्थियों को आत्महित की पावन प्रेरणा देने के लिए पद्य का चुनाव किया। इसप्रकार आत्मख्याति टीका गद्य-पद्यमय चम्पूकाव्य बन गई है।

आचार्य अमृतचन्द्र की मौलिक कृतियां पद्य में हैं और टीका ग्रन्थ गद्य में, पर आत्मख्याति इसका अपवाद है; उसमें गद्य के साथ-साथ पद्य का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। अन्य टीकाग्रन्थों में पद्य पाये ही न जाते हों – यह बात नहीं है; पर आदि और अन्त में मंगलाचरण और प्रशस्तियों के रूप में ही पाये जाते हैं, टीकाओं के बीच में बहुत कम देखने को मिलते हैं; पर आत्मख्याति में तो २७८ छन्द हैं, जो टीका के बहुत बड़े भाग को घेर लेते हैं। यदि उन्हें टीका से पृथक् कर दे तो टीका चुसे हुए आम की भांति नीरस हो जावेगी; क्योंकि उक्त पद्यों ने टीका को जो सरसता प्रदान की है, वह अद्भुत है, अपूर्व है। यही कारण है कि आत्मख्याति के सभी पद्यों को अलग कर उन्हें पृथक् ग्रन्थ के रूप में तो अपनाया जाता रहा है, पर अकेले गद्य भाग को कभी पृथक् रूप से नहीं रखा गया है।

पाण्डे राजमलजी की कलश टीका, भट्टारक शुभचन्द्र की परमाध्यात्मतरंगिणी एवं पण्डित श्री जगन्मोहनलालजी शास्त्री का अध्यात्म अमृत कलश आदि टीकाएं इसके प्रबल प्रमाण हैं। उक्त तीनों टीकाग्रन्थ आत्मख्याति में समागत कलशों (छन्दों) की ही टीकाएं हैं। कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने आत्मख्याति के कलशों एवं पाण्डे राजमलजी की टीका को आधार बनाकर सुन्दरतम छन्दानुवाद प्रस्तुत किया है, जो समयसार नाटक नाम से प्रसिद्ध है, अत्यन्त लोकप्रिय है।

"गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति – गद्य कवियों की कसौटी है" – इस सूक्ति में प्रतिपादित तथ्य की कसौटी पर जब हम आचार्य अमृतचन्द्र के गद्य को कसते हैं, तो उनका गद्य सौटंच का खरा स्वर्ण सिद्ध होता है। अपने विषय के प्रतिपादन में पूर्णतः समर्थ, अत्यन्त सुगठित, प्रौढ़, प्रांजल उनके गद्य में एक ऐसा मनोरम प्रवाह पाया जाता है, जो पाठकों के हृदय को एकदम बांध लेता है। उनके गद्य को एकदम सरल तो नहीं कहा जा सकता है, पर उस पर कठिनता का आरोप लगाना भी असम्भव है, अपनी भाषागत कमजोरी का प्रदर्शन मात्र है।

"काव्येषु नाटकं रम्यं – काव्यों में नाटक स्वभावतः ही रम्य होते हैं"। इस सूक्ति पर उनके काव्य को कसना इसलिए सम्भव नहीं है, क्योंकि

उन्होंने कोई नाटक नहीं लिखा; पर उन्होंने आत्मख्याति को नाटकीयता का रूप अवश्य प्रदान किया है। एक अध्यात्मग्रन्थ की टीका में नाटकीय तत्त्वों का समावेश करके उन्होंने उसे एक ऐसी रोचकता प्रदान कर दी है, जो पाठकों को सहज ही आकर्षित करती है। यही कारण है कि कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने अपने पद्यानुवाद का नाम ही 'समयसार नाटक' रखा है।

आचार्य कुन्दकुन्द की जिन-अध्यात्म परम्परा को आगे बढ़ाने का परमश्रेय तो आपको है ही, आद्यस्तुतिकार आचार्य समन्तभद्र की स्तोत्र परंपरा को भी उसी रूप में पल्लवित करने का श्रेय भी आपको ही है; क्योंकि आपका 'लघुतत्त्वस्फोट' नामक स्तोत्र भी उसी शैली में लिखा गया है, जिस शैली में आचार्य समन्तभद्र के स्तोत्र पाये जाते हैं।

२५-२५ छन्दों के २५ अधिकारों में विभक्त, शार्दूलविक्रीड़ित एवं मन्दाक्रान्ता जैसे बड़े-बड़े तेरह प्रकार के ६२६ छन्दों में लिखा गया यह स्तोत्र अपने आकार-प्रकार में तो अद्वितीय है ही, भावपक्ष और कलापक्ष की सम्पूर्ण विशेषताओं से भी मण्डित है।

इसके प्रथम अधिकार में २४ तीर्थंकरों की स्तुति है। आगे के २४ अधिकारों में सामान्यरूप से जिनेन्द्रवन्दना के माध्यम से जिन-सिद्धान्तों का युक्तिपुरस्सर निरूपण है। भावानुरूप छन्दों एवं अलंकृत भाषा में निबद्ध यह स्त्रोत जिन-सिद्धान्त और जैन-न्याय का अनमोल खजाना है, जो आद्यन्त मूलतः पठनीय है।

आद्यस्तुतिकार आचार्यसमन्तभद्र के स्तोत्रों में न्यायशास्त्र भरा पड़ा पड़ा है। वस्तुतः बात तो यह है कि जैन-न्याय का उद्गम स्थल ही आचार्य समंतभद्र के स्तोत्र हैं, जिन्हें आधार बनाकर आगे चलकर आचार्य अकलंक और आचार्य विद्यानन्दी ने जैन-न्याय का अभेद्य गढ़ तैयार किया।

यद्यपि यह ध्रुव सत्य है कि अकलंक और विद्यानन्दी ने समन्तभद्र के देवागमस्तोत्र पर वृत्ति और भाष्य लिखे, पर समन्तभद्र की शैली में स्तोत्र लिखने वाले सर्वप्रमुख आचार्य अमृतचन्द्र ही हैं। अमृतचन्द्र को छोड़कर अन्य किसी में यह साहस देखने में नहीं आया कि समन्तभद्र जैसे स्तोत्रों की रचना करे।

यह बात भी नहीं है कि आचार्य अमृतचन्द्र अध्यात्म गंगा में ही डुबकियां लगाते रहे हों या न्याय-शास्त्र के बीहड़ों में ही भटकते रहे हों,

उनके स्तोत्रों में भक्ति का तरल प्रवाह भी है और उन्होंने पुरुषार्थसिद्धयुपाय जैसे सशक्त श्रावकाचार की भी रचना की है, जो आचार्य समन्तभद्र के रत्नकरण्ड श्रावकाचार से किसी भी प्रकार कम नहीं है, अपितु अनेक बातों में वह अपनी अलग पहचान भी रखता है। हिंसा-अहिंसा का जितना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन उनके पुरुषार्थसिद्धयुपाय में मिलता है, उतना सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। और भी अनेक ऐसे प्रमेयों का प्रतिपादन इसमें हुआ है, जो अन्य श्रावकाचारों में उपलब्ध नहीं होते।

इसीप्रकार आचार्य उमास्वामी की सिद्धान्त परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए उनके द्वारा रचित तत्वार्थसूत्र (मोक्षशास्त्र) की विषयवस्तु को आधार बनाकर आचार्य अमृतचन्द्र ने सरल सुबोध भाषा में तत्वार्थसार नामक ग्रन्थ की पद्यमय रचना की है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द की अध्यात्म परम्परा, आचार्य उमास्वामी की सिद्धान्त परम्परा एवं आचार्य समन्तभद्र की स्तोत्र परम्परा तथा श्रावकाचार निरूपण परम्परा को विकसित करने में अभूतपूर्व योगदान दिया है। उनके इस अमूल्य योगदान का मूल्यांकन करना शोध-समीक्षकों का एक ऐसा कर्त्तव्य है, जिसकी उपेक्षा की जाना उचित नहीं है।

ध्यान रहे आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी और समन्तभद्र प्रथम-द्वितीय शताब्दी के उन दिग्गज आचार्यों में हैं, जिन्होंने निबद्ध जिनागम परम्परा को महत्वपूर्ण आरम्भिक योगदान दिया है। वे आचार्य अपनी-अपनी परम्परा के आद्य प्रणेता हैं। इनके ग्रन्थ परवर्ती आचार्य परम्परा को आदर्श रहे हैं।

उक्त आचार्यों के ग्रन्थों के गहन अध्येता आत्मानुभवी आचार्य अमृतचन्द्र ने उनके ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयवस्तु को अपने ग्रन्थों के माध्यम से जिस जीवन्तता के साथ प्रस्तुत किया है, वह अपने आप में अद्भुत है, समादरणीय है, अनुकरणीय है।

आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का शोधपरक मूल्यांकन किए जाने की आवश्यकता निरन्तर अनुभव की जा रही थी, पर योग्य शोधार्थी के अभाव में यह कार्य सम्पन्न नहीं हो पा रहा था।

अध्यात्मरसिक होने से आचार्य अमृतचन्द्र मेरे अत्यन्त प्रिय आचार्य रहे हैं। उनकी कृतियों के अध्ययन – अध्यापन में मुझे अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है। जब भी कोई शोधार्थी मुझसे शोध के लिए विषय के सम्बन्ध में सलाह लेने आता तो मैं उसे यह विषय अवश्य सुझाता था, पर कोई इस विषय पर शोध – प्रबन्ध लिखने का साहस नहीं जुटा पाया। जब डॉ. उत्तमचन्दजी जैन ने भी मुझ से शोध के लिए विषय चुनने में सहयोग मांगा तो मैंने अपनी रुचि के अनुसार उन्हें भी यही विषय सुझाया।

मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है कि उन्होंने मेरी बात का वजन अनुभव करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र पर शोधकार्य करने का निश्चय किया। यदि यह विषय और कोई ले लेता तो निश्चित ही इस स्तर का कार्य होना सम्भव नहीं था। डॉ. उत्तमचन्दजी व्युत्पन्न विद्वान तो हैं ही, अध्यात्म–रसिक भी हैं। अतः उन्होंने पूरे मनोयोग से इस कार्य को सम्पन्न किया है और अपनी शोध – खोज को सुन्दरतम रूप में प्रस्तुत करने में वे पूर्णतः सफल हुए हैं।

उनकी भावना थी कि उनकी इस कृति की प्रस्तावना भी मैं ही लिखूं, क्योंकि मेरा यह प्रिय विषय भी है और मैंने ही उन्हें यह विषय सुझाया था। जितनी विस्तृत और सर्वांग प्रस्तावना मैं लिखना चाहता था, उतना समय मुझे नहीं मिल पा रहा था। अतः मैंने उनसे अनुरोध किया कि आप यह काम किसी अन्य योग्यतम विद्वान से करा लें, पर उनका आग्रह बना ही रहा। परिणामस्वरूप जो भी, जैसी भी प्रस्तावना मै लिख सका हूं, वह आपके समक्ष है।

वैसे तो सम्बन्धित सम्पूर्ण विषयवस्तु को उन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध में समेट ही लिया है, फिर भी उनके आग्रह – अनुरोध से मुझे भी आचार्य अमृतचन्द्र को अपने श्रद्धासुमन समर्पित करने का अवसर सहज ही मिल गया है – तदर्थ मैं उनका आभारी हूं।

आशा है विज्ञजन अथक श्रम से सम्पन्न इस स्तरीय शोधकार्य से अवश्य लाभ उठायेंगे।

२७ अक्टूबर १९८७ ई०

डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल

लेखकीय

आचार्य अमृतचन्द्र संस्कृत वाङ्मय के असाधारण साहित्यकार एवं अद्वितीय अध्यात्म रसिक हुए हैं। वास्तव में वे आचार्यश्रेष्ठ कुन्दकुन्द स्वामी के दिगम्बर दर्शन, तत्त्व तथा अध्यात्म परक प्राकृत सूत्रों अथवा गाथाओं के मर्मज्ञ व्याख्याता, मौलिक ग्रन्थ प्रणेता और अध्यात्म रस के रसिया के रूप में विश्रुत थे। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती कुन्दकुन्दादि आचार्यों की हजार वर्षीय दिगम्बर साहित्य, दर्शन व अध्यात्म की परम्परा के मर्म को अपने में आत्मसात् कर अपनी कृतियों व टीकाओं द्वारा ईस्वी दशवीं शती के बाद की हजार वर्ष तक की परम्परा को आलोकित तथा अनुप्राणित किया।

आचार्य कुन्दकुद ने जिस अध्यात्म एवं दर्शन का बीज बोया था, उसे अपने अनुपम व्यक्तित्व द्वारा पल्लवित, पुष्पित, फलित और विस्तृत करने का पूर्ण श्रेय आचार्य अमृतचन्द्र को ही है। ऐसे महान आचार्य एवं उनकी अनुपम कृतियों को जनसाधारण ही नहीं, अपितु विद्वज्जन भी विस्मृत कर बैठे थे। यदि आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का उदय न हुआ होता तो आचार्य कुन्दकुन्द की दो हजार वर्षीय दिगम्बर दर्शन की तत्त्वज्ञान व अध्यात्म की परम्परा बीसवीं सदी के अन्त तक लुप्त प्रायः हो गई होती। कानजी स्वामी के कारण अब आचार्य कुन्दकुन्द एवं आचार्य अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व न केवल आलोकित ही हुआ है, बल्कि विद्वज्जनों तथा सर्वसामान्य जनों के आकर्षण, अध्ययन और रसास्वादन का विषय बनने लगा है।

कानजी स्वामी सोनगढ़ (सौराष्ट्र) के द्वारा वर्तमान बीसवीं सदी में एक महान आध्यात्मिक क्रांति का शंखनाद किया गया। उनके द्वारा अध्यात्म युग का पुनर्निर्माण हुआ। उनके व्यापक प्रचार व प्रसार से एक ओर जैन अध्यात्म का प्रकाश देश तथा विदेशों में फैला तथा दूसरी ओर आचार्य कुन्दकुन्द तथा अमृतचन्द्र का प्रभाव सूर्य तथा चन्द्र की भांति प्रगट हुआ।

इस क्रांति की लहर में आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों की शृंखला प्रारम्भ हुई। सन् १९७४ में उक्त शृंखला की एक कड़ी के रूप में एक शिविर मलकापुर (बुलढाणा-महाराष्ट्र) में लगा। उस समय आदरणीय पं. डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल, शास्त्री जयपुर के सत्परामर्श एवं श्रद्धेय पं. श्रीमान् बाबूभाई चुन्नीलाल मेहता फतेपुर (साबरकाँठा-गुजरात) एवं आदरणीय ब्र. श्रीमान माणिकचन्द्र जी चँवरे, कारंजा (आकोला - महाराष्ट्र) की सत्प्रेरणा से जैनाचार्य अमृतचन्द्र पर शोध व खोज करने का विचार पक्का हुआ, परन्तु उसका विधिवत् प्रारम्भ नहीं हो सका। १९७८ में आदरणीय श्रीमान् प्रोफेसर जमनालाल जी जैन (इन्दौर) के सौहार्द, सद्भावना व सत्प्रयास से आदरणीय श्रीमान् डॉ. हरीन्द्रभूषण जी जैन, उपाचार्य - संस्कृत विभाग - विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन (म.प्र.) के सुयोग्य निर्देशन की स्वीकृति का सौभाग्य मिला। इधर शिक्षा विभाग से शोध करने की अनुमति तथा विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन में शोध कार्य हेतु मेरा पंजीकरण आदेश प्राप्त होने से मेरा उत्साह द्विगुणित हो गया।

तत्पश्चात् "आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व" शीर्षक के अन्तर्गत प्रस्तावना सहित आठ अध्यायों में निम्नानुसार शोध व खोज करके शोध प्रबन्ध लिखा।

सर्वप्रथम पृष्ठभूमि (प्राक्कथन) में दिगम्बराचार्य परम्परा में आचार्य अमृतचन्द्र का स्थान, महत्व तथा कृतियों पर शोध की आवश्यकता प्रदर्शित की।

प्रथम अध्याय में आचार्य अमृतचन्द्र की पूर्वकालीन धार्मिक, साहित्यिक तथा राजनैतिक परिस्थितियों का सप्रमाण विशद् आलोडन किया गया।

द्वितीय अध्याय में आचार्य अमृतचन्द्र का जीवन परिचय कराया गया। इसके अन्तर्गत अमृतचन्द्र का समय निर्धारण, अलौकिक-लौकिक जीवन परिचय, ठाकुरकुल, द्रविड़ संघ, पुन्नाट संघ तथा काष्ठा संघ से अमृतचन्द्र को सम्बद्ध मानने वाली भ्रांतियों का निराकरण करते हुए, उन्हें कुन्दकुन्द की नंदिसंघीय परम्परा का ही सिद्ध किया गया। आचार्य परम्परा में उनका स्थान भी दर्शाया गया।

तृतीय अध्याय में उनके व्यक्तित्व को नाटककार, गद्य-पद्य व चम्पू काव्यकार, व्याख्याकार तार्किक व नैयायिक, भाषाविद् व सिद्धान्तज्ञ, व्याकरणज्ञ तथा अध्यात्म रसिक के रूप में प्रकाशित किया गया। उनका

प्रभाव परवर्ती आचार्यों, भट्टारकों तथा विद्वानों पर सप्रमाण स्पष्ट किया गया।

चतुर्थ अध्याय में उनकी कृतियों का अनुशीलन निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत किया गया – परिचय, नामकरण, कर्तृत्व, प्रामाणिकता, आधार-स्रोत, विषयवस्तु, पाठानुसंधान, परम्परा, प्रणाली, वैशिष्ट्य, विभिन्न टीकायें, ताड़पत्रीय व हस्तलिखित पाण्डुलिपियां, प्रकाशन एवं संस्करण। कृतियों में - पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (मौलिक कृति), आत्मख्याति, तत्त्वप्रदीपिका तथा समयव्याख्या (संस्कृत गद्य टीकायें), तत्त्वार्थसार (पद्य टीका) तथा लघुतत्त्वस्फोट (नवीनतम उपलब्ध मौलिक स्तोत्रकाव्य) मुख्य हैं।

पंचम अध्याय में उनकी कृतियों का साहित्यिक मूल्यांकन भाषा, शैली, अलंकार, छंद, रस एवं गुण के आधार पर किया गया।

षष्ठम अध्याय में दार्शनिक विचारों का अध्ययन निश्चय-व्यवहार अनेकांत-स्याद्वाद, निमित्त-उपादान, कर्ता-कर्म आदि शीर्षकों द्वारा किया गया।

सप्तम अध्याय में आचार्य अमृतचन्द्र के धार्मिक विचारों को मुनि के योग्य आचरणों अर्थात् मुनि-आचार एवं ज्ञानी श्रावकों के योग्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं देशव्रत रूप आचरणों को श्रावकाचार के रूप में स्पष्ट किया गया।

अष्टम अध्याय में उपसंहार करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र के मौलिक वैशिष्ट्य, अध्यात्मवाद के लिए उनका योगदान तथा वर्तमान युग को उनकी देन-इन बिन्दुओं को आलोकित किया गया है।

अंत में संदर्भ ग्रंथों की सूची एवं शोधोपयोगी सामग्री प्राप्ति में सहयोगी ग्रंथालयों की सूची प्रस्तुत करके शोध प्रबन्ध समाप्त किया है।

इस शोध कार्य में गुरुवर्य डा. श्रीमान् हरीन्द्रभूषण जी जैन का निरंतर सम्पर्क एवं बहुमूल्य मार्गदर्शन प्राप्त हुआ है, अतः शोध प्रबन्ध का कार्य प्रगति एवं पूर्णता को प्राप्त हो सका। एतदर्थ मैं उनका चिरऋणी एवं अत्यंत आभारी हूँ। जैन सिद्धान्त मर्मज्ञ विद्वत्रत्न आदरणीय श्रीमान् पं. फूलचन्द जी शास्त्री वनारस की मेरे ऊपर महती कृपा रही। उन्होंने मुझे अपने घर रखकर लगभग आठ दिन तक कई घण्टे मनोयोग पूर्वक शोध प्रबन्ध की प्रगति में अमूल्य योगदान दिया। उनकी प्रकाण्ड विद्वत्ता तथा

परामर्श का पूरा-पूरा प्रयोग इस शोध प्रबन्ध में हुआ है। मैं उनके प्रति कृतज्ञ एवं श्रद्धावनत हूँ।

शोध कार्य से सम्बन्धित मूल्यवान् परामर्शदाताओं में आदरणीय पं. वंशीधर जी शास्त्री तथा श्रीमान् डॉ कस्तूरचन्द जी कासलीवाल जयपुर का भी आभारी हूँ। परमादरणीय श्रीमान ब्र. माणिकचन्द जी चँवरे कारंजा (अकोला) ने शोधोपयोगी सामग्री - ग्रंथादि जुटाने तथा निरंतर प्रेरणा प्रदान करने में कोई कसर नहीं की। तदर्थ मैं उनका अत्यधिक ऋणी एवं आभारी हूं। प्रेरणादायकों में अग्रणी श्रीमान् प्रो जमनालाल जी जैन इन्दौर हैं, जिनका अग्रजतुल्य सक्रिय योगदान इस कार्य का मूल प्रेरणास्रोत रहा है। उनके प्रति मैं अति कृतज्ञ हूं। अन्य शुभाकांक्षियों एवं सहयोगियों में सर्वश्री डॉ दरबारीलाल जी कोठिया बनारस, पं. प्रकाशचन्द जी हितैषी दिल्ली, पं. माणिकचन्द जी भिसीकर, बाहुबलि कुम्भोज, ब्र. यशपाल जी एलोरा, पं शांति कुमार जी ठवली देवलगांवराजा, पं देवेन्द्र जैन, नीमच, पं. ज्ञानचन्द जी जैन जबलपुर, ब्र. हेमचन्द्र जी जैन भोपाल, मास्टर मनोहर लाल जी अजमेर, श्री भगतराम जी दिल्ली, श्री विमलचंद शाह सोलापुर, श्री फूलचन्द जी विमलचन्द जी झांझरी उज्जैन, श्री विमलचन्द डोसी इन्दौर, श्री मांगीलाल जी पहाड़िया इन्दौर, प्रोफेसर पद्मनाभ जैनी बर्कले विश्वद्यालय, यू. एस. ए. आदि प्रमुख हैं।

श्री कुन्दकुन्द कहान तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट - बम्बई ने मुझे भाण्डारकर प्राच्यविद्या शोध संस्थान पूना का आजीवन सदस्य बनाकर उक्त संस्था के विशालकाय ग्रंथालय का परिपूर्ण लाभ दिलाया। श्री महावीर ट्रस्ट मध्यप्रदेश, इन्दौर ने मुझे शोध छात्रवृत्ति स्वीकृत कर सर्व प्रकार से शोध कार्य में सहयोग प्रदान किया। श्रीमान् शिख चन्द जी सोनी तथा मुमुक्षु मण्डल अजमेर ने शोध कार्य के टंकण की व्यवस्था कराई, टंकणकर्ता भ्रातादय श्री पवन कुमार एवं श्री सुशील कुमार जैन ने मनोयोगपूर्वक लगातार शोध प्रबन्ध के टंकण में तत्परता दिखाई। उक्त सभी व्यक्तियों संस्थाओं एवं ट्रस्टीजनों के प्रति भी मैं आभारी हूं।

शोध प्रबन्ध की प्रस्तावना लिखने हेतु मैंने आदरणीय पं. डॉ. हुकमचन्द जी भारिल्ल, जयपुर से निवेदन किया, जिसे उन्होंने सहज भाव से स्वीकार कर, बहुमूल्य प्रस्तावना लिखकर मुझे अत्यन्त उपकृत किया, तदर्थ हम उनके ऋणी व आभारी हैं। अनुजवत् भाई श्रीमान् पं. अभयकुमार जी शास्त्री जयपुर ने शोध प्रबन्ध के प्रकाशन का यथा-संभव भार उठाया, तदर्थ वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दादर दि. जैन मुमुक्षु मण्डल बम्बई केउन सभी सदस्यों का जिन्होंने इस शोध प्रबन्ध के प्रकाशन में उदारता पूर्वक आर्थिक योगदान किया है तथा विशेषकर आदरणीय पं. नेमिचन्द जी शाह, श्रीमान् हिम्मतभाई शाह (मंत्री), श्री अनिल भाई कामदार, श्री जयन्तीभाई दोशी आदि सभी का बहुत-बहुत आभार मानता हूँ, जिनके सहयोग बिना शोध प्रबन्ध का प्रकाशित होना असंभव था। मैं साथ ही उन सभी व्यक्तियों व संस्थाओं को परोक्ष रूप में धन्यवाद देता हूँ, जिनके नामोल्लेख मैं नहीं कर सका हूँ।

अन्त में मैं अपनी यह कृति सुविज्ञ एवं तत्त्वरसिक पाठकों के सामने इस अभिप्राय से प्रस्तुत करता हूँ कि वे इस कृति से यदि किसी भी प्रकार से "आचार्य अमृतचन्द्र - व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व" से परिचित होकर आचार्य एवं उनकी कृत्तियों का अध्ययन कर आत्महित की भावना जागृत कर सकें तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूंगा।

नेहरू वार्ड, सिवनी (म. प्र.)
१ जनवरी १९८८

उत्तम चन्द जैन
(व्याख्याता)

पृष्ठ-भूमि

अखिल मानव जगत् निरन्तर दो विभागों में विभक्त रहा है, प्रथम आध्यात्मिक और द्वितीय भौतिक। चिरकाल से भारत आध्यात्मिकता के लिए और पाश्चात्य देश भौतिकता के लिए विश्रुत रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी भारतवासी आध्यात्मिक हैं। यहां भी शुद्ध भौतिकवादी, नास्तिक एवं अध्यात्म से अछूते या दूर रहने वाले व्यक्ति भी सदा होते रहे हैं और आज भी प्रचुरमात्रा में हैं। "खाओ, पियो, मौज करो" के सिद्धान्त को मानकर मात्र इंद्रिय-विषयों में मस्त रहने वाले तथा आत्मा, परमात्मा और अतीन्द्रिय-आत्मिक आनंद में अविश्वास करने वाले भौतिकवादी हैं। शुभाशुभ कर्मों के फल स्वर्ग-नरक आदि हैं एवं निष्कर्म आत्मानुभूति की अवस्था का फल मुक्ति है। आत्मा की सत्ता परलोक में भी रहती है अथवा आत्मा का एक पर्याय या शरीर छोड़कर दूसरी पर्याय या शरीर-प्राप्ति रूप पुर्नजन्म होता है, इत्यादि तथ्यों को न मानने वाले नास्तिक हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनी ने लिखा है "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः"। उक्त सूत्र की टीका में आस्तिक व नास्तिक के स्वरूप का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है:-"अस्ति परलोकः इत्येवं मतिर्यस्य सः आस्तिकः, नास्तीति मतिर्यस्य सः नास्तिकः[1] अर्थात् आत्मा का परलोक में अस्तित्व रहता है - ऐसी जिनकी मान्यता है, वे आस्तिक हैं तथा आत्मा का प लोक में अस्तित्व नहीं होता - ऐसी जिनकी मान्यता है वे नास्तिक हैं। उक्त आधार पर ही भारत को अध्यात्मवादी तथा पाश्चात्य देशों को भौतिकवादी माना जाता है।

समस्त भारतीय दर्शनों को श्रमण और श्रमणेतर, इन दो विभागों में समाहित किया जा सकता है। वाचस्पति गैरोला का भी अभिमत है

---

१. सिद्धान्त कौमुदी (बालमनोरमा टीका) ४/४/६० पृ० ८००

कि अनादिकाल से भारतीय विचारधारा दो रूपों में विभक्त रही है। उनमें एक है श्रमणधारा तथा दूसरी ब्राह्मण - ब्रह्मवादी अथवा श्रमणेतर धारा। श्रमणधारा प्रगतिशील तथा पुरुषार्थवादी है। इसमें आचरण को प्रधानता दी गई है। इसकी उद्भूति आसाम, बंगाल, बिहार, मध्यप्रदेश, राजस्थान, तथा पूर्वी उत्तरप्रदेश में है। इसके जन्मदाता जैन थे। ब्राह्मण धारा परम्परामूलक है। उसका स्वरूप वेदों में है। उसकी उद्भूति पंजाब, पश्चिमी उत्तरप्रदेश में है।[1] श्रमणधारा का मौलिक तथा विशुद्ध रूप दिगम्बर जैन धर्म है। ईस्वी प्रथम सदी के सुविख्यात दिगम्बराचार्य कुन्द-कुन्द ने तीर्थंकरों के लिए "समण"[2] अर्थात् "श्रमण" शब्द का प्रयोग किया है। उनके ही सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने "समण" पद की व्याख्या करते हुए लिखा है "श्रमणाहि महाश्रमणाः सर्वज्ञ-वीतरागाः।"[3] अर्थात् वास्तव में श्रमण का अर्थ महाश्रमण, सर्वज्ञ तथा वीतराग है। सामान्यतः "श्रमण" शब्द का व्यवहार दिगम्बर जैनदर्शन में निर्ग्रन्थ साधुओं के लिए होता है। ऐसे साधुओं के स्वरूप का संकेत भी आचार्य कुन्दकुन्द ने किया है। वे लिखते हैं कि जो शत्रु व बन्धु वर्ग, सुख-दुःख, प्रशंसा-निंदा, पत्थर और स्वर्ण में समभाव रखता है तथा जीवन-मरण में मध्यस्थ रहता है वह श्रमण है।[4] श्रमण पद का अन्यत्र यह भी अर्थोल्लेख है कि जो अपने विकारों को नष्ट करने के लिए श्रम कर रहा है वह श्रमण है। जैन धर्म और श्रमण धर्म पर्यायवाची है अथवा श्रमण जैन धर्म का प्रतीक है।[5] एक कोशकार ने श्रमण शब्द का अर्थ बौद्ध भिक्षु भी किया है।[6] बौद्धधर्म का श्रमणधारा में अंतर्भाव कुछ साम्यों के आधार पर किया जाने लगा है। इसी तरह सांख्यमत यद्यपि मूलतः श्रमणेतर धारा के अन्तर्गत आता है। तथापि उसे भी किन्हीं दृष्टियों से श्रमणधारा से साम्य देखकर श्रमणधारा के साथ परिगणित किया जाता है। इन तीनों दर्शनों में कुछ साम्यताएं इस प्रकार हैं-

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ८३-८४
२. पंचास्तिकाय (मूल) गाथा २ तथा १२५ आदि।
३. पंचास्तिकाय, समयव्याख्याटीका, गाथा २
४. प्रवचनसार, मूल गाथा २४१
५. जैनगीता पृ. १४, १५
६. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ० ११७५

१–तीनों दर्शन - वेद, ईश्वर, याज्ञिक क्रियाकाण्ड व जातिभेद को नहीं स्वीकारते हैं। २- बहुआत्मवाद तथा मोक्ष सम्बन्धी मान्यता तीनों में लगभग समान है। ३-परिणामवाद को भी तीनों मानते हैं। ४–तीनों अपने धर्मप्रवर्तकों को तीर्थंकर तथा क्षत्रियकुलोत्पन्न मानते हैं। ५–तीनों वैदिक देवी–देवताओं पर विश्वास नहीं करते, बल्कि वैदिक ऋचाओं पर कटाक्ष करते हैं। ६–तीनों तत्त्वज्ञान, सन्यास और तपश्चरण को प्रधानता देते हैं। वे ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थापेक्षा सन्यास धर्म को महत्त्व देते हैं।[1] इस तरह जैन, बौद्ध तथा सांख्य को श्रमणधारा में अंतर्हित किया जाता है।

श्रमणेतर विचारधारा में सभी वैदिक दर्शन तथा चार्वाक आदि मत गर्भित हैं। वैदिक दर्शन प्राकृतिक जगत् के प्रकट, अप्रकट तथा कल्पित उपादानों में भक्तिमूलक तथा सकाम उपास्य भावना को लेकर ही विकसित होता रहा है। पश्चात् उसमें श्रमण संस्कृति की अहिंसा व अध्यात्म के प्रभाव एवं प्रतिस्पर्धा के कारण वेदांत, उपनिषदादि के उद्भव से आध्यात्मिकता की चर्चा का समावेश हुआ है। उक्त धारा श्रमण संस्कृति के साथ प्रतिस्पर्धा के कारण प्रभावित एवं परिष्कृत होती रही है।[2] श्रमणधारा के आद्य संस्थापक तीर्थंकर ऋषदेव थे जो प्रथम तीर्थंकर थे। उक्त श्रमणधारा के अंतिम उन्नायक चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। महावीर के बाद बौद्ध, चार्वाक, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसक आदि मतों के संस्थापक आचार्य हुए। उनका काल महावीर के पश्चात् का उल्लिखित है।[3] प्रकृत में श्रमणधारा के मौलिक विशुद्धरूप दिगम्बर जैनदर्शन से सम्बद्ध "आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व" का अनुशीलन, शोध व खोज प्रस्तुत की जा रही है, अतः श्रमणधारा के इतिहास व दर्शन पर संक्षेप में दृष्टिपात करना समुचित है।

श्रमण संस्कृति का प्रारम्भ आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव से होता है। वे श्रमण संस्कृति अथवा जैनधर्म के आद्य–संस्थापक थे। यह

---

१. जैनेन्द्र सिद्धांत कोष भाग ४, पृ० ४००
२. आप्तपरीक्षा, प्राक्कथन पृ. १
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डा. बलदेव उपाध्य पृ० ६०० से ६७२ तक।

बात जैन तथा जैनेतर साहित्य, इतिहास एवं पुरातत्व के आधार पर भली-भांति प्रमाणित हो चुकी है। जैनधर्म के सम्बन्ध में प्रचलित अनेक भ्रांतियों का निराकरण अब हो चुका है तथा यह तथ्य भी अब निष्पक्ष विद्वानों द्वारा स्वीकार किया जाने लगा है कि जैनधर्म या श्रमण संस्कृति सनातन, स्वतंत्र, मौलिक तथा मूलतः अध्यात्मवादी दर्शन है । यह किसी दर्शन या संस्कृति की शाखा नहीं है। सिद्धांताचार्य पं कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं कि एक समय था जब जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा समझ लिया गया था, किन्तु अब वह भ्रांति दूर हो गई तथा नई खोजों के फल-स्वरूप यह प्रमाणित हो चुका है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से न केवल पृथक् और स्वतंत्र धर्म है किन्तु उससे बहुत प्राचीन भी है। अब अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर को जैनधर्म का संस्थापक नहीं माना जाता और उनसे अढ़ाई सौ वर्ष पहले होने वाले भगवान् पार्श्वनाथ को एक ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार कर लिया गया है।[1] इसके पश्चात् कुछ विश्वविख्यात मूर्धन्य विद्वानों ने पार्श्वनाथ को भी जैनधर्म का संस्थापक नहीं माना तथा प्रथम तीर्थंकर ऋषदेव को ही जैनधर्म या श्रमणधारा का मूलप्रणेता माना है। इनमें डा. हर्मन याकोबी, डॉ. राधाकृष्णन्, डॉ. फुहरर तथा विंसेन्ट स्मिथ के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ याकोबी का अभिमत है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा तीर्थंकर ऋषभदेव को जैनधर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक तथ्य की संभावना है ।[2] इसी संदर्भ में डॉ. राधाकृष्णन् के विचार तथ्य प्रकाशक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। वे लिखते हैं कि जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति होने का कथन करती है, जो बहुत शताब्दियों पूर्व हुए हैं । इस बात का प्रमाण उपलब्ध है कि

---

१. "There is nothing to prove that parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha, the first Tirthankara (as its founder). There may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara.

(INDIAN ANTIQUBRY VOL, IX, P. 163.)
जैन धर्म पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री पृ० १

२. वही, पृ० ९

ईस्वीपूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें संदेह नहीं हैकि जैन धर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। भागवत् पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।[१]

इस विषय में ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। इनमें शिलालेख मुख्य हैं। डॉ. फुहरर को मथुरा के कंकाली नामक टीले की खुदाई में जो जैनशिलालेख प्राप्त हुए, वे करीब दो हजार वर्ष प्राचीन हैं। उन पर इन्डोसिथियन राजा कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव का सम्वत् है। उसमें भगवान् ऋषभदेव की पूजा के लिए दान देने का उल्लेख है। इतिहासकार विसेन्ट ए. स्मिथ का कहना है कि मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परम्परा के सम्बन्ध में विस्तृत प्रकाश डालती है। वह जैन धर्म की प्राचीनत के विषय में अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह भी बतलाती है कि प्राचीन समय में भी वह अपने इसी रूप में मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ में भी अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थंकरों की मान्यता में दृढ़ विश्वास था।[२] इस तरह यह बात प्रमाणित होती है

---

१. "There is evidence to show that so far back as the first century B. C., there were people who worshipping Rishabhadeva, the first Tirthankara. There is no doubt that Jainism prevailed even before Vardhamana or parshvanath The Yajurveda mentions the names of theree Tirthankaras - Rishabha, Ajitnath and Aristanemi. The Bhagavata Puran endorses the view that Rishabha was the founder of Jainim.,'

(INDIAN PHILOSOPHY VOL/PAGE 287) जैन धर्म पृ. ३

२. "The discoveries have to a very large extent suppled corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontroverible proof of the antiquity of the Jain Religion and of its early existence very much in its present form. The series of twenty four pontiffs (Tirthankaras), each with his distinctive emblem, was evident firmly believed in at the beginning of the christan era.

(THE JAIN STUPA-MADHUARA INSRD. PHGE 6)

कि श्रमणधारा के आद्यप्रवर्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव थे तथा पश्चाद्-वर्ती चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर तक सभी तीर्थंकर श्रमणधारा के उन्नायक, सम्पोषक, सम्वर्द्धक एवं सम्प्रसारक थे।

तीर्थंकरों की उक्त श्रमणधारा में सातत्तत्व, नवपदार्थ पंचास्तिकाय षड्द्रव्य, रत्नत्रय, अनेकान्त-स्याद्वाद, नय-प्रमाण, निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, कर्ता-कर्म, कारण-कार्य, पुण्य-पाप, द्रव्य-गुण-पर्याय इत्यादि दार्शनिक तत्त्वों की गंभीर विवेचना की गई है। उपरोक्त तत्त्वों के परिज्ञानपूर्वक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप त्रयात्मक मार्ग द्वारा परमकल्याण स्वरूप मुक्ति की प्राप्ति होती है।[1] उक्त उत्कृष्ट सुख की प्राप्ति का ही लक्ष्य प्रत्येक आत्महितैषी का होना चाहिये। आत्महितैषी जनों तक तीर्थंकरों की उक्त परमकल्याणी वाणी को पहुंचाते रहने का कार्य आचार्य परम्परा द्वारा ही सम्पन्न होता रहा है। आचार्य परम्परा से प्राप्त मौखिक ज्ञान को लिपिबद्ध करके उसे स्थायित्व प्रदान करना, सूत्रगत भागों का विशद् स्पष्टीकरण करने हेतु टीकाओं, भाष्यों तथा मौलिक ग्रंथों की रचना करना तथा तत्त्वज्ञान एवं सिद्धांतों का प्रचार प्रसार करना आचार्य-परम्परा का विशिष्ट कार्य रहा है। जैनाचार्यों द्वारा रचित वाङ्मय विशाल तथा गंभीर है। इसे आगम भाषा में श्रुत ज्ञान कहा जाता है। उक्त समग्र श्रुतज्ञान को आचार्यों ने प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों के द्वारा परिपुष्ट, प्रकटित एवं प्रसारित किया है। यद्यपि इन चारों अनुयोगों का मूलस्रोत अध्यात्म ही रहा है, तथापि द्रव्यानुयोग विषयक साहित्य में अध्यात्म-निरूपण का बाहुल्य है; ऐसे अध्यात्मबहुल वाङ्मय की सृष्टि आचार्यों ने बड़ी कुशलता, विद्वता तथा आत्मानुभव प्रचुरता के साथ की है। डॉ० रवीन्द्र जैन के शब्द उक्त तथ्य के प्रकाशक हैं। वे लिखते है कि

---

१. पंचास्तिकायषड्द्रव्य - प्रकारेण प्ररूपणम्।
पूर्वं मूलपदार्थानामिह सूत्रकृता कृतम् ॥४॥
जीवाजीवद्विपर्यायरूपाणां चित्रवर्त्मनाम्।
ततो नवपदार्थानां व्यवस्था प्रतिपादिता ॥ ५ ॥
ततस्तत्त्वपरिज्ञानपूर्वेण त्रितयात्मना।
प्रोक्ता मार्गेण कल्याणी मोक्षप्राप्तिरपश्चिमा ॥ ६ ॥
—पंचास्तिकाय, समयव्याख्या

जनाचार्यों ने अध्यात्म मूलक ग्रंथों का सृजन बड़ी दृढ़ता, मौलिकता एवं स्वानुभव के साथ किया है। जैन अध्यात्म की परम्परा सहस्रों वर्ष प्राचीन है। जैन साहित्य के क्षेत्र में कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वामी, पूज्यपाद, योगीन्दु गुणभद्राचार्य, अमृतचन्द्र, शुभचन्द्र, मुनि रामसिंह, और पं. राजमलजीआदि बनारसीदास जी के पूर्ववर्ती अध्यात्म के प्रभावशाली एवं अधिकारी कवि हो गये हैं।[1] उक्तसहस्रवर्षीय अध्यात्म परम्परा में आचार्य अमृतचन्द्र का विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म का जो बीज बोया, उसे पल्लवित, पुष्पित तथा फलित करने का श्रेय आचार्य अमृतचन्द्र को ही है। यद्यपि पूज्यपाद, योगीन्दु, गुणभद्र आदि आचार्यों की आध्यात्मिक रचनाओं द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित अध्यात्म एवं दर्शन का प्रचार-प्रसार एवं पोषण हुआ, तथापि आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा जिस व्यापकता, स्पष्टता एवं गंभीरता के साथ अध्यात्म का प्रचार-प्रसार हुआ, वैसा सहस्रवर्षीय पूर्वाचार्य परम्परा में संभवतः नहीं हुआ है, आचार्य अमृत चन्द्र ने अपने परिपूर्ण समर्पित, अध्यात्मरस से ओतप्रोत, असाधारण व्यक्तित्व द्वारा उक्त अध्यात्म एवं तत्त्वज्ञान का व्यापक प्रचार-प्रसार तो किया ही है, साथ ही उसे विकसित परिष्कृत परिपुष्ट एवं समृद्ध करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। उनके द्वारा प्रवाहित अध्यात्मप्रवाह ने उनके परवर्ती आचार्यों, विद्वानों एवं अध्यात्मरसिकों की हजार वर्षीय परम्परा को प्रभावित एवं उद्वेलित किया है। सैकड़ों रसिक, आचार्य अमृतचन्द्र की अध्यात्मगंगा में अवगाहन करने को उत्सुक हो उठे, अनेक विद्वानों की कलमें अमृतचन्द्र द्वारा प्रदर्शित मार्ग को चित्रित करने के लिए उठ गईं तथा हजारों भव्यात्माएं शुद्धात्मतत्त्व के प्रकाश में निजात्म-तत्त्व को निहारने में संलग्न हो गईं। इस सम्बन्ध में पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री के शब्द उक्त तथ्य के प्रमाणीकरण हेतु पर्याप्त हैं। वे लिखते हैं :—

ऐसा प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्द के ग्रंथों पर जब आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं ने अध्यात्म की त्रिवेणी प्रवाहित कर दी, तो उसमें अवगाहन करके अपना और दूसरों का ताप मिटाने के लिए अनेक ग्रंथकार उत्सुक हो उठे। आचार्य कुन्दकुन्द के अध्यात्म ने आचार्य पूज्यपाद का ध्यान आकृष्ट किया और उन्होंने समाधितंत्र तथा इष्टोपदेश जैसे सुन्दर, मनोहारि प्रकरण ग्रंथ

---

१. कविवर बनारसदासजी : जीवनी और कृतित्व पृ० १६१

रचे थे, किन्तु उस समय के भारत के दार्शनिक क्षेत्र में होने वाली उथलपुथल ने जैन धर्म दार्शनिकों का भी ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लिया था, फलतः जैन धर्म के बड़े बड़े ग्रंथ रचे गये। गुप्तराजाओं का काल भारतीय दर्शन की समृद्धि का काल था। इस काल में सभी क्षेत्रों में प्रख्यात दार्शनिक हुए और उन्होंने अपनी रचनाओं से भारतीय साहित्य के भण्डार को समृद्ध किया। इधर दसवीं शताब्दी में अमृतचन्द्र की टीकाओं की रचना होने पर रामसेन ने "तत्त्वानुशासन", नेमिचन्द्र ने "द्रव्यसंग्रह", अमितगति प्रथम ने "योगसार प्राभृत", पद्मप्रभमलधारीदेव ने अपनी टीकायें, पद्मनंदि ने "पद्मनंदिपंचविंशतिका" की रचना की। इसके पश्चात् ही माइल्ल धवल ने नयचक्र ग्रंथ रचा। उन्होंने उसमें नयों के विवेचन के साथ अध्यात्म का विवेचन किया।[1] उक्त विद्वान लेखक ने आचार्य अमृतचन्द्र को जैन अध्यात्म का मूर्धन्यमणि भी निरूपित किया है।[2]

इस तरहभारतीय संस्कृत वाङ्मय को सुसमृद्ध करने वाले, विशेषतः जैनश्रमण परम्परा के अध्यात्म व तत्त्वज्ञान विषयक साहित्य को समृद्ध, परिपुष्ट तथा व्यापक बनाने वाले आचार्य अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व विशाल एवं असाधारण है। उनका कर्तृत्व अप्रतिम तथा महान् है। उनके व्यक्तित्व तथा ग्रंथों पर अद्यावधि विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ था जिसकी अत्यधिक आवश्यकता थी। इसी दृष्टि से हमने यह छोटा सा प्रयास किया है जिसके द्वारा आचार्य अमृतचन्द्र और उनके ग्रंथों पर शोधपूर्ण प्रकाश डाला गया है। उनके समग्र व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व का व्यवस्थित आकलन एवं मूल्यांकन आगामी अध्यायों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. जै. सा. का इतिहास (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री) पृ. १७६

२. श्री कुन्दकुन्दाचार्य का जीवन परिचय–संग्राहक ब्र. दवाचन्द, पृ. ६ से ६ तक

संकेत सूची

ग्रन्थ सम्बन्धी :-

१.	अर्ध क.	अर्धकथानक
२.	अ. श्रा.	अमितगति श्रावकाचार
३.	आ. टीका	आत्मख्याति टीका
४.	क. प्रा. तां. प. भं. सू.	कन्नड़ प्रांतीय ताड़ पत्रीय ग्रंथ सूची
५.	के. सं. प्रा. पा. लि.	केटलाग संस्कृत-प्राकृत पाण्डुलिपि
६.	जि. प्र. र. को	जिन प्रवचन रत्न कोश
७.	जै. प्रा. इति.	जनधर्म का प्राचीन इतिहास
८.	जै. सा. वृ. इति.	जैन साहित्य का वृद्ध इतिहास, भाग ४
९.	जै सि. को.	जैनेन्द्र सिद्धांत कोश
१०.	जै. सि. प्र.	जैन सिद्धांत प्रवेशिका
११.	त. प्र. टी.	तत्त्व प्रदीपिका टीका
१२.	ती. म. उ. आ. प.	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा
१३.	पंचा. प्र. पृ.	पंचाध्यायी प्रस्तावना पृष्ठ
१४.	पु. सि.	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
१५.	प्र. क. मार्तण्ड	प्रमेय कमल मार्तण्ड
१६.	भा. सं. में जै. यो.	भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
१७.	र. क. श्रा.	रत्नकरण्ड श्रावकाचार
१८.	रा. के. जै. शा. भ. की सूची	राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की सूची

१९.	रा. के. जै. सं व्य. कृ.	राजस्थान के जैन संत व्यक्तित्व एवं कृतित्व
२०.	ल. त. स्फो.	लघु तत्त्व स्फोट
२१.	वृ. स्व. स्तोत्र	वृहद् स्वयंभू स्तोत्र
२२.	समयसार स. द. टी.	समयसार सप्त दशांगी टीका

प्रकाशन सम्बन्धी :-

१.	कु. कु. क. ट्र.	कुन्दकुन्द कहान ट्रस्ट, बम्बई
२.	के. यूनि. प्रेस	केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन
३.	च. दि. जै. मं.	चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन मंदिर, कटनी
४.	जै. अ. मं.	जैन अध्यात्म मंडल, मुरादाबाद
५.	जै. ग्र. का.	जैन ग्रंथ कार्यालय, बम्बई
६.	जै. ध. प्र. का.	जैन धर्म प्रकाशन कार्यालय, इंदौर
७.	जै. वा. कु. माला	जन वाङ्मय कुसुममाला, उस्मानाबाद
८.	जै. हि. का.	जैन हितैषी कार्यालय, बम्बई
९.	दि. जै. ग्र. उ. का.	दिगम्बर जैन ग्रंथ उद्धारक, कार्यालय
१०.	दि. जै. ग्र. मा.	दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, बनारस/भिण्ड
११.	दि. जै. पु.	दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
१२.	दि. जै. मु. मं.	दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल, बम्बई
१३.	दि. जै. स.	दिगम्बर जैन समाज
१४.	दि. जै. स्वा. मं. ट्रस्ट	दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ़
१५.	दी. से. जै. प. हा.	दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाऊस, लखनऊ आरा
१६.	नि. जै. ग्र. मा.	निजानंद जैन ग्रंथमाला, सहारनपुर
१७.	ने. म. प्र पा.	नेमचन्द महावीर प्रसाद पाण्डया, कलकत्ता
१८.	पा. दि. जै. ग्र. मा.	पार्श्वनाथ दिगम्बर गंथमाला, मारोठ
१९.	ब्र. दु. जै. ग्र. मा.	ब्रह्मचारी दुलीचन्द जैन ग्रन्थमाला, सोनगढ़

२०.	भा. जै. सि. प्र. सं.	भारतवर्षीय जैन सिद्धांत प्रचारिणी संस्था कलकत्ता
२१.	भा. व. जै. सा. मं.	भारतवर्षीय वर्णी जैन साहित्य मण्डल मुजफ्फरनगर
२२.	भा. ज्ञा. पी.	भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस/दिल्ली
२३.	म. ज्ञान. स.	महावीर ज्ञानोपासना समिति, कारंजा
२४.	मू. कि. का.	मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत
२५.	रा. ए. सो.	रायल एसियाटिक सोसाइटी, बम्बई
२६.	रा. ग्र. प. प्र. मं.	रायचन्द्र ग्रंथमाला परमश्रुत प्रभावक मंडल, अगास
२७.	रा. जै. शा. मा.	रायचन्द्र जैन शास्त्र माला, अगास
२८.	रा. जै. स.	राजस्थान जैन सभा, जयपुर
२९.	ल. दि. जै. ग्र. माला	लक्ष्मीसेन भट्टारक दिगम्बर जैन ग्रंथमाला, कोल्हापुर
३०.	वर्णी ग्र. मा	वर्णी ग्रन्थमाला, बनारस
३१.	व. प. ला.	वर्धमान पब्लिक लायब्रेरी, दिल्ली
३१.	वी. स. सा. प्र. ट्र.	वीतराग सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर
३३.	शा. वी दि. जै. सं.	शांतिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, महावीरजी
३४.	शा. वी. जै. सि. प्र. सं.	शांतिवीर दिगम्बर जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था
३५.	स. ग्र. मा.	सस्ती ग्रन्थ माला, दिल्ली
३६.	स. जै. ग्रं. मा.	सनातन जैन ग्रन्थमाला, कलकत्ता
३७.	स. ज्ञा. प्र. मं.	सन्मति ज्ञान प्रकाशक मण्डल, सोलापुर
३८.	स. शा. मा.	सहजानंद वर्णी शास्त्रमाला, मेरठ
३९.	स्वा. ग्रा. मा.	स्वाधीन ग्रन्थ माला, सागर
४०.	श्रु. भा. ग्र. प्र. स.	श्रुत भाण्डार ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन

विभिन्न :-

१.	ई.	ईस्वी सन्
२.	क्र.	क्रमांक
३.	गा.	गाथा
४.	टी.	टीका
५.	डा.	डाक्टर
६.	दि. जै.	दिगम्बर जैन
७.	पं.	पण्डित
८.	पु.	पुस्तक
९.	पृ.	पृष्ठ
१०.	प्र. पृ.	प्रस्तावना पृष्ठ
११.	प्रस्ता.	प्रस्तावना
१२.	प्रो.	प्रोफेसर
१३.	वि.	विक्रम
१४.	वि. सं.	विक्रम सम्वत्
१५.	वी. नि. सं.	वीर निर्वाण संवत्
१६.	वे. क्र.	वेष्ठन क्रमांक
१७.	वे. नं.	वेष्ठन नम्बर
१८.	वृ.	वृहद्

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

पूर्वकालीन परिस्थितियां १-३१

पूर्वकालीन धार्मिक परिस्थियाँ १, पूर्वकालीन साहित्यिक परिस्थितियाँ १६, पूर्वकालीन राजनातिक परिस्थितियाँ २५

द्वितीय अध्याय

जीवन परिचय ३२-७७

समय ३२, जीवन परिचय ४४, अलौकिक जोवन परिचय ४६ लौकिक जीवन परिचय ५३, पद एवं व्यक्तित्व ५७, कुल ५६, द्रविड़ संघ ६०, पुन्नाट संघ ६०. काष्ठा संघ ६१, नंदि संघ ६७ आचार्य परम्परा में स्थान ६६

तृतीय अध्याय

व्यक्तित्व तथा प्रभाव ७८-१६६

नाटककार ७६, काव्यकार ८६, गद्य काव्यकार ६१, पद्य काव्यकार १००, चम्पू काव्यकार ११० व्याख्याकार ११५, तार्किक तथा नैयायिक १३३, भाषाविद् १४६, सिद्धान्तज्ञ १५१, व्याकरणज्ञ १५८, अध्यात्म रसिक १६२ प्रभाव १६६

चतुर्थ अध्याय

कृतियाँ २१८-३८४

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय २१६, आत्मख्याति टीका २४६, तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति २८२, समय व्याख्या ३०६, समयसार कलश ३२८, तत्त्वार्थसार ३५३, लघुतत्त्वस्फोट ३६१

पंचम अध्याय

साहित्यिक मूल्यांकन ३८५–४२६

भाषा ३८५, शैली ३९४, अलंकार ४०५,
छंद, रस, गुण ४२५

षष्ठ अध्याय

दार्शनिक विचार ४२७–४८४

निश्चय-व्यवहार ४२८, अनेकान्त-स्याद्वाद ४५२
निमित्त-उपादान ४७०, कर्त्ता-कर्म आदि ४८३

सप्तम अध्याय

धार्मिक विचार ४८५–५०४

मुनि आचार, ४८५ श्रावकाचार ४९६

अष्टम अध्याय

उपसंहार ५०५–५२८

वैशिष्ट्य ५०५, योगदान ५०७, देन ५०९

संदर्भ ग्रंथ सूची ५११–५२७

शोधोपयोगी सामग्री प्राप्ति में सहयोगी ग्रंथालयों
की सूची ५२८

स्व० श्री शांतिलाल कस्तूरचन्द जोवालिया का परिचय

अपने प्रयास एवं बुद्धिबल से अपने भाग्य का निर्माण करने वाले स्वर्गीय श्री शांतिलाल कस्तूरचन्द जोवालिया महानगर बम्बई के लोहा बाजार में एक कुशल एवं प्रसिद्ध व्यापारी के रुप में प्रतिष्ठित थे। अपनी जन्मभूमि नागेश्वर से बंबई आकर विकट परिस्थितियों का सामना करते हुए आप प्रतिष्ठा के एक ऐसे स्थान पर पहुँचे जहाँ तक सभी को पहुँचना संभव नहीं होता। उनके कार्य एवं प्रयास युवा वर्ग को प्रेरणास्पद थे।

व्यापारिक कुशलता के साथ ही उनकी भावना समाजसेवा की भी थी। आपके सुपुत्र श्री मनसुखभाई, श्री जयंतीभाई तथा श्री कन्हैयालाल उनके सुयोग्य उत्तराधिकारी साबित हुए हैं। वे अपने पिताजी के समान ही जाति, समाज, धर्म तथा देशहित में दान देते रहते हैं। उन्होंने सुरेन्द्रनगर में एक अस्पताल के निर्माणार्थ ५१ हजार रुपये प्रदान किए थे। सोनगढ़ में भी मुमुक्षुओं के लाभार्थ निर्मित "श्री कानजी स्वामी दिगम्बर जैन विश्रांतिगृह" के निर्माण में भी तन, मन तथा धन से सहयोग किया था। उनकी सेवायें चिरस्मणीय रहेंगी।

उनके देहावसान के बाद उनके परिवारजनों की ओर से नागनेश (सौराष्ट्र) में एक हाईस्कूल निर्माणार्थ एक अच्छी दान राशि प्रदान की गई तथा महाराष्ट्र में देवलाली में निर्माणाधीन श्री कानजी स्वामी स्मारक ट्रस्ट हेतु एक बड़ी राशि दान दी गई है। ऐसे सेवा भावी, उदारमना स्व० श्री शांतिलालजीं का आत्मा जहाँ भी हो, वहाँ सम्यग्दर्शन पाकर आत्म-कल्याण करे ऐसी सद्भावना करते हैं।

□ □

प्रथम अध्याय

पूर्वकालीन परिस्थितियाँ

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज बिना मानव जीवन का सर्वाङ्गीण विकास संभव नहीं है। वनविहारी, एकलविहारी मुनिराजों आचार्यों आदि को भी यदाकदा ग्रामों, नगरों तथा मानव-समाज के बीच आना पड़ता है। भले ही वे जगज्जनों को करुणाबुद्धि से आत्मकल्याण का उपदेश देने आवें अथवा स्वयं के आहार-पानी के असह्य विकल्प को मिटाने के लिए आवें, परन्तु उनका सम्पर्क कुछ काल के लिए विभिन्न प्रकार की समाजों से अवश्य होता ही है। समाज के वर्तमान वातावरण एवं परिस्थितियों के निर्माण में पूर्वकालीन परम्पराओं, मान्यताओं, और परिस्थितियों का असर अवश्य पाया जाता है। उक्त पूर्वकालीन व समकालीन समाजों के वातावरण का प्रभाव साहित्यकारों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अवश्य होता है। प्रतिभाशाली साहित्यकार अपने युग की पूर्ववर्ती या समवर्ती परिस्थितियों से जहां एक ओर प्रभावित होते हैं, वहीं दूसरी ओर वे तत्कालीन युग को भी अपने व्यक्तित्व और कर्तृत्व से प्रभावित तथा अनुप्राणित भी करते हैं। अतः किसी भी साहित्यकार के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व के अध्ययन और मूल्यांकन हेतु उसकी पूर्वकालीन तथा समकालीन परिस्थितियों और विचारधाराओं का सिंहावलोकन किया जाना महत्त्वपूर्ण ही नहीं, अपितु आवश्यक भी है। प्रकृत में आचार्य अमृतचन्द्र की पूर्वकालीन परिस्थितियों का आकलन तीन प्रकार से किया जा रहा है। वे तीन प्रकार हैं धार्मिक, साहित्यिक और राजनीतिक परिस्थितियां। इनमें सर्वप्रथम धार्मिक परिस्थितियों का आकलन करते हैं।

पूर्वकालीन धार्मिक परिस्थितियाँ

धर्म आचारों से और दर्शन विचारों से सम्बन्धित होता है। आचरण की आधारशिला विचार ही हैं, अतः धर्म और दर्शन अथवा आचार और विचार दोनों में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है। भारत धार्मिक आचारों और विचारों के लिए विश्वविख्यात है। भारत

की समस्त विचारधाराओं और आचरणों को मुख्यतः दो धाराओं में समाहित किया जाता है। इनमें प्रथम है श्रमणधारा और द्वितीय है श्रमणेतरधारा। श्रमणेतरधारा में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदांत ये षड्दर्शन और चार्वाक, मुस्लिम आदि मत गर्भित हैं। अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के आविर्भाव के समय श्रमणेतर-धारा में प्रायः वेदोक्त क्रियाकाण्ड, धार्मिक आचार-विचारों का प्राबल्य था। चारों ओर हिंसा असत्य, शोषण, अनाचार, मांसाहार, सुरापान, द्यूतक्रीड़ा, नारी मात्र पर अत्याचार आदि का बोलबाला था। याज्ञिक क्रियाकाण्डों तथा धर्म के नाम पर मानव अपनी विकृतियों का दास बना हुआ था। वैयक्तिक स्वतन्त्रता समाप्त हो चुकी थी। मानवीय अधिकार धर्मगुरुओं की तानाशाही के शिकार बन चुके थे। मानवता कराह रही थी। निरीह पशुओं का निर्ममता पूर्वक वध किया जाता था। पशुमेध तथा नरमेध यज्ञों में पशुओं और मनुष्यों की होली मनाई जाती थी। अग्निकुण्डों से चीत्कार की ध्वनि कर्णगोचर होती थी। मानव की अन्तश्चेतना मूर्छित हो चुकी थी। धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पूर्णतया अराजकता विद्यमान थी। सर्वोदय का स्थान वर्गोदय ने ले लिया था।[1]

उपर्युक्त धार्मिक अराजकता के विषमकाल में तीर्थङ्कर महावीर ने क्रांति को सूत्रधार के रूप में करुणा और अहिंसा का शंखनाद फूंका। उस समय यज्ञादिक का बहुत जोर था और यज्ञों में पशुबलिदान बहुता-यत से होता था। बेचारे मूकपशु धर्म के नाम पर बलिदान कर दिये जाते थे और इन कृत्यों को धर्म की संज्ञा दे दी जाती थी। करुणासागर महावीर के कानों तक भी उन मूक पशुओं की चीत्कार पहुंची और राजपुत्र महा-वीर का हृदय उनकी रक्षा के लिए तड़प उठा। धर्म के नाम पर किये जाने वाले किसी भी कृत्य का विरोध कितना दुष्कर है यह बतलाने की आवश्यकता नहीं। किन्तु महावीर तो महावीर ही थे।[2] उन्होंने तीर्थङ्करों की योग और अध्यात्म की विलुप्त धारा को परिष्कृत एवं पुनरुज्जीवित किया, प्रवाहित और सम्वर्द्धित किया। भगवान् महावीर द्वारा प्रसारित अध्यात्म और अहिंसामयी आचार-विचारों का श्रमणेतर धर्म तथा दर्शनों पर व्यापक प्रभाव पड़ा। इस प्रकार अध्यात्म के उन्नयन और समाज के जागरण का युग प्रारम्भ हुआ। रूढ़िवादिता, अज्ञानता,

---

१. तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग-१, पृष्ठ ७२–७३
२. जैनधर्म : पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ १६

अत्याचार, पाखण्ड और "रोगहम" क्रमशः पलायन करने लगे तथा तर्कपूर्ण, ज्ञानमयी, कल्याणदायिनी धर्मधारा प्रवाहित होने लगी। वेदोक्त क्रियाकाण्डों का स्थान वेदांत तथा उपनिषदों में वर्णित अध्यात्मदर्शन ने ले लिया। भक्तिधारा का शैथिल्य और ज्ञानधारा का प्राबल्य हुआ। अन्ध श्रद्धा, अत्याचार तथा तथ्यहीन क्रियाकाण्डों के बोझ से संत्रस्त आत्माओं ने राहत की सांस ली।

भगवान् महावीर के युग से लेकर शताब्दियों तक उक्त राहत का काल चलता रहा। पश्चात् विभिन्न दर्शनों में अपने-अपने मत तथा विचारों के प्रचार की होड़ प्रारम्भ हो गई। विचार वैभिन्य के कारण प्रत्येक दर्शन में शाखाएँ-प्रशाखाएँ प्रादुर्भूत हुई। भगवान् महावीर के अनुवर्ती बौद्ध सम्प्रदाय के संस्थापक भगवान् बुद्ध के पश्चात् बौद्धदर्शन में सत्ता के सिद्धांत के विषय में मतभेद होने से उक्त दर्शन चार सम्प्रदायों में बट गया। वे चार सम्प्रदाय हैं वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। वैभाषिक लोगों के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ सच्चे माने गये। इस मत का दूसरा नाम "सर्वास्तिवाद" भी है। सर्वास्तिवादीजनों की उक्त मान्यता का आधार प्रत्यक्ष रूप था। सौत्रांतिक सम्प्रदाय भी जगत् के समस्त पदार्थों को सत् तो मानता है परन्तु उक्त मान्यता का आधार वे प्रत्यक्ष को नहीं अपितु अनुमान को मानते हैं। तीसरा सम्प्रदाय योगाचार एक मात्र चित्त को ही सत्य मानता है। चित्त का दूसरा नाम विज्ञान भी है, अतः इस मत का दूसरा नाम "विज्ञानवाद" भी है। चतुर्थ सम्प्रदाय है माध्यमिकों का, जो जगत् के समस्त पदार्थों को सत्य न मानकर शून्यरूप मानता है इसलिए इसे शून्यवाद भी कहते हैं। शून्यवादियों में आचार्य नागार्जुन (तृतीय शतक ईस्वी), आर्यदेव (तृतीय शतक ई०,) स्थविर, बुद्धिपालित (पंचम शतक ई०), भावविवेक व चन्द्रकीर्ति (सप्तम शतक ई.) तथा शांतरक्षित (अष्टम शतक ई.) आदि आचार्य बौद्धदर्शन में विशेष विख्यात हैं। इन सभी ने अपने-अपने विचारों के प्रचार हेतु धार्मिक-दार्शनिक स्पर्धा में भाग लिया।[1]

दूसरी ओर न्याय दर्शन ने प्रमाण, प्रमेय, दृष्टान्त, सिद्धान्त तर्क आदि १६ पदार्थों[2] का निरूपण, प्ररूपण एवं प्रचार जोरों के साथ

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ० बलदेव उपाध्याय, पृ० ६५८-६५९
२. तर्कभाषा, केशवमिश्ररचित, तर्करहस्यदीपिका हि.टी., आ. विश्वेश्वर सि.शा., पृ.८

किया। न्यायदर्शन ने जहां अपनी उक्त १६ बातों के निरूपण व प्रचार में तर्क-न्याय तथा ज्ञानधारा को प्रतिष्ठित किया, वहीं उसने उक्त १६ पदार्थों में अनुमान निरूपण में "वैदिक हिंसा" को उचित ठहराया और यज्ञों में होने वाली पशुहिंसा को निषेध योग्य नहीं माना। इसे उसने साधन-अव्यापकत्व कहा।[1] इसी तरह वितण्डा द्वारा स्वपक्ष सिद्धि की आवश्यकता का निषेध और एकमात्र परमत का खण्डन करना, या उसे दूषण लगाना मात्र प्रयोजन बताया।[2] छल निरूपण द्वारा प्रकृत में प्रयुक्त यथार्थ अभिप्राय ग्रहण न करके, अन्यथा कल्पना करके दोष देना उचित ठहराया तथा जाति व निग्रहस्थान निरूपण द्वारा क्रमशः असत् (झूठ) उत्तर देना, व किसी प्रकार की हीनता बताकर अपरपक्ष को पराजित करने को न्यायमत ने न्यायोचित ठहराया।[3] इस मत के प्रमुख विद्वानों में सूत्रकार वात्स्यायन (द्वितीय शतक विक्रम) उद्योतकर (षष्ठम शतक विक्रम), वाचस्पति मिश्र (नवम शतक विक्रम), आचार्य उदयन (दशम शतक विक्रम), गंगेश उपाध्याय (बारहवीं शती) आदि उल्लेखनीय हैं। न्यायमत के अतिरिक्त इस धार्मिक स्पर्धा में वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा तथा वेदांत मतों के धुरन्धर आचार्यों व विद्वानों ने भी यथाशक्ति भाग लिया।

उपनिषदों का तत्त्वनिरूपण रहस्यपूर्ण था। उनमें एक सर्वशक्तिमान अदृश्य ब्रह्म (परमात्मा) की सत्ता की घोषणाएं प्रारंभ की गईं। किन्तु 'ब्रह्म' का स्वरूप रहस्यमयी, अत्यंतगूढ़ और वचन अगोचर ही बताया। कठोपनिषद् में वाजश्रवस् के पुत्र नचिकेता का कथानक है, जिसमें नचिकेता मृत्यु के आचार्य से मृत्यु तथा आत्मतत्त्व के विषय में समझना चाहता है, तब मृत्यु के आचार्य अत्यन्त आश्चर्य चकित होकर कहते हैं कि इस विषय में अणुमात्र भी जानने योग्य नहीं है। इसलिए तुम कोई अन्य वरदान मांग लो। मैं तुम्हें पुत्र पौत्रादि, विपुल संपत्ति और लौकिक ऐश्वर्य देने को तैयार हूं। परमात्मतत्व अत्यन्त गूढ़ है,

---

१. "यज्ञीयपशुहिंसाया निषिद्धत्वाभावात्।" तर्क भाषा-केशवमिश्र, पृष्ठ ९३

२ वही, पृष्ठ २४४

३. वही, पृष्ठ २५९ से २६२

उसका निरूपण संभव नहीं है।[1] इतना ही नहीं उस पर विचार करने की भी जरूरत नहीं समझी गई। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद के कथन से स्पष्ट है कि जहां प्रत्येक वस्तु वस्तुतः स्वयं आत्मा ही बन गई है वहां कौन किसका विचार करे। कदाचित् निरूपण किया भी गया तो वह भी रहस्यमय ही रहा। उपनिषदों में उसका वर्णन नकारात्मक रूप में किया गया यथा ब्रह्म यह नहीं, यह नहीं – "नेति – नेति"। अनुभव का तो वह विषय है ही नहीं। उसे अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकार्य, आदि बताया गया है। वह न सत् है और न ही असत् है। उसे प्रयुक्त परस्पर विरोधी विशेषण यह सूचित करते हैं कि उस पर अनुभवगम्य धारणाएं लागू नहीं की जा सकतीं।[2] इस प्रकार एक ओर तर्क और अनुभव को महत्वहीन बताया गया तो दूसरी ओर उनको ही आधारभूत बनाकर विभिन्न दर्शनों तथा धर्मों में अपने-अपने मतविस्तार तथा प्रचार हेतु स्पर्धाएं प्रारम्भ हुई। अपने पाण्डित्यप्रदर्शन, स्वमतमण्डन और परमत खण्डन हेतु वादविवाद की भेरियां बजने लगीं, विद्वान परस्पर में इतरमत के विद्वानों को "चैलेंज" देने लगे, आम जनसभाओं में वादविवाद के मंच लगने लगे और तत्कालीन राजा-महाराजा भी इन आयोजनों में रुचि रखने लगे। वादविवाद में विजेता पक्ष को राजाओं और उनकी अनुयायी प्रजा का समर्थन प्राप्त हो जाता था। उक्त समर्थन पाने के लिए विभिन्न मतधुरीण आचार्यों, एवं विद्वानों में अनेक प्रकार के कौशलप्रदर्शनों का सिलसिला चल पड़ा।[3] वे अपने उच्चपद, कवित्वशक्ति, शास्त्रार्थ, पाडित्यप्रदर्शन, ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र, तन्त्र आदि चमत्कारों द्वारा राजाओं और उनके अनुयायियों में प्रभाव स्थापित करते थे। आचार्यगण राजसभाओं में अपने सम्बन्ध में गर्वोक्तियां प्रकट करते थे। ऐसी गर्वोक्तियों के अनेक प्रमाण अद्यावधि साहित्यिक कृतियों में विद्यमान हैं। उदाहरण के लिए "समंतभद्रस्वामी, जिनका समय ईसा की द्वितीय शती है,[4]

---

१. संस्कृत मंजरी, पृ० ६७ "अस्यधर्मस्याणुमात्रमपि न हि सुविज्ञेयम्। अतस्त्वमन्यं वरं याचस्व। अहं त्वां पुत्रपौत्रान् प्रभूतां सम्पत्तिं लोकैश्वर्यं च दातुं प्रस्तुतोऽस्मि। परमात्मतत्त्वमतिगूढं न ह्येयं वक्तुं शक्यते।"

२. भगवद्गीता, डॉ० राधाकृष्णन् पृ० २४-२५

३. वीरशासन के प्रभावक आचार्य, प्राक्कथन पृ० ५

४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-४ पृष्ठ ३२८

दिगम्बराचार्यों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। धर्म, न्याय, व्याकरण, साहित्य, ज्योतिष, आयुर्वेद, मंत्र तथा तन्त्र आदि सभी विद्याओं में निपुण होने के साथ ही साथ वे वादकला में अत्यंत पटु थे। काशीनरेश के सामने स्वमीसमन्तभद्र ने स्वमुख से जो अपना परिचय दिया था, वह मात्र गर्वोक्ति नहीं, किंतु तथोक्ति थी। परिचय देते हुए वे कहते हैं—"मैं आचार्य हूँ, कवि हूँ, शास्त्रार्थी हूँ, पंडित हूँ, ज्योतिषी हूँ, वैद्य हूँ, मांत्रिक हूँ, तांत्रिक हूँ, इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर मुझे वचनसिद्धि है, अधिक क्या कहूँ मैं सिद्धसारस्वत हूँ।[1]

इसी प्रकार एक बार काशीनरेश के क्रोधित होकर पूँछने पर समन्तभद्र निर्भीक घोषणा करते हुए कहते हैं कि राजन् आपके सामने यह दिगम्बर जैन वादी खड़ा है, जिसकी शक्ति हो मुझसे शास्त्रार्थ कर ले।[2]

समन्तभद्र ने भस्मकव्याधि रोग के उपशमन के पश्चात् फिर से निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर ली। निर्ग्रन्थ दीक्षा धारण कर आपने पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण सर्वत्र विहार कर जिनधर्म की महिमा स्थापित की। करहाटक नगर में पहुँचने पर वहां के राजा द्वारा पूँछे जाने पर आपने अपना पिछला परिचय देते हुए कहा—राजन् पहले मैंने पाटलिपुत्र नगर में शास्त्रार्थ के लिए भेरी बजाई, फिर मालवा, सिन्धु, ढक्क, कांचो, विदिशा आदि स्थानों में जाकर भेरी ताड़ित की। अब बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों से परिपूर्ण इस करहाटक नगर में आया हूं। मैं तो शास्त्रार्थ की इच्छा रखता हुआ सिंह के समान घूमता फिरता हूं।[3]

धर्मप्रचार तथा पाण्डित्य प्रदर्शन की स्पर्धा के काल में श्रमणेतर-मतों के धुरन्धर आचार्य तथा विद्वान् इस होड़ में संलग्न रहते थे। इन धुरन्धर आचार्यों में न्यायदर्शन धुरीण, न्यायसूत्र के प्रणेता आचार्य

---

१. आचार्योऽहं कविरहमहंवादिराट् पण्डितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मांत्रिकस्तांत्रिकोऽहम्।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलाया-
माज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहम्॥ स्वयंभूस्तोत्र प्रस्तावना, पृष्ठ १०

२. "राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतः जैननिर्ग्रन्थवादी।" वही, पृष्ठ १२

३. वही, पृष्ठ १२

वात्स्यायन (विक्रम की द्वितीय सदी)[1], वैशेषिक मतानुयायी, प्रमुख आचार्य महर्षिकणाद (विक्रम की तृतीय सदी पूर्व)[2], सांख्यमत के सांख्यसूत्रकार आचार्यकपिल, वृत्तिकार आचार्य माठर (द्वितीय सदी विक्रम),[3] भाष्यकार गौड़पाद (विक्रम की पांचवी सदी),[4] योग-दर्शन के सूत्रकार पतंजलि तथा भाष्यकार व्यास (विक्रम की तृतीय सदी)[5], मीमांसामत में भाट्टमत प्रणेता कुमारिल्लभट्ट, गुरुमतसंस्थापक प्रभाकर मिश्र, मुरारिमतप्रवर्तक मुरारिमिश्र, वेदांतमत के प्रबल समर्थक, वेदांतसूत्र भाष्यकार आचार्यशंकर, बौद्धमतानुयायी आचार्य दिङ्नाग तथा उद्योत-कर, शून्यवादी आचार्य नागार्जुन (तृतीय सदी विक्रम), आर्यदेव (तीसरी सदी विक्रम), स्थविर तथा बुद्धिपालित (पंचमशतक वि.)[6] के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त सभी आचार्यों और विद्वानों ने विक्रम सदी के प्रारम्भ से लेकर ९वीं सदी तक धार्मिक स्पर्धा के युग को अनु-प्राणित एवं प्रभावित किया। वास्तव में ईसा की ७वीं, ८वीं और ९वीं शताब्दियां मध्यकालीन दार्शनिक इतिहास की क्रांतिपूर्ण शताब्दियां थीं। इनमें प्रत्येक दर्शन ने जहां स्वदर्शन की किले-बन्दी की, वहां परदर्शन पर विजय पाने का अभियान भी किया। इन शताब्दियों में बड़े-बड़े शास्त्रार्थ हुए, उद्भटवादियों ने अपने पाण्डित्य का डिंडिम नाद किया तथा दर्शन-प्रभावना और तत्वाध्यवसाय संरक्षण के लिए राजाश्रय प्राप्त करने हेतु वाद रोपे गये। इस युग के ग्रन्थों में स्वसिद्धांत प्रतिपादन की अपेक्षा परपक्ष खंडन का भाग ही प्रमुख रूप से रहा है। इसी युग मे महावादी भट्टाकलक ने जैन न्याय के अभेद्य दुर्ग का निर्माण किया था। उनकी यशोगाथा शिलालेखों और ग्रन्थकारों के उल्लेखों में बिखरी पड़ी है।[7] आचार्य भट्टाकलंक ने प्रमुखतः बौद्धों के साथ दार्शनिक संघर्ष किया और अनेकांत सिद्धांत की विजयपताका फहराई। वे महान्शास्त्रविजेता तथा महान् वाग्मी थे। बौद्धों के विचारों से होने वाली निरात्मकता से जन-जन की रक्षा करने की करुणाबुद्धि से वे ओतप्रोत थे। उनके सत्त्वप्रकोप के मूललक्ष्य बौद्धाचार्य ही थे। वे उनके अश्लील परिहास तथा कुतर्क पूर्ण कटूक्तियों का उत्तर भी बड़े मजे से देते थे। जब बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ० बलदेवप्रसाद उपाध्याय, पृ० ६६०
२. वही, पृ० ६६३ ३-४. वही, पृ० ६६६ ५. वही, पृ० ६६७
६. वही, पृ० ६५६ ७. सिद्धिविनिश्चय, प्र० पृ० ७

अपने ग्रन्थ "प्रमाणवार्तिक" में अनेकांतवादियों को दही और ऊँट के अभेद के प्रसंग का दूषण देकर लिखा कि अनेकांतवादी दही की जगह ऊंट को क्यों नहीं खाते।[1] तब आचार्य भट्टाकलंक अपने ग्रन्थ न्यायविनिश्चय में इसका सतर्क, सचोट एवं सटीक उत्तर देते हुए लिखते हैं कि सुगत मृग हुए थे और मृग भी सुगत हुआ फिर भी जैसे आप लोग मृग को ही खाते हो सुगत को नहीं, उनकी तो वन्दना ही करते हो। ठीक उसी प्रकार पर्यायभेद से दही और ऊँट के शरीर में भेद है,[2] इसलिए दही के समान ऊँट खाद्य नहीं है।

इस तरह एक ओर दार्शनिक स्पर्धा में तर्क, न्याय तथा बुद्धि का विकास हो रहा था, वहीं दूसरी ओर विभिन्न सम्प्रदायों में भ्रष्टाचार, आलस्य, विलासिता, हिंसापूर्ण मद्य, मांस, मधु तथा व्यभिचार आदि द्रुतगति से पनप रहे थे। उक्त वातावरण नवमी-दशमी शताब्दी तक अपनी चरम सीमा को छूने लगा था। इस संदर्भ में प्रसिद्ध विद्वान् स्वर्गीय डा० राधाकृष्णन पाण्डेय ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि भक्तिमार्गी सम्प्रदायों में वैष्णव, शैव और शाक्त प्रधान थे। उक्त मार्गियों ने गुप्त-कालीन जनता में एक नयी प्रेरणा उत्पन्न कर दी थी। परन्तु नवमीं सदी से उसमें बाह्याडम्बर और भ्रष्टाचार आने लगे। वैष्णव सम्प्रदाय में गोपलीला और अन्तरङ्ग समाज, शैव सम्प्रदाय में पाशुपत, कापालिक और अघोरपंथ, शाक्त सम्प्रदाय में आनन्द, भैरवी अथवा भैरवीचक्र, योगियों में सिद्धिमार्ग आदि कई अशोभन, अश्लील और अनैतिक पन्थ उत्पन्न हो गये। इस काल में धर्म का स्वरूप बहुत से स्थानों में, विशेषकर बिहार, कश्मीर, उड़ीसा, बंगाल और आसाम में तांत्रिक हो गया था और उसके कई सम्प्रदाय अतिमार्ग अथवा वाममार्ग पर चल पड़े थे, जिनमें पञ्च मकारों मदिरा, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन का सेवन धर्म के नाम

---

१. सर्वस्योभय रूपत्वे तद्विशेष निराकृतेः।
चोदितो दधि खादेति, किमुष्ट्रं नाभिधावति॥ ३/१८१ प्रमाणवार्तिक

२. सुगतोऽपति मृगो जातः, मृगोऽपि सुगतस्तथा।
तथापि सुगतो वन्द्यो, मृगः खाद्यो यथेष्यते॥
तथा वस्तुबलादेव, भेदाभेद व्यवस्थिते।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥
न्यायविनिश्चय ३७३/७४, सिद्धिविनिश्चय टीका, पूर्वार्ध प्र० पृष्ठ ६५/६६

पर होता था। शंकराचार्य ने दर्शन और धर्म का प्रचार करने के लिए भारत के चारों कोनों में चार मठ स्थापित किये थे। कुछ समय तक इन मठों और उनकी शाखाओं-प्रशाखाओं के शंकराचार्य और दूसरे सन्यासी धर्म का प्रचार करते रहें, परन्तु आगे चलकर उनमें भी विलासिता और भ्रष्टाचार आ गये।

इधर बौद्धधर्म के प्रचारकों व प्रसारकों में भी उपर्युक्त विलासिता और भ्रष्टाचार आदि पनपने लगे। हर्षवर्धन के समय तक बौद्धधर्म के काफी अनुयायी थे और उसका स्वरूप उच्च एवं पवित्र था, परन्तु आगे चलकर जिस प्रकार वैदिक या ब्राह्मण धर्म में विलासिता और भ्रष्टाचार आ गये, वैसे ही बौद्धधर्म में भी व्याप्त हो गये। इसका भी तान्त्रिक तथा वाममार्गी स्वरूप हो गया। वज्रयान आदि सम्प्रदायों का इसमें उदय हुआ जिससे बौद्ध संघाराम और विहार, गुह्यसमाजों और भ्रष्टाचार के केन्द्र हो गये।

यद्यपि जैनधर्म में भी मूर्तिपूजा और मन्दिर आदि का काफी विस्तार हो गया था और उसके मूलज्ञान और तपस्या के मार्ग ने अन्धविश्वास और एक प्रकार के कर्मकाण्ड का रूप धारण कर लिया था, फिर भी उसमें गुह्यसमाजी विचार और भ्रष्टाचार नहीं फैले जो ब्राह्मण और बौद्धधर्म में घुस गये थे।[1]

उपर्युक्त नवमी-दसवीं सदी के काल को अति साम्प्रदायिकता और अत्याचार का युग कहा जा सकता है। इस युग में धार्मिकस्पर्धा एवं धर्मोन्माद ने साम्प्रदायिकता का रूप ले लिया था। तर्क तथा ज्ञान बल का स्थान अत्याचार और पशु-बल ने ले लिया था। अपना वर्चस्व एवं स्वमत की स्थापना करने हेतु अल्पसंख्यक एवं अल्पशक्ति सम्पन्न अन्य मतावलम्बियों को बलपूर्वक दबाया जाने लगा, सैकड़ों हजारों नरनारियों को मौत के घाट उतारा गया, लाखों जनों को स्वमत परिवर्तन करने हेतु बाध्य किया गया, अल्पमत के अनुयायियों पर अमानवीय, अनैतिक, अन्यायपूर्ण अत्याचार किये गये। इस सन्दर्भ में रूसी लेखिका डॉ. श्रीमती एन. आर. गुसेवा ने "जैनिज्म" नामक पुस्तक में लिखा है कि इस बात के प्रमाण हैं कि महाराष्ट्र में भैरवों के नाम से ख्यात व्यक्तियों के नेतृत्व

---

१. प्राचीन भारत, डॉ० राजबलि पाण्डेय, पृ० ४२८-४२९

में स्थानीय जनसंख्या के एक वर्ग की ओर से जैनों को भयंकर आक्रमणों का शिकार बनाया गया।[1] उक्त भैरव सम्प्रदाय शैवों में से एक था।[2]

इसी प्रकार की अत्याचारपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करते हुए विख्यात लेखक कृष्णस्वामी अय्यर ने लिखा है कि तत्कालीन शंकराचार्य के प्रभाव में आने वाले कुछ राजाओं ने तो यहाँ तक उद्घोषणाएं की थीं कि मेरी उस सभी प्रजा को कत्ल कर दिया जावे, जो हिमालय से लेकर रामब्रिज (कन्याकुमारी) तक के वृद्ध एवं युवा बौद्धों को कत्ल करने में असफल हो।[3] ऐसी ही घोषणाएँ जैनों के प्रति भी की गई। जैनों को भी ऐसे ही अमानुषिक अत्याचारों को सहना पड़ा था। इसका भी प्रमाण प्रस्तुत करते हुए उक्त लेखक ने लिखा है कि हमें पौराणिक उपद्रव सम्बन्धी विवरणों पर थोड़ा-बहुत सन्तोष करना होता है कि हिन्दुस्तान में बौद्धों तथा दक्षिण भारत में लाखों जैनों को सताया गया। वे पैशाचिक तरीके केवल धार्मिक उपद्रवकारियों को ही ज्ञात थे। इन तथ्यों की शान्तिपूर्वक, गम्भीरता के साथ समीक्षा करने पर हमें विश्वास करने के पर्याप्त कारण मिल सकते हैं कि उपद्रव की इस धार्मिक तथा राजनीतिक ज्वाला ने भारतीय समाजों के निर्मल-शान्त आकाश को शायद ही इतना कुरूप (रक्तरंजित) कभी किया हो। दूरवर्ती ग्राम या शहर का कोई भाग शायद ही छूटा हो जो उक्त ज्वाला में झुलसा न हो।[4]

---

1. "There is evidence that in Maharashtra, the lains were subjec ed to fierce attacks from a group of local population led b persons known by the name of "Bhairavas." ('Jainism' by Mrs. N. R Guseva, translated from russian into English by Y. S Redker, P. 53)
2. Bhairava is one of the names of shaiva, Ibid p. 53)
3. The king thus got rid of all his doubts at-once and issued this memorable adict— 'Let all those of my subjects be alain who fail to slay the Buddhists old and young, from Himalaya to the Bridge of Rama, See Shankeracharya His life & times, III-Edition, p. 41)
4. For, if we content ourselves with the more or less legendary accounts of the prosecution either of Buddhists in Hindustan and Dakhan or of Jains in Southern India. We shall have to admit that millions of men were tortured or burnt or destroyed in the various diabolical ways known only to the religious prosecutors. But taking a more sober view of India and its people and interpretting these legends in the light of comparision with past and present facts and of calm criticism we have ample reasons to believe that religious and political fires of persecution hardly ever discoloured the serene skies of the Indian village, commnuities or any those parts of the country which lay fat removed from town and cities. (See Shankeracharya—His life and times, Page 43)

वीरशैवों या लिंगायतों का सर्वाधिक, तीव्र विद्वेष जैनधर्म और जैनों पर था। जब जहाँ उन्हें शक्ति प्राप्त हुई जैनों पर इन्होंने भीषण अत्याचार किये, जिनमें ये प्राचीन शैव नयनारों तथा वैष्णव अलवारों से भी आगे बढ़ गये।[1]

इसी तरह ११वीं सदी ई० में कुमारपाल का भतीजा अजयपाल हुआ जो शैवधर्म का अनुयायी था। वह बड़ा असहिष्णु था। उसने पुराने मन्त्रियों और सरदारों को अपमानित किया तथा नष्ट किया। जैन, विद्वानों और साधुओं पर भी घोर अत्याचार किये, उनकी हत्या करवायी और जैन मन्दिरों को भी नष्ट करवाया।

इस प्रकार तत्कालीन रोमांचकारी, अतिभयानक परिस्थितियों से बचने हेतु जैनों में भट्टारकों का उदय हुआ। उन्होंने युगानुरूप बहुसंख्यकों की कई धार्मिक क्रियाओं तथा रूढ़ियों की नकल करना और उन्हें तथैव अपनाना प्रारम्भ कर दिया। उक्त भट्टारक सम्प्रदाय के विकास में शंकराचार्य द्वारा स्थापित मठों का प्रभाव एवं उनका अनुकरण स्पष्ट दिखाई देता है। उस समय की मांग ही कुछ ऐसी रही। भट्टारक पीठों में भी कई दृष्टियों से वैदिक पद्धतियों का प्रवेश हुआ। पद्मावती आदि देवियों को काली, दुर्गा या लक्ष्मी का ही रूपान्तर माना जाने लगा। अध्यात्म शास्त्रों के व्याख्यान में आत्मा के समान ही ब्रह्म का निरूपण होने लगा।[2] मन्त्र, तन्त्र, चमत्कार आदि के द्वारा जनता पर अपना प्रभाव जमाये रखना तत्कालीन भट्टारकों का प्रमुख कर्तव्य बन गया था। वे मन्त्र तन्त्रादि द्वारा देवी देवताओं को भी प्रसन्न करते रहते थे। मन्त्र चमत्कार के ही द्वारा भट्टारक अपनी पालकी का आकाश में गमन होना, पाषाण मूर्तियों द्वारा अपने पक्ष की पुष्टि होना इत्यादि सिद्ध करते थे। सरस्वती की पाषाण मूर्ति के द्वारा दिगम्बर सम्प्रदाय का प्राचीनत्व सिद्ध करना चमत्कारों का ही एक उदाहरण है।[3] उक्त मन्त्र, तन्त्र, चमत्कारादि के अतिरिक्त भट्टारकों ने तत्कालीन ब्राह्मण संस्कृति के आचार, विचार तथा प्रथाओं का पूर्णतः अथवा अंशतः अनुकरण किया। इस सन्दर्भ में विदुषी श्रीमती एस. स्टीवेंशन लिखती हैं कि जैन-सम्प्रदाय ने भारत के

---

१. "भारतीय इतिहास, एक दृष्टि" डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, पृष्ठ ३२२

२. भट्टारक सम्प्रदाय प्र० पृष्ठ १७

३. वही, पृष्ठ १५

तत्कालीन, आर्थिक एवं नैतिक जीवन के पक्ष को अपनाया। हिन्दू जातियों में मौजूद अनेकों नियमों तथा नियन्त्रणों को शनैः शनैः अपनाना प्रारम्भ किया और जातिप्रथा का ढांचा भी जैनधर्म में हिन्दू धर्म की तरह निर्मित हो गया।[1] यहाँ तक कि मृतक के शरीर का जलाना, उसकी राख को पानी में सिराना आदि सामाजिक रूढ़ियाँ भी जैनों ने हिन्दूधर्म से ग्रहण कीं। हिन्दुओं के उत्सवों को भी जैनों ने अपनाया।[2]

इस तरह भट्टारकों का प्रभाव तत्कालीन समाज पर स्थापित होता गया। वे समाज के कर्णधार एवं शासक बन गये। इनमें धर्मविहित आचार-विचारों का अभाव और धार्मिक भ्रष्टाचार का प्रभाव बढ़ता गया। शिथिलाचारी मुनियों से दिगम्बर परम्परा में भट्टारकों का पंथ उदित हुआ। प्रारम्भ में इन्होंने वनवास छोड़कर मन्दिरों में रहना शुरू किया, फिर मन्दिरों के निमित्त से दानादि ग्रहण करने लगे और इस तरह धीरे-धीरे हिन्दू महन्तों की तरह पूरे मठाधीश बन गये। निवास स्थान के रूप में मठों और मन्दिरों का निर्माण तथा उपयोग; इसी के प्रबन्धादि के लिए भूमि आदि का दान लेना, ग्रन्थ लेखन तथा संरक्षण, चमत्कार आदि के द्वारा धर्म का उद्योत करना; शासकवर्ग से सम्बन्ध रखना आदि इनके मुख्य काम थे। इनमें से अनेकों ने सामयिक स्थिति के अनुसार धर्म की रक्षा में सहयोग दिया किन्तु बुराइयों से ये भी नहीं बच सके।[3] इस युग को हम जैनेतर संस्कृति के साथ आदान प्रदान का युग कह सकते हैं। यद्यपि इस युग में बाह्य आचार-विचार, पूजापद्धति, त्यौहार उत्सव आदि में हिन्दू सम्प्रदायों के साथ जैनधर्म का बहुत कुछ आदान प्रदान हुआ, तथापि जैनधर्म की सैद्धांतिक मूलभित्ति अडिग रही। उसके मौलिक विश्वास और परम्पराएं अडिग बनी रहीं; इन्हीं कारणों से वह भारत का एक स्वतन्त्र एवं प्रमुख धर्म बना रहा। उसके प्रेरक तत्व सजीव बने रहे और उनके कारण इसके अनुयायियों का उत्साह सजग रहा।[4]

---

1. The Jain Communties adopted this feature of Socialeconomic and ideological life of India and gradually castes, adopting many restrictions and prohibitions, which existed in Hindu castes took shape in Jainism also. (The Heart of Jainism, p. 55)
2. "Burning dead body, the ashes are thrown in water etc... all these rites... were introduced in Jain Practiec in medieval Period and were borrowed mainly from Hinduism. (The Heart of Jainism, P. 78)
3. दक्षिण भारत में जैनधर्म, पृष्ठ १६८
4. भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृष्ठ १७८–१७९

जीवदया तथा अहिंसा प्रधान जैनधर्म पर आंतरिक तथा बाह्य विद्वेषियों द्वारा भीषण, क्रूर पाशविक अत्याचार एवं दुर्व्यवहार किया गया, फिर भी जैनों ने कभी भी ऐसे अमानवीय कृत्यों का सहारा नहीं लिया। जैनाचार्यों तथा विद्वानों ने निरन्तर अपने अमूल्य, अहिंसामयी आध्यात्मिक आचारों व विचारों से भारतीय संस्कृति एवं जनजीवन को अनुप्राणित किया। आचार्य अमृतचन्द्र के समय तक उपर्युक्त विषम परिस्थितियां धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त हो चुकी थी। इन परिस्थितियों की विकटता अपने चरमोत्कर्ष पर थी। फिर भी आचार्य अमृतचन्द्र ने एक ओर हिंसात्मक तथ्यहीन युक्तियों का खण्डन किया और अहिंसामयी अमृत द्वारा उत्पीड़ित जनमानस को शांति के मार्ग का प्रदर्शन किया; तो दूसरी ओर जैनदर्शन व धर्माचार में आगत अनाचार व पतन से जैन आचार तथा विचारों का परिमार्जन एवं संरक्षण भी किया। उनकी कृतियों में तत्कालीन वातावरण तथा उसके निराकरण की झलक पद-पद पर दिखाई देती है। उदाहरणार्थ –विभिन्न मतों में परस्पर चलने वाले विरोध को मिटाने के लिए अनेकांत को ही अमोघ उपाय बताते हुए वे लिखते हैं—कि जैसे जन्मांध पुरुष हाथी के एक अङ्ग को छूकर उस अङ्ग रूप हाथी का स्वरूप मानते हैं, परन्तु वैसा हाथी का स्वरूप नहीं होता। अतः जन्मांध पुरुषों के हस्तिविधान का निषेध करने वाले, समस्त नयों (सभी दृष्टियों) से प्रकाशित वस्तु स्वरूप के विरोध को मिटाने वाले, उत्कृष्ट जैन सिद्धांत के प्राणरूप अनेकांत को नमस्कार हो।[1]

इसी प्रकार तत्कालीन वातावरण में व्याप्त मद्य, मांस, मधु, पाँच प्रकार के उदुम्बर फलों[2] के सेवन को महान् हिंसाकारक सिद्ध करते हुए, उनके त्याग का सर्वप्रथम उपदेश दिया। उनके शब्द इस प्रकार है कि—"हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरुषों को प्रथम ही प्रयत्नपूर्वक शराब, मांस, मधु (शहद) और पांच उदुम्बर फलों को छोड़ देना चाहिये।[3] उक्त आठों वस्तुओं के सेवन में होने वाली हिंसा की सिद्धि आचार्य श्री ने सतर्क

---

१. परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यंध सिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां, विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

२. बड़, पीपरफल, पाकर (गूलर), ऊमर तथा कठूमर (फणस) के फलों को पंच उदुम्बर कहते हैं। पु० सि० उ०, पृ० ६०

३. मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बर फलानि यत्नेन।
हिंसा व्युपरति कामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥ पु० सि० उ०॥

एवं सचोट की है। "वैदिकी हिंसा हिंसा मा भवति" के अनुसार की जाने वाली याज्ञिक हिंसा का आचार्य अमृतचन्द्र ने निम्न शब्दों में खण्डन किया है "भगवान् का कहा हुआ धर्म बहुत सूक्ष्म है इसलिए धर्म के निमित्त से हिंसा करने में दोष नहीं है" इस प्रकार धर्मविमूढ़ (भ्रमरूप) हृदय वाला होकर कभी भी शरीरधारी जीवों को नहीं मारना चाहिए।[1] "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः" की तत्कालीन प्रचलित धार्मिक उक्ति का खंडन करते हुए वे लिखते हैं कि 'निश्चय से धर्म देवों से उत्पन्न होता है, इसलिए इस लोक में उनके लिए सभी कुछ दे देना चाहिए" ऐसी अविवेक से ग्रसित बुद्धि प्राप्त करके शरीरधारी जीवों को नहीं मारना चाहिए।[2] तत्कालीन समाज में व्यापक रूप से व्याप्त धर्म के नाम पर बकरों आदि की बलि की प्रथा का विरोध करते हुए वे लिखते हैं कि पूज्य पुरुषों के निमित्त बकरा आदि जीवों के घात करने में कोई भी दोष नहीं है ऐसा विचार कर अतिथि के लिए जीवों का घात नहीं करना चाहिये।[3] हिंसक की हिंसा, बहुत जीवों की अपेक्षा एक बड़े शरीरधारी जीव की हिंसा, हत्यारे जीवों की दयाबुद्धि से हिंसा, दुखी जीव के दुःख मिटाने के लिए हिंसा, सुखी को मारने से सुखी रहेगा," इस भाव से हिंसा, गुरु की हित की भावना के कारण हिंसा, खारपटिक मत सम्मत हिंसा, (अर्थात् जैसे घड़े में बन्द पक्षी को घड़ा फोड़ने से शीघ्र मुक्ति होती है, उसी प्रकार शरीर में रहने वाले आत्मा की शरीर नाश करने से शीघ्र मुक्ति मानना खारपटिक मत की मान्यता है) कतिपय "धर्मशास्त्रों में वर्णित शिविदान कथा के अनुसार भूखे के लिए अपने शरीर का मांस देना"[4] इत्यादि अनेक प्रकार से प्रचलित तत्कालीन हिंसा पोषक मान्यताओं का अमृतचन्द्राचार्य ने स्पष्ट रूप से सतर्क निराकरण[5] किया और किसी

---

१. सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति ।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्नं जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७९॥ पु०सि०उ०॥

२. धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम् ।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥८०॥ पु० सि० उ०॥

३. पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति ।
इति सम्प्रधार्य कार्यं नातिथये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥८१॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ॥

४. संस्कृत मंजरी, (मा. शि. मण्डल, मध्यप्रदेश भोपाल द्वारा संकलित) पृ० २८

५. उपर्युक्त विभिन्न मान्यताओं के निराकरण हेतु देखिये "पुरुषार्थ सिद्धयुपाय पद्य क्रमांक ८२ से ८९ तक।"

भी प्रकार से हिंसा करने का निषेध किया तथा अहिंसा सुधा की वृष्टि कर प्राणीमात्र के कल्याण की पवित्रतम भावना द्वारा तत्कालीन समाज, साहित्य एवं युग को अनुप्राणित किया।

उन्होंने प्रकट, विद्यमान जगत् को मिथ्या (भ्रमरूप) मानने वाली मान्यता को असत्य बताते हुए "विद्यमान का निषेध करना प्रथम प्रकार का असत्य है" इस—हेतु द्वारा उक्त मत का निरसन किया है।[1] साथ ही अविद्यमान (असत्) वस्तु को स्थापना को द्वितीय प्रकार का असत्य,[2] वस्तु को अन्यरूप से कहने को तीसरे प्रकार का असत्य,[3] गर्हित (निंदनीक), सावद्य (हिंसापोषक), अप्रिय वचन कहने को चौथे प्रकार का असत्य[4] बताकर असत्य वचनों के चार प्रकार के भेदों द्वारा समस्त प्रकार के असत्य पोषक कथनों का परिहार किया और सत्यधर्म की स्थापना, प्रचार व प्रसार किया। असत्य की तरह, परधन हरणरूप चोरी, मैथुन रूप अब्रह्म (कुशील) सेवन, तथा परवस्तु में मूर्च्छारूप भाव (परिग्रह) के सेवन को हिंसारूप बताकर उनका भी निषेध[5] किया। उन्होंने झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह को भी हिंसा के ही भेद बताया क्योंकि वे सभी आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घातक हैं। अतः पांचों पापों को हिंसामयी निरूपित करते हुए कहा कि पांच भेद तो केवल शिष्यों को समझाने के लिए किये गए हैं।[6]

इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र ने अहिंसा के आलोक में हिंसा का सर्वप्रकार से उत्थापन करके, अहिंसामयी अध्यात्म रस की शीतल-शांत एवं सुखमयी वर्षा द्वारा सन्तप्त आत्माओं को शांति व राहत उपलब्ध कराई। साथ ही तत्कालीन प्रदूषण, दबाव, भय तथा भ्रम के वातावरण में वे दिनकर सदृश उदित हुए और शनैः-शनैः उन्होंने अपने प्रखर व्यक्तित्व तथा असाधारण कृतियों द्वारा समाज, साहित्य, धर्म तथा देश को आलोकित और प्रभावित किया।

---

१. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, पद्य ९२
२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, पद्य ९३
३. वही, पद्य ९४
४. वही, पद्य ९५
५. वही, पद्य १०३, १०७, १११
६. आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ॥

पूर्वकालीन साहित्यिक परिस्थितियाँ

वास्तव में तो हित की भावना जिसमें निहित हो ऐसी लेखनी का नाम साहित्य है। उक्त साहित्य शब्द का वास्तविक रूप अब बदल चुका है और आचार-विचारों, सभ्यता तथा संस्कृति का दर्पण साहित्य को माना जाने लगा है। उक्त अर्थ में, आचार विचार आदि भले ही हित की भावना सहित हों या अहित की, परन्तु उन्हें लेखनीबद्ध कर देने से वे साहित्य में परिगणित कर लिये जाते हैं। जिस प्रकार के आचार विचार एवं वातावरण को लेखनी व्यक्त करती है, उसी प्रकार का वह साहित्य कहलाता जाता है, उदाहरण के लिए युद्धसाहित्य, धर्मसाहित्य, हास्य-व्यंगसाहित्य, प्रेमसाहित्य, शांतिसाहित्य इत्यादि। वास्तव में हम देखते हैं कि विभिन्न प्रकार का साहित्य ही समस्त देशों, धर्मों, समाजों आदि के उत्थान व पतन का आधार है।[1] साहित्य किसी भी देश, समाज या व्यक्ति का सामयिक समर्थक नहीं, बल्कि सार्वदेशिक और सार्वकालिक नियमों से प्रभावित होता है। साहित्य में साधना और अनुभूति के समन्वय से समाज और संसार से ऊपर सत्य और सौन्दर्य का चिरन्तन रूप पाया जाता है। इसी कारण साहित्यकार, चाहे वह किसी भी धर्म, जाति, समाज या देश का हो, समान रूप से अनुभूति का भण्डार अर्जित करता है। इस अनुभूति के लिए व्यक्ति, धर्म, जाति, समाज और देश का तनिक भी बन्धन अपेक्षित नहीं। इसी कारण मनीषियों ने आत्मदर्शन को ही साहित्य का दर्शन माना है। अपने में जो आभ्यंतरिक सत्य है उसे देखना और दिखलाना साहित्यकार की चरम साधना है। जैनसाहित्य स्रष्टाओं ने अखण्ड चैतन्य-आनन्दमयी आत्मा के अन्तर्दर्शन करके, अपनी अनुभूतियों को मूर्त रूप प्रदान करने हेतु विपुलमात्रा में साहित्य का सृजन किया। उनकी साहित्यसृष्टि सार्वकालिक, सर्वहितकारी तथा शाश्वत शांति-सुख दायिनी रही है।[2]

ऐसे ही साहित्य की अखण्डधारा आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव से लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर तक चलती रही। उक्त साहित्य धारा पहले मौखिक परम्परा द्वारा प्रवाहित होती रही, जो महावीर के पश्चात् ६८३ वर्ष तक अङ्ग-पूर्वज्ञानधारक आचार्यों द्वारा अविच्छिन्न रूप से

---

१. युगवीर निबन्धावलि, भाग-१, पृ० ४

२. हिन्दी जैन साहित्यपरिशीलन भाग-१, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० १९-२०

चलती रही। पश्चात् उक्त मौखिक श्रमणसाहित्य धारा ने लिखित रूप धारण किया। इस लिखित श्रमणसाहित्यधारा का विकास दो दृष्टियों से होता रहा जिन्हें प्रथम श्रुतस्कन्ध तथा द्वितीय श्रुतस्कंध के नाम से जाना जाता है। इनमें प्रथम श्रुतस्कन्ध की उत्पत्ति आचार्य धरसेन (ईस्वी ३८ से ६६ तक) द्वारा षट्खण्डागम के रूप में हुई। उन्होंने उक्त विद्या आचार्य पुष्पदन्त और आचार्य भूतबलि को सिखाई, जिसे उक्त आचार्ययुगल ने "षट्खण्डागमसुत्त" नाम से प्राकृतभाषा में निबद्ध किया। उक्त षट्खण्डागम के प्रथमखण्ड की रचना आचार्य पुष्पदन्त ने (ईस्वी ६६ से १०६ के बीच) की, शेष (दो से लेकर छह तक) पांच खण्डों के सूत्रों का प्रणयन आचार्य भूतबलि ने (ईस्वी ६६ से १५६ के बीच) किया। उक्त ग्रन्थ की कई टीकाएं रची गई। सर्वप्रथम टीका आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा (ईस्वी १२७ से १६६ के बीच) प्रारम्भ के तीन खण्डों पर रची गई। कुन्दकुन्द कृत टीका का नाम "परिकर्म" था। दूसरी टीका की रचना आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने (ई० द्वितीय सदी) इसके प्रथम पांच खण्डों पर रची। तीसरी टीका के कर्ता आचार्य शामकुण्ड (ई० तृतीय सदी) थे। चतुर्थ टीका आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा (ई० ७६२ से ८२३ के बीच) बनाई गई। इसका नाम धवलाटीका है, जो ७२ हजार श्लोक प्रमाण अत्यंत गंभीर एवं विशाल है।[1] तत्पश्चात् आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांतकक्रवर्ती (ई० सदी १०१८ से १०६८) ने उक्त षट्खण्डागम एवं कषायपाहुड़ का अध्ययन कर साररूप में गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार, त्रिलोकसार की रचना की। उस पर आचार्य अभयचन्द्र द्वितीय (१३३३ से १३४३ ई० के बीच) ने "मन्दप्रबोधिनी" नामक प्रथम संस्कृत टीका रची। द्वितीय टीका केशववर्णी कृत कन्नड़ भाषा में बनाई गई। तृतीय टीका नेमिचन्द्राचार्य चतुर्थ (ई० १६ वीं सदी पूर्वार्ध) ने सविस्तार लिखी। चौथी टीका पण्डितप्रवर टोडरमलजी ने (वि० संवत् १७७६–७७ में) सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका नाम से बनाई जो ३४०६ मुद्रित-पृष्ठों में अद्यावधि उपलब्ध है। इस प्रकार प्रथमश्रुतस्कंध की उत्पत्ति एवं विकास परम्परा चली। इसमें आत्मा और कर्म के सम्बन्ध में सिद्धांत-विषयक ज्ञान का विपुल भण्डार है।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध की उत्पत्ति आचार्य गुणधर से हुई। उनका काल (ईस्वी ५७ से १५६)[2] है। उन्होंने कषायपाहुड़ सुत्त नामक ग्रन्थ

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-४, पृ० ८१ २. वही, भाग-२, पृ० २४४

की रचना की। पश्चात् आचार्य आयमंक्षु और नागहस्ती (ई० ४४५ से ५६० तक) ने इन सूत्रों का विस्तार किया। उसके बाद उनके शिष्य यतिवृषभाचार्य ने (ई० ५४०-६०९) इसकी विशद् टीका "चूर्णिसुत्त" नाम से की। इस टीका का विस्तार ६० हजार श्लोक प्रमाण है। इन्हीं चूर्णिसुत्तों के आधार पर उच्चारणाचार्य ने विस्तृत उच्चारणा लिखी। उक्त उच्चारणा के आधार पर आचार्य वप्पदेव (ई० ७६७ से ७९७) ने भी एक और संक्षिप्त उच्चारणा लिखी। पश्चात् आचार्य वीरसेन ने (ई० ७९२-८२३) इस ग्रन्थ पर २० हजार श्लोक प्रमाण "जयधवला" नामक टीका संस्कृत में लिखी। ये इस टीका को पूर्ण न कर सके, जिसे उनके शिष्य जिनसेनाचार्य (ई० ८००-८४३) ने ४० हजार श्लोक प्रमाण और रचना करके उक्त टीका को पूर्ण किया।[1] इस प्रकार जैनधर्म के विशाल वाङ्मय की सिद्धांतज्ञानधारा अंकुरित, अभिसिंचित एवं विकसित होती रही।

उक्त द्वितीय श्रुतस्कन्ध के ज्ञान को गुरुपरम्परा से आचार्य कुन्दकुन्द ने (ई० प्रथम सदी) ने प्राप्त किया, तथा उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि ग्रन्थों की पाकृत गाथाओं में रचना की और श्रमणों की अध्यात्मज्ञानधारा को विशेष रूप से प्रवाहित किया। इस अध्यात्मधारा को क्रमशः आचार्य उमास्वामी (ई० दूसरी सदी), तार्किक शिरोमणि स्वामी समन्तभद्राचार्य (ई० तीसरी सदी), आचार्य पूज्यपाद (ई० पाँचवीं सदी), आचार्य योगीन्दु (जोइन्दु) देव (ई० छठवीं सदी) आचार्य जटासिंहनन्दि (जटाचार्य–ई० सातवीं सदी), गुणभद्राचार्य (आत्मानुशासनकार) (ई० नवमी सदी पूर्वार्ध), आचार्य अमृतचन्द्र (ई० दसवीं सदी), आचार्य अमितगति प्रथम (ई० ९१८ से ९६८), अमितगति द्वितीय (ई० ९९३ से १०२१), आचार्य पद्मप्रभमलधारीदेव (ई० ११४० से ११८५), मुनि नागसेन (ई० बारहवीं सदी), आचार्य जयसेन (ई० १२९२ से १३२३), आचार्य प्रभाचंद्र (ई० तेरहवीं सदी), बालचंद्र (ई० १३५०) इत्यादि आचार्यों तथा विद्वानों ने अध्यात्मरसप्रचुर टीकाओं तथा मौलिक कृतियों द्वारा यथासंभव आगे बढ़ाया। उपर्युक्त अध्यात्मधारा के विकास एवं प्रचार-प्रसार में आचार्य अमृतचन्द्र का असाधारण योगदान रहा है। जिस प्रकार तीर्थंकर महावीर के

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, भाग-२, पृ० ४१

उपरांत गौतमगणधर का स्मरण किया जाता है, उसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य के बाद अध्यात्म के अद्वितीय प्रवक्ता एवं भाष्यकार के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र का नाम विश्रुत है। उनके बाद के टीकाकारों ने उन्हें कलिकाल-गणधर के गरिमापूर्ण पद से विभूषित किया है।[1]

आचार्य कुन्दकुन्द के अनन्यशिष्य गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी (ई० दूसरी सदी) ने तत्त्वार्थसूत्र अपरनाम मोक्षशास्त्र नामक ग्रन्थ की संस्कृत सूत्रों में रचना कर जैन संस्कृत वाङ्मय में सर्वप्रथम सूत्रशैली का सूत्रपात किया। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों ही जैनसम्प्रदायों में उक्त ग्रन्थ समान रूप से मान्य आदरणीय है। इस ग्रन्थ में जैनसिद्धांतों का रहस्य "गागर में सागर" की तरह भरा गया है। इसे जैनों की बाईबिल कहकर इसकी महत्ता व्यक्त की जाती है। इसके मंगलाचरण रूप प्रथम श्लोक पर ही आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमींमासा (अपरनाम देवागम स्तोत्र) की रचना ईसा की द्वितीय सदी में की थी। पश्चात् आचार्य अकलंकदेव ने (ई० ६४०-६८०) ८०० श्लोक प्रमाण "अष्टशती" नामक संस्कृत पद्यटीका रची। तत्पश्चात् आचार्य विद्यानन्दि प्रथम (ई० ७७५-८४०) ने अष्टशती पर से ८ हजार श्लोक प्रमाण "अष्टसहस्त्री" नामक अत्यन्त प्रौढ़, क्लिष्ट, विद्वज्जनों को आश्चर्यकारी संस्कृत गद्यटीका लिखी। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र पर अनेकों भाष्य और टीकाऐं रची गई, जिनमें कुछ प्रमुख टीकाओं के नाम इस प्रकार हैं :—समन्तभद्राचार्य (ई० दूसरी सदी) द्वारा विरचित ८४ हजार श्लोक प्रमाण टीका "गन्धहस्तिमहाभाष्य", आचार्य पूज्यपाद (ई० पाँचवीं सदी) कृत "सर्वार्थसिद्धि", आचार्य योगीन्दुदेव (ई० छठवीं सदी) विरचित "तत्त्वप्रकाशिका", अकलकभट्ट (भट्टाकलंक-६४०-६८० ई०) द्वारा रचित "तत्त्वार्थराजवार्तिक", आचार्य विद्यानन्दि (७७५-८४० ई०) कृत "श्लोकवार्तिक", अमृतचन्द्राचार्य (दसवीं सदी ई०) द्वारा प्रणीत "तत्त्वार्थसार" पद्यटीका, आचार्य अभयनन्दि (ग्यारहवीं सदी ई०) द्वारा लिखित तत्त्वार्थवृत्ति", आचार्य शिवकोटि (ग्यारहवीं सदी ई०) द्वारा "रत्नमाला", आचार्य भास्करनन्दि (तेरहवीं सदी ई०) कृत "सुखबोध टीका", आचार्य बालचंद्र (ई० १३५०) कृत कन्नड़ टीका, विबुधसेन आचार्य कृत "तत्त्वार्थ-टीका", योगदेव कृत "तत्त्वार्थवृत्ति टीका", लक्ष्मीदेव कृत "तत्त्वार्थटीका", आचार्य श्रुतसागर (ई० १४७३-१५३३) कृत "तत्त्वार्थवृत्ति टीका",

---

१. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (अनुवादक-अज्ञात) प्रथमावृत्ति १९२८ ई० का मुख्यपृष्ठ

श्रुतसागर द्वितीय विरचित "तत्त्वार्थसुखबोधिनी टीका", पं० सदासुखदास (ई० १७९३-१८६३) द्वारा रचित "अर्थप्रकाशिका" हिन्दी टीका इत्यादि अन्य अनेक विभिन्न भाषाओं में टीकाऐं उपलब्ध हैं।[1] इस प्रकार आचार्य उमास्वामी द्वारा सूत्रशैली में उद्घाटित जैन अध्यात्म की सरिता प्रवाहित होती रही। इस अध्यात्मधारा के विकास में आचार्य अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार पद्यटीका रचकर अपना अपूर्व योगदान किया।

इसके अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द के ही प्रशिष्य एवं आचार्य उमास्वामी के शिष्य समन्तभद्राचार्य ने गन्धहस्तिमहाभाष्य, आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, जीवसिद्धि, तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थों की रचना कर एक ओर जैन-न्याय के भव्य भवन की आधार शिला स्थापित की; दूसरी ओर रत्नकरण्डश्रावकाचार की रचना द्वारा जैन श्रावकों की आचार परम्परा का प्रकाश स्तम्भ खड़ा किया। साथ ही स्वयंभूस्तोत्र तथा जिनस्तुतिशतक आदि स्तोत्र-काव्यों के निर्माण द्वारा जैन अध्यात्म एवं भक्ति की तरंगिणी प्रवाहित की।

जैन-न्याय का विकास:— आचार्य समन्तभद्र द्वारा स्थापित जैनन्याय के भव्य भवन की आधारशिला पर अनेक आचार्यों ने जैन-न्याय का सुदृढ़, सुरम्य भवन निर्मित किया। उनमें कुछ आचार्यों के नाम तथा काम इस प्रकार हैं :— आचार्य पात्रकेशरी (ई० छठवीं सदी) ने बौद्धों के त्रैरूप्य हेतुवाद का खण्डन करने के लिए "त्रिलक्षणकदर्शन" नामक न्यायशास्त्र की रचना की। उनके बाद जैन न्याय के प्रखर प्रणेता, आचार्य अकलंक-भट्ट ने (ई० ६२० से ६८०) समन्तभद्र के आप्तमींमासा ग्रन्थ पर "अष्टशती" नामक भाष्य लिखा। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रमाण संग्रह, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय और तत्वार्थराजवार्तिक आदि अत्यन्त गंभीर न्याय व तर्क परक ग्रन्थों का प्रणयन किया और जैन न्याय के प्रतिष्ठाता कहलाये।[2] उनके पश्चात् मुनि विद्यानन्दि (ई० ७७५-८४०) ने अकलंक भट्ट के ग्रन्थ अष्टशती पर "अष्टसहस्त्री" नामक विद्वज्जनमन आश्चर्यकारी, गंभीर न्याय-तर्क व युक्तिबहुल विशद् टीका लिखी। अष्टसहस्त्री को पढ़कर बड़े-बड़े विद्वान भी उसे कष्टसहस्त्री अनुभव करते हैं। वे सभी दर्शनों के पारगामी विद्वान थे। उन्होंने अष्टसहस्त्री के अतिरिक्त आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा,

---

१. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-२, पृष्ठ ३५५-३५६

२. जैनधर्म, पृष्ठ २६९

सत्यशासन परीक्षा, प्रमाणमीमांसा, प्रमाणनिर्णय, जल्पनिर्णय, नयविवरण, युक्त्यनुशासन, तत्वार्थश्लोकवार्तिक, विद्यानन्दमहोदय तथा बुद्धेश भवन व्याख्यान, इन १३ गंभीर ग्रन्थों की रचना कर जैन न्याय, तर्क एवं दर्शन परक वाङ्मय को भलीभांति समृद्ध किया। इसी तरह आचार्यकुमारनन्दि चतुर्थ (ई० आठवीं सदी का उत्तरार्ध नवमी सदी का एवार्ध)ने "वादन्याय" नामक ग्रन्थ की रचना की। तत्पश्चात् आचार्य माणिक्यनन्दि द्वितीय (नवमी दसवीं सदी ई०) ने अकलंकदेव के वचनों का अवगाहन करके परीक्षामुख नामक सूत्रग्रन्थ की रचना की जिसमें प्रमाण, प्रमाणाभास आदि की सूक्ष्म, संक्षिप्त परन्तु स्पष्ट चर्चा है। उनके बाद आचार्य अनन्तवीर्य (ई० दसवीं सदी के उत्तरार्ध में) अकलंकन्याय के प्रकांड पंडित हुए, जिन्होंने अकलंक के सिद्धिविनिश्चय ग्रन्थ पर बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका लिखी है। बहुश्रुत, दार्शनिक विद्वान् प्रभाचंद्र (ई० ९२५-१०२३) ने अकलंक के लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुदचन्द्र नामक भाष्य तथा माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्र पर "प्रमेयकमलमार्तण्ड" नामक अत्यन्त गंभीर एवं विषद् टीका बनाई। श्रवणबेल्गोल (मैसूर) के ४० नं० के शिलालेख में इन्हें शब्दाम्भोरुहभास्कर और प्रथिततर्कग्रन्थकार बताया गया है।[1] इनके ही समकालीन आचार्य अमृतचंद्र (वि० ९६३ से १०१५) में हुए जो अत्यन्त प्रौढ़ गभीर, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक टीकाओं एवं मौलिक ग्रन्थों के रचयिता थे। उन्होंने कुन्दकुन्द के समयसार पर संस्कृत में "आत्मख्यातिकलशटीका", प्रवचनसार पर तत्त्वप्रदीपिका टीका, पंचास्तिकाय पर समयव्याख्या टीका लिखकर इन्हें अत्यन्त तर्क प्रचुर, न्यायपूर्ण, मर्मस्पर्शी तथा अध्यात्मरस से सराबोर निर्मित कर न्याय, सिद्धांत तथा अध्यात्म की त्रिवेणी प्रवाहित की। उनके बाद मुनिराज वादिराज (ई० १०००-१०४० में) हुए जो स्याद्वादविद्यापति, षट्तर्कषण्मुख जगदेकमल्लवादी आदि विशिष्ट उपाधियों से विभूषित थे। तालुका नगर के ३९ नं० के शिलालेख में आपको प्रतिपादन करने में धर्मकीर्ति, बोलने में बृहस्पति और न्यायशास्त्र में अक्षपाद निरूपित किया गया है। इन्होंने अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय पर २० हजार श्लोक प्रमाणटीका रची। इसके अतिरिक्त एकीभाव स्तोत्र, पार्श्वनाथ स्तोत्र, यशोधरचरित्र, काकुस्थचरित्र आदि रचनाएं की। आप साहित्यिक युग के असाधारण विद्वान्, वैयाकरण, महानतार्किक, और गंभीर काव्य-

---

१. जैनधर्म पृष्ठ २७१

कार थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने ही अपनी एक रचना "एकीभावस्तोत्र" के अन्त में लिखा है कि समस्त वैयाकरण वादिराज से पीछे हैं, समस्त तर्कवादी वादिराज के बाद ही आते हैं, समस्त काव्यकार वादिराज से पीछे परिगणित हैं, समस्त भव्यजनों के हितैषियों में वादिराज ही अग्रणी हैं शेष सभी उनके बाद हैं।[1] इस प्रकार उपर्युक्त आचार्यों ने समंतभद्र द्वारा स्थापित तर्क व न्याय धारा को परिपुष्ट एवं सुविकसित किया। उसमें भी आचार्य अमृतचन्द्र का अमूल्य योगदान रहा।

जैन गृहस्थाचार परम्परा का विकास:— समन्तभद्र द्वारा प्रदर्शित जैन गृहस्थाचार परम्परा को विकसित करने वाले आचार्यों में आचार्य कार्तिकेय (ई० ग्यारहवीं सदी) कार्तिकेयानुप्रेक्षाग्रंथ रचने वाले, आचार्य जिनसेन (ई० ८०० - ८४३) महापुराण की रचना करने वाले, आचार्य अमृतचन्द्र (९६२-१०१५ ई०) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के प्रणेता, पं० आशाधरजी (ई० ११७३-१२४३) सागार धर्मामृत के कर्ता चरित्र सारग्रंथ कर्ता, चामुण्डराय (ई० १०-११वीं सदी), अमितगति श्रावकाचार (९९३-१०२१) रचयिता अमितगति, वसुनन्दिश्रावकाचार के लेखक आचार्य वसुनंदि आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त लेखकों में सर्वाधिक प्रामाणिक, लोकप्रिय, अत्यन्त गंभीर ग्रन्थकार आचार्य अमृतचन्द्र ही हैं। उनका पुरुषार्थसिद्धिउपाय इस विषय का अनुपम, श्रेष्ठ ग्रन्थ रत्न है, जिस पर आगे यथास्थल सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

जैन भक्ति-धारा का विकास— समन्तभद्र द्वारा प्रवाहित आध्यात्मिक रसपूर्ण भक्ति धारा को प्रवाहित एवं विकसित करते रहने वाले अनेक आचार्य हुए, जिनमें सिद्धभक्ति आदि (दशभक्त्यादि) स्तुतियों के रचयिता आचार्य पूज्यपाद (ई० ५-६वीं सदी), सहस्त्रनाम स्तोत्र रचयिता आचार्य जिनसेन (ई० ८८०-८४३), "लघुतत्त्वस्फोट" अपर-नाम "शक्तिमणित्कोश" नामक अत्यन्त गहन, आलंकारिक, अध्यात्म व दर्शन से अनुप्राणित रचना के रचयिता आचार्य अमृतचन्द्र (९६२-१०१५ वि०), सामायिक पाठ के कर्ता आचार्य अमितगति (ई० ९९३-१०२१), एकीभावस्तोत्र के लेखक वादिराज (ई० १०००-१०४०), भक्तामर,

---

१. वादिराजमनुशाब्दिकलोको, वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
वादिराजमनु काव्यकृतस्ते, वादिराजमनु भव्यसहायः ॥श्लोक नं० ॥२६॥
एकीभाव स्तोत्र

(आदिनाथ) स्तोत्र के कर्ता आचार्य मानतुङ्ग (ई० १०२१-१०५५), कल्याणमन्दिर स्तोत्रकार कुमुदचन्द्राचार्य, विषापहारस्तोत्रकार महाकवि धनंजय, जिनचतुर्विंशन्तिका के रचियता महाकवि भूपाल आदि मुख्य हैं। इन सभी रचनाओं में आचार्य अमृतचन्द्र की रचना "लघुतत्त्वस्फोट" एक अत्यन्त प्रौढ़, चमत्कारी-आलंकारिक सस्कृतपद्यों में उपलब्ध हुई है।[1] इस कृति में अमृतचन्द्र की असाधारण काव्यप्रतिभा द्वारा जैनदर्शन, अध्यात्म एवं भक्तिरूप त्रिधाराओं ने एकमेक होकर विशाल साहित्यिक सरिता का रूप धारण किया है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र के त्रित्व की एकत्वरूप आत्मज्योति की जगमगाहट आचार्य अमृतचन्द्र की साहित्यिक कृतियों में प्रस्फुटित है। उनके काल में जहां अन्यमतों में कहीं पर तर्क, न्याय तथा आत्मानुभूति की उत्थापना होकर रहस्यमयी ब्रह्म की घोषणाएं हो रही थी, कहीं पर खोटी युक्तियों तथा अनुचित साधनों द्वारा सारहीन तथ्यों की घोषणाएं एवं विजिगीषा को पूर्ण किया जा रहा था, वहीं पर आचार्य अमृतचन्द्र भी अपनी कृतियों एवं टीकाओं में डंके की चोट, निर्भीक घोषणाओं द्वारा स्याद्वादन्याय, आत्मानुभूति, निर्दोष युक्ति एवं पूर्वाचार्य परम्परा की स्थापना करने को कटिबद्ध थे। इस सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका का निम्न अंश प्रकट प्रमाण है। वे लिखते हैं :—"स्यात् पद मुद्रांकित शब्दब्रह्म (जिनवाणी) की उपासना द्वारा प्रगट निज आत्मानुभूति से, अत्यंत निर्दोषयुक्ति के अवलम्बन से, पर-अपरगुरु (अर्थात् जिनेन्द्रदेव तथा गणधर आदि) से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त उपदेश के अनुसरण से तथा निरन्तर झरते हुए निजवैभव

---

१. आचार्य अमृतचंद कृत, लघुतत्त्वस्वफोट या शक्तिमणित्कोश नामक एक श्रेष्ठ दिगम्बर कृति अद्यावधि जैनसमाज में अज्ञात थी। सद्भाग्य से इस ग्रन्थ की मात्र ताड़पत्रीय कृति अहमदाबाद के श्वेताम्बर जैन मंदिर के डेला भण्डार में आगमोद्धारक श्वेताम्बर मुनिराज श्री पुण्यविजय जी को उपलब्ध हुई। उन्होंने बड़ी उदारता के साथ उक्त प्रति की प्रसिद्धि की तथा उसकी कापी कराकर सम्पादनार्थ डॉ० पद्मनाथ श्रीवर्णजी जैनी, यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया यू.एस.ए. के पास भेजी। जिसका आंग्लभाषा में सानुवाद सम्पादन होकर लालभाई दलपत भाई विद्यामन्दिर अहमदाबाद से मार्च १९७८ में प्रथम बार प्रकाशन किया गया।

से एकत्वविभक्त आत्मा को दिखाने हेतु मैं कटिबद्ध हूँ।[1]. उपर्युक्त साधनों के अतिरिक्त छल वितण्डा, वाद, निग्रहस्थान आदि से आत्मोपलब्धि की सिद्धि त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है इसकी भी घोषणा उन्होंने अपनी टीकाओं में की है। उदाहरणार्थ "अनंतचैतन्य चिह्न वाली आत्मज्योति का हम हमेशा अनुभव करते हैं, क्योंकि उसके अनुभव के बिना अन्य प्रकार से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं होती, नहीं होती। वह आत्मज्योति (सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र के) त्रित्वरूप वाली होने पर भी अपने एकत्व को नहीं छोड़ती हुई निर्मलता के साथ उदित हो रही है।[2] इस अंश में यहां "न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः" शब्दों में कितनी दृढ़ता, और सत्यानुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति पाई जाती है। आचार्य अमृतचन्द्र के पूर्व तथा समकाल में राग द्वेष, मोह को बढ़ाने वाले साहित्य की सृष्टि हो चुकी थी। ऐसे साहित्य को आत्म अहितकारी बताते हुए वे उसके पठन-श्रवण आदि का निषेध करते हुए लिखते हैं कि राग द्वेष मोहादि को बढ़ाने वाली तथा बहुत अंशों में अज्ञान से भरी हुई दुष्टकथाओं का सुनना, धारण करना, सीखना आदि किसी समय कभी भी नहीं करना चाहिए।[3] आचार्य श्री जहां एक ओर तत्कालीन वातावरण के परिमार्जन में लगे थे, वहां दूसरी ओर दिगम्बर जैन श्रमण परम्परा के यथार्थ-सत्यार्थ सिद्धान्तों के मण्डन तथा सिद्धांत विरुद्ध समस्त प्रकार की विकृतियों तथा मान्यताओं के खण्डन में सतर्क रहते थे। श्वेताम्बर मत सम्मत वस्त्रादि परिग्रह सहित गुरुपने तथा केवली के कवलाहारी होने का खण्डन करते हुए वे लिखते हैं—

---

१. "इह किल सकलस्योद्भासितस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा, समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिष्ठुषयुक्त्यवलम्बनजन्मा, निर्मलविज्ञाननघनान्तर्निमग्न परापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा, अनवरतस्यंदिसुन्दरानन्दमुद्रितामन्दसंविदात्मक स्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि।"

आत्मख्याति टीका, गाथा ५ पृष्ठ १४-१५

२. कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकतायाः, अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनन्त चैतन्यचिन्हं, न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः॥

आत्मख्याति, समयसारकलशटीका, कलश-२०

३. रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन् कुर्वीत श्रवणार्जन शिक्षणादीनि॥ १४५, पु० सु०॥

"परिग्रह सहित भी गुरू होता है और केवली कवलाहारी होता है, इस प्रकार की जिसकी श्रद्धा होती है, वह विपरीत मिथ्यात्व है।"[1] आचार्य अमृतचन्द्र मोहविजेता, अजेय सेनानी तथा प्रमाद चोर से सदा सावधान रहने वाले सजग प्रहरी के रूप में उनकी ही कृतियों में चित्रांकित पाते हैं। वे स्वयं इस बात का उल्लेख करते हुए लिखते हैं – "मुझे मोह नहीं है, स्वपर का विभाग (भेदविज्ञान) है।"[2] "मैंने मोह की सेना जीतने का उपाय पा लिया है।"[3] "मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कस ली है।"[4] "अब मैंने चिंतामणि रत्न प्राप्त कर लिया है तथापि प्रमाद चोर विद्यमान है, यह विचारकर मेरा आत्मा सावधान रहता है।"[5]

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी समस्त कृतियों में अध्यात्म की गंगा प्रवाहित कर जैनदर्शन, न्याय तथा अध्यात्म और आचार को विमल तथा विकसित करने में भागीरथी प्रयत्न किया है। अध्यात्म जैन दर्शन का प्राण है और आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियाँ उसको परिपुष्ट एवं चिरंजीवी बनाये रखने हेतु संजीवनी समान हैं। इस प्रकार विकट साहित्यिक परिस्थितियों के बीच भी दृढ़तापूर्वक जैन अध्यात्म एवं दर्शन के मौलिक सिद्धांतों की सुरक्षा करते हुए, स्वपर कल्याणकारी साहित्य की सृष्टि कर आचार्य अमृतचन्द्र पूर्वकालीन आचार्य परम्परा को, तत्कालीन साहित्य व समाज को तथा आगामी पीढ़ियों के कल्याणकारी पथ को आलोकित करने में सफल रहें हैं।

पूर्वकालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ

उपर्युक्त साहित्यिक परिस्थितियों के आकलन के पश्चात् आचार्य अमृतचन्द्र की पूर्व राजनीतिक परिस्थितियों पर प्रकाश डाला जाता है।

---

१. सग्रन्थोऽपि च निग्रन्थो, ग्रासाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा यत्र विपरीतं हि तत्स्मृतम् ॥ तत्त्वार्थसार, अध्याय ५ पद्य ६

२. नास्ति मे मोहोऽस्ति स्वपर विभागः। प्रवचनसार गाथा १५४ टीका, पृ० २५०

३. यद्येवलब्धोमया मोहवाहिनी विजयोपायः।
प्रवचनसार गाथा ८० टीका, पृ० ११२

४. अतो मया मोहवाहिनी विजयाय बद्धाकक्षेयम्। वही, गाथा ७६ टीका, पृ० ११०

५. अथैवं प्राप्तचिंतामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति।
प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा ८१, उत्थानिका, पृ० ११३

किसी भी देश अथवा समाज के साहित्य पर तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। समाज में रहकर साहित्य साधना करने वाले विद्वानों पर राजनीतिक परिस्थितियों का प्रभाव यदि अधिकांश रूप में होता है तो वनवासी ऋषियों-मुनियों के साहित्य पर आंशिक रूप में, परन्तु प्रभाव अवश्य लक्षित होता है। भगवान् महावीर के समय वैशाली का राजवंश गणतंत्र के रूप में था परन्तु राजगृह का राजवंश राजतन्त्र के रूप में विद्यमान था। "महावीर की माता लिच्छवि गणतन्त्र के प्रधान चेटकराजा की पुत्री थीं। ई० पूर्व छठवीं सदी में पूर्वीय भारत में लिच्छवि राजवंश अत्यन्त शक्तिशाली एवं महान् था। चम्पा के राजा कुणिक (अजातशत्रु ई० पूर्व ५५२ से ५१८ के बीच) ने चेटक पर आक्रमण करने की तैयारी की तब चेटक ने काशी-कौशल आदि के १८ राजाओं को बुलाकर कुणिक के विपक्ष में समर्थन प्राप्त किया था। इससे पता चलता है कि भगवान् महावीर का राजघरानों पर गहरा प्रभाव था।[1] राजा श्रेणिक (ई० पूर्व ६०१-५५२), नन्दवंश (ई० पूर्व ३०५), मौर्यसम्राट चन्द्रगुप्त (ई० पू० ३२०), सम्राट अशोक (ई० पू० २७७), सम्राट सम्प्रति (ई० पू० २२०), उड़ीसा में चक्रवर्ती खारवेल (ई० पू० १७४) आदि जैन धर्म के उपासक थे।[2] इनके काल में जैनधर्म काफी फला-फूला। प्रोफेसर रामस्वामी अयंगर ने लिखा है कि सुशिक्षित जैन साधु छोटे-छोटे समूह बनाकर दक्षिण भारत में फैल गये। उन्होंने दक्षिण की भाषाओं में साहित्य निर्माण कर जैनधर्म का प्रभाव वृद्धिगत किया। मेगस्थनीज के विवरण से पता चलता है कि ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दी तक राजा लोग अपना दूत भेजकर वनवासी जैन श्रमणों से राजकीय मामलों में सलाह लिया करते थे। वे शताब्दियों तक जैन धर्म के प्रति सहिष्णु बने रहे। परन्तु जैनधर्म ग्रन्थों में रक्तपात के निषेध पर अधिक जोर दिये जाने से राजा लोग उनसे दूर हो गये, जिससे जैनों का राजनीतिक पतन प्रारम्भ हो गया।[3] डॉ० एस. बी. देव ने इस बात का स्पष्टोल्लेख किया है कि शक्ति सम्पन्न गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत

---

१. जैनधर्म, पृष्ठ २४

२. वही, पृष्ठ २८, ३१, ३४, ३५ व ३६

३. स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, पृष्ठ १०५–१०६

पश्चिमी भारत, गुजरात एवं राजपूताना जैनधर्म के प्रमुख केन्द्र थे।[1] ई. पूर्व २२० में सम्प्रतिमौर्य ने भारत के विभिन्न प्रदेशों में जैनधर्म का प्रचार किया। उसके छोटे भाई शालीशुक ने भी सौराष्ट्र में जैनधर्म को फैलाने का श्रेय प्राप्त किया। इससे यह बात प्रमाणित होती है कि ई. पूर्व द्वितीय सदी के लगभग सम्पूर्ण उत्तरी भारत में जैनधर्म के अनुयायी थे। सम्प्रतिमौर्य ने उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया था, उस समय मालवा, मथुरा तथा मध्य भारत में जैनों का विशेष वर्चस्व था। इसके अतिरिक्त कलिंग, बंगाल में भी जैनधर्म का प्रभाव दिखाई देता था। पहारपुर ताम्रपत्र जो कि गुप्तकाल संवत् १५९ तथा ईस्वी ४७८–७९ का है, इस बात का संकेत करता है कि दिगम्बरों का अस्तित्व बंगाल में था। एक लेख में नंदिसंघ के आचार्य गुहनंदि का उल्लेख है। बंगाल के ही मेनामती ग्राम में ५०० ईस्वी की तीर्थंकर की मूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं। चीनी यात्री ह्वेनसांग जिसने सातवीं ई. में भारत की यात्रा की थी, ने लिखा है कि नग्न निर्ग्रंथ मुनिराज उस समय अधिक संख्या में थे।[2] इस प्रकार चीनी यात्रो के विवरणों, पुरातत्त्व तथा जैन अनुश्रुतियों आदि अन्य ऐतिह्य साधनों से पता चलता है कि आठवीं सदी तक सम्पूर्ण कलिंग देश में जैनधर्म की अच्छी स्थिति थी।[3] कवि श्रीहर्ष के नैषध चरित से विदित होता है कि आठवीं ई. सदी में सिन्ध में जैनधर्म अच्छी दशा में प्रचलित था। मुल्ताननगर तो मध्यकाल में भी इस प्रदेश में जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र बना रहा। गौड़ी पार्श्वनाथ की सुप्रसिद्ध मूर्ति से सम्बन्धित अनुश्रुतियाँ भी प्राचीनकाल में सिन्ध में जैनधर्म के अस्तित्व का समर्थन करती हैं।[4] इस तरह जहाँ एक ओर ई. सातवीं-आठवीं सदी में भारतवर्ष के अधिकांश भागों में जैनधर्म का प्रचार-प्रसार एवं प्रभाव अपने उत्कर्ष पर था, वहीं दूसरी ओर राजनीतिक राजाओं के संरक्षण एवं समर्थन में भयंकर, रोमांचकारी अत्याचारों का भी सूत्रपात हो चुका था। राजाओं

---

१. We go to Western India and Gujrat, we shall see the state of Jainism under the powerful Gupta Empire. It would be better for us to treat Gujrat, Western India and Rajputana separately as they have longbeen known to be centres of Jainism' (History of Jain Monachism from Inscription Literature—Page 102.)

२. वही, पृष्ठ ९७

३. भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृष्ठ १९४

४. वही, पृष्ठ २१३

में परिवर्तन प्रारम्भ हो गया। उनकी आस्था ने जिस मत या सम्प्रदाय का समर्थन किया, उसे हर प्रकार से ऊँचा उठाया, प्रचार किया, परन्तु जिस मत या सम्प्रदाय से उनकी आस्था हटी, उस मत के अनुयायियों को बलपूर्वक मत परिवर्तन कराया, उनका दमन किया उन्हें यातनाएँ पहुँचाई, यहाँ तक उनको मौत के घाट उतारा गया। इतिहास के सैकड़ों पृष्ठ ऐसे वातावरण के वर्णन से भरे पड़े है। श्रीमती सिक्लेयर स्टीवेंशन इस सम्बन्ध में लिखती हैं—ई. सन् ६४० में, जब चीनी यात्री ह्वेनसांग भारत आया तब वह दक्षिण में नग्न दिगम्बर मत के अनेक साधुओं से मिला और उनके सुन्दर मंदिरों की प्रशंसा की। परन्तु उसकी यात्रा के पश्चात् महान् परिवर्तन पूर्ण अभियान प्रारम्भ हुआ। एक जैन राजा कृण ने अपना मत परिवर्तन कर सातवीं सदी के बीच शैवमत स्वीकार किया। अर्काट के त्रिवतूर लेख से ज्ञात होता है कि उसने अपने पूर्व सहधर्मियों को हजारों की संख्या में कत्ल कर दिया, क्योंकि वे उसका अनुकरण करने को तैयार नहीं थे। इस तरह दक्षिण भारत में जैनमत का काफी ह्रास हुआ।[1] इधर उत्तर भारत में भी मुस्लिम आक्रमणों का शिकार जैन गृहस्थों तथा जैनाचार्यों को बनना पड़ा।

आश्चर्य नहीं कि उत्तर भारत में मुसलमानों के विध्वंसकारी अभियान से कोई भी मन्दिर अवशिष्ट बचा हो। फिर भी जैनधर्म स्वयं ही उस आंधी में नहीं बुझ पाया, जिस आंधी ने आसानी से बौद्धों का भारत से सफाया किया।[2] उत्तर भारत की भांति, दक्षिण भारत में "मलिककाफूर" के नेतृत्व में मुसलिम आक्रमण की लहरों से जैन सन्तों

---

1. In A. D. 604 when the Chinese traveller Hiuen Tsang visited India, he met numbers of monks belonging to Digambar (naked) seatin the south and admired their beautiful temples. But after his visit, A great prosecution arose. A Jain king, Kuna became converted to Shaivism in the middle of the seventh century and if we may trust the sculptures at trivatur in Arcot, slew with the horrible severity thousands of his former co-religionists who refused to follow his example.....This time the prosperity of Jainism in the South steadily declined.
(The Heart of Jainism by Smt. Sinclair Stevenson. Ed. by J. N. Farauhar. Page—18 Edn. 1915)

2. To return to the North, the wonder is not, that any temples Servived the mohammadan prosecutions, but that Jainism it self was not extinguished in a storm which simply swept Buddhism out of India. Ibid—Page 18.

को कठिन समय का सामना करना पड़ा। कठिनाई के कारणों में ब्राह्मणों के कई सम्प्रदायों की प्रतिद्वन्दता भी एक है। इस प्रतिद्वन्दता ने जैन सन्तों की अध्ययन सम्बन्धि परम्पराओं (आदतों) को अस्थायी तौर से पीछे ढकेल दिया।[1] उक्त अत्याचार एवं आतंकपूर्ण लहर धीरे धीरे विभिन्न प्रदेशों में फैलने लगी।

ईस्वी छठवीं-सातवीं सदी में ही तमिलदेश में; विशेषतः पाण्ड्यराज्य में जैनों का बड़ा भारी राजनैतिक प्रभाव था। कलभ्रों के आक्रमण से लेकर सुन्दरपांड्य के धर्मपरिवर्तन काल तक जैन लोग राज्य की राजनीति के सूत्रधार थे। वे वैदिक धर्म का कठोरता से विरोध करते थे। इसने शीघ्र ही प्रतिक्रिया का रूप धारण कर लिया। इसलिए सुन्दरपांण्ड्य का धर्म-परिवर्तन मदुरा राज्य के धार्मिक इतिहास में केवल प्रासंगिक घटना नहीं थी, बल्कि वह एक राजनैतिक क्रांति थी और उसका लाभ ब्राह्मण संत सम्बन्दर ने खूब उठाया, जिसके फलस्वरूप हजारों जैनों को शैव बनाया गया और जिन्होंने अपनी कट्टरतावश शैव धर्म स्वीकार नहीं किया उन्हें देश से निकाल दिया गया। उसकी प्रेरणा से आठ हजार जैनों को कोल्हू में पेल दिया गया, वे सभी जैनधर्म के मात्र अनुयायी ही नहीं, अपितु मुखिया थे। सम्बन्दर ने कुछ भजन लिखे जिनमें अविचारी जनता को जैनों के विरुद्ध भड़काया गया, उन्हें गाली तथा अपशब्दों का प्रयोग किया गया, उनको बुरे रूप में चित्रित किया गया। श्री रामस्वामी आयंगर ने अपनी पुस्तक "स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म" में लिखा है कि यह सभी जानते हैं कि गालियाँ कोई युक्तियां नहीं हैं और सम्बन्दर के भजनों में गालियों के सिवाय और कुछ भी नहीं है। इससे हमें बलात् ही निष्कर्ष निकालना पड़ता है कि सम्बन्दर तथा उसके साथी अप्पर ने जैनों को पराजित करने के जो जो ढंग अपनाये वे केवल असभ्य ही नहीं थे किन्तु क्रूर भी थे।[2] सम्बन्दर पहले जैन था, पश्चात् उसने जैनधर्म का परित्याग करके शैवधर्म को अपनाया। उसने नेन्दुमारन् को भी शैव बना लिया।

---

1. As in the case of northern India, in the south also, with the waves of Muslim aggression under Malik--Kafur, Jain Monks faced hard dark days, added to which was the rivalary of numerous Brahmanical seats which possibly gave a temporary set back to the studious habits of Jaina monks. "The History of Jain Monachism from Inscriptions and Literature. (S. B. Dev) Page. 453.

२. दक्षिण भारत में जैनधर्म, पृष्ठ २२

नेन्दुमारन् ने संवन्दर के सहयोग से पाण्ड्यराज्य के जैनियों पर अमानुषिक अत्याचार किये। जिसके दृश्य मदुरा के प्रसिद्ध मीनाक्षी मन्दिर की दीवार के प्रस्तरांकनों में आज भी विद्यमान हैं। यद्यपि कडूंग से लेकर नेन्दुमारन् (ई० सातवीं सदी) के समय तक पुनरुत्थापित पाण्डयराज्य की शक्ति और प्रभाव बढ़ता आ रहा था। परन्तु इन धार्मिक तथा राजनैतिक अत्याचारों के कारण लगभग एक शताब्दी के लिए जैनधर्म की उन्नति पिछड़ गई।[1]

उपर्युक्त आतंककारी राजनैतिक वातावरण आचार्य अमृतचन्द्र के समय (ई० ९६२-१०१५) तक चरमोत्कर्ष पर था। फिर भी वे अपने उपदेशों तथा कृतियों में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पांचों व्रतों की यथाशक्ति पालन करने का उपदेश देते रहे। उन्होंने अपने ग्रंथ "पुरुषार्थ सिद्धयुपाय" में उक्त पांचों सिद्धान्तों का सविस्तार स्वरूप प्रस्तुत किया है। हजारों जीवों के हत्यारे की भी हत्या करने को हिंसा सिद्ध कर हत्यारे को भी मारने का निषेध किया। वे लिखते हैं कि इस एक ही जीव का घात करने से बहुत जीवों की रक्षा होती है "ऐसा मानकर हिंसक जीवों को भी हिंसा नहीं करना चाहिये।[2] जैनाचार्यों के उपदेशों में उदात्त तथा प्राणीमात्र के कल्याण की श्रेष्ठ भावना निहित रही है, इसीलिए ऐसे विषम, संकटापन्न वातावरण में भी वे सात्विक (अहिंसक या भद्र) जीवों के साथ मित्रता करने, गुणवानों से प्रेम करने, दुखी प्राणियों पर दया करने तथा विरोधी (आतंकवादी) जनों के प्रति भी माध्यस्थ भाव रखने की भावना भाते थे तथा उसी का प्रचार प्रसार करते थे।[3] इस संदर्भ में डा. ज्योतिप्रसाद जैन लिखते हैं कि शैव-वैष्णव आदि द्वारा कालविशेषों और प्रदेश विशेषों में जैनों पर भीषण अत्याचार किये जाने पर भी और स्वयं जैनों के इस युग में इतना अधिक शक्ति

---

१. भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृ० २४७

२. रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्त्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्वानाम् ॥८३॥ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ॥

३. सत्वेषु मैत्रीं, गुणीषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ, सदा ममात्मा विदधातु देवः ॥१॥
कृत सामायिक पाठ, "श्री जिनस्तोत्र व पूजनसंग्रह, संकलयिता—
हीरालाल छगनलाल काले, सोलापुर, वी. नि. सं० २४८०

सम्पन्न होते हुए भी उनके द्वारा अजैनों पर धार्मिक अत्याचार किये जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। साथ ही जैनधर्म अपने अनुयायियों के लौकिक कर्तव्यों, वीरतापूर्वक युद्धसंचालन, स्वदेशप्रेम, स्वराज्य रक्षा एवं विस्तार, शासन प्रबंध आदि में बाधक तो कभी हुआ ही नहीं, साधक ही हुआ। जैन विद्वानों ने भारती का भण्डार भरा और जैनकलाकारों ने अद्वितीय कृतियों से देश को अलंकृत किया। अपने इस अभ्युदय काल में जैन संस्कृति ने भारतीय संस्कृति का सर्वतोमुखी विकास किया।[1] आचार्य अमृतचन्द्र भी ऐसे ही अग्रणी आचार्यों में अग्रगण्य हैं जिन्होंने भारतीय संस्कृत वाङ्मय की विभिन्न धाराओं को अपनी मौलिक कृतियों तथा टीकाओं द्वारा सम्पुष्ट, सम्वर्द्धित एवं समृद्ध किया है। साथ ही उन्होंने पूर्वकालीन तथा तत्कालीन धार्मिक, साहित्यिक और राजनीतिक विकट-विषम-वातावरण में भी जैनदर्शन, जैनन्याय, जैनअध्यात्म और जैनाचार विषयक विभिन्न धाराओं का भली भांति संरक्षण तथा सम्वर्द्धन किया है। एक ओर जहां उन्होंने विपुल वाङ्मय की सृष्टि तथा स्वपरकल्याणकारी आत्मसाधना की, वहीं दूसरी ओर पतनोन्मुख, उत्पीड़ित तथा दिशाहीन समाज को मार्गदर्शन, संरक्षण एवं दिशा प्रदान की। जहां तथोक्त दूषित वातावरण में अपना ही जीवन सुरक्षित व्यतीत करना भी कठिन होता है, वहां प्रदूषित वातावरण को परिष्कृत करना तथा ज्ञानप्रकाश फैलाकर समाज का हित करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, परन्तु आचार्य अमृतचन्द्र के अपने हिमालय सदृश अडिग व्यक्तित्व तथा गंगासदृश पवित्र-शांतिदायक कर्तृत्व द्वारा कठिन एवं दुष्कर कार्य भी सुगम एवं सुकर हो गया। उनके तथोक्त व्यक्तित्व का परिचय आगामी अध्यायों में किया जा रहा है।

---

१. भारतीय इतिहास एक दृष्टि

द्वितीय अध्याय

जीवन परिचय

समय

आध्यात्मिक विद्वानों में भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य के बाद यदि किसी का नाम लिया जा सकता है, तो वे हैं आचार्य अमृतचन्द्र। आलौकिक तथा आध्यात्मिक जीवन जीने वाले आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने सम्बन्ध में कहीं कुछ भी लौकिक परिचय नहीं दिया है, जिससे कि उनके समय आदि का ज्ञान किया जा सके। उन्होंने अपनी समस्त कृतियों में अपने निर्लिप्त स्वभाव को ही प्रकट किया है, इसीलिए विद्वानों को उनके समय को निर्णीत करने में असुविधा होती रही है। यहाँ पर अद्यावधि उपलब्ध विभिन्न स्रोतों के आधार पर आचार्य अमृतचन्द्र के समय का निर्धारण किया जा रहा है।

विक्रम संवत् १२०० में पंडित आशाधरजी ने "अनगारधर्मामृत" नामक अपने ग्रन्थ पर एक "भव्यकुमुदचन्द्रिका" नाम की टीका रची।[1] इसमें पं० आशाधरजी ने आचार्य अमृतचन्द्र के नाम का उल्लेख किया है। साथ ही उन्हें "ठक्कुर" पद से विभूषित भी किया है।[2] उक्त टीका में पं० आशाधरजी ने आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयसार कलश के १४ कलश[3], पुरुषार्थसिद्धयुपाय के १९ पद्य[4], तत्त्वार्थसार का एक

---

१. जैनसाहित्य और इतिहास, पं. नाथूराम "प्रेमी", संस्करण प्रथम, १९४२ पृष्ठ ४५८

२. अनगार धर्मामृत, पं० आशाधर पृ० (५८८) "एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रविरचित समयसार टीकायां द्रष्टव्यम्।" तथा पृ० १६० पर "एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽप्यादमपाठीत्" लिखकर—अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्धयुपाय का "लोकेशास्त्राभासे·····" आदि पद्य उद्धृत किया है।

३. "समयसार कलश" क्र. २४, ११०, १११, १३१, १६४, २०५, २२४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२९, २३० तथा २३१ (कुल १४ कलश)।

४. पुरुषार्थसिद्धयुपाय के पद्य क्र० २६ से ३० तक, ३२, ३३, ३४ ४२, ४८, ४९, ९६, १११ से ११४ तक, २११, २२० तथा २२५ (कुल १९ पद्य)।

पद्य[1] तथा प्रवचनसार की तत्वप्रदीपिका टीका का एक श्लोक उद्धरण तथा प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने कई श्लोक अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय तथा समयसार कलश से लेकर उनमें मात्र कुछ शाब्दिक परिवर्तन करके अपने ग्रन्थ अनगार धर्मामृत में प्रस्तुत किये हैं। इन परिवर्तित श्लोकों के भावार्थ में कोई भी परिवर्तन दिखाई नहीं देता।[2] इससे यह बात निस्संदेह निर्णीत होती है कि आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों का अस्तित्व विक्रम की तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में था आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के लगभग अर्द्धशताब्दी पूर्व में अमृतचन्द्र का अस्तित्व मानने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं होती, अतः उक्त आधार पर आचार्य अमृतचन्द्र का समय विक्रम की तेरहवीं सदी का पूर्वार्ध निश्चित होता है।

आचार्य जयसेन (छठवें) कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों के टीकाकारों में आचार्य अमृतचन्द्र के पश्चात्वर्ती माने गये हैं। उनका समय १२९२ से १३२३ ई० (अथवा १३४९ से १३८० विक्रम संवत्) का माना गया है।[3] आचार्य जयसेन ने अपनी टीकाओं में आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं का अनुकरण ही नहीं, अपितु उनकी कृतियों के अंशों को प्रमाण रूप में उद्धृत भी किया है। समयसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में जयसेन ने अमृतचन्द्र की समयसार कलश टीका के सात पद्यों को उद्धृत किया है।[4] इससे भी यह बात स्वयमेव प्रमाणित होती है कि आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों एवं टीकाओं का प्रचार-प्रसार जयसेनाचार्य के पूर्व हो हो चुका था तथा ग्रन्थों एवं टीकाओं की रचना के लगभग ३०-४० वर्ष पूर्व आचार्य

---

१. तत्त्वार्थसार, अध्याय प्रथम, पद्य नं० ५१ (४) तत्त्वप्रदीपिका, चरणानुयोग चूलिका, पद्य क्र. १३.

२. तुलना कीजिये—"अनगार धर्मामृत के पद्य क्र० ९९, १०१, १०२, ११०, १११ प्रथम अध्याय। पद्य क्र० २६ तथा २८ चतुर्थ अध्याय, पद्य क्र० ८१ षष्ठ अध्याय, को क्रमशः पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के पद्य नं० ५,५० समयसार कलश के कलश नं० ५ तथा २१०, पु. सि. २१२, स. सा. क. १२०, पु. सि. ४४, ४९ तथा ४२ के साथ।

३. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग प्रथम, पृ० ३३९ तथा भाग द्वितीय पृ० ३२४

४. समयसार तात्पर्यवृत्ति में 'उक्तं च' लिखकर समयसार कलश के पद्य नं० 68, ६९, १३१, १८३, २३५, २३६, तथा २४७ (कुल ७ पद्य) उद्धृत हैं।

अमृतचन्द्र विद्यमान रहे होंगे, इस आधार पर भी आचार्य अमृतचन्द्र का काल विक्रम की तेरहवीं सदी का पूर्वार्ध या उत्तरार्ध माना जा सकता है। डा. ए. एन. उपाध्ये ने भी प्रवचनसार की प्रस्तावना में उक्त अनुमान की पुष्टि की है।[1]

आचार्य रामसेन कृत तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ का उपयोग पं० आशाधरजी ने अपने ग्रन्थ इष्टोपदेश की टीका में किया है। कहीं-कहीं रामसेनाचार्य के नामोल्लेख के साथ ही तत्त्वानुशासन के कई पद्यों का उल्लेख भी किया है। पं० आशाधरजी इष्टोपदेश के टीकाकार हुए—इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं विक्रम संवत् १२८५ में लिखित 'जिनयज्ञकल्प' की प्रशस्ति में किया है। इससे रामसेन के तत्त्वानुशासन की विद्यमानता वि० सं० १२८५ के पूर्व सिद्ध होती है।[2] तत्त्वानुशासन पर आचार्य अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार तथा समयसार आदि टीकाओं का प्रभाव दिखाई देता है। रामसेन ने अमृतचन्द्र की युक्तिपुरस्सर शैली, निश्चय-व्यवहार कथनशैली तथा तात्त्विकता का अनुसरण भी किया है।[3] उदाहरणार्थ--निश्चय-व्यवहार के भेद से मोक्षमार्ग का दो प्रकार से निरूपण तथा उनमें साध्य साधनता स्पष्ट करने हेतु अमृतचन्द्र ने जिन शब्दों द्वारा अभिव्यक्ति की है, लगभग उन्हीं शब्दों को रामसेन ने भी अपनाया है – यथा

"निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधास्मृतः।"
तत्राऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥
॥ २ ॥ "तत्त्वार्थसार" उपसंहार, ॥

मोक्ष हेतुर्पुनर्द्वेधा निश्चयाद् व्यवहारतः।
तत्राऽऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥
॥ २ ॥ "तत्त्वानुशासन", ॥

इसी प्रकार तत्त्वार्थसार के पद्य क्र. ७ तथा ८ और समयसार कलश २१० के आधार पर किंचित् शाब्दिक परिवर्तन कर तत्त्वानुशासन

---

१. प्रवचनसार, प्रस्तावना (अंग्रेजी में) पृष्ठ ९६
२. तत्त्वानुशासन, प्र० पृष्ठ १७ लेखक पण्डित जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशन सं० २०२०
३. तत्त्वानुशासन, प्र० पृष्ठ ३३

के क्रमशः ४, ५, तथा २६वें पद्यों कीरचना की है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि रामसेन के तत्त्वानुशासत वि. सं. १२८५ के पूर्व ही आचार्य अमृतचन्द्र एवं उनकी कृतियां विद्यमान थीं इसलिए उक्त आधार पर आचार्य अमृतचन्द्र विक्रम की बारहवीं सदी के पूर्वार्ध के ही ठहरते हैं उसके बाद के नहीं।

पद्मप्रभमलधारीदेव ने कुन्दकुन्द कृत नियमसार ग्रन्थ की अत्यन्त गम्भीर आध्यात्मिक टीका की है। इनकासमय विक्रम संवत ११६७ से १२३२ (अर्थात् ईस्वी ११४० से ११८५) है।[2] नियमसार की तात्पर्य-वृत्ति नामक इस टीका में "पद्मप्रभमलधारीदेव" ने आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाशैली को ज्यों का त्यों अपनाया है। अमृतचन्द्र अपनी टीकाओं का प्रारंभ "अथसूत्रावतारः" शब्द से करते हैं, इसी का अनुकरण पद्म-प्रभमलधारीदेव ने किया है। उत्थानिका लिखकर टीकारम्भ करने की पद्धति को भी ज्यों का त्यों अपनाया है। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी टीका में अमृतचन्द्र के समयसार कलश के १७ तथा प्रवचनसार तत्त्वप्रदी-पिका टीका के ४ पद्यों को उद्धरण (प्रमाण) रूप में प्रस्तुत किया है।[3]

---

१. उपादेयतयाजीवोऽजीवो हेयतयोदितः ।
हेयस्यस्मिन्नुपादानहेतुत्वेनाऽऽस्रवः स्मृतः ॥ ७ ॥ तत्त्वार्थसार ॥
संवरो निर्जरा हेयहानहेतु तयोदितौ
हेय प्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः ॥ ८ ॥ तत्त्वार्थसार ॥
बंधो निबंधनं चास्य हेयमित्युपदर्शितम् ।
हेयस्याऽशेष दुःखस्य यस्माद्बीजमिदंद्वयम् ॥ ४ ॥ तत्त्वानुशासन ॥
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतम् ।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥ ५ ॥ तत्त्वानुशासन ॥
व्यवहारिकदृशैव केवलं, कर्तृकर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते, कर्तृकर्म च सदैकमिष्यते ॥ २१० ॥ स.सा.क.
अभिन्न कर्तृ कर्मादि विषयो निश्चयो नयः ।
व्यवहारनयो भिन्न कर्तृ कर्मादि गोचरः ॥ २६ ॥ तत्त्वानुशासन ॥

२. जैनेन्द्रसिद्धांतकोश, भाग तृतीय, पृ. १०

३. समयसार कलश के कलश क्र. ५,११,२४,३५,३६,४४,६०,१०४,१३१,१३८ १८५,१८७,१८६,१६२,२२७,२२८ तथा २४४ (कुल १७ कलश), तथा प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका के–४,५,८ तथा १२ (कुल ४ श्लोक)।

इससे यह सिद्ध है कि आचार्य अमृतचन्द्र एवं उनकी कृतियों का अस्तित्व पद्मप्रभमलधारीदेव के काल विक्रम सं० १२३२ के लगभग अर्द्ध शताब्दी पूर्व अवश्य रहा होगा, अतः अमृतचन्द्र का समय तेरहवीं सदी विक्रम का का प्रारम्भ अथवा बारहवीं का उत्तरार्द्ध अनुमानित होता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने "ज्ञानार्णव" (पृ. १६५) में अमृतचन्द्र की पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय का "मिथ्यात्ववेदरा....." आदि (११६ वां) पद्य "उक्तं च" रूप से उद्धृत किया है अतः अमृतचन्द्र से पूर्ववर्ती होना स्पष्ट है। शुभचन्द्र के ज्ञानर्णव का एक श्लोक[1] पद्मप्रभमलधारी देव ने नियमसार की टीका में उद्धृत किया है।[2] स्वर्गीय नाथूराम प्रेमी ने पद्मप्रभ का समय विक्रम की बारहवीं का अंत तथा तेरहवीं सदी का आरंभ बताया है तथा शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव का रचनाकाल विक्रम की ११-१२ वीं सदी अनुमान किया है इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र का समय विक्रम की बारहवीं सदी के पूर्वार्ध या उत्तरार्ध से बाद का नहीं माना जा सकता।[3]

आचार्य पद्मनंदि (नं. ५) ने "पद्मनंदिपंचविंशति" नामक ग्रंथ की रचना की है पद्मनंदि के दीक्षागुरु वीरनंदि तथा शिक्षा गुरु ज्ञानार्णव के कर्ता शुभचन्द्राचार्य थे। पद्मनंदिपंचविंशति के एकत्वसप्तति अधिकार की टीका विक्रम संवत् ११९३ की उपलब्ध है, अतः पद्मनंदि का समय विक्रम १०७३ से ११९३ के बीच माना गया है।[4] उन्होंने अपने ग्रंथ में आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रंथों से शब्द एवं भावग्रहण कर उसे यत्किंचित् परिवर्तन के साथ प्रस्तुत किया है। उनके ग्रंथ में अमृतचन्द्र के ग्रंथों का प्रभाव पद पद पर दृष्टिगोचर होता है।[5] उदाहरणार्थ अमृतचन्द्रसूरि ने

---

१. ज्ञानार्णव (धर्मध्यान का फल) सर्ग ४१, पद्य ४.

२. नियमसार टीका, गा. ८९, पृष्ठ १६८.

३. जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, पृ. ४५८ (ज्ञानार्णव ग्रन्थ की प्रस्तावना में शुभचन्द्र को राजा मुंज का समकालीन बताया है। मुंज का समय विक्रम १०५० के लगभग था। अतः अमृतचन्द्र शुभचन्द्र से भी अर्धशतक पूर्व में हुए होंगे। इस आधार पर वे दसवीं विक्रम सदी के उत्तरार्ध या ग्यरहवीं के पूर्वार्ध के ठहरते हैं।) (ज्ञानार्णव पृष्ठ १५-१६)

४. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश, भाग तृतीय, पृष्ठ १०

५. पद्मनंदिपंचविंशतिः, प्र. पृष्ठ ३१

अपने ग्रंथ पुरुषार्थसिद्धयुपाय में व्यवहार नय का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए लिखा है :-

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः, देशयन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥ ६ ॥

पद्मनंदि ने भी अपने ग्रंथ पद्मनंदिपंचविंशति में उपर्युक्त पद्य के शब्दों एवं भावों का अनुकरण करते हुए लिखा है :-

व्यवहृतिरबोधजन बोधनाय, कर्मक्षयाय शुद्धनयः ।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये, तदाश्रितं किंचित् ॥ ६०५ ॥

इसी प्रकार अमृतचन्द्र ने समयसार कलश में "विरम किमपरेणा-कार्यकोलाहलेन"[1] इत्यादि पद्य द्वारा समस्त प्रकार के कोलाहल बंदकर आत्मोपलब्धि हेतु स्वयं एकाग्रहोकर प्रयास करने को प्रेरणा दी। इसी का अनुकरण करते हुए पद्मनंदि ने भी पद्मनंदिपंचविंशतिः में "निश्चेतव्यो .....वदत किमपरेणालकोलाहलेन"[2] इत्यादि पद्य रचना कर समस्त प्रकार के कोलाहल से हठ कर, जिनेन्द्र वचनों की प्रतीतिकर आत्मानुभवरूप सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्रेमपूर्वक प्रयत्न करने की प्रेरणा दी है। इस प्रकार अन्यत्र कई स्थलों पर पद्मनंदि ने अमृतचन्द्र की कृतियों का अनुकरण किया है।[3] पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने लिखा है कि अमृतचन्द्रसूरि ने पद्मनंदि को भी अध्यात्म की ओर आकृष्ट किया। पद्मनंदिपंचविंशतिः का निश्चय पंचाशत् नामक ६२ श्लोकों का प्रकरण समयसार तथा आत्मख्याति टीका के आधार पर रचा है।[4] इससे सिद्ध है कि आचार्य पद्मनंदि के समक्ष अमृतचन्द्र की कृतियां विद्यमान थी। अतः पद्मनंदि के समय से अर्धशताब्दी पूर्व अमृतचन्द्र अवश्य रहे होंगे। पद्मनंदि का समय विक्रम १०७३ से ११९३ है। इस आधार पर आचार्य अमृतचन्द्र

---

१. समयसार कलश क्र. ३४ (अजीवाधिकार)

२. पद्मनंदिपंचविंशतिः पद्य क्र. १२८ "धर्मोपदेशामृतम्" अधिकार।

३. अमृतचन्द्रकृत समयसार कलश ३४,१५४,२००,२७८, तथा पुरुषार्थसिद्धयुपाय पद्य क्र. ४,५,६, को क्रमशः पद्मनंदिपंचविंशति के पद्य क्र. १४४,६३,३६१, ६५८तथा ६०६,६०८,६०५ से तुलना करने पर स्पष्ट होता है कि पद्मनंदि ने अमृतचन्द्र के ही शब्दों और भावों को ज्यों का त्यों अथवा किंचित् शब्द परिवर्तन कर प्रस्तुत किया है।

४. जैनसाहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १९०

का समय बारहवी विक्रम सदी का पूर्वार्ध मानने में कोई आपत्ति प्रतीत नही होती है।

आचार्य जयसेन नं. ४ लाड़बागड़ संघ की गुर्वावलि के अनुसार भावसेन के शिष्य तथा ब्रह्मसेन के गुरु थे। इनका समय विक्रम संवत् १०५५ से १०७८ है।[1] जयसेन ने धर्मरत्नाकर नामक ग्रंथ की रचना की। धर्मरत्नाकर की एक प्रति ऐलक पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन ब्यावर के शास्त्रभण्डार में उपलब्ध है। इस प्रति में ग्रंथ का रचनाकाल वि० सं० १०५५ दिया है।[2] पण्डित परमानन्द शास्त्री ने एक लेख द्वारा यह सूचित किया था कि जयसेन के धर्मरत्नाकर में आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के ५६ श्लोक उद्धृत हैं[3], परन्तु उक्त दोनों ग्रंथों से मिलान करने पर ज्ञात हुआ कि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के १२५ श्लोक धर्मरत्नाकर में उद्धृत हैं। पु. सि. में कुल श्लोक संख्या २२६ है। इससे स्पष्ट होता है कि जयसेन ने इस ग्रन्थ का आधे से अधिक भाग अपने ग्रन्थ में ज्यों का त्यों उद्धृत कर दिया। साथ ही यह बात भी सिद्ध हो जाती है कि धर्मरत्नाकर की रचना के पूर्व अमृतचन्द्र का यह ग्रन्थ विद्यमान था। उससे भी पहले आचार्य अमृतचन्द्र रहे होंगे। इस आधार से अमृतचन्द्र का समय ग्यारहवीं विक्रम सदी का प्रारंम्भ अथवा पूर्वार्ध ही ठहरता है।

आचार्य अमितगति द्वितीय अमितगति प्रथम के प्रशिष्य तथा माधवसेन के शिष्य थे। यह बात उनके ही स्वरचित ग्रन्थ 'सुभाषितरत्नसंदोह' की प्रशस्ति में प्रदत्त गुर्वावलि से ज्ञात होता है। आप राजा मुंज के राज्य काल में विद्यमान थे। आपके अन्य ग्रन्थों में धर्मपरीक्षा, सामायिकपाठ तथा श्रावकाचार मुख्य हैं। आपका समय विक्रम संवत् १०५० से १०७८ निश्चित है।[4] अमितगति ने अपना श्रावकाचार धर्मरत्नाकर के समय वि. १०५५ के लगभग रचा है।[5] इस श्रावकाचार पर

---

१. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश भाग, २ पृष्ठ ३२४

२. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २ पृष्ठ १७६

३. अनेकान्त, वर्ष ८, पृष्ठ १७३–१७५ तथा २००–२०३

४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, प्रथम भाग, पृष्ठ १३६

५. जैन साहित्य का इतिहास भाग २, पृष्ठ १८०

आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव स्पष्टतः प्रगट होता है। इसके कुछ प्रमाण इस प्रकार है :—

१. आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में पांच उदुम्बर फलों तथा तीन मकारों को त्याज्य बतलाकर अहिंसाणुव्रत की पुष्टि के लिए रात्रिभोजन त्याग पर जोर दिया।[1] आचार्य अमितगति ने भी श्रावकाचार में उपर्युक्त निरूपण को ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया।[2]

२. पुरूषार्थसिद्ध्युपाय में मद्य में बहुत से त्रसजीवों की उत्पत्ति बतलाने वाले तथा मद्य के लिए "सरक" शब्द का प्रयोग करने वाले[3] कथन को अमितगति ने भी अपने श्रावकाचार में ग्रहण किया है।[4]

३. अमृतचन्द्र ने "प्राणिघात बिना मांसोत्पत्ति संभव नहीं "बतलाकर उसके सेवन का निषेध किया। पाँच उदुम्बर, तीन मकार के त्यागी को ही जिनधर्म की देशना का पात्र बताया जीवों के घातक(हिंसक) की हिंसा करने का भी निषेध किया, सुखी जीव को मारने का भी निषेध किया। असत्य के चार भेद एवं उनके स्वरूप का कथन किया, धन को बाह्य प्राणों की संज्ञा दी तथा निरतिचार व्रती पुरुषार्थसिद्धि को पाता है इत्यादि निरूपण किये।[5] इन सभी को अमितगति ने भी ज्यों का त्यों अपनाकर अपने श्रावकाचार में[6] प्रस्तुत किया। इससे सिद्ध होता है कि अमितगति के समक्ष अमृतचन्द्र की कृति पुरुषार्थसिद्धयुपाय विद्यमान थी। अमृतचन्द्र अमितगति से पूर्ववर्ती विद्वान् थे अतः अमृतचन्द्र का समय निस्संदेह विक्रम की ग्यारहवीं सदी का प्रारम्भ अथवा दशवीं का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है।

---

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ६१ तथा १२९
२. अमितगतिकृत श्रावकाचार, पञ्चम परिच्छेद पद्य १ तथा ४० से ४२
३. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक, ६३ तथा ६४
४. अमितगतिकृत श्रावकाचार, पंचम परिच्छेद, पद्य ६
५. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, श्लोक ६५, ७४, ८३, ८६, ९२ से ९८ तक, १०३, ११६,
६. अमितगतिकृत श्रावकाचार, पंचम परिच्छेद, पद्य १४, ७३ षष्ठ परिच्छेद, पद्य ३३, ४०, ४८ से ५५ तक, तथा ६१ सप्तम परिच्छेद १७ वां पद्य।

मुनिरामसिंह ने "दोहापाहुड़" अपरनाम "पाहुड़दोहा" नामक ग्रंथ रचना की। उसमें देवसेनकृत सावयधम्मदोहा के क्रमांक ३० तथा १२९ वें पद्यों को उद्धृत किया है।[1] देवसेन का समय विक्रम संवत ९५० से १००० के बीच का है।[2] मुनिरामसिंह के दोहापाहुड से एक गाथा नं० ९८ अमृतचन्द्र ने अपनी पंचास्तिकाय टीका में गाथा १४६ की व्याख्या में "तथा चोक्तम्" शब्द के साथ उद्धृत की है। इससे सिद्ध होता है कि देवसेन के पश्चात् रामसिंह तथा रामसिंह के बाद आचार्य अमृतचन्द्र हुए। अतः अमृतचन्द्र का समय दसवीं विक्रम सदी का उत्तरार्ध या ग्यारहवीं विक्रम सदी का प्रारंभ माना जा सकता है। इसकी पुष्टि पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री के लेख से भी होती है।[3]

सीपाल के पुत्र कवि डड्ढा ने संस्कृत में पंचसंग्रह ग्रंथ की रचना की। अमितगति आचार्य (१०५०-१०७८ विक्रम संवत्) ने भी संस्कृत में पंचसंग्रह ग्रंथ रचा। इनकी रचना विक्रम संवत् १०७३ में पूर्ण हुई थी। डड्ढा अमितगति से पूर्व के विद्वान् हैं अतः उनका समय १०५५ विक्रम माना गया है।[4] डड्ढा ने अपने पंचसंग्रह के प्रकृतिसमुत्कीर्तन अधिकार में (पृष्ठ ६७४ पर) "उक्तञ्च" रूप में एक श्लोक उद्धृत किया है जो अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार के बन्धाधिकार का ग्यारहवाँ श्लोक है। इससे स्पष्ट है कि डड्ढा के समय में अमृतचन्द्र का तत्त्वार्थसार विद्यमान था अतः उससे भी लगभग अर्धशताब्दी पूर्व अमृतचन्द्र हुए, इसलिए उनका समय विक्रम की दसवीं सदी का उत्तरार्ध निश्चित होता है।[5]

सोमदेव ने "यशस्तिलक" नामक चम्पूकाव्य की रचना विक्रम संवत् १०१६ में की, इसकी जानकारी ग्रंथ के अन्त में प्रदत्त प्रशस्ति से प्राप्त होती है।[6] पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री ने एक लेख द्वारा[7] यह प्रकट

---

१. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १८३
२. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग २, पृष्ठ ४४९.
३. जैन संदेश, शोधांक नं० ५, पृष्ठ १८० (२२ अक्टूबर १९५९).
४. राजस्थान का जैन साहित्य, पृष्ठ ९७-९८
५. जैन संदेश, शोधांक २६ पृ. ६५ (२९ फरवरी, ६८) लेख-पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
६. जैन संदेश, शोधांक ३२, पृष्ठ ३३४ तथा यशस्तिलक चम्पूमहाकाव्य उत्तरार्ध पृष्ठ ४८१
७. जैन संदेश, शोधांक १६, पृष्ठ १८१

किया है कि नवमी शताब्दी के प्रारम्भ तथा दसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में हुए सोमदेव के पूर्वज ग्रंथकारों में पुरुषार्थसिद्धयुपाय के रचयिता अमृतचन्द्र भी उल्लेखनीय है। इससे अमृतचन्द्र का समय विक्रम की दसवीं सदा का पूर्वार्ध के लगभग निश्चित होता है।

अमितगति प्रथम (योगसार संस्कर्ता), अमितगति द्वितीय श्रावकाचार, सुभाषित रत्नसंदोह आदि के कर्ता से दो पीढ़ी पूर्व के विद्वान् थे उनके योगसार पर भी अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार एवं समयसारादि की टीकाओं का प्रभाव लक्षित होता है।[1] सुभाषि रत्नसंदोह की प्रशस्ति के अनुसार अमितगति प्रथम का समय विक्रम संवत् ९७५ से १०२५ निर्णीत है।[2] इस आधार से अमितगति प्रथम के पूर्ववर्ती आचार्य अमृतचन्द्र का समय विक्रम की दसवीं सदी पूर्वार्ध ही ठहरता है।

डा० ए. एन. उपाध्ये ने अमृतचन्द्र को देवसेनाचार्य (विक्रम संवत् ९९०) की आलापपद्धति नामक कृति से परिचित माना है। उन्होंने अमृतचन्द्र का समय ई. की दसवी सदी की समाप्ति के लगभग माना है अतः उनका वैसा अनुमान अनुचित नहीं है, परन्तु जब ईसा की दसवीं सदी के अन्त में हुए ग्रंथकरों के द्वारा अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्धयुपाय से उद्धरण लिये जाने तथा उसका अनुसरण किये जाने की बात निस्संदेह है, तब यह भी निश्चित होता है कि अमृतचन्द्र उससे पूर्व में हुए हैं। ऐसी स्थिति में अमृतचन्द्र का आलापपद्धति से परिचित होना विचारणीय है। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री का अभिमत है[3] कि देवसेन ही अमृतचन्द्र की टीकाओं से परिचित जान पड़ते हैं, कारण कि अमृतचन्द्र द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य की भांति द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, शुद्धनय-अशुद्धनय, निश्चय व्यवहार इत्यादि मुख्य भेदों का उल्लेख हुआ है किन्तु उनके प्रभेदों का कहीं उल्लेख नहीं हुआ। जयसेनाचार्य द्वारा अवश्य भेद-प्रभेदों का निरूपण हुआ है। जयसेन तो आलापपद्धतिकार के बाद के है परन्तु अमृतचन्द्र नहीं। देवसेन की आलापपद्धति में निश्चय-श्यवहार नय के भेद-प्रभेदों का जो वर्णन है, वह अमृतचन्द्राचार्य द्वारा समयसार की टीका में प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्था

---

१. तत्त्वानुशासन, प्रस्तावना पृष्ठ ३३-३४ लेख पं. जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिसंबर १९६३

२. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग १, पृष्ठ १३६.

३. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १८३.

के आधार पर हुआ है। उससे पहले के किसी भी ग्रंथ में उन भेद-प्रभेदों का कथन नहीं मिलता। जिनमें मिलता है वे सभी आलापद्धति के बाद के है। इस प्रकार अमृतचन्द्र देवसेन के पूर्ववर्ती होने से, विक्रम की दसवीं सदी के पूर्वार्ध के लगभग समय के सिद्ध होते है।[1]

जैन सिद्धांतभास्कर (दी जैन एन्टीक्वेरी) पत्रिका के एक उल्लेख में नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती तथा आचार्य अमृतचन्द्र को विक्रम की दसवीं सदी का ही घोषित किया गया हैं।[2] डा. ए. एन.उपाध्ये ने भी अमृतचन्द्र कोदसवीं ईसा शताब्दी का स्वीकारा है।[3] डा. उपाध्ये के उक्त समय का समर्थन डा. मोहन लाल मेहता तथा फ्रोफेसर हीरालाल र. कापड़िया ने भी किया है।[4]

सुप्रसिद्ध विद्वान स्वर्गीय पं. नाथूराम प्रेमी ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की प्रस्तावना में आचार्य अमृतचन्द्र के समय के संबंध में स्पष्ट लिखा है कि आचार्य पट्टावलियों तथा पाश्चात्य विद्वानों की रिपोर्ट[5] देखने से ज्ञात होता है कि पुरुषार्थसिद्धयुपाय के कर्ता अमृतचन्द्रसूरि विक्रम संवत् ९६२ में जीवित थे।[6] पं. नाथूराम प्रेमी के उपर्युक्त अभिमत का समर्थन स्व. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, स्व. पं. मिलापचन्द्र कटारिया, स्व. डा. हीरालाल[7] पं. मुन्नालाल राधेलीय[8], पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, डा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य[9] आदि ने भी किया है। साथ ही पट्टावलि में उपलब्ध अमृतचन्द्र के पट्टारोहण का समय विक्रम सं. ९६२ उचित ठहराया है।

---

१. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १८५

२. जैन सिद्धांतभास्कर, (The jain antiquiry) भाग ३, किरण २, पृष्ठ ४४ (वि. सं. १९९३/ सितम्बर, १९३६)

३. प्रवचनसार प्रस्तावना (अंग्रेजी), पृष्ठ ९६, संस्करण तृतीय।

४. जैन साहित्य का बृहद्इतिहास, भाग ४,पृष्ठ १५० डा. मेहता तथा प्रो. कापड़िया। प्रकाशक-पार्श्वनाथविद्याश्रम, शोध संस्थान, बनारस-५ सन् १९६८

५. Peterson's Report XLIX-A Vol. No. 18 Royal Asiatic Society, Bombay.

६. पुरुषार्थसिद्धयुपाय प्रस्तावना, पृष्ठ ४, पं. नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक रायचन्द्र जै. शा. १. वी. नि. सं. २४३१, वि. २५-१२-१९०४

७. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृष्ठ ८४

८. पु० सि० पद्यानुवाद एवं भावप्रकाशिनी भाषा टीका, पृष्ठ १०

९. तत्त्वार्थसार, प्राक्कथन, पृष्ठ ७

केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एफ. डब्ल्यू. थामस लन्दन ने भी अमृतचन्द्र के पट्टारोहण के उक्त काल को ही उचित माना है।[1]

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र के समय पर विचार करते हुए उनकी समयावधि को विक्रम की तेरहवीं सदी के अन्त से संकोचकर विक्रम सं. ९६२ से १०१५ के बीच तक लाकर स्थिर किया गया। विक्रम संवत ९६२ के पूर्व के प्रमाणों के अभाव होने से उक्त सीमा को और अधिक संकुचित नहीं किया जा सकता।

इस बात के प्रमाण अवश्य उपलब्ध होते हैं कि अमृतचन्द्र ने स्वयं अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में विक्रम की आठवीं सदी तक के आचार्यों का अनुकरण किया है। ऐसे आचार्यों में यहाँ आचार्य अकलंक का उल्लेख करना उचित है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अकलंकस्वामी का अनुकरण ही नहीं, अपितु उनके भाष्य तत्त्वार्थराजवार्तिक का अपने ग्रंथ तत्त्वार्थसार में विशेष उपयोग किया है। उन्होंने "वार्तिक के गद्यांशों को पद्यों में परिवर्तित कर प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ—

निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञा कर्म नाम ॥ १ ॥ सोयमित्यभिसम्बन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना ॥ २ ॥ अनागत परिणाम विशेषः प्रतिगृहीताभिमुख्यं द्रव्यं ॥ ३ ॥ (तत्त्वार्थ वार्तिक)

या निमित्तान्तरं किंचिदनपेक्ष्य विधीयते।
द्रव्यस्य कस्यचित्, संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम् ॥१०॥

सोऽयमित्यक्ष काष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि।
यद् व्यवस्थापनामात्रं स्थापना समिधीयते ॥११॥

भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्तिं प्रति कस्यचित्।
स्याद् गृहीताभिमुख्यं हि तद्द्रव्यं ब्रुवंते जिनाः ॥१२॥(तत्त्वार्थसार)

इस प्रकार अन्य कई स्थल उदाहरण योग्य हैं अतः निश्चित है कि अकलंकदेव अमृतचन्द्र के पूर्वज आचार्य हैं। अकलंकदेव का समय विक्रम

१. There is not difficulty in accepting for Amritchandra, the dateC. 905 A. D. furnished by the pattavalis, see Introduction P. 24 of the pravachanasara of Kunda Kunda Acharya, together with the commentary, Tattvaeradipika Amrtchandra Suri, English Translation by Barrend Foddegon, Edited with Introduction by F. W. Thomas. Pub:— Cambridge, at the University Press, London 1935. Under the Jain literature Society Series Vol. I.

की आठवीं सदी के बाद का नहीं हैं, इसलिए उनके बाद ही अमृतचन्द्र का होना प्रमाणित होता है।[1]

इस प्रकार अनेक प्रमाणों, उपलब्ध साधनों के परीक्षणों तथा विद्वानों के अभिमतों के आधार पर आचार्य अमृतचन्द्र का समय विक्रम की दसवीं सदी पूर्वार्ध (अर्थात् ९६२) ही निश्चित होता है। [विश्व-विख्यात जर्मन विद्वान डॉ. विन्टरनिट्ज ने भी पीटर्सन रिपोर्ट के अनुसार आचार्य अमृतचन्द्रकृत, २२६ पद्यवाले "पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रंथ की रचना विक्रम संवत् ९६१ (अथवा ईसा सन् ९०४) को ही मानी है[2]] अतः आचार्य अमृतचन्द्र का समय विक्रम की दसवीं सदी पूर्वार्ध के लगभग निस्संदेह प्रमाणित है।

जीवन परिचय

भारतीय संस्कृत वाङ्मय को अपने असाधारण व्यक्तित्व तथा अप्रतिम प्रतिभा द्वारा समृद्धि एवं प्रौढ़ता प्रदान करने वाले, दिगम्बर जैनधर्म के अध्यात्म, दर्शन तथा अंतर्बाह्य आचार का अपनी टीकाकृतियों तथा मौलिक रचनाओं द्वारा रहस्योद्घाटन करने वाले, अलौकिक आध्यात्मिक जीवन जीने वाले, परमानन्द रस के पिपासुओं को अध्यात्मामृत का पान कराने वाले[3] आचार्य अमृतचन्द्र के जीवन का परिचय कराने हेतु अद्यावधि अनेक विद्वानों ने असमर्थता ही व्यक्त की है।[4] इस असमर्थता का एकमात्र कारण उनकी लौकिक निस्पृहता तथा मोक्षमार्ग रूढ़ अलौकिक जीवन है। उनकी निस्पृहता और अलौकिक जीवन का सबसे प्रबल प्रमाण तो यह है कि उन्होंने जिन महान् ग्रंथों की टीकाएं

---

१. जैन साहित्य का इतिहास, भाग-2, पृष्ठ 185।

२. "In about 904 A.D. wrote the works 'Purusartha Siddhyupaya' or Jina Pravacana Ra'asya Cosa, in 226 Sanskrit versess, Tattvarthasara, Tattvadipika and commentaries on Kundakunda's works." (A History of Indian Literature by Maurice winternitz, PH. D., Vol—II, Page 584.)

३. परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥३॥ प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका

४. जैनसाहित्य और इतिहास पं. नाथूराम प्रेमी पृ. ३०६, द्वितीय संस्करण ९५६
जैन साहित्य का इतिहास पं. कैलासचन्द्र शास्त्री, भाग २, पृष्ठ १७२
लघु तत्त्वस्फोट, प्रस्तावना पृष्ठ २ डा. पद्मनाभ जैन, (प्रोफेसर बुद्धदर्शन केलीफोर्निया बर्कले विश्वविद्यालय)

रची, उन ग्रंथों के प्रणेता आचार्य का ही न तो कहीं परिचय दिया है और न ही कोई उल्लेख किया है, बल्कि टीकाओं तथा मौलिक रचनाओं के कर्तृत्व का भार भी अपने ऊपर नहीं लिया है। उन्होंने अपनी समस्त कृतियों के अंत में कर्तापने का निषेध करने हेतु निजात्म स्वरूप में मग्नपना प्रगट करते हुए पद्य अवश्य रचे हैं। उन्होंने प्रत्येक ग्रंथ के अंत में जिन शब्दों में घोषणा की है, उनसे उनकी निस्पृहता तथा अलौकिक जीवन की एक झलक अवश्य मिल जाती है। "समयसार" की आत्मख्यातिकलश टीका के अंत में वे लिखते हैं कि अपनी शक्ति से वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने वाले शब्दों द्वारा समयसार की व्याख्या की गई है, निजात्मस्वरूप में मग्न अर्थात् स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्रसूरि का इस टीका रचना में कुछ भी कर्त्तव्य (कर्तृत्व) नहीं है।[1] उक्त घोषणावाक्यों को उन्होंने पंचास्तिकाय ग्रंथ की टीका के अंत में दुहराया है।[2] प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका के अंत में तो वे यहाँ तक लिखते हैं कि आत्मा सहित विश्वव्याख्येय (समझाने योग्य) है, वाणी का गुंथन व्याख्या (समझाना) है तथा अमृतचन्द्रसूरि व्याख्याता (समझाने वाले) हैं, इस प्रकार की मोहयुक्त मान्यता में, जगज्जनों, मत नाचो (मत फूलो), किन्तु स्याद्वाद विद्या के बल से प्रादुर्भूत ज्ञानकला द्वारा इस संपूर्ण-शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज अव्याकुल रूप से नाचो अर्थात् परमानन्दमय स्वरूप में मग्न होओ।[3] इसी प्रकार मौलिक कृतियों तत्त्वार्थसार तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अंत में भी शास्त्रकर्तृत्व का निषेध करते हुए लिखा है कि अनेक प्रकार के अक्षरों से पद रचे गये हैं,

---

१. स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्व-व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूप गुप्तस्य न किंचिदस्ति-कर्तव्यमेवाऽमृतचन्द्रसूरेः ॥२७८॥
समयसार आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ६०३ (सोनगढ़ १९६४)

२. पंचास्तिकाय समयव्याख्या, श्लोक ८, पृष्ठ २७०, सोनगढ़ १९६५ द्वितीय संस्करण।

३. व्याख्येयं किल विश्वमात्म महितं, व्याख्या तु गुम्फे गिरां।
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु ॥
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वाद विद्याबलात्।
लब्ध्वैकं सकलात्म शाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः ॥२०॥
(प्रवचनसार-तत्त्वप्रदीपिका टीका, ४१५ सोनगढ़, १९६४)

पदों से वाक्य बनाये गये हैं, और फिर उन वाक्यों से यह पवित्रशास्त्र बनाया गया है, हमारे द्वारा कुछ भी नहीं किया गया है।[1]

इस प्रकार परमनिस्पृह आचार्य अमृतचन्द्र ने लौकिक परिचय के रूप में कहीं भी अपने कुल, गुरु, निवासी, कार्यस्थल तथा समय आदि का उल्लेख नहीं किया है, बल्कि इस प्रकार के लौकिक उल्लेख को वे "मोह में नाचना" कहकर उसका निषेध करते हैं। वे अपना अलौकिक जीवन परिचय अवश्य यत्र तत्र, अनेक बार अपनी कृतियों में देते हुए प्रतीत होते हैं, अतः आचार्य अमृतचन्द्र का जीवन परिचय कराने हेतु हमें दो दृष्टिकोणों से देखना होगा। इनमें प्रथम है उनका अलौकिक आध्यात्मिक जीवन परिचय, जिसके स्रोत उनकी ही कृतियों में प्रचुरमात्रा में उपलब्ध है। दूसरा है उनका लौकिक जीवनपरिचय, जिसके सूत्र उनके समवर्ती और परवर्ती विद्वानों, टीकाकारों एवं लेखकों की कृतियों में उपलब्ध उल्लेखों, पट्टावलियों तथा विद्वानों के अभिमतों से प्राप्त होते हैं।

अलौकिक जीवन परिचय :–

सर्वप्रथम यहाँ उनके ही शब्दों में उनके अलौकिक जीवन का परिचय कराते हैं। इस अलौलिक परिचय से यह बात स्पष्ट अवश्य होगी कि मोक्षमार्ग में आरूढ़ हुआ आत्मा स्व का (अपना) किस प्रकार अवलोकन तथा अवधारण करता है। वह कैसा जीवन जीता है। इन सभी का आचार्य अमृतचंद्र ने मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। उससे उनके स्वयं के आध्यात्मिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और मालूम पड़ता है कि वे अलौकिक जीवन में रम गये थे। ग्रन्थों की टीकाएँ लिखना उनका मुख्य प्रयोजन नहीं था, किन्तु इस माध्यम से वे अपने स्वयं के जीवन को मनसा-वाचा-कर्मणा अनुस्मृत रखना चाहते थे। अतएव उन्होंने अपनी टीका-कृतियों में मोक्षमार्गारूढ़ प्रत्येक आत्मा को माध्यम बनाकर किस प्रकार से चित्रण किया है, उसका विवरण उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :– मैं कौन हूँ ? प्रश्न के उत्तर में आचार्य अमृतचन्द्र अपना परिचय देते हुए कहते हैं "यह मैं स्वसंवेदन प्रत्यक्ष,

---

१. वर्णैः कृतानि चित्रैः, पदानि, तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥
तत्त्वार्थसार, उपसंहार, श्लोक २३ तथा पु. सि.–पद्य २२६, पृष्ठ १९५ (सोनगढ़ १९७४)

दर्शनज्ञान सामान्य स्वरूप आत्मा हूँ।"[१] "मैं सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता को प्राप्त हुआ हूँ।"[२] "इस लोक में मैं स्वतः ही अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ वह स्वरूप सर्वतः अपने निजरस रूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण भरे हुए स्वभाव वाला है, इसलिए यह मोह मेरा कुछ नहीं लगता अर्थात् मोह से मेरा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। मैं तो शुद्धचैतन्य के समूह रूप तेजपुंज का खजाना हूँ।"[३] मैं चैतन्य ज्योति रूप आत्मा हूँ, मैं मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात हूँ।[४] मैं ऐसा चिन्मात्र तेजपुंज हूँ, जो अपने स्फुरणमात्र से ही विपुल महान, चंचल-विकल्पतरंगों के इन्द्रजाल को तत्क्षण उड़ा देता हूँ।[५] मैं यह (अनुभवगोचर) टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव हूँ।[६] मैं ऐसा तेजमात्र हूँ, जो अखण्ड, एक, एकाकी, शांत और अचल है।[७] मेरा यह जो चैतन्य गुण है, उसके द्वारा मैं समान तथा असमानजातीय अन्य द्रव्य को छोड़ कर, मेरे आत्मा में ही प्रवर्तता हूँ और अपनी आत्मा को सकल, त्रिकालवर्ती ध्रौव्यपने का धारक द्रव्य जानता हूँ।[८] अनंतचैतन्यस्वरूप लक्षणवाली आत्मज्योति को हम निरन्तर अनुभव करते हैं।[९] इस प्रकार

---

१. "एष स्वसंवेदन प्रत्यक्ष दर्शनज्ञान सामान्यात्माहं"
प्रवचनसार गाथा १ टीका, पृष्ठ ५।

२. सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यं गतोऽस्मि।
प्रवचनसार गाथा ५ टीका, पृष्ठ ७।

३ सर्वतः स्वरसनिर्भर भावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम्।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घन महोनिधिरस्मि ॥३०॥
समयसारकलश, आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ७७।

४. "खल्वहमात्मात्म प्रत्यक्षं चिन्मात्र ज्योति", समयसार गाथा ३८ टीका, पृ. ८०

५. इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत् पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः।
यस्यविस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥
समयसार कलश, पृष्ठ २२१।

६. "एष टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावोऽहम्" समयसार गाथा १९८ टीका, पृष्ठ ३०४।

७. तदस्मादखण्डमनिराकृतखंडमेकमेकांतशांतमचलं चिदहं महोऽस्मि।
समयसार गाथा २७० टीका, पृष्ठ ५९७।

८. मदीयंममनाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकल त्रिकाल कलित ध्रौव्यं द्रव्यं जानामि। प्रवचनसार, गाथा ९० टीका, पृष्ठ १२५।

९. "सततमनुभवामोऽनंत चैतन्यचिन्हं" समयसार कलश २०, पृष्ठ ५०।

मैं कौन हूँ ? प्रश्न के उत्तर द्वारा उन्होंने अपना परिचय कराया है, साथ ही "मैं कौन नहीं हूँ ? का उत्तर देकर अपने परिचय को विशेष स्पष्ट किया है– यथा मैं आकाश द्रव्य नहीं हूँ, धर्म द्रव्य नहीं हूँ, अधर्म-द्रव्य नहीं हूँ, काल द्रव्य नहीं हूँ, पुद्गल द्रव्य नहीं हूँ तथा निज आत्मा को छोड़कर अन्य अनंत आत्मा अर्थात् आत्मांतर मैं नहीं हूँ।[1] पुनः निष्कर्ष रूप में अपना परिचय कराते हुए उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है– मैं स्वयं साक्षात् धर्म स्वरूप हूँ।[2] वीतराग चारित्र दशा में परिणत मेरा आत्मा स्वयं धर्म रूप होकर, समस्त विघ्नों का नाश कर सदाकाल निष्कम्प ही रहता है।[3] "मैं यह मोक्षाधिकारी हूँ। ज्ञायक स्वभावी आत्मतत्त्व के परिज्ञानपूर्वक, ममत्व की त्याग रूप और निर्ममत्व की ग्रहण रूप विधि द्वारा सर्व आरम्भ (प्रयास) से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ, क्योंकि मेरे अन्यकृत्य का अभाव है। मैं स्वभाव से ज्ञायक हूँ। केवल ज्ञायक होने से मेरा समस्त पदार्थों के साथ भी सहज ही ज्ञेय-ज्ञायक लक्षण वाला सम्बन्ध है, किन्तु अन्य प्रकार का स्व-स्वामी लक्षण वाला सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं है, मैं सर्वत्र निर्ममत्व स्वरूप हूँ। एक ज्ञायक भाव का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने के कारण मेरा स्वभाव क्रमशः प्रवर्तमान अनंत भूतकालीन, वर्तमान तथा भविष्यकालीन विभिन्न पर्यायों के समूह वाले, गम्भीर–अगाध स्वभाव वाले द्रव्यों को क्षणमात्र में प्रतिबिम्बित करता है अथवा प्रत्यक्ष करता है तथा प्रत्यक्षीकृत द्रव्य ऐसे प्रतीत होते हैं मानों वे ज्ञायक स्वभाव में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों। आत्मा ज्ञायक और सकल द्रव्य ज्ञेय ऐसा ज्ञेय ज्ञायक-सम्बन्ध अनिवार्य है, उसे मिटाया नहीं जा सकता है, इसलिये आत्मा सकल ज्ञेयों की अपेक्षा विश्वरूपता को प्राप्त होता है, परन्तु अपनी स्वाभाविक अनंत शक्ति वाले ज्ञायक स्वभाव की अपेक्षा अपने एकत्वरूप को नहीं

---

१. नाहमाकाशं, न धर्मो, नाधर्मो, न च कालो, न पुद्गलो नात्मान्तरं च भवामि। प्रवचनसार, गाथा ९० की टीका, पृष्ठ १२५।

२. "स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मि"। प्रवचनसार, गाथा १९ टीका, पृष्ठ १२९।

३. वीतराग चारित्र सूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्त प्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते। प्रवचनसार, गाथा ९२ टीका, पृ. १३०

छोड़ता। अनादि संसार से ऐसी ही वस्तुस्थिति रही है, फिर भी मोही जीवों के द्वारा दूसरे रूप में ही आत्मा जाना, माना जाता है, परन्तु यह मैं मोह को उखाड़ फेंकता हुआ, अतिनिष्कम्प रहता हुआ, अपने शुद्धात्मस्वरूप को जैसा का तैसा ही प्राप्त करता हूँ।[1] इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र का परिचय उनके ही मार्मिक शब्दों में प्रगट हुआ है।

मोह विजेता अमृतचन्द्र ने अपनी कृतियों में अपने माता-पिता तथा अन्य सम्बन्धियों के विषय में कहीं भी किसी प्रकार का लौकिक परिचय नहीं दिया। लौकिक माता-पिता आदि समस्त सम्बन्धों को तो वे मात्र संयोग रूप से जानते थे, परन्तु उन्हें अपना कदापि नहीं मानते थे। उन्हें अपना मानना मोही जीवों का काम है, मोह विजेताओं का नहीं। मोह विजेताओं के माता-पिता तथा अन्य परिवार के सम्बन्ध सभी अलौकिक ही होते हैं। ऐसे अलौकिक परिवार का परिचय आचार्य अमृतचन्द्र ने अवश्य कराया है। साथ ही लौकिक परिवार को अपना मानने का निषेध किया है, कारण कि वे स्व-पर के भेदज्ञान वाले तथा मोह को जीतने वाले थे। इस बात की पुष्टि उनके निम्न शब्दों से होती है। वे लिखते हैं– मैंने मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने को कमर कस ली है।[2] मैंने मोह की सेना को जीतने का उपाय पा लिया है।[3]

---

१. अहमेष मोक्षाधिकारी ज्ञायकस्वभावात्मतत्त्व परिज्ञान पुरस्सर ममत्व निर्ममत्व हानोपादान विधानेन कृत्यान्तरस्याभावात् सर्वारम्भेण शुद्धात्मनि प्रवर्ते अहं हि तावत् ज्ञायक एव स्वभावेन, केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहज ज्ञेयज्ञायक लक्षण एव सम्बन्धः न पुनरन्ये स्वस्वामि लक्षणादयः सम्बधाः। ततो मम न क्वचनापि ममत्वं सर्वत्र निर्ममत्वमेव। अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्ण-लिखित-निखात-कीलित-मज्जित-समवर्तित-प्रतिविम्बितवत् तत्र क्रमप्रवृत्तानंतभूत भवद्भावि विचित्र-पर्याय प्राग्भारमगाध-स्वभाव गंभीर समस्तमपि द्रव्यजातमेक क्षणएव प्रत्यक्ष-यन्तं ज्ञेयज्ञायक लक्षण-सम्बन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्य विवेचनत्वादुपात्त वैश्व-रूप्यमपि सहजानन्तशक्ति-ज्ञायकस्वभावेनैक्य रूप्यमनुज्झन्तमासंसार मनयैव स्थित्या स्थितं मोहेनान्यथा-ध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाययथावस्थित-मेवेति निष्प्रकम्पः संप्रतिपद्ये। प्रवचनसार, गाथा २०० टीका, पृष्ठ ३०३-३०४

२. "मया मोहवाहिनी विजयाय बद्धा कक्षेयम्"
प्रवचनसार, गाथा ७६ टीका, पृष्ठ ११०

३. "लब्धोमया मोहवाहिनी विजयोपायः।"
प्रवचनसार, गाथा ८० टीका, पृष्ठ ११२

मुझे मोह नहीं है, स्व-पर का विभाग है।[1] लौकिक परिवार ममकार का निषेध करते हुए वे अलौकिक बात लिखते हैं– "अहो इस पुरुष के शरीर (अर्थात् मेरी आत्मा से सम्बन्धित शरीर) के जनक – पिता के आत्मा तथा इस पुरुष के शरीर की जननी – माता के आत्मा, इस पुरुष का (मेरा) आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न किया हुआ) नहीं है, ऐसा तुम निश्चय से जानो। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह (मेरा) आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादि जनक के पास जा रहा है।"[2] "अहो इस पुरुष के (मेरी आत्मा से सम्बन्धित) शरीर की रमणी (पत्नी) के आत्मा, तू इस पुरुष के आत्मा को रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चय से जान। ज्ञान ज्योति प्रगटित (मेरा) यह आत्मा आज अपनी स्वानुभूतिरूपी अनादि रमणी (पत्नी) के पास जा रहा है।"[3] अहो, इस पुरुष के शरीर के पुत्र के आत्मा, तू इस पुरुष (मेरे आत्मा) का पुत्र नहीं है ऐसा तू निश्चय से जान। ज्ञानज्योति उदित (मेरा) यह आत्मा आज आत्मारूपी अनादि पुत्र के पास जा रहा है।[4] "अहो इस पुरुष के शरीर के बन्धुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओं ! इस पुरुष का (मेरा) आत्मा किंचित् मात्र भी तुम्हारा नहीं है, इस प्रकार तुम निश्चय में जानो। ज्ञानज्योति-उदित यह (मेरा) आत्मा आज अपने आत्मारूपी अनादि बन्धु के पास जा रहा है।"[5]

---

१. "नास्ति मे मोहोऽस्ति स्व-पर विभागः।"
प्रवचनसार, गाथा १५४ टीका, पृष्ठ २५०

२. "अहो इदं जनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इदं जनशरीर जनन्या आत्मन्। अस्य जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो भवतीति, निश्चयेन युवां जानीतं। अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादि जनकमुपसर्पति।"
प्रवचनसार, गाथा २०२ टीका, पृष्ठ ३०६

३. "अहो इदं जनशरीर रमण्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मानं न त्वं रमयसि-इति निश्चयेन त्वं जानीहि। अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादि रमणीमुपसर्पति।" वही, गाथा २०२ टीका, पृष्ठ ३०६-३१०

४. "अहो इदं जनशरीर पुत्रस्यात्मन्, अस्यजनस्यात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि। अयमात्मा अद्योद्भिन्न ज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादि जन्यमुपसर्पति।" वही, गाथा २०२, पृष्ठ ३१०

५. अहो इदं जनशरीर बन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः, अस्य जनस्यात्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीत, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादि बन्धुमुपसर्पति। प्रवचनसार, गाथा २०२ टीका, पृ. ३१०

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र ने लौकिक परिवार से भिन्न अलौकिक परिवार का परिचय कराया है। इस अलौकिक परिवार में आत्मा ही सब कुछ है, वही पिता है, माता है, पत्नी है, पुत्र तथा बन्धुवर्ग आदि भी वही है। भेदज्ञानज्योति सम्पन्न आत्मा सदाकाल अपने लिए परद्रव्यों से भिन्न अकेला ही अनुभव करता है। अमृतचन्द्र ने भी इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि आत्मतत्त्व का समस्त द्रव्यों से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।[1] आत्मा भूतकाल तथा वर्तमानकाल में सर्वथा अकेला था एवं अकेला है। भूतकाल में पौद्गलिक कर्मबन्धन रूप उपाधि की सन्निधि से मलिनभाव रूप से मेरा परिणमन होता था। जिस प्रकार स्फटिकमणि जपाकुसुम की सन्निधि में मलिन परिणमन करता है, उसी प्रकार अज्ञानदशा में मेरा आत्मा मलिन होता है, मलिन था, उस समय भी आत्मा अकेला था। अकेला कर्ता था, क्योंकि अकेला ही उपरक्त (मलिन) चैतन्यस्वभाव रूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य था। अकेला ही सुख-विपरीत लक्षण वाला दुःखरूपकर्म-फल था। वह भी मलिन चैतन्य स्वभाव से ही उत्पन्न किया जाता था।[2] अब वर्तमान में कर्मोपाधि की निकटता का नाश होने से सुविशुद्ध सहज स्वपरणति प्रगट हुई ... "अभी भी आत्मा का कोई भी नहीं है। आत्मा अकेला ही कर्ता, कर्म, करण आदि है।[3] इस तरह बन्धमार्ग तथा मोक्ष-मार्ग में आत्मा अकेला ही है। इस तरह स्व में निजत्व तथा पर से भिन्नत्व निश्चित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र "शरीर-मन तथा वाणी

---

१. "नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः" समयसार कलश २००, पृ. १७१

२. यदा नामानादि प्रसिद्ध पौद्गलिक कर्मबन्धनोपाधि संनिधि प्रधावितोपरागैरं-जितात्मवृत्तिर्जपापुष्प संनिधिप्रधावतोपराग रंजितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारोपित विकारोऽहमासम्। संसारी तदापि न नाम मम कोप्यासीत्। तदाप्यहमेक एवोपरक्त चित्स्वभावेन स्वतन्त्र कर्ताहम्। अहमेक एवोपरक्त चित्स्वभावेन साधकतमः कारणमासम्। अहमेक एवोपरक्त चित्परिणमन स्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम्। अहमेक एव चोपरक्त चित्परिणमन स्वभावस्य निष्पाद्यं सौख्यं विपर्यस्तलक्षणं दुखाख्यं कर्मफलमासम्।

प्रवचनसार गाथा १२६ टीका, पृष्ठ २०५-२०६

३. इदानीमपि न नाम मय कोप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक एवं सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तास्मि " कारणास्मि""कर्मास्मि।

प्रवचनसार गाथा १२६ टीका, पृष्ठ २०६

को भी परद्रव्य जानकर उनसे भी पक्षपात न करते हुए अत्यन्त मध्यस्थ होते हैं।[1] वे सदाकाल एक ही व्यापार–उद्यम में लगे रहते हैं– वह है शुद्धात्मद्रव्य में प्रवृत्ति करना। वे इस सम्बन्ध में स्वयं लिखते हैं :— "इस प्रकार ज्ञेयतत्त्व को समझाने वाले जैन-तत्त्वज्ञान में विशाल शब्द-ब्रह्म में सम्यक्तया लगकर इस कारण से हम मात्र शुद्धात्म द्रव्य रूप एक ही परणतिवृत्ति से सदाकाल युक्त रहते हैं।"[2] "समस्त कषायक्लेश रूपी कलंक से भिन्न होने से निर्वाणप्राप्ति के कारण वीतराग चारित्र रूप साम्य को प्राप्त होते हैं।[3] वे इस वीतरागचारित्र को चिन्तामणि रत्न की तरह समझकर प्रमादरूपी चोरों से सावधान रहते हैं।[4] आचार्य अमृतचन्द्र अन्ततः यह उद्घोषणा करते हैं कि जिस प्रकार दुःखों से मुक्त होने के इच्छुक मेरे आत्मा ने अर्हंतों सिद्धों आचार्यों उपाध्यायों तथा साधुओं को प्रणाम कर विशुद्ध दर्शनज्ञान प्रधान साम्यनामक श्रामण्य को अंगीकार किया है, उसी प्रकार दूसरे आत्मा भी यदि दुःख मुक्त होना चाहते हैं तो उस साम्यरूप श्रामण्यपने को अंगीकार करें। उसका जो यथानुभूत मार्ग है, उसके प्रणेता हम स्वयं खड़े हुए हैं।[5] इस निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है यह सुनिश्चित है, अधिक प्रलाप से क्या प्रयोजन है। मेरी मति-व्यवस्थित हो गई है।[6]

---

१. शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातो ऽस्ति। सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि।
प्रवचनसार गाथा १६०, पृष्ठ २५५

२. जैन-ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ, स्फीतं शब्दब्रह्मसम्यग्विगाह्य।
संशुद्धात्मद्रव्य मात्रैकवृत्त्या, नित्ययुक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ॥१०॥
प्रवचनसार गाथा २०० टीका, पृष्ठ ३०४

३. "सकलकषायकलिकलंक विविक्तया निर्वाण संप्राप्तिहेतुभूतं वीतराग चारित्रास्यं साम्यमुपसंपद्ये।" प्रवचसार गाथा ५ टीका, पृष्ठ ६

४. अथैवं प्राप्तचिंतामणिरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति। वही, गाथा८१, पृ.११३

५. यथा ममात्मना दुख मोक्षार्थिना····· अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुनां प्रणति वन्दनात्मकनमस्कारपुरस्सरं विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानं साम्यनाम् श्रामण्यमवान्तर ग्रंथ संदर्भोभय संभावित सौस्थित्यं स्वयं प्रतिपन्नम्। परेषामपि यदि दुखमोक्षार्थी तथा तत्प्रतिपद्यतां यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिः वर्त्मना प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठामीति। प्रवचनसार गाथा २०१ टीका, पृष्ठ ३०८

६. ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाधस्येत्यवधार्यते। अलमथवा प्रलपितेन। व्यवस्थिता मतिर्मम। वही गाथा ८२, पृष्ठ ११६

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी व्यवस्थित मति द्वारा अपना अलौकिक एवं व्यवस्थित परिचय दिया है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में अपना अलौकिक परिचय तो यत्र तत्र दिया है परन्तु लौकिक परिचय के विषय में वे सर्वत्र मौन ही रहे हैं फिर भी यहाँ उनके लौकिक जीवन का भी यथसम्भव परिचय कराया जाता है।

लौकिक जीवन परिचय

नामोल्लेख स्वयं द्वारा — आचार्य अमृतचन्द्र 'अमृतचन्द्रसूरि' नाम से ही विख्यात थे, यह बात उनकी ही टीकाओं तथा अन्य कृतियों से ज्ञात होता है। समयसार की आत्मख्याति[1], प्रवचनसार की तत्त्व-प्रदीपिका[2], पंचास्तिकाय की समयव्याख्या[3] नामक टीकाओं तथा लघु-तत्त्वस्फोट[4] नामक कृति के अन्त में अमृतचन्द्रसूरि नाम का प्रयोग मिलता है। तत्त्वप्रदीपिका में[5] उनके उक्त नाम के पूर्व व्याख्याता तथा लघुतत्त्वस्फोटः में[6] उनके नाम के पश्चात् कवीन्द्र विशेषण भी प्रयुक्त है जिनसे उनके विख्यात व्यक्तित्व की झलक भी मिलती है।

नामोल्लेख परवर्ती लेखकों द्वारा — उनके उक्त नाम का उल्लेख अमृतचन्द्र के परवर्ती आचार्यों, भट्टारकों तथा विद्वानों ने विभिन्न विशेषणों के साथ किया है। कुछ विद्वानों ने उनके पर्यायवाची नामों का प्रयोग किया है। आचार्य पद्मप्रभमलधारी देव ने तो नियमसार की

---

१. स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति, कर्तव्यमेवाऽमृतचन्द्रसूरेः। समयसार कलश, २७८

२ "व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।" प्रवचनसार तत्त्वप्रदी-पिका टीका पद्य नं० २१ पृष्ठ ५३४, (श्री. सत्साहित्य प्रसारक ट्रस्ट भावनगर, वि. सं. २०३२, तृतीयावृत्ति)

३. "इति श्री पंचास्तिकायव्याख्यायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ·····द्वितीय स्कंधः समाप्तः।" (पंचास्तिकाय समय व्याख्या टीका, पृष्ठ २५५ बम्बई-द्वितीय संस्करण १९०४ ई.) तथा अंतिम पद्य नं. ८ "कर्तव्यमेवाऽमृतचन्द्रसूरेः"

४. "ये भावयन्ति विकलार्थवतीं जिनानां नामावलीममृतचन्द्रचिदेकपीताम्।" लघुतत्त्वस्फोट, पद्य २५

५. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका टीका पद्य नं. २१, पृष्ठ ५३४

६. "आस्वादयत्वमृतचन्द्रकवीन्द्र एवं·····" (लघुतत्त्वस्फोटः, अध्याय २५, पद्य २४)

टीका में उक्त नाम का पन्द्रह बार प्रयोग किया है। उन्होंने "तथा चोक्तं श्रीमदमृतचन्द्रसूरिभिः"[1] लिखकर उनके ग्रन्थों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।

पं० आशाधरजी (तेरहवीं विक्रम सदी) ने "ठक्कुरामृतचन्द्रसूरि"[2] नाम का उल्लेख किया है। उन्होंने अमृतचन्द्र के लिए ठक्कुर तथा सूरि इत्यादिविशेषणों का प्रयोग किया है। इससे यह बात तो प्रमाणित हो ही जाती है कि आचार्य अमृतचन्द्र की ख्याति परवर्ती ग्रन्थकारों में अत्यधिक सम्माननीय पद पर थी।

भट्टारक शुभचन्द्र (सोलहवीं विक्रम सदी) ने अमृतचन्द्र के लिए "सुधाचन्द्रमुनि"[3] शब्द से व्यवहृत किया है, साथ ही उन्हें विपक्षविजेता, समस्त शिष्यवर्ग के पालक, निजस्वतत्त्ववेत्ता, अनेक जीवों को सम्बोधित-कर्ता तथा यतीश विशेषणों से समलंकृत किया है। उन्होंने एक स्थल पर अमृतचन्द्र का "अमृतविधुयतीश"[4] नाम भी लिखा है।

पण्डित वृन्दावनदास (विक्रम अठारहवीं सदी) ने उन्हें अमृतचन्द्र[5] तथा पं० दौलतराम (वि. सं. १८२६) ने "अमृतचन्द्रमुनीद्र"[6] नाम का प्रयोग किया है तथा पं. भूधरदास (वि. सं. १८२०–१८८६) ने पार्श्व-पुराण में "अमृतचन्द्रमुनिराज"[7] नाम लिखा है। पं. जयचन्द (वि. सं. १८२०–१८८६) ने अमृतचन्द्र को "सुधाचन्द्रसूरि"[8] और पं. वृन्दावन-दास (वि० १८८०) ने "अमीइन्दु"[9] नाम से स्मरण किया है। श्री

---

१. नियमसार गाथा ७, १६, २४, ४०, ४२, ४४, ४६, ५० ५५, ८२, ८३, ६६, १०७, १५६, १७८ इत्यादि की टीकाएं।

२. अनगार धर्मामृत, भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका, पृष्ठ १६० तथा ५८८

३. परमाध्यात्मतरंगिणी, मंगलाचरण पद्य २

४. वही, अंतिम प्रशस्ति, पद्य, पृष्ठ २३५.

५. प्रवचनसार परमागम (पद्य), पृष्ठ ६ तथा २३८ ब्र. दुलीचन्द ग्रंथमाला सन १६७४

६. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय अंतिम प्रशस्ति, पृष्ठ १६५. (सोनगढ़ १६७२)

७. पार्श्वपुराण, पृष्ठ ७२-७३ वी. नि. सं २४३४

८. परमाध्यात्म तरंगिणी, अंतिम प्रशस्ति पृष्ठ २३४

६. गुरुदेव अमीइन्दु ने तिनकी करी टीका।
झरता है निजानंद अमीवृन्द सरीका॥ १६॥
बृहद् जिनवाणी संग्रह, पृष्ठ १८६

एच. डी. वेलंकर ने पीटर्सन रिपोर्ट के पृष्ठ १६१ पर उन्हें "अमयं चन्देणसूरीहिं"[१] शब्द का प्रयोग किया है जो अमृतचन्द्रसूरि का ही द्योतक है। मराठी टीकाकार श्रीकृष्णाजी नारायण जोशी ने अमृतचन्द्र को "पीयूषचन्द्रसूरि"[२] लिखा है। वर्तमान मुनि सूर्यसागर ने उन्हें "मुनिवृषभ अमृतन्द्राचार्य"[३] नाम से स्मरण किया है। पं. पन्नालाल साहित्याचार्य ने उन्हें 'अमृतेन्दु"[४] तथा पं. फूलचन्द सिद्धान्ताचार्य ने "श्रीमदाचार्यवर अमृतचन्द्रदेव"[५] नाम से उल्लेख किया है। पं. मक्खनलाल शास्त्री ने प्रकृत आचार्य को "श्रीमन्महामहिम अमृतचन्द्रसूरिवर्य" लिखकर अपनी आस्था व्यक्त की है तथा उनकी कृति पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की वृहद् हिन्दी टीका लिखी है।[६] पं. के. भुजवलि शास्त्री ने अमृतचन्द्र को "अमृतनन्दि"[७] नाम से भी उल्लिखित किया है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि उपर्युक्त समस्त नामों से प्रकृत आचार्य का नाम अमृतचन्द्र ही अभिव्यक्त होता है जो सूरि विशेषण से विशेषतः [illegible] रहें हैं. विभिन्न आचार्यों तथा लेखकों ने श्रीमदमृतचन्द्रसूरि, ठक्कुरअमृतचन्द्रसूरि, सुधाचन्द्रमुनि, अमृतविधुयतीश, अमृतचन्द्रमुनिराज, सुधाचन्द्रसूरि, अमीइन्दु, अमयंचन्द्रसूरि, पीयूषचन्द्रसूरि, अमृतेन्दु, श्रीमदाचार्यवर, अमृतचन्द्रदेव, अमृतनंदि इत्यादि नामों द्वारा प्रकृत अमृतचन्द्र को ही याद किया है। इन नामों श्रीमद्, सूरि, ठक्कुर, मुनि, यतीशमुनीन्द्र, मुनिराज, आचार्यवर, देव आदि शब्द अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व के द्योतक हैं। इनमें, सुधा, अमी, अमयं तथा पीयूष ये सभी शब्द "अमृत" पद के

---

१. जि. र. को. एच. डी. वेलंकर

२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, अंतिम पद्य २२७, श्री कृष्णजी नारायण जोशी कृत मराठी टीका।

३. निजानंदमार्तण्ड, हिन्दी भाषा टीका, पृष्ठ ५ प्रस्तावना।

४. तत्त्वार्थसार, अंतिमप्रशस्ति, पं. पन्नालाल कृत।

५. समयसारकलश मुखपृष्ठ(पं. फूलचन्द्र शास्त्री)

६. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, पं. मक्खनलाल मुखपृष्ठ.।

७. कन्नड़प्रशीय ताड़पत्रीय ग्रंथ सूची, के भुजबलि शास्त्री, प्रस्तावना पृष्ठ १५ प्रथम संस्करण १९४८. (इसमें ग्रंथ नं.० ५३५ पवयणसार आचार्य कोण्डकुन्द तथा आचार्य अमृतनंदिकृत तत्त्वदीपिका नामक संस्कृतवृत्ति भी है।) ये अमृतनंदि आचार्य अमृतचन्द्र ही हैं।

पर्यायवाची हैं तथा विधु, इन्दु, तथा चन्द ये "चन्द्र" पद के वाचक होने से प्रकृत आचार्य का वास्तविक नाम "अमृतचन्द्र" ही प्रमाणित होता है। साथ ही वे आचार्य पद से विभूषित होने से "आचार्यअमृतचन्द्र" कहलाते हैं।

प्रकृत अमृतचन्द्र से भिन्न अमृतचन्द्र नामधारी भट्टारक— प्रकृत आचार्य अमृतचन्द्र से भिन्न "अमृतचन्द्र" नामधारी एक भट्टारक भी हुए हैं। इन भट्टारक अमृतचन्द्र के गुरु (वि. बारहवीं शती के) मलधारी माधवचन्द्र थे। वे विहार करते हुए बांभणवाड़ा नामक नगर में आये थे, जिनकी प्रेरणा से कविवर सिंह (सिद्धकवि) ने "पज्जुण्णचरिऊ" (प्रद्युम्नचरित) काव्य की रचना की थी।[1] इस बात की पुष्टि पं० परमानन्द शास्त्री ने भी की है। वे लिखते हैं कि कविवर सिंह के गुरु मुनिपुंगव, भट्टारक अमृतचन्द्र थे, जो तप-तेजरूपी दिवाकर और व्रत नियम तथा शील के रत्नाकर थे। प्रस्तुत भट्टारक अमृतचन्द्र उन आचार्य अमृतचन्द्र से भिन्न हैं जो कुन्दकुन्दाचार्य के समयसारादि प्राभृतत्रय के संस्कृत टीकाकार हैं और पुरुषार्थ सिद्धयुपाय आदि ग्रन्थों के रचयिता हैं। वे लोक में ठक्कुर उपनाम से प्रसिद्ध रहे हैं।[2] पं. मुन्नालाल राधेलीय[3], ब्र. गुलाबचन्द[4] तथा ब्र. पंडिता सुमतिबाई शहा[5] ने भट्टारक अमृतचन्द्र को ही कुन्दकुन्द के टीकाकार (प्रकृत) अमृतचन्द्र माना है जो उपर्युक्त प्रमाणों से असिद्ध है। हमारे आलोच्य आचार्य अमृतचन्द्र तथा मलधारीमाधवचंद्र के शिष्य भट्टारक अमृतचन्द्र में भिन्नता है। प्रकृत आचार्य अमृतचन्द्र कुन्दकुन्द्राचार्य के प्राभृतत्रय (समयसार, प्रवचनसार एवं पंचास्तिकाय ग्रन्थों) के असाधारण, अद्वितीय एवं सर्वप्रथम टीकाकार हुए हैं जिन्होंने प्रत्येक टीका के अन्त में अपने लिये "स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र"[6] लिखा है।

---

१. जैनसाहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पं. नाथूरामप्रेमी, पृष्ठ ३१०
२. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, भाग-२, पृष्ठ ३४६ तथा जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भाग-२, प्रस्तावना पृष्ठ ७४
३. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, भावप्रकाशिनी टीका प्र. पृष्ठ १०
४. सन्मतिसन्देश, वर्ष १३, अंक ८, अगस्त १९६८, पृष्ठ २७
५. पूर्णार्घ्य (जैनज्ञानकोश), वीर निर्वाण सम्वत २५०४, पृष्ठ २००
६. "स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति, कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः।" समयसार (आत्मख्याति कलश टीका), प्रवचनसार (तत्त्वप्रदीपिका टीका) तथा पंचास्तिकाय (समयव्याख्या टीका का अन्तिम पद्य)।

आचार्य अमृतचन्द्र का पद एवं व्यक्तित्व

प्रकृत अमृतचन्द्र "आचार्य" पद पर प्रतिष्ठित, एवं प्रख्यात रहे हैं। आचार्य पद उनके गौरवपूर्ण पद एवं व्यक्तित्व का द्योतक है। श्रमणपरम्परा या जैनदर्शन में पांच पद सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं। वे हैं अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु। इन पांचो को "पंचपरमेष्ठी" पद से जाना जाता है। आचार्य पद साधु और उपाध्याय पदों से भी अधिक गौरवशाली, महत्त्वपूर्ण तथा उच्चतर आध्यात्मिक विकास का प्रतीक है। अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व इतना महान था कि आचार्य के अतिरिक्त अन्य अनेक पदवियों से भी वे सुशोभित थे। जिनमें से सूरि, व्याख्याता, कवीन्द्र इत्यादि पदवियों का उल्लेख तो स्वयं अमृतचन्द्र द्वारा उनकी ही कृतियों में प्रसंगोपात्त सहज हुआ है।

"सूरि" पद का प्रयोग दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों जैन सम्प्रदायों में अपने विशेष प्रभावशाली गुरुओं (साधु तथा आचार्यों) के नाम के अंत में प्रयुक्त होता रहा है। दिगम्बरों में भट्टारकों के नाम के अंत में भी सूरि पद का प्रयोग मिलता है। श्रुतसागर भट्टारक के नाम के साथ उक्त सूरि पद का प्रयोग हुआ है। उन्होंने अपने को श्रुतसागरसूरि[1] नाम से प्रकट किया है। जैन श्वेताम्बर आचार्यों के नामांत में "सूरि" पद का प्रयोग विशेष प्रचलित रहा है। डॉ. पी. एल. वैद्य[2] ने उक्त बात का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र दिगम्बरों में तो लब्धप्रतिष्ठ थे ही, साथ ही श्वेताम्बरों तथा भट्टारकों के बीच भी उनका प्रभाव था। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र की अद्यावधि अज्ञात, असाधारण कृति अहमदाबद के श्वेताम्बर जैन मन्दिर के डेलाशास्त्रभण्डार में श्वेताम्बर मुनि पुण्यविजय जी को प्राप्त हुई है। उक्त कृति ताड़पत्रों पर अंकित है। कृति का नाम "लघुतत्त्वस्फोटः" अपरनाम 'शक्तिमणित् कोश" है।[3]

---

१. अष्टपाहुड़, श्रुतसागरसूरि कृत संस्कृत टीका, संपादक पं. पन्नालालजी, प्रस्तावना पृष्ठ १४ "यहाँ पर श्रुतसागर ने अपने को सूरि तो लिखा है, परन्तु यहाँ सूरि का अर्थ दिगम्बर आचार्य नहीं है अपितु भट्टारक हैं क्योंकि श्रुतसागर स्वयं भट्टारक थे।"

२. "दिगम्बरपंथी अपने मुख्य साधुओं को "भट्टारक" नाम से पुकारते थे और श्वेताम्बर उसके बदले "सूरि" शब्द का प्रयोग करते थे।" जैन धर्म आणि वाङ्मय, डॉ. परशुराम लक्ष्मण वैद्य–पृष्ठ ५७

३. आ. शांतिसागरजी जन्मशताब्दि स्मृतिग्रंथ, द्वितीय भाग पृष्ठ २२३ डॉ. पद्मनाभ श्रीधर्मा जैनी प्रोफेसर केलीफोर्निया यूनिवर्सिटी, यू. एस. ए. का "श्री जिननामावलि" शीर्षक लेख।

"व्याख्याता" पद आचार्य अमृतचन्द्र के सफलतम, प्रौढ़तम एवं कुशलतम व्याख्याकार अथवा भाष्यकार होने की घोषणा करता है। वे कुन्दकुन्दाचार्य के कलिकाल सर्वज्ञतुल्य, अर्थगांभीर्ययुक्त सूत्रों का गूढ़तम अर्थोद्घाटन तथा मर्म प्रकट करने के लिए कलिकालगणधर तुल्य व्याख्याकार थे। इसीलिए कुछ विद्वानों ने कुन्दकुन्द को कलिकालसर्वज्ञ[1] तथा अमृचन्द्र को कलिकालगणधर[2] कहकर उनके महत्त्व एवं व्यक्तित्व को व्यक्त किया है अतः व्याख्याता पद अमृतचद्रसूरि को ही उपयुक्त एवं शोभास्पद प्रतीत होता है।

'कवीन्द्र" विशेषण उनके सिद्धहस्त तथा लब्धप्रतिष्ठ कवि श्रेष्ठ होने का परिचायक है। उनकी कृतियों में गंभीरतम एवं प्रौढ़तम कवित्व छलकता है। भाषा, अलंकार तथा छंद, आत्मानुभूति की प्रबलता तथा भावाभिव्यक्ति की तीव्रता में सहज ही प्रस्फुटित हो गये हैं। प्राभृतत्रय टीकाओं में, विशेषतः समयसार की आत्मख्याति टीका में भावाभिव्यक्ति की तीव्रता के कारण ही गद्य धारा कहीं कहीं पद्यधारा का रूप धारण करती है। "लघुत्वस्फोट" काव्य में उनकी कविप्रतिभा का चरमोत्कर्ष देखते ही बनता है अतः उक्त कवीन्द्र पद भी अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व का समुचित प्रकाशक है। रावजी नेमचन्द शहा ने आचार्य अमृतचन्द्र को कवीन्द्र ही नहीं बल्कि "अंतर्मुखकवीन्द्र"[3] कहा है।

आ. अमृतचन्द्र की स्वरचित कृतियों में प्राप्त उपर्युक्त पदों के अतिरिक्त, उनके परवर्ती आचार्यों, विद्वानों तथा टीकाकारों ने भी अमृतचन्द्र को यतीश, अध्यात्ममार्तण्ड[4] मुनि, मुनिराज, ठक्कुर आदि अनेक विशेषणों से विभूषित किया है जिससे अमृतचंद्र के बहुमुखी व्यक्तित्व पर स्पष्टतः प्रकाश पड़ता है। हिन्दी टीकाकार पं. दौलतराम ने

---

१. "कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृत ग्रंथे....." । अष्टपाहुड श्रुतसागर-सूरिकृत टीका पृष्ठ ५६४

२. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (मराठी अनुवादक अज्ञात) प्रथमावृत्ति, १९२८ ई. के मुखपृष्ठ पर "मूललेखक कलिकाल गणधर श्रीमदमृतचन्द्रसूरि" शब्दों का उल्लेख है।

३. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (मराठा अनुवाद) प्रस्तावना पृष्ठ १२

४. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, संपादक, विद्याकुमार सेठी, (शुभाशीर्वाद)

अमृतचन्द्र को "मुनीन्द्र"[1] शब्द से संबोधित किया है। तत्वार्थसार के हिन्दी टीकाकार, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य ने तो अमृतचन्द्र को सूरि ही नहीं, "महासूरि तथा नानानयविशारद[2] लिखकर उनकी गरिमा तथा महिमा को दर्शाया है। इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र अत्यंत उच्च पद पर प्रतिष्ठित तथा असाधारण व्यक्तित्व से सुशोभित थे।

अमृतचन्द्र का कुल

अनेकांत स्वरूप आनंदामृत का पान करने वाले, परमानन्द रूप अमृत रस के पिपासुओं को अध्यात्मामृत का पान कराने वाले, भव्यजीवों के हितकारी[3] आचार्य अमृतचन्द्र ने कहीं भी अपनी कृतियों में अपना लौकिक परिचय नहीं दिया है। अलौकिक, निस्पृह जीवन जीने वाले आचार्य को लौकिक माता पिता, जन्मस्थान, कुल, गुरु आदि लौकिक परिचय से प्रयोजन ही क्या था, इसलिए उनके कुल-गण-संघ आदि के सम्बन्ध में परिचय प्रस्तुत करने वाली सामग्री तथा साधनों की, बहुत कमी है, फिर भी इस सम्बन्ध में आ. अमृतचन्द्र के परवर्ती टीकाकारों तथा लेखकों के आधार पर प्रकाश डाला जा रहा है।

ठाकुर कुल—पं. आशाधरजी ने अपनी अनगारधर्मामृत की टीका में "एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरि विरचित समयसार टीकायां द्रष्टव्यम्"[4] वाक्य का प्रयोग किया हैं। इसमें अमृतचन्द्रसूरि को "ठक्कुर" शब्द का प्रयोग किया है। यह ठक्कुर शब्द हिन्दी में ठाकुर पद का वाचक[5] तथा सम्मानित कुल का द्योतक है।[6] इससे ज्ञात होता है कि आ. अमृतचन्द्र किसी कुलीन घराने से सम्बन्धित थे। संभव है वे "ठाकुर-वंश" के हों। डॉ. लालबहादुर शास्त्री ने एक नवीन कल्पना की है कि

---

१. "अमृतचन्द्र मुनीन्द्रकृत ग्रंथ श्रावकाचार, अध्यातमरूपी महा आर्या छंद सुसार।" पु. सि., दौलतराम, अंतिमप्रशस्ति पृष्ठ १९५

२. तत्वार्थसार, टीकाकारकृत अंतिमप्रशस्ति पृष्ठ २१२ "अमृतेन्दु महासूरिनाना-नयविशादः"

३. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका टीका, मंगलाचरण पद्य क्र. ३

४. अनगार धर्मामृत टीका, पृष्ठ ५८८

५. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ट १७३ पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री

६. तीर्थंकर महावीर तथा उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृष्ठ ४०३

अमृतचन्द्र यह नाम "चन्द्र" पदांत होने से अमृतचन्द्र चन्द्रवंशी ठाकुर[1] होना चाहिये, परन्तु यह अनुमान ही प्रतीत होता है क्योंकि इसका कोई ठोस आधार नहीं है। फिर भी आचार्य अमृतचन्द्र का ठाकुरवंशी या कुलीनवंशी होना तो प्रमाणित हो ही जाता है।

द्रविड़ संघ तथा अमृतचन्द्र—आचार्य अमृतचन्द्र तथा शंकराचार्य समकालीन थे। शंकराचार्य अमृतचन्द्राचार्य के "आत्मख्याति" में वर्णित विचारों से प्रभावित थे। आत्मख्याति टीका तथा शंकर का शारीरिक भाष्य बहुत कुछ समान है तथा शंकर एक अवसर पर अपने को एक द्रविड़ आचार्य द्वारा प्रभावित कहते हैं, इसलिए प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती ने आचार्य अमृतचन्द्र को द्रविड़ संघी अनुमानित किया है।[2] उक्त अनुमान के भी कोई भी आधार उपलब्ध न होने से आचार्य अमृतचन्द्र को द्रविड़संघी भी नहीं माना जा सकता। द्रविड़संघ की मान्यताएँ भी मूलसंघ से विपरीत हैं।[3] उनका पोषण अमृतचन्द्र के साहित्य में कहीं भी नहीं मिलता अतः वे द्रविड़संघी सिद्ध नहीं होते।

पुन्नाटसंघ तथा अमृतचन्द्र—मुल्तानपुर (पश्चिमखानदेश–महाराष्ट्र) के एक मूर्तिलेख में अमृतचन्द्र के शिष्य विजयकीर्ति का नाम पुन्नाटगुरुकुल के अंतर्गत उल्लिखित है। उक्त लेख ११५४ सन् का है।[4] उक्त पुन्नाट संघ बाद में काष्ठासंघ में परिवर्तित हुआ तथा इसका नाम लाडबागड़-गच्छ हो गया। उक्त उल्लेख से अमृतचन्द्र के पुन्नाटसंघी होने संभावना व्यक्त की जा सकती है परन्तु उक्त विजयकीर्ति के गुरु अमृतचन्द्र प्रकृत अमृतचन्द्र नहीं है। उन्होंने स्वयं भी अपने किसी शिष्य का कहीं भी उल्लेख नहीं किया। उनके पश्चाद्वर्ती लेखकों ने भी उक्त प्रकार का

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृष्ठ ३२४

२. समयसार, (अंग्रेजी) प्रस्तावना, पृष्ठ १६०–१६१, प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९५०

३. खड़े खड़े भोजन विधि का निषेधक, कोई वस्तुप्रासुक नहीं, मुनिजन खेती–रोजगार करावें, वसतिका बनवावें, अप्रासुक जलस्नान करें, प्रतिमाएँ वस्त्राभूषणसहित होती है इत्यादि द्रविड़ संघ की विपरीत मान्यताएँ हैं। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-१, पृष्ठ ३४२-३४३

४. जैन शिलालेख संग्रह, भाग-५, डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर, पृष्ठ ४६, लेख क्रमांक ६८

कहीं भी कथन नहीं किया है। दूसरे उक्त लेख विक्रम की तेरहवी सदी के प्रारम्भ १२११ का है जिसमें विजयकीर्ति का अमृतचन्द्र के शिष्य के रूप में उल्लेख है। उक्त समय मलधारीमाधवचंद्र के शिष्य भट्टारक अमृतचन्द्र का अवश्य है परन्तु प्रकृत आचार्य अमृतचन्द्र का नहीं। उनका समय तो दसवीं विक्रम सदी है। अतः प्रकृत अमृतचन्द्राचार्य के पुन्नाटसंघी होने के कोई भी प्रमाण नहीं हैं।

काष्ठासंघ तथा अमृतचन्द्र— वर्तमान आचार्य विद्यासागर ने अमृतचंद्रसूरि कृत समयसारकलशों के आधार पर "निजामृतपान" एवं "कलशागीत" नाम से हिन्दी पद्यानुवाद किया है। "निजामृतपान" पद्यानुवाद की प्रस्तावना चेतना के गहराव शीर्षक के अन्तर्गत आचार्य अमृतचंद्र को काष्ठासंघी लिखा है।[1] उक्त मान्यता की पुष्टि हेतु उनका तर्क है कि अमृतचन्द्र ने प्रवचनसार की चूलिका में १०–१२ गाथाओं की टीका नहीं लिखी जबकि उनके परवर्ती जयसेनाचार्य ने टीका लिखी है। उक्त गाथाओं में स्त्रीमुक्ति निषेध का प्रसंग इष्ट नहीं था। दूसरे अमृतचन्द्र कृत टीका के अन्त में काष्ठासंघ की परम्परा का ज्ञान कराया हैं इसलिए जयसेन मूलसंघ के तथा अमृतचन्द्र काष्ठासंघ के सिद्ध होते हैं।[2]

उपर्युक्त मान्यता एकदम नवीन कल्पना प्रतीत होती है क्योंकि प्रथम तो काष्ठासंघी भी मूलसंघी की भांति स्त्री मुक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। यदि स्त्रीमुक्ति मानना काष्ठासंघ की मान्यता होती तो यह आरोप कि "अमृतचन्द्र को स्त्रीमुक्ति निषेध प्रसंग इष्ट नहीं था इसलिए काष्ठासंघी थे" विचारणीय होता। दूसरे आचार्य अमृतचन्द्र ने काष्ठासंघ की किसी भी मान्यता[3] का कहीं भी किसी ग्रन्थ में पोषण नहीं किया है जिससे उन्हें काष्ठासंघी कहा जाता। तीसरे, काष्ठासंघ की गुर्वावलि में भी अमृतचन्द्र का कहीं नामोल्लेख नहीं है।[4] चौथे रायचंद्र जैन शास्त्र-

---

१. निजामृतपान, पृष्ठ ड़ २. वही, पृष्ठ ड़

३. काष्ठासंघ की प्रमुख मान्यताएँ हैं– गाय की पूँछ की पिच्छि रखना, स्त्रियों को दीक्षा देना, क्षुल्लकों को वीरचर्या का विधान करना, मुनियों को कड़े बालों की पिच्छि रखने का उपदेश, रात्रिभोजन त्याग नामक छठवाँ गुणव्रत (अणुव्रत) मानना, स्त्रीमुक्ति निषेध, सर्वस्त्रमुक्ति निषेध तथा केवलीमुक्ति का निषेध करना इत्यादि। (दर्शनसार गाथा नं. ३४, ३५, ३६)

४. An Epitome of Jainism by Pooranchand Nahar and Krishnachand Ghosh (See Appendix E) Published by H. Duby Gulab Kumar Library, 45 Indian Mirror Street, Calcutta- 1917.

माला से प्रकाशित प्रवचनसार (द्वितीय आवृत्ति) के अन्त में प्रशस्ति दी है जिसे एक अन्य संस्करण में "टीकाकार की प्रशस्ति" शीर्षक से छापा है जबकि उक्त प्रशस्ति टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र की नहीं है क्योंकि उक्त प्रशस्ति में विक्रम संवत् १४६६ में राजा वीरमदेव के काल में हुए भट्टारक हेमकीर्ति का विवरण दिया है तथा उनके संघस्थ हरिराज ब्रह्मचारी का उल्लेख किया है। उक्त सम्पूर्ण प्रशस्ति में अमृतचन्द्र का कहीं नाम भी नही है।[1] प्रवचनसार तथा उनकी टीकाओं के प्रमुख अध्येता स्वर्गीय डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने भी उक्त प्रशस्ति को प्रतिलिपिकार की ही माना है, उसका अमृतचन्द्र से कोई भी सम्बन्ध नहीं है।[2] प्रशस्ति में उल्लिखित हेमकीर्ति अवश्य काष्ठासंघी प्रतीत होते हैं जिससे प्रशस्ति सम्बन्धित है। काष्ठासंघ की गुर्वावलि में हेमकीर्ति का उल्लेख ६५ नम्बर पर है।[3] पाँचवें, काष्ठासंघी कई भट्टारकों ने समयसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों की प्रतिलिपियां कराई तथा उनमें गुरु परम्परा का विवरण दिया और अपने को कुन्दकुन्दान्वयी भी लिखा तो क्या कुन्दकुन्दाचार्य को भी काष्ठासंघी मान लिया जावे परन्तु यह बात किसी भी समझदार को मान्य नहीं हो सकती। इसी तरह अमृतचन्द्र को भी काष्ठासंघी नहीं माना जा सकता। छठवें, आचार्य अमृतचन्द्र ऐसे असाधारण आचार्य हुए हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में कहीं भी अपने गुरु तथा उनकी परम्परा और कुल, संघ आदि का कोई भी उल्लेख नहीं किया अतः उक्त प्रशस्ति उनकी बताना सर्वथा अनुचित एवं निराधार है। सातवें, आचार्य देवसेन ने काष्ठासघ को जैनाभासी, मिथ्यात्व तथा उन्मार्ग प्रचारक लिखा है।[4] जबकि आचार्य अमृतचन्द्र की समस्त कृतियाँ मूलसंघी सिद्धान्तों की सम्पोषक एवं प्रचारक हैं, उन्हें काष्ठासघी बता कर उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व को कलंकित करना तथा उन्हें अप्रमाणिक ठहराना होगा। इससे मूलसंघीय आचार्य परम्परा तथा आर्षग्रंथों की प्रामाणिकता पर भी आंच आयेगी इसलिए बिना कोई ठोस

---

१. सन्मति संदेश, मार्च ८०, पृष्ठ १८, लेख–पं. बंशीधरजी शास्त्री एम. ए.

२. The Prasasti Printed at the end has nothing to do with Amrtachandra but it belongs possibly to Ascribe of a M. S. (See Pravachanasara's Introduction, Page 97-98)

३. An Epitome of Jainism- (Appendix E)

४. दर्शनसार, गाथा ३४ तथा ३६

प्रमाण या आधार के आचार्य अमृतचन्द्र को काष्ठासंघी नहीं कहा जा सकता। आठवीं बात विचारणीय रहती है कि अमृतचन्द्र की टीका तत्त्वप्रदीपिका में उक्त स्त्रीमुक्ति प्रसंग विषयक गाथाएं क्यों छूटी हैं? इसका समाधान यह है कि प्रथम तो आचार्य अमृतचन्द्र ने केवल स्त्री-मुक्ति निषेध प्रकरण विषयक ही गाथाए नहीं छोड़ी अपितु अन्य प्रकरण विषयक गाथाएं भी छोड़ी हैं। प्रवचनसार में ही ऐसी दो गाथाओं पर[1] आचार्य अमृतचन्द्र ने कोई टीक नहीं लिखी जिनमें मासांहार का दोष बताया गया है। इसका यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि आचार्य अमृतचन्द्र को मांसाहार को दोष बताना इष्ट नहीं था। इसी तरह स्त्री-मुक्ति प्रकरण सम्बन्धी गाथाओं की टीका के अभाव में "अमृतचन्द्र को स्त्रीमुक्ति प्रकरण का निषेध इष्ट नहीं था यह आरोप भी नहीं लगाया जा सकता। दूसरे, श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय में स्त्रीमुक्ति प्रकरण को इष्ट माना गया है। इसके अतिरिक्त वे सवस्त्र (सग्रंथ) गुरु, केवली के कवलाहार आदि कई बातें इष्ट मानते हैं जबकि आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने तत्त्वार्थसार में "परिग्रहधारी को गुरु मानने का) तथा केवली के कवलाहार मानने का" विपरीत मान्यता अथवा विपरीत मिथ्यात्व कहकर खण्डन किया है।[2] इससे स्पष्ट होता है कि जहाँ अमृतचन्द्र सग्रंथ (सवस्त्र, सपरिग्रही) को गुरु भी मानने का निषेध करते हैं, वहाँ वे सवस्त्र स्त्री को मुक्ति कैसे मान सकते हैं; तथा जब उन्होंने श्वेताम्बर मत सम्मत उक्त दो मान्यताओं का स्पष्टरूप से खण्डन किया है तब वे स्त्री मुक्ति सम्बन्धी तीसरी मान्यता का समर्थन कैसे कर सकते हैं? तीसरे, गाथाओं की कमी तथा अमृतचन्द्र की टीका न होने का कारण यह अवश्य हो सकता है कि वे गाथाएँ अमृतचन्द्र के समक्ष उपलब्ध प्रति में होंगी ही नहीं, अन्यथा वे उनके सम्बन्ध में कुछ न कुछ सूचना अवश्य देते। चौथे यह सम्भव प्रतीत होता है कि अध्येता विद्वान् या साधु कुछ प्रासङ्गिक या अप्रासङ्गिक

---

१. प्रवचनसार, गाथा २२९ के बाद "पक्केसु अ आमेसु" –तथा "पक्कमपक्कं" इत्यादि दो गाथाएँ छूटी है। तथा संयम और दया निरुपक अन्य दो गाथाएँ भी छोड़ी हैं जो क्रमशः २३९ तथा २६६ गाथाएँ के बाद आती हैं।

२. सग्रन्थोऽपि च निग्रन्थो आसाहारी च केवली।
रुचिरेवंविधा तत्र विपरीतं हि स्मृतम् ॥६॥
तत्त्वार्थसार अधिकार ५, पद्य ६

गाथाएँ हाँसिए पर नोट कर देते हैं और लिपिकार प्रमाद या अज्ञानवश उन्हें भी मूल भाग में शामिल कर लेते हैं। जयसेनाचार्य के समक्ष ऐसी ही प्रति रही होगी।[1] इसीलिए केवल एक ही टीका में गाथा भेद नहीं है अपितु तीनों टीकाओं में गाथाभेद मिलता है।[2] पाँचवे जयसेनीय टीकाओं में जो अतिरिक्त गाथाएँ हैं उनमें अधिकांश तो ऐसी हैं जिनके ग्रन्थ में होने या न होने से मूल विषय में कोई व्यवधान नहीं आता है। प्रवचनसार की ही ३६ अतिरिक्त गाथाओं का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि इनमें अधिकांश गाथाएँ नमस्कारात्मक हैं।[3] शेष गाथाएँ संबंधित विषय के विशेष स्पष्टीकरण हेतु हैं।[4] इसी तरह पंचास्तिकाय की जयसेनीय टीका में ८ गाथाएँ अधिक हैं। इनमें ७ गाथायें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान और अज्ञान के स्वरूप की प्रकाशक है[5] तथा एक गाथा ६ प्रकार के स्कंधों की सूचक है।[6] समयसार की जयसेनीय टीका में २२ गाथाएँ अधिक हैं जिनमें कुछ गाथाएँ अप्रासंगिक है, कुछ पुनरावृत्त हैं तथा कुछ विशेष स्पष्टीकरण हेतु हैं।[7] इस प्रकार गाथाभेद पर सूक्ष्मावलोकन करने पर अमृतचन्द्र के काष्ठासंघी सिद्ध होने के कोई प्रमाण या संकेत उपलब्ध नहीं होते। छठवें, गाथाभेद केवल अमृतचन्द्र एवं जयसेन कृत टीकाओं में ही नहीं है अपितु अन्य टीकाओं में

---

१. सन्मतिसंदेश, मार्च ८०, पृष्ठ १८, लेख–पं. वंशीधर शास्त्री, एम. ए.

२. प्रवचनसार, पंचास्तिकाय तथा समयसार पर अमृतचन्द्र ने क्रमशः २७५, १७३ तथा ४२५ गाथाओं पर टीका लिखी है जबकि जयसेन ने क्रमशः ३११, १८१ तथा ४३७ पर। टीप–समयप्राभृतं, सम्पादक पं. गजाधरलाल, में ४४५ गाथाएँ है जबकि समयसार सम्पादक–मुनि ज्ञानसागर, ग्रंथ जी संस्करण–जे. एल. जैनी व मेघ्युमेके (१९५०) में ४३७ गाथाएँ हैं।

३. इसमें १० गाथाएँ नमस्कारात्मक हैं जो क्रमशः गा. १९. ५२, ६८, ६८ बी, ७९, ७९ ब, ८२, ९२, ९२ ब, २००

४. शेष २६ गाथाएँ प्रतिज्ञावाक्य, अस्तिकाय, बन्धनियम, ईर्यासमिति, परिग्रह निषेध, स्त्रीमुक्तिखंडन, प्रमाद के कारण, मांसदोष, आहार, संयम तथा अनुकम्पा विषयक स्पष्टीकरणार्थ हैं।

५. वे ७ गाथाएँ क्रमशः ४१ गा के बाद की ६ तथा १०६ गा के बाद की एक गाथा है।

६. स्कंधषड्भेद सूचक गाथा १०६ गा के बाद की है।

७. समयसार, पं. बलभद्र प्र., पृष्ठ ८

भी गाथा भेद पाया जाता है, उदाहरण के लिए स्वयं जयसेन ने समयसार की गाथा क्रमशः ११६, ११७, १४६ तथा २५२ ये चार गाथाएँ छोड़ दी हैं जिन पर अमृतचन्द्र ने टीकाएँ लिखी हैं; परन्तु जयसेन ने कोई टीका नहीं लिखी। उन गाथाओं में प्रथम दो में सांख्यमत सम्मत "जीव पुद्गल द्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है।" इस तर्क का खण्डन तथा पुद्गल द्रव्य का परिणामस्वभावपना सिद्ध किया गया है।[1] तीसरी गाथा में "पर द्वारा आयुकर्म का हरण संभव न होने से अपना मरण किया जाना संभव नहीं है" तथा चौथी गाथा में "पर द्वारा आयुकर्म दिया जाना संभव न होने से अपने लिए जीवन दिया जाना संभव नहीं है" इस प्रकार सिद्धान्तों का निरूपण है। इस पर से यह फलित करना, कि जयसेन को सांख्यमत का उक्त तर्क खण्डन करना इष्ट नहीं था तथा उन्हें परकृत आयुहरण तथा आयुप्रदान के सिद्धांतों का खण्डन भी इष्ट नहीं था, कदापि उचित नहीं माना जा सकता।

गाथा भेद के सम्बन्ध में दूसरा उदाहरण प्रभाचन्द्राचार्य का है जिन्होंने प्रवचनसार की जयसेनीय टीका में उपलब्ध एक गाथा छोड़ दी है। उसे अमृतचन्द्र ने भी १८८ गाथा के बाद छोड़ा है। उक्त छूटी हुई गाथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की १६३ वीं गाथा है।[2] इससे यह भी सिद्ध होता है कि किसी विद्वान् अध्येता ने गाथा १८८ में वर्णित बंधप्रकरण से साम्य रखने वाली उक्त गोम्मटसार की गाथा हांसिये पर लिख ली होगी जिसे प्रतिलिपिकार ने प्रवचनसार की मानकर प्रकरण में सम्मिलित कर लिया होगा। ऐसी ही प्रति जयसेन के समक्ष होगी। उसे जयसेन ने प्रवचनसार की गाथा मानकर टीका लिख दी।

इस सम्बन्ध में तीसरा उदाहरण बालचन्द्र का है। उन्होंने भी प्रवचनसार में जयसेनीय टीका में प्रयुक्त अतिरिक्त गाथाओं की कन्नड़ में टीका नहीं लिखी।[3]

---

१. "अथजीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः" इस तर्क का खण्डन गा. ११६ तथा १२० में किया गया है, जिसे जयसेन ने छोड़ दिया है।

२. "सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।
विवरीदेण जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीणं॥" १६३॥ गोम्मटसार कर्मकाण्ड

३. प्रवचनसार, (अंग्रेजी) द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १०७, प्रस्तावना डॉ. ए. एन. उपाध्ये

चौथा उदाहरण धवला के प्रथम भाग का है। इसके अमरावती से प्रकाशित[1] तथा सोलापूर से प्रकाशित[2] संस्करणों में गाथा संख्या में भेद है।[3] इसी प्रकार मूलाराधना (भगवती आराधना) की पंडित सदासुखदास की टीका में गाथा ८०८ से ८१२ तक नहीं है जबकि पं. जिनदास पार्श्वनाथ फड़कुले कृत टीका में ये गाथायें हैं। इसमें भी अपराजित सूरि कृत विजयोदया संस्कृत टीका उपलब्ध है, परन्तु आशाधर कृत मूलाराधना में दर्पण टीका नहीं है।[4]

पुरुषार्थसिद्धयुपाय (मराठी) भाषातर में कुल १९६ श्लोक हैं १७७-२२६ तक के ३० पद्य छोड़ दिये गए हैं तथा कृष्णाजी नारायणजी जोशी कृत पुरुषार्थसिद्धयुपाय टीका में गाथा नं. ७० छोड़ दी गई है। उक्त गाथा में स्वयं पतितमधु खाने का निषेध है। इसके अतिरिक्त २२७ नम्बर की गाथा मिला दी गई है। उक्त २२७वीं की गाथा के परीक्षण से ज्ञात होता है कि लिपिकार ने भूल से पुरुषार्थसिद्धयुपाय के अन्त में "पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय नाम जिनप्रवचनरहस्य कोशः समाप्तमिति" इस गद्य वाक्य को पद्य समझकर गाथा क्रमांक दे दिया है।[5] इसी प्रकार ३७० वर्ष प्राचीन कपड़े पर की गई हस्तलिखित प्रतिलिपि में समयसार कलश के १९ पद्य छोड़ दिये गये हैं। जो समयसार कलश में ७१-८९ तक उपलब्ध होते हैं।[6]

इसी प्रकार तिलोयपण्णति ग्रन्थ में १३४० गाथायें प्रक्षिप्त हैं तथा मूलग्रंथकर्ता के प्रतिकूल हैं।[7] इसी प्रकार पंचास्तिकाय की १११ वीं

---

१. अमरावती (बरार) से प्रथम संस्करण ई. १९३९ में (सेठ लक्ष्मीचन्द्र शिताबराय जैन साहित्योद्धारक फंड अमरावती) प्रकाशित हुआ था।

२. जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापूर द्वारा १९७३ ई., में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया गया।

३. इस संस्करण में पृष्ठ ४०१ पर ४ गाथाएं अधिक हैं, जो प्रथम संस्करण में नहीं हैं।

४. भगवती आराधना, पृष्ठ ३३० फूटनोट

५. पुरुषार्थसिद्धयुपाय (मराठी) कृष्णाजी नारायण जोशी कृत १८९७ ई.

६. समयसार कलश की हस्तलिखित कपड़े पर अंकित प्रति वि. सं. १६६८ दिगम्बर जैन तेरह पंथी मन्दिर जयपुर में उपलब्ध।

७. जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ११

गाथा प्रक्षिप्त मानी गयी हैं।[1] उक्त १११ वीं गाथा को पंचास्तिकाय के अंग्रेजी संस्करण[2] में सम्मिलित नहीं किया गया है। जबकि उक्त ग्रंथ के द्वितीय संस्करण[3] में उक्त गाथा के प्रक्षिप्त होने की सूचना भी दी गई है। इस संदर्भ में पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने स्पष्ट लिखा है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने २८ मूलगुणों में नग्नता का उल्लेख किया है। अन्यत्र यथाजातरूप का भी उल्लेख किया है, अतः उन्हें काष्ठासंघी मानना महज भ्रम ही है।[4] काष्ठासंघ को जैनाभास मानकर अमृतचन्द्र को बलात् उससे सम्बद्ध करना उचित नहीं है। मूलसंघ के संस्थापक आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों पर टीका रचने वाले तथा जिनशासन प्रभावक और अध्यात्म सरिता प्रवाहित करने वाले आचार्य अमृतचन्द्र के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार की अन्यथा कल्पना उचित नहीं है। जिन्हें अध्यात्म सह्य नहीं है वे तो कुन्दकुन्द को भी नहीं छोड़ते, किन्तु कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन शासन के सूत्रधार हैं, अतः किसी की कुछ चलती नहीं। अमृतचन्द्र तो उन्हीं के अनुगामी हैं।[5]

इस तरह सर्व प्रकार से सूक्ष्म परीक्षण तथा विचार करने पर आचार्य अमृतचन्द्र काष्ठासंघी सिद्ध नहीं होते।

नंदिसंघ तथा आचार्य अमृतचन्द्र— "पुरुषार्थसिद्धयुपाय" के कर्ता आचार्य अमृतचंद्र ९६२ विक्रम सम्वत् में जीवित थे यह बात पट्टावलियों तथा पाश्चात्य विद्वानों की रिपोर्टों से प्रमाणित होती है। नन्दिसंघ की पट्टावलि में आचार्य कुन्दकुन्द हुए, उसी संघ में आचार्य अमृतचंद्र हुए है।[6] नन्दिसंघ के आचार्यों के नाम के अन्त में नन्दि, चन्द्र, कीर्ति तथा भूषण शब्दों का प्रयोग किया जाता है।[7] अमृतचंद्र का नाम भी

---

१. जैन निबन्ध रत्नावली, पृष्ठ ३४६
२. पंचास्तिकाय, ए. चक्रवर्ती, सेक्रेड बुक्स आफ दी जैनाज ग्रंथांक ३ १९२० ई.
३. पंचास्तिकाय-भा. ज्ञा. प्र. दिल्ली, १९७५ ई.
४. लघुतत्त्वस्फोट (अनुवाद डॉ पं. पन्नालाल जैन साहित्याचार्य) प्र. पृष्ठ ७, १९८१ ई.
५. वही, पृष्ठ ७,८
६. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, प्रस्तावना पृष्ठ ४ (पं. नाथूराम प्रेमी) रायचंद जैन शास्त्र माला।
७. तत्त्वानुशासन, प्रस्तावना पृष्ठ ५०, वीर निर्वाण सम्वत् २४३१

चन्द्रांत है तथा एक स्थल पर अमृतचन्द्र को अमृतनन्दि नाम का प्रयोग मिलता है।[1] 'नन्दि' पद का नामांत में प्रयोग होने से अमृतचन्द्र का नन्दि-संघ का होना साधार प्रतीत होता है। तीसरे अमृतचन्द्र कुन्दकुन्द के निजामृत रस के रसिक थे। वे कुन्दकुन्द के अनन्य शिष्य तथा भक्त थे। कुन्दकुन्द का नन्दिसंघी होना प्रमाणित है।[2] तब उनके अनुगामी शिष्य अमृतचन्द्र का भी नन्दिसंघी होना स्वाभाविक है। नन्दिसंघ मूलसंघ का एक सर्वाधिक प्रामाणिक तथा प्राचीन संघ है।[3] आचार्य कुन्दकुन्द भी महावीर तीर्थङ्कर तथा गौतम गणधर के अनन्तर तीसरे स्थान पर स्मरण किये जाते हैं। उनके ग्रन्थ तथा ग्रन्थोक्त सिद्धान्त भी गणधर तुल्य प्रमाणता को प्राप्त हैं। ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थों, सिद्धांतों के असाधारण टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र का मूलसंघ की प्रामाणिक शाखा के अन्तर्गत होना सहजसिद्ध है। चौथे, ऐलाचार्य मेघविजयगणि ने अमृतचन्द्र को मूलसंघ का अनुयायी लिखा है।[4] इसी आधार पर पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने आचार्य अमृतचन्द्र को काष्ठासंघी आचार्यकृत "ढाढसी गाथाओं" का कर्ता मानने का खण्डन किया है।[5] कई ग्रन्थकारों ने उन्हें मूलसंघी आचार्य ही माना है।[6]

इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र के संघ निर्णय पर पर्याप्त ऊहापोह एवं प्रमाणों के आधार पर हम निष्कर्ष रूप से यह कह सकते हैं कि आचार्य अमृतचन्द्र सुनिश्चित ही मूलसंघ की नन्दिसंघी परम्परा के आचार्य थे।[7]

---

१. कन्नड़ प्रांतीय ताड़पत्रीय ग्रन्थसूची, पृष्ठ १५, संस्करण प्रथम १९४८ ई.

२ जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, प्रथम भाग, पृष्ठ ३४३, कुन्दकुन्द का अपरनाम पद्मनंदि भी है जिसमें नंदि शब्द अन्त में आया है क्योंकि वे नंदिसंघी थे।"

३. वही, पृष्ठ ३४३

४. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १७४

५. वही, पृष्ठ १७४

६. (i) तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २, पृष्ठ ४०३
(ii) पं. प्रवर बनारसीदास ने भी अपने "समयसारनाटक" की प्रशस्ति में आचार्य अमृतचन्द्र को कुन्दकुन्द की परम्परा का ही लिखा है। यथा:—
"कुन्दकुन्दाचारिज प्रथम गाथा बद्ध करि, समैसार नाटक विचार नाम दयौ है।
ताही की परम्परा अमृतचन्द्र भये तिन, संस्कृत कलश सम्हारि सुख लयौ है ॥८०॥

७. पुरुषार्थसिद्धयुपाय (मराठी पद्यानुवाद) प्रस्तावना, पृष्ठ १७

आचार्य परम्परा में अमृतचन्द्र का स्थान

आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव से लेकर अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर पर्यन्त अक्षुण्ण गति से प्रवाहित जैन अध्यात्म, योग, सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान तथा आचार मूलक परम्परा को अंग-पूर्व ज्ञानधारी आचार्यों ने भली भांति प्रचलित तथा प्रसारित किया, किन्तु उक्त परम्परा मौखिक रूप से ही प्रवहमान रही। पश्चात् ईस्वी सन् (३८ से ६६) में आचार्य धरसेन ने इस परम्परा में अत्यंत सुयोग्य दो आचार्य शिष्यों को सुशिक्षित किया। वे दोनों आचार्य श्रमणों की लिखित श्रुतपरम्परा के "सूर्य तथा चन्द्र" की भांति "प्रकाशक बने। उनके नाम हैं आचार्य पुष्पदंत (६६ से १०१ ईस्वी) तथा आचार्य भूतबलि (६६ से १५६ ईस्वी)[1] उक्त आचार्यद्वय ने सर्वप्रथम "षट्खण्डागम श्रुत की रचना की, जिसमें श्रमणपरम्परा से प्राप्त सिद्धान्त तथा तत्त्वज्ञान विषयक गंभीरतमज्ञान भण्डार भरा है। आचार्य पुष्पदंत भूतबलि के ही समकालीन आचार्य गुणधर (५७-१५६ ईस्वी) हुए जिन्होंने "कषायपाहुड़सुत्त" की रचना कर उक्त ज्ञानभण्डार को विशेषरूप से समृद्ध एवं सम्पुष्ट किया। उनके पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द (पद्मनंदि) ई. १२७-१७६) हुए जिनके काल में अनवरत प्रवहमान दिगम्बर जैनाचार्य-श्रमणपरम्परा में नवीनशाखा का जन्म (ईस्वी द्वितीय सदी में) हुआ जो श्वेताम्बर जैन परम्परा के रूप में विकसित हुई। कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन श्रमणपरम्परा, जो कि मूल तथा प्राचीन परम्परा थी, के प्रमुख बने रहे। उनका संघ मूलसंघ या कुन्दकुन्दान्वय के नाम से विश्रुत बना रहा। उन्होंने मूलसंघ की दिगम्बर परम्परा के आचार तथा विचारों को पूर्ववत् कायम रखा, जबकि नवीन उत्पन्न श्वेताम्बर शाखा ने मूलसंघ के आचार-तथा रीति रिवाजों को छोड़कर निर्ग्रन्थ-नग्न (दिगम्बर) परम्परा के आचार का परित्याग कर दिया तथा "श्वेतवस्त्र" पहिनना प्रारम्भ कर दिया।[2] मूलसंघ की दिगम्बर परम्परा की सुरक्षा तथा अविच्छिन्नता बनाये रखने के कारण आचार्य कुन्दकुन्द का नाम तीर्थंकर महावीर व

---

१. जैनधर्म, पृष्ठ २६१, सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र

२. वही, पृष्ठ २६६ तथा देखियेः— An Epitome of Jainism by Puranchand Nahar & Krishna Chandra Ghosh (1917), Page 10, (Introduction). "Gradually the manners and customs of the Church changed and Original Practice of going abroad naked was abandoned. The ascetic began to wear the White Robe".

गौतमगणधर के पश्चात् तीसरे स्थान पर लिया जाने लगा।[1] उनके पश्चाद्वर्ती दिगम्बराचार्यों ने अपने को कुन्दकुन्दान्वयी अथवा मूलसंघी मानने में गौरव का अनुभव किया. आचार्य कुन्दकुन्द को मूल दिगम्बर-प्राचीन श्रमणपरम्परा का प्रतीक माना जाने लगा। कुन्दकुन्द की प्रभुता का महत्त्व इसी बात से प्रमाणित है कि दिगम्बर जैनों में आज तक जितनी भी मूर्तियां मन्दिरों में, तीर्थों में तथा चैत्यालयों में देश-विदेश में जहां कहीं प्रतिष्ठित की गईं, उन सब पर आचार्य कुन्दकुन्दाम्नाय की मुद्रा को अवश्य अंकित किया गया। दिगम्बरों में तो यहां तक उक्तियां प्रचलित हो गई कि "हुए, न हैं, न होंहिगे मुनीद्रकुन्दकुन्द से।"[2] आचार्य कुन्दकुन्द जैन अध्यात्म तथा जैन तत्त्वज्ञान दोनों के ही पुरस्कर्ता थे। एक ओर जहां उन्होंने अपने महाग्रन्थ "समयप्राभृत" के द्वारा जैन अध्यात्म का प्रस्थापन किया। वहीं दूसरी ओर प्रवचनसार-पंचास्तिकाय द्वारा जैन तत्त्वज्ञान को मूर्तरूप प्रदान किया।[3] साथ ही नियमसार, अष्टपाहुड़ द्वारा जैनाचार की मूल-विमलसरिता को प्रवाहित किया।

उपर्युक्त जैन अध्यात्म, जैनतत्त्वज्ञान तथा जैनाचार की त्रिवेणी को आगे बढ़ाने, विकसित करने तथा प्रचार-प्रसार करने में कई आचार्यों ने अपनी मौलिक तथा टीकाकृतियों द्वारा बहुमूल्य योगदान दिया। उनमें कुछ प्रमुख आचार्य तथा उनकी कृतियां निम्नानुसार हैं। (ईस्वी दूसरी सदी के) आचार्य उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र 'जैनों की बाईबिल' की महत्ता को प्राप्त है। समन्तभद्राचार्य(तीसरी सदी ईस्वी) द्वारा विरचित स्वयंभूस्तोत्र देवागमस्तोत्र, युक्त्यनुशासन, जिनस्तुतिशतक आदि गम्भीर तत्त्वज्ञान विषयक तथा 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' जैनाचार विषयक सर्वश्रेष्ठ कृतियां हैं। पाँचवीं सदी के आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दि) कृत समाधितन्त्र तथा इष्टोपदेश कृतियां कुन्दकुन्द के अध्यात्म से अनुप्राणित हैं। अध्यात्मरस से सराबोर इन कृतियों का कुन्दकुन्द की अध्यात्म धारा के विकास में असाधारण

---

१. मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

२. कविवर वृन्दावन द्वारा रचित स्तुति का एक काव्य (पंचास्तिकाय प्र.प्र. १ ईस्वी सन् १९१५)

३. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ ९५

योगदान है। इसके अतिरिक्त तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि जैन तत्त्वज्ञान की उद्घाटक टीकाकृति है। छठवीं सदी के आचार्य जोइन्दु (योगेन्दुदेव) द्वारा प्रणीत योगसार तथा परमात्मप्रकाश अध्यात्मामृत से भरपूर कृतियां हैं। गुणभद्राचार्य की कृति 'आत्मानुशासन' अध्यात्मामृत का अनुपम निष्यंद है। आचार्य अकलंकदेव ने अष्टशती, लघीयसंग्रह, न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय तथा राजवार्तिक आदि प्रौढ़तम-विद्वतापूर्ण ग्रन्थ रचकर जैनतत्त्वज्ञान तथा जैन न्याय को पल्लवित, पुष्पित तथा फलित किया। इनके ही अनुगामी (ईस्वी नवमीं सदी में) आचार्य विद्यानन्दि हुए जिन्होंने आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, युक्त्यनुशासन टीका, अष्टसहस्री तथा श्लोकवार्तिक प्रभृति महानदार्शनिक गम्भीर तत्त्वज्ञान निरूपक ग्रथों का प्रणयन कर उक्त त्रिवेणी के प्रवाह को गतिमान किया।

कुन्दकुन्दाचार्य की इस सहस्रवर्षीय परम्परा में ही आचार्य 'अमृतचन्द्र' पूर्णचंद्र की भांति अवतरित हुए, जिन्होंने कुन्दकुन्द से प्रवहमान त्रिवेणी की एक नहीं, तीनों ही धाराओं को अपने असाधारण व्यक्तित्व द्वारा विकसित किया तथा अपनी अनुपम अर्थगाम्भीर्ययुक्त कृतियों द्वारा गति प्रदान की। यदि समग्र जैनाचार्य परम्परा में कुन्दकुन्द मार्तण्ड बनकर समग्र आचार्य परम्परा को अलौकिक अध्यात्म व तत्त्वज्ञान से आलोकित करते हैं तो आचार्य अमृतचन्द्र सहस्रवर्ष पश्चात् पूर्णचन्द्र बनकर अपनी उत्तरवर्ती सहस्रवर्षीय अध्यात्म-तत्त्वज्ञान तथा आचार परम्परा को अपनी आध्यात्मिक कृतियों से सम्पुष्ट तथा सम्वर्धित करते हैं। साथ ही परमानन्द रस के पिपासुजनों को अध्यात्मामृत का पान करा कर अलौकिक शान्ति प्रदान करते हैं। उनकी टीका लिखने का उद्देश्य ही भव्यजीवों का हित करना तथा परमानन्द के पिपासुओं को अध्यात्मामृत का पान कराना है। आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रतिपादित–प्रवाहित त्रिवेणी में अवगाहन करने वाले अनेक आचार्य, विद्वान्, लेखक, सम्पादक तथा अध्येता हुए हैं, जो एक हजार वर्ष की सुदीर्घ परम्परा के पोषक एवं प्रसारक हुए हैं। उनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं — आचार्य अमितगति प्रथम तथा द्वितीय (९१८ ईस्वी से १०२१ के बीच), तत्त्वानुशासन के कर्त्ता रामसेन, आचार्य पद्मप्रभमलधारीदेव, मुनिनागसेन (बारहवीं सदी ईस्वी), आचार्य जयसेन, आचार्य प्रभाचन्द्र, (तेरहवीं सदी ईस्वी) बालचन्द (चौदहवीं सदी ईस्वी) शुभचन्द्र भट्टारक (ईस्वी १६१६), पण्डित

राजमल पाण्डे (ईस्वी १५८४), पण्डित बनारसीदास (ईस्वी १६३६), पण्डित टोडरमल, पण्डित सदासुखलाल, पण्डित जयचन्द छाबड़ा (अठाहरवीं सदी ईस्वी) पण्डित गोपालशाह (१९१२ ईस्वी), ब्र. शीतल-प्रसाद, पण्डित गजाधरलाल, पण्डित मनोहरलाल (१९१४ ईस्वी से १९१९), सन्त कानजी स्वामी (१९६२ ईस्वी), गणेशप्रसाद वर्णी आदि (उन्नीसवीं तथा बीसवीं ईस्वी सदी) के शताधिक विद्वान्। इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र को हम कुन्दकुन्द की मूलसंघ की दो हजार वर्षीय सुदीर्घ आचार्य परम्परा में मध्य चन्द्र की भांति पाते हैं जो अपनी पूर्ववर्ती आचार्य परम्परा से प्रकाशित हैं तथा अपनी उत्तरवर्ती सहस्रवर्षीय परम्परा को प्रकाशित करते हैं। वे कुन्दकुन्द की अध्यात्मागम तथा आचार्य परम्परा की आचार्यमाला के मध्यस्थ कोहिनूर हैं जिनसे समग्र माला सुशोभित होती है। आचार्य अमृतचन्द्र, आचार्य कुन्दकुन्द के अनन्य रसिक, उपासक व्याख्याता हैं। वे कुन्दकुन्द को अपने हृदय में बिठाकर क्षेत्रकृत अन्तर को दूर कर चुके हैं तथा उनके सिद्धांत व अध्यात्म का रसास्वादन कर कालकृत दूरी को भी समाप्त कर चुके हैं। इतना ही नहीं, वे कुन्दकुन्द के भविष्य दृष्टा हैं जिन्होंने कुन्दकुन्द के भवसमुद्र का किनारा समीप देख लिया है। सामीप्य को ही देखकर विद्वज्जनों ने उन्हें कुन्दकुन्द का गणधर तुल्य भाष्यकार माना है। साथ ही उन्हें कुन्दकुन्द का अवतार कहकर पुकारा है। वे गरिमापूर्ण आचार्य पद पर प्रतिष्ठित, थे क्योंकि आचार्य पद की गरिमा के योग्य समस्त विशिष्ट गुणों से समलंकृत थे।

जैन परम्परा में उत्तम, शरणभूत तथा श्रेष्ठ रूप में ५ पद ही माने गये हैं।[1] ये पांच पद है अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु। इन्हें "पंचपरमेष्ठो" कहा जाता है। इन पांचों में आचार्य पद तृतीय स्थान पर प्रतिष्ठित है जो उपाध्याय तथा साधु इन दोनों पदों से विशेष महानता एवं गौरव का प्रतीक है। आचार्य "चर" धातु से बना है जिसका अर्थ आचरण करना है। अतः आचार्य का आचरण अनुकरणीय

---

१. णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं॥

धवला पुस्तक एक, पृष्ठ ८

होता है।[1] अमरकोशकार ने आचार्य का अर्थ करते हुए लिखा है कि जो मंत्र की व्याख्या करने वाला, यज्ञ में यजमान को आज्ञा देने वाला और व्रतों को धारण करने वाला हो वह आचार्य है।[2] पं. आशाधर ने लिखा है कि आचार्य का काम मन्त्र की व्याख्या करना है। मन्त्र सर्वज्ञ की वाणी को कहते हैं।[3] आचार्यपद की प्रतिष्ठा, महानता तथा गुरुता के सम्बन्ध में जैनागम में भी आचार्यों ने स्पष्ट प्रकाश डाला है। आचार्य योगीन्दुदेव ने आचार्य के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि निश्चय व्यवहार रूप पंचाचारों से युक्त, शुद्धोपयोग की भावना से सहित तथा वीतराग निर्विकल्प समाधि का स्वयं आचरण करने और कराने वाला आचार्य है।[4] आचार्य के पंचाचर, पंचेन्द्रियरूपी हाथी के मद को दलन करने की योग्यता तथा अन्य गंभीर गुण होते हैं।[5] आचार्य वीरसेन ने आचार्य पद की महानता पर विशद् प्रकाश डालते हुए लिखा है कि जो दर्शन, ज्ञान चारित्र, तप, वीर्य, इन पांचों आचारों का स्वयं आचरण करता है और दूसरे साधुओं से आचरण कराता है, उसे आचार्य कहते हैं। जो तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारंगत है, मेरु के समान निश्चल् है, पृथ्वी के समान सहनशील है, जिसने समुद्र के समान दोषों को बाहर फेंक दिया है और जो सात प्रकार के भय से मुक्त है उसे आचार्य कहते हैं।[6] प्रवचनरूपी समुद्र के जल के मध्य स्नान करने से अर्थात् परमागम के परिपूर्ण अभ्यास और अनुभव से जिनकी बुद्धि निर्मल हो गई है, जो निर्दोष रीति से षट् आवश्यकों का पालन करते हैं। जो शूरवीर हैं, सिंह के समान निर्भीक हैं, निर्दोष हैं, देश, कुल और जाति से शुद्ध है, सौम्य मूर्ति हैं, अन्तरंग बहिरंग परिग्रह से मुक्त हैं, आकाश के समान निर्लेप हैं, ऐसे आचार्य

---

१. जैनभक्ति काव्य की पृष्ठभूमि, डॉ. प्रेमसागर पृष्ठ ६१

२. अमरकोश (लिंगानुशासन) कविसिंहामरसिंहकृत पद्य नं. ७१३

३. सहस्रनाम, सं. पं. हीरालाल शास्त्री, पृष्ठ ८८

४. विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानबहिद्रव्येच्छानिवृत्तिरूपं तपश्चरणं स्वशक्त्यनवगूहनवीर्यरूपाभेदपंचाचाररूपात्मकं शुद्धोपयोगभावनान्तर्भूतं वीतरागनिर्विकल्पसमाधिं स्वयं आचरन्त्यन्यानाचारयतीति भवन्त्याचार्यास्तानहं वंदे।" (परमात्म प्रकाश, ए.एन. उपाध्ये पृष्ठ १४)

५. नियमसार, गाथा ७३

६. धवला पुस्तक एक, पृष्ठ ४९-५० गाथा २९, ३०, ३१

परमेष्ठी होते हैं। तथा जो संघ के संग्रह अर्थात् दीक्षा देने और अनुग्रह करने में कुशल हैं, जो सूत्र (परमागम) के अर्थ में विशारद है, जिनकी कीर्ति सब जगह फैल रही है, जो सारण (आचरण) तथा वारण (निषेध) और शोधन अर्थात् व्रतों की शुद्धि करने वाली क्रियाओं में निरंतर उद्यत रहते है उन्हें आचार्य परमेष्ठी समझना चाहिए।[1] आचार्य अमृतचन्द्र ऐसे ही गंभीरतम, गुरुतम, एवं महानतम पद से सुशोभित थे। अमृचन्द्र की कृतियों तथा परवर्ती लेखकों के उल्लेखों से यह ग्रन्थी [illegible] हो जाता है कि अमृतचन्द्र में उन समस्त वैशिष्ट्यों की विद्यमानता थी जो आचार्य परमेष्ठी में होना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं भी पंचाचार के पालक थे और औरों को भी पंचाचार के पालन का उपदेश भी उन्होंने स्पष्ट रूप से अपनी कृति प्रवचनसार की टीका "तत्त्वप्रदीपिका" में दिया है।[2] उन्होंने दीक्षाविधि तथा पंचाचार का स्पष्ट एवं विशद् व्याख्यान किया है। पंचाचार में वे लिखते हैं कि अहो ! काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिह्नव, अर्थ, व्यंजन और तदुभय रूप ज्ञानाचार को मैं तबतक के लिए धारण करता हूँ जबतक तेरे प्रसाद (निमित्त) से मैं शुद्धात्मा को प्राप्त कर लूं। निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना रूप दर्शनाचार, मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति के कारणभूत पंचमहाव्रत, तीन गुप्ति, पांच समिति रूप चारित्राचार, अनशन-अवमोदर्य आदि बारह तप रूप तपाचार तथा समस्त इतर आचार में प्रवृत्ति कराने वाली स्वशक्ति के अगोपनरूप वीर्याचार हैं। इन पाँचों को निश्चय से शुद्धात्मा से भिन्न जानता हुआ भी तब तक के लिये धारण करता हूँ जब तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को प्राप्त कर लूं।[3] वे आगे यह भी लिखते हैं कि उपरोक्त पंचाचार को धारण करके श्रामण्यार्थी प्रणत तथा अनुगृहीत होता है। प्रणतविधि पर प्रकाश डालते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि जो आचरण करने तथा आचरण कराने में आने वाली समस्त विरति की प्रवृत्ति के समान होने से श्रमण हैं, श्रमण का आचरण करने तथा आचरण कराने में प्रवीण होने से गुणाढ्य हैं, समस्त लौकिकजनों द्वारा सेव्य (सेवा योग्य) होने से और कुलक्रमा-

---

१. धवला पुस्तक १, गाथा ३१

२. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, टीका चरणानुयोग सूचक चूलिका गाथा २०२

३. प्रवचसार, टीका पृष्ठ ३१०–३११

गत क्रूरतादि दोषों से रहित होने से कुलविशिष्ट हैं, अन्तरग शुद्ध रूप का प्रतीक बहिर्शुद्ध रूप से जो रूपविशिष्ट हैं, बाल्यावस्था तथा वृद्धावस्था की बुद्धिविक्लवता से रहित और यौवनोद्रेक की विक्रिया से रहित होने से वयविशिष्ट हैं, यथोक्त श्रमणाचार का पालन करने तथा कराने सम्बन्धी पौरुषेय दोषों को नष्ट कर देने से मुमुक्षुओं के अति-आश्रयरूप तथा श्रमणों को अति इष्ट हैं ऐसे गणी के निकट जाकर मुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि से अनुगृहीत करो कहता हुआ प्रणत होता है पश्चात् गणी-आचार्य द्वारा "तुझे शुद्धात्मतत्त्व की उपलब्धि हो" ऐसा कह कर अनुगृहीत किया जाना अनुगृहीत विधि है।[1] इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र ने दीक्षा विधि का विशद् स्पष्ट व्याख्यान किया है। पश्चात् यथाजातरूपधर श्रमण के लिए ५ महाव्रत (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह), ५ समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपोत्सर्ग) ५ इन्द्रियजय, ६ आवश्यक तथा ७ गुण इस तरह अट्ठाईस मूलगुणों का स्वरूप कथन किया है।[2] आगे श्रमणचर्या की विस्तृत व्याख्या से स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र भी एक महान आचार्य-पदानुकूल सर्वगुण सम्पन्न, जैनाचार परम्परा तथा सिद्धान्त में निष्णात थे। कुन्दकुन्दाचार्य तथा उनकी परम्परा में प्रणीत पूर्वाचार्यों के समग्र परमागमरूप समुद्र में अवगाहन करके वे अपने आत्मा को निर्मल बनाने में संलग्न थे। समयसार की आत्मख्याति टीका में प्रारम्भ में ही टीका रचना का उद्देश्य परमविशुद्धि प्राप्त करना लिखा है।[3] एक पद्य द्वारा

---

१. ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति। तथाहि—आचरिताचारितसमस्तविरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणं, एवंविधश्रामण्याचरणाचरणप्रवीणत्वात् गुणाढ्यं, सकललौकिकजननिःशंकसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतत्रैर्याद्दिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टं, अन्तरंगशुद्धरूपानुमापकबहिरंग शुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृतबुद्धिविक्लवत्वाभावाद्यौवनोद्रेकविक्रियाविविक्तबुद्धित्वाच्च वयोविशिष्टं, निःशेषितयथोक्तश्रामण्याचरणाचरणविषयपौरुषेयदोषत्वेन मुमुक्षुभिरभ्युपगततरत्वात् श्रमणैरिष्टतरं च गणिनं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकमाचार्यं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धया मामनुगृह्णतेत्युपसर्पन् प्रणतो भवति। एवमियं ते शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धिरिति तेन प्रार्थितार्थेन संयुज्यमानोऽनुगृहीतो भवति। प्रवचनसार गाथा २०३ टीका

२. वही, गाथा २०५, २०६, २०८, २०९ ३. समयसारकलश, क्रमांक ३

यह भी घोषित किया है कि जिनवचनों (परमागम) में रमण करने वालों का मोह रूप विकार का वमन हो जाता है, वे अपने शुद्धात्मा (समयसार) का दर्शन या आत्मानुभूति प्राप्त करते हैं।[1] उनकी स्व-समय परसमय पारंगतता तो उनकी प्रौढ़तम, तार्किक तथा नैयायिक भाष्य शैली में पद पद पर देखने को मिलती है। समयसार कलश का मंगलाचरण रूप प्रथम पद्य ही इसका पुष्ट प्रमाण हैं जिसमें शुद्धात्मा को नमस्कार करते हुए उनके विशेषणों द्वारा कई परसमयों (परमतों) का खण्डन तथा स्वमत (स्वसमय) का मण्डन किया गया है।[2] ज्ञानी की मेरुवत् निश्चलता का उल्लेख भी अमृतचन्द्र ने समयसार कलश टीका में किया है।[3] सात प्रकार के भयों से ज्ञानी किस प्रकार मुक्त होता है इसका सहेतुक विवेचन भी उनकी टीका में उपलब्ध है।[4] वे आत्मपुरुषार्थ सूचक स्वानुभव प्रकाशक प्रकरणों में शार्दूलविक्रीड़ित छंद द्वारा अपनी शूरवीरता का परिचय देते प्रतीत होते हैं।[5] वे सगर्व उद्घोष करते हैं कि मैंने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्ररूप निजाश्रम को प्राप्त किया है।[6] मैं साम्यरूप श्रमणपने को प्राप्त हूँ। मैं मोक्षमार्ग का प्रणेता हूँ। मैं मोक्षाधिकारी हूं, मैंने मोहसेना को जीतने का उपाय जान लिया है। मैं प्रमाद चोरों को नाश करने हेतु कटिबद्ध हो चुका हूँ। मैं अपने अनुभवरूप चिंतामणि रत्न की रक्षा में सदा तत्पर रहता हूँ।[7] इत्यादि घोषणाएं अमृतचन्द्र के प्रखर-प्रभावशाली व्यक्तित्व की परिचायक है। वे जिनसूत्रों के मर्मज्ञ थे, कुन्दकुन्द के परमागम के विशेषज्ञ और आचार-विचार में सदा सावधान रहते थे। वे जिनेन्द्र स्तुति के माध्यम से जिनवाणी के रहस्योद्घाटक थे। वे स्वयं एक स्थल पर लिखते हैं कि जो कोई भव्यजीव अमृतचन्द्रसूरि के ज्ञान द्वारा गृहीत परिपूर्ण अर्थसंयुक्त ऋषभादि तीर्थंकरों

---

१. उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके जिनवचसि रमंते ये स्वयं वांतमोहा.।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥
समयसारकलश

२. नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावांतरच्छिदे ॥१॥ समयसारकलश

३. समयसार कलश, १५४ ४. वहीं, क्रमांक १५५ से १६० तक।

५. वही, क्रमांक १५३ से १६१ तक।

६. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका, गाथा ५ की टीका।

७. वही, गाथा २००

की नामावलि रूप स्तुति का चिन्तन करते हैं वे सकल विश्व को पी जाते हैं, अर्थात् सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा उन्हें कर्म नोकर्म आदि कदापि ग्रहण नहीं कर सकते।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त आचार्यत्व की कसौटी पर अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व शुद्धस्वर्ण की भांति खरा, निर्दोष और प्रभावशाली प्रकट होता है। वे आचार्य परम्परा में ध्रुवतारे की भांति मोक्षमार्ग की दिशा के दर्शाने में समर्थ हुए हैं। उनकी कृतियां मोक्षमार्ग की प्रकाशस्तंभ हैं। इसका उल्लेख तत्त्वार्थसारकृति में स्वयं अमृतचन्द्र ने किया है। वे तत्त्वार्थसार नामक अपनी कृति को मुमुक्षुओं की हितकारी तथा स्पष्ट स्वरूप निरूपक मोक्षमार्ग का एक [illegible] कहकर, उसकी रचना प्रारंभ करते हैं।

वे तत्कालीन प्रदूषित वातावरण के परिष्कर्ता, जैनाचार्य परम्परा में आगत शिथिलताओं के उन्मूलक, मुनिमार्ग (श्रमणपरम्परा) के संरक्षक, जैन तत्त्वज्ञान के प्रसारक तथा जैन अध्यात्म के रत्नाकर थे। उन्होंने आचार्य परम्परा के उन्नयन के साथ ही साथ श्रुतपरम्परा का सम्वर्धन तथा सम्पोषण किया। श्रुतपरम्परा की रक्षा करना आचार्यों का एक महान कर्तव्य माना गया है। अमृतचन्द्र उस कर्तव्य के पालन में भी सफल रहें हैं। श्रुतपरम्परा की सुरक्षा तथा स्वपरकल्याण कर्ता के रूप में ही वे आचार्यों के बीच सुशोभित होते हैं। इस सन्दर्भ में वे स्वयं लिखते हैं कि "समय का प्रकाशक जो प्राभृत नामक अर्हत् प्रवचन का अवयव है उसका परिभाषण (मैं) अनादिकाल से उत्पन्न हुए अपने और पर के मोह को नाश करने के लिए करता हूँ।[2] वाङ्मय के सृजन का दायित्व उन्होंने अपने मौलिक वैशिष्टयों के साथ निभाया। साहित्य के सृजन द्वारा जहाँ उन्होंने कुन्दकुन्द की रचनाओं पर भाष्य रच कर आचार्य परम्पराओं का संवर्धनों, संरक्षण एवं प्रकाशन किया, वहीं मौलिक कृतियों द्वारा जैनाचार तथा जैन तत्त्वज्ञान को विकसित किया। उनकी समस्त कृतियों में अध्यात्म की प्रमुखता दृष्टिगोचर होती है।

संक्षेप में हम आचार्य अमृतचन्द्र को जैन अध्यात्म के रसिक, जैन तत्त्वज्ञान-सिद्धान्त के मर्मज्ञ, जैनाचार के साक्षात् प्रतीक के रूप में पाते हैं। वे जैनाचार्य परम्परा के समुज्वल तथा प्रकाशमान आचार्यरत्न हैं।

---

१. लघुतत्त्वस्फोट—पद्य क्रमांक २५
ये भावयन्त्यविकलार्थवती जिनानां, नामावलीममृतचन्द्र विदेकपीतम्।
विश्वं पिबन्ति सकलं किल लीलव, पीयन्त एव न कदाचन ते परेण ॥२५॥

२. समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादि मोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते।
समयसार गाथा १ (आत्मख्याति टीका)

तृतीय अध्याय

व्यक्तित्व तथा प्रभाव

आचार्य अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व

आचार्य अमृतचन्द्र असाधारण विद्वान तथा प्रतिभाशाली कवीन्द्र थे। वे अनेकांतस्वरूप चिदानंदामृत के पान करने वाले, श्रेष्ठ एव लब्ध-प्रतिष्ठ भाष्यकार, मौलिक ग्रन्थ प्रणेता तथा जैन सिद्धांतों के मर्मज्ञ विद्वान थे। वे सिद्धांतविशारद,[1] नानानयविशारद,[2] यतीश,[3] मुनीन्द्र,[4] मुनिराज,[4] अध्यात्म मार्तण्ड,[6] अंतर्मुखकवीन्द्र,[7] विपक्षविजेता, समस्त शिष्य वर्ग के पालक, निजात्म तत्त्ववेत्ता,[8] स्वरूपगुप्त,[9] व्याख्याता,[10] आनंदामृतचन्द्र,[11] कलिकालगणधर,[12] आदि पदों एव विशेषणों से समलंकृत थे। उनका व्यक्तित्व सर्वतोमुखी तथा प्रभाव व्यापक था। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व के अनेक पहलू उनकी कृतियों में प्रस्फुटित हुए हैं जिनमें प्रमुख हैं नाटक-कार, व्याख्याकार, तार्किक और नैयायिक, भाषाविद्, सिद्धान्तज्ञ, व्याकरणज्ञ, अध्यात्म रसिक आदि। यहां उनके सर्वतोमुखी व्यक्तित्व के विभिन्न रूपों को प्रदर्शित किया जाता है।

---

१. कन्नड़ प्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थ सूची, १०४८ पृष्ठ (प्रस्तावना) १५
२. तत्त्वार्थसार, टीकाकार निवेदनम्, पृष्ठ २१२ पं. पन्नालाल जी।
३. परमाध्यात्मतरंगिणी, प्रशस्ति पृष्ठ २३५, पद्य।
४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पं. दौलतराम कृत प्रशस्ति पृष्ठ १०५
५. समयसार नाटक साध्यसाधक द्वार, पं. बनारसीदास पद्य ५६ पृष्ठ ३६३
६. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय (पं. विद्याधरसेठी)
७. वही (मराठी पद्यानुवादक-अज्ञात) पृष्ठ १२ प्रस्तावना
८. परमाध्यात्मतरंगिणी, मंगलाचरण पद्य २
९. समयसार कलश २७८
१०. प्रवचनसार पद्य नं० २०
११. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय (पं० टोडरमल) मंगलाचरण पद्य
१२. वही (मराठी पद्य अज्ञात) मुखपृष्ठ

अमृतचन्द्र नाटककार के रूप में साहित्यशास्त्रियों को समस्त प्रकार के काव्यों में नाटक सर्वाधिक रमणीय प्रतीत होता है।[1] रमणीयता का कारण है नाटक में विविध प्रकार के संविधानों का होना। जिस प्रकार विविध रंगों से खचित चित्र सहृदय दर्शकों के चित्त में रस का स्रोत पैदा करता है, उसी प्रकार नाटक भी वेशभूषा, नृत्य-गान नेपथ्य आदि विविध संविधानों से दर्शक के हृदय को आनंदित एवं प्रभावित करता है।[2] इसीलिए नाट्यशास्त्र में नाटक की प्रशंसा यह कह कर की गई है कि ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, योग अथवा कर्म नहीं है जिसे नाटक में न देखा जा सके।[3] अतः भारतीय संस्कृत वाङ्मय में नाटक का विशेष महत्व है। नाटक के महत्व के कारण नाटककार का महत्व और भी बढ़ जाता है।

कुन्दकुन्द के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ समयप्राभृत पर आचार्य अमृतचन्द्र ने "आत्मख्याति" टीका लिखी है,उसमें यथास्थान पद्यों का भी प्रयोग किया है। उन्होंने इस टीका एवं पद्यों की अभिव्यक्ति को नाटकीय शैली में प्रस्तुत कर उसे नाटक का रूप दे दिया है। साथ ही अपनी उक्त टीकाकृति में नाटकीय तत्त्वों का समावेश भी किया है। इसलिए वे अपनी कृति को नाटकीय रूप प्रदान करने में सफल हुए हैं। आ. अमृतचन्द्र के साहित्यानुशीलन से उनके प्रौढ़तम गद्य, रसानुभूतिमय पद्य तथा रमणीय नाट्य साहित्य के दर्शन होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र को नाटककार के रूप में नाट्यकला की कसौटी पर कसने के लिए नाटक के स्वरूप तथा उद्देश्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक है।

अवस्था के अनुकरण को नाट्य कहते हैं।[4] अवस्था से तात्पर्य है पात्रों की चालढाल, वेशभूषा, आलाप-प्रलाप आदि। वस्तु, नेता तथा रसाभिव्यक्ति के आधार पर नाटकों में भेद किए जाते हैं।[5] नाटक के प्रारम्भ में रंगभूमि रची जाती है। वहाँ दर्शक, नायक तथा सभासदों की

---

१. काव्येषु नाटकं रम्यम्, (दशरूपक प्रस्तावना पृष्ठ ६)

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ० बलदेव प्रसाद उपाध्याय, संस्करण १९६० पृष्ठ ४४५

३. न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् न दृश्यते ॥ नाट्यशास्त्र १/१४

४. दशरूपकम्, प्रथम प्रकाश, पद्य क्रमांक ७।

५. दशरूपकम्, प्रथम प्रकाश, पद्य क्रमांक ११

सभा होती है और नृत्य करने वाले होते हैं, जो विविध प्रकार के स्वांग प्रस्तुत करते हैं। शृंगारादि आठ रसों को प्रदर्शित करते हैं। ये आठ रस हैं — शृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्‌भुत। ये सभी लौकिक रस हैं परन्तु नववां रस शांतरस है जो अलौकिक रस है। उक्त प्रारम्भिक आठ रसों का अधिकार नाटक या नृत्य में होता है, परन्तु शांतरस का नृत्य में अधिकार नहीं होता। सामान्यतया रस का स्वरूप है ज्ञान में ज्ञेय का झलकना तथा ज्ञेय में ज्ञान का तन्मय (तदाकार) होना।[1] अथवा काव्य के पठन, श्रवण या दर्शन से जिस से जिस आनन्द का अनुभव होता है उसे भी रस कहते हैं।[2] नाटक में एक प्रमुख रस होता है जिसका परिपाक एवं चरमोत्कर्ष नाटकान्त में पाया जाता है। यह प्रमुख रस अंगभूत रस कहलाता है तथा अन्य रसों की अभिव्यक्ति अंगीभूत रसों के रूप में की जाती है।[3]

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयप्राभृत की टीका "आत्मख्याति" को नाटकीय शैली में नाटकीय तत्त्वों का यथास्थान समावेश करते हुए प्रस्तुत किया है। उन्होंने जीवतत्त्व की सांसारिक अवस्थाओं का पात्राभिनय द्वारा अनुकरण किया है। वे अवस्थाएँ हैं –कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष तथा सर्वविशुद्धज्ञान। टीकाकार ने प्रत्येक अवस्था को एक स्वांग के रूप में प्रस्तुत किया है। इस नाटक की कथावस्तु मुख्य रूप से शुद्धात्मा का प्रकाशन करना है।[4] इसे हम अधिकारिक कथावस्तु कह सकते हैं तथा गौणरूप से नवतत्त्वों का और कर्ता-कर्म का स्वरूप प्रदर्शन करना है, जिसे प्रासंगिक कथावस्तु कह सकते हैं। नवतत्त्वों के वर्णन में शुद्धात्मा ही सर्वत्र उपादेय एवं व्याप्त रहता है।[5] "ज्ञानज्योति" अथवा सम्यग्ज्ञान इस नाटक का नायक है। वह नायक परमउदात्त और अत्यन्त धीर है। वह समस्त लोकालोक को

---

१. समयप्राभृत, आत्मख्याति टीका, पं. जयचंदजी (अनुवादक) पृष्ठ ६३ (फलटण २४८५ वी सं.)

२. दशरूपकम्, प्रस्तावना पृष्ठ ३५

३. समयप्राभृत, पं. जयचंदजी (फलटण) पृष्ठ ६३

४. "तावत् समय एवाभिधीयते" समयसार, गाथा २ (आत्मख्याति टीका) पृष्ठ ७

५. "तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः।

आत्मख्याति टीका गाथा १२, कलश क्रमांक ६

साक्षात् जानता है।[1] वह उदार, गम्भीर, महान अभ्युदय वाला, आस्रव-रूपी योद्धा को जीतने वाला, ज्ञानरूपी धनुष को धारण करने वाला तथा अजेय है।[2] उसका भोजन आनन्दरूप अमृत है। वह ज्ञप्ति-क्रियारूप सहज अवस्था को नचाता है। वह आकुलतारहित (अनाकुल) तथा परिग्रह रहित (निरुपाधि) है।[3] उसको ज्ञानसुधांशु[4] तथा चिन्मयज्योति[5] नाम से भी अभिहित किया है। उस सहज परमानन्द रस पूर्ण ज्ञान को मोक्ष अधिकार में कृतकृत्य तथा जयवन्त प्रवर्तने वाला लिखा है।[6] अन्तिम अंक में उसे समस्त कर्म-नोकर्म आदि आस्रवों का भलीभांति नाश करने वाला, पद-पद पर बंध मोक्ष की रचना से दूर रहने वाला, अत्यंत शुद्ध, निजज्ञान रस के विस्तार से अचल परिपूर्ण तेजवाला, टंकोत्कीर्ण प्रकट महिमा वाला, ज्ञानपुंज स्फुरित होने वाला लिखा है।[7] नाटककार अमृतचन्द्र ने समयसार नाटक का अंगभूत (प्रधान) रस शांतरस दर्शाया है। शांतरस अलौकिक रस है। ज्ञानज्योति नायक भी अलौकिक नायक है। शुद्धात्मा का नाटक भी अलौकिक नाटक है। इसके नाटककार अमृतचन्द्र भी अलौकिक व्यक्ति हैं, ऐसे नाटक का दर्शक सम्यग्दृष्टि चैतन्यमूर्ति ज्ञानी अलौकिक आत्मा है।[8] इसीलिए नाटककार ने समस्त लौकिक जनों को अलौकिक शांतरस में मग्न होने के लिए प्रेरित किया है। वे लिखते हैं—"हे जगज्जीवों अनादि संसार से लेकर आज तक अनुभव किये गये मोह को अब तो छोड़ो और रसिकजनों को रुचिकर, उदित होते हुए ज्ञान का आस्वादन करो।[9] यह ज्ञान समुद्र भगवान

---

१. "ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यंत धीरं।
साक्षात् कुर्वन्-निरुपधि पृथग्द्रव्य निर्भासि विश्वम्॥ समयसार कलश क्रमांक ४६

२. अथमहामदनिर्भरमंथरं, समररंगपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगंभीरमहोदयो, जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः॥
समयसार, आस्रव अधिकार, कलश नं. ११३

३. आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्।
धीरोदारमनाकुलं निरुपधि ज्ञानं समुन्मज्जति॥
समयसार, बंध अधिकार, कलश नं. १६३

४. समयसार कलश १०० (अवबोधसुधाप्लवः) ५. वही, कलश १२५

६. वही, कलश १८० ७. वही, कलश १९३

८. 'चिन्मूरत नाटक देखन हारो' नाटक समयसार, पं. बनारसीदास, पृष्ठ ६३

९. त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं, रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुच्चैः।
समयसार कलश क्रमांक २२

आत्मा, विभ्रमरूपी चादर को समूलतया डुबोकर, स्वयं सर्वांगरूप से प्रगट हुआ है। इसलिए अब समस्तलोक इसके शांतरस में एक साथ मग्न हो जाओ, वह शांतरस समस्त लोक पर्यन्त उछल रहा है।[1] इसप्रकार उक्त नाटक में शांतरस की प्रमुख रूप से रसाभिव्यक्ति हुई है। विशेष इतना है कि सांसारिक (लौकिक) नाटकों में ये रस जड़त्व को लिए होते हैं, परन्तु इस समयसार कलश टीका में ये रस आध्यात्मिकता से ओतप्रोत हैं। ये रस आत्मा के विकास को पूर्णता प्रदान करने में समर्थ हैं।[2]

"टीकाकार ने आरम्भ की ३८ गाथाओं की टीका को रंगभूमि स्थल के रूप में प्रस्तुत किया है। वहाँ नाटक देखने वाले सम्यग्दृष्टि दर्शक हैं[3] और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है,। नृत्य करने वाले जीव और अजीव पदार्थ हैं। उन दोनों के एकपने रूप तथा कर्त्ता-कर्मपने आदि रूप स्वांग है। वे परस्पर आठ रसरूप होकर परिणमते हैं, वही उनका नृत्य है। वहां सम्यग्दृष्टि जीव तो इन स्वांगों की यथार्थता जानकर शांतरस में निमग्न रहता है। अज्ञानी उनमें यथार्थपना मान लीन हो जाते हैं। उन्हें भी यथार्थ ज्ञान कराकर शांतरस में लीन कराकर सम्यग्दृष्टि बनाते हैं।[4] आचार्य अमृतचन्द्र ने विश्व के रंगमंच पर नवतत्त्वों का स्वांग दिखलाया है। परमशांतरस की पार्श्वभूमि पर नवतत्त्वों के नाट्य में नवरसों का आविष्कार अपूर्व एवं अलौकिक है, क्योंकि वैसा अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता।[5] आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के विशिष्ट अध्येता डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने उनकी टीकाकृतियों की नाटकीय शैली का समर्थन करते हुआ लिखा है—"यद्यपि पंचास्तिकाय, प्रवचनसार तथा समयसार को सामान्यतया नाटकत्रयी पुकारा जाता है, परन्तु वास्तव

---

१. मज्जन्तु निर्भरममी समसेव लोका, आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रम तिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधुः॥
समयसार कलश क्रमांक ३२

२. अमृतज्योति, प्रस्तावना, नानकचंद जैन-एडवोकेट रोहतक, १९६१

३. "....करत न होय तिन्हको तमासगीर है।" समयसारनाटक, पृष्ठ ७८

४. समयप्राभृत, आत्मख्याति टीका अनुवादक पं० जयचंद जी छाबड़ा (फलटण से प्रकाशित वी. नि. सं० २४५ पृष्ठ ९३-९४)

५. आचार्य शांतिसागर जन्मशताब्दी स्मृतिग्रन्थ, द्वितीय भाग पृष्ठ २६

में केवल समयसार ही ऐसा ग्रन्थ है जिसके प्रकरण "संसार के नाटक" को संकेत करते हैं, जिसमें जीव तथा अजीव नाटकीय पात्र हैं जो आस्रव आदि का स्वांग प्रदर्शन करते हैं, इसलिए इसे नाटक पुकारा जाना उचित है। इसीकारण प्राभृतत्रयी को नाटकत्रयी पुकारा जाने लगा। अमृतचन्द्र सर्वप्रथम व्यक्ति प्रतीत होते हैं, जिन्होंने समयसार को नाटकीय रूप प्रदान किया है उन्होंने अपनी टीका में इस सम्बन्धी विभिन्न संकेतों को जहां तहां विकीर्ण कर उसे अत्यधिक, उचित नाटकीय रूप प्रदान करना चाहा है। प्रारंभिक विभाग को पूर्वरंग नाम से अभिहित किया है। उक्त कृति को अंकों में विभाजित किया गया है। नाटकीय शब्दावलि के प्रविशति, निष्क्रांतः इत्यादि शब्द अंक के प्रारंभ तथा अन्त में प्रयुक्त हुए हैं। आचार्य अमृतचन्द्र जहां तहां और भी ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो संस्कृत नाटकों में सामान्यतया उपलब्ध होते हैं।[1] एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि एम. श्रूयलर की संस्कृत नाटकों की नामानुक्रमणिका में आचार्य अमृतचन्द्र को, उनके नाम के समक्ष समयसार के साथ नाटककार के रूप में उल्लेखित किया गया है।[2] आचार्य अमृतचन्द्र की प्रमुख टीकाकृति "आत्मख्याति" में नाटकीय तत्त्व यत्र तत्र प्रचुरमात्रा में विकीर्ण हैं, उदाहरण के लिए उन तत्वों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। आत्मख्याति टीका के प्रारम्भिक कलश में नांदीपाठ, द्वितीय कलश में "आशीर्वचन", तृतीय कलश में अनुबन्ध चतुष्टय, टीका-

---

१. प्रवचनसार, प्रस्तावना, पृष्ठ ४६ (अंग्रेजी अनुवाद)

'Though it has been usual to call Pancastikaya, Pravacanasara and Samayasara as Nataka-trai, it is, infact, Samayasara alone, whose contents refer to the drama of Samayasara in which Jive and Ajive are the dramatis personae playing the the role of asrava etc., that is fit to be called Nataka. It is from this that all the three works which constituted the Prabhrtatrayi came to be called Natakas. Amritacandra appears to the first to give this designation to Samayasara, and he wanted to make it more appropriate by various indications scattered all over his commentary. The introductory section is called 'Purva Ranga', the work is divided into Ankas or acts, dramatic terms like niskrantah, pravisati etc. are used at the end and beginnig of diffeerent chapters from the end of the second chapter, and he uses here and there, other terms quite usual in Sanskrit dramas."

२. (See—Pravacanasara Introduction, Page 46 and also Footnote) i. e. It is interesting to note that Amrtacandra, with Samayasara against his name, find a place, as a playwright, in M. schuyler's Bibliography of the Sanskrit Drama, Page 24

रंभ में "अथसूत्रावतारः" शब्दों द्वारा "सूत्रधार" तथा प्रारम्भिक ३८ गाथाओं की टीका द्वारा पूर्वरंग स्थल की सूचना इत्यादि संकेत नाट्य-शास्त्रीय परम्परा के परिचायक हैं। समय (शुद्धात्मा) को समयसार-नाटक का नायक बताया है जो शांतरस का रसिया है, धीर, उदात्त एवं अनाकुल इन तीनों शांतरस के आभूषणों से सुसज्जित है।[1] "मज्जंतु"[2] शब्द द्वारा नाटाकारंभ अथवा अंकारम्भ की सूचना दी है। साथ ही शांतरस में मग्न होने की समस्त जगत् को प्रेरणा की है। नाटककार अमृतचन्द्र स्वयं लिखते हैं कि महान अविवेक के नाटक में वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, अन्य नहीं।[3] जीव अजीव के एकत्व रूप स्वांग धारण करने पर मोह ही नाचता है।[4] किन्तु "समय" नायक उक्त नृत्य को देखता-जानता है। जब वे ही जीव-अजीव एकत्व रूप स्वांग-धरकर कर्ता-कर्म के वेश में रंगमंच पर आते हैं, तब भी ज्ञानज्योति नायक परम उदात्त, अत्यंत धीर तथा गंभीर ही बना रहता है।[5] नायक की उक्त गंभीरता तथा ज्ञानप्रकाश की स्थिरता के कारण कर्ताकर्म रूप पात्र अपना स्वांग छोड़कर रंगमंच से चले जाते हैं।[6] यहाँ द्वितीय अंक समाप्त होता है। तृतीय अंक में प्रारंभ में पुण्यपाप रूप दो पात्रों के वेश में एक कर्म ही प्रवेश करता है,[7] परन्तु निष्कर्म अवस्था से प्रतिबद्ध, उत्कृष्टरसयुक्त ज्ञानरूप नायक के दौड़कर आने पर कर्म उक्त दोनों वेशों का परित्याग कर रंगभूमि छोड़कर चला जाता है।[8] प्रत्येक अंक के आरम्भ में नायक की श्रेष्ठता तथा अंकांत में उसके पुरुषार्थ और प्रभाव के प्रकर्षरूप को प्रदर्शित किया गया है। तृतीय अंक की समाप्ति पर ज्ञानज्योति नायक के प्रकर्षरूप का चित्रण करते हुए नाटककार लिखते हैं कि मोहरूपी मदिरा

---

१. समयसार कलश ३३, आत्मख्याति टीका गाथा ३६ से ४३ की उत्थानिका।
२. वही, कलश ३२
३. अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेक नाट्ये वर्णादिमान्नटति (समयसार कलश ४४)
४. "मोहः नानटीति" (वही, कलश ४३)
५. समयसार कलश, ६६ तथा ४६
६. इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रांतौ। आत्मख्याति टीका पृष्ठ २२८
७. अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति। वही, पृष्ठ २२६
८. सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भवन्।
नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसंज्ञानं स्वयं धावति॥ समयसार कलश १०६

के पीने से, भ्रमरस के भार के कारण, शुभाशुभ कर्म के भेदरूप उन्माद को नचानेवाले समस्तकर्मों को अपने बल द्वारा ज्ञानज्योति समूल उखाड़ फेंकती है और अपने सामर्थ्य को प्रगट करती है। वह ज्ञानज्योति अंधकार को निगल जाती है, लीलामात्र (क्षणभर) में विकसित हो जाती है और परमकलारूप केवलज्ञान के साथ क्रीडा करती है।[1] चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में आस्रव स्वांग धारणकर मदोन्मत्त योद्धा की भांति प्रवेश करता है। रंगभूमि का स्वरूप अब समरभूमि में परिणत हो जाता है। समरांगण में आये, महामद से भरे हुए मदोन्मत्त आस्रव को धनुर्धारी दुर्जय ज्ञानरूप नायक जीत लेता है। यह ज्ञानयोद्धा उदार गम्भीर तथा महान उदय वाला है।[2] इस अंक में समरभूमि तथा योद्धाओं के प्रदर्शन द्वारा नाटककार ने वीररस की सृष्टि की है। आगे पांचवें तथा छठवें अंक में संवर तथा निर्जरा रूप दो पात्र क्रमशः रंगमन्च पर आते हे तथा अपना अपना स्वरूप प्रदर्शित कर चले जाते हैं। ज्ञाननायक उन दोनों के स्वरूप का यथावत् ज्ञाता मात्र बना रहता है। सांतवें अंक में "बन्ध" रूप स्वांग प्रवेश करता है जो राग के उदयरूप महारस-मदिरा के द्वारा समस्त जगत् को मतवाला करके, रसभाव से राग के मतवालेपन से नांचता है. उसे भी ज्ञाननायक हटा देता है तथा स्वयं उदय को प्राप्त होता है।[3] आठवें अंक में "मोक्ष" रूप स्वांग प्रवेश करता है।[4] तथा वह भी अपना स्वरूप दिखाकर रंगमन्च से चला जाता है।[5] इस प्रकार रंगभूमि पर जीव-अजीव कर्ता-कर्म, पुण्यपाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष ये आठ स्वांग आये, उन्होंने अपने अपने ढ़ग से नृत्य किया, अपना स्वरूप प्रदर्शन किया

---

१. भेदोन्मादं भ्रमरसभराद्नाटयत्सीतमोहं,
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।
हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञान ज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥ समयसार कलश ११२ ॥

२. अथ महामदनिर्भरमन्थरं, समररंगपरागतमास्रवम्।
अयमुदारगंभीरमहोदयो, जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥ ११३ ॥

३. रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्।
क्रीडन्तं रसभावनिर्भरमहानाट्येन बंधं धुनत्....ज्ञानं समुन्मज्जति ॥ १६३ ॥

४. अथ प्रविशति मोक्षः। पृष्ठ ४१२

५. इति मोक्षो निष्क्रांतः। पृष्ठ ४४०

तथा रंगमन्च से चले गये। परन्तु ज्ञाननायक इन सभी का ज्ञाता दृष्टा बना रहता हैं। अंतिम (नवमें) अंक में ज्ञानज्योति आत्मा (समय-रू।) नायक अपने "सर्वविशुद्धज्ञानरूप" असली स्वरूप के साथ रंगमन्च पर आता है।[1] और ज्ञानीजनों को अपना परम उदार उदात्त स्वरूप दिखाकर सदाकाल प्रशमरस (शांतरस) के पान की प्रेरणा करता है। इसकी प्रेरणा है कि हे ज्ञानीजनों, अविरतपने से (निरन्तर) कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना की विरक्तिरूप भावना को नचाकर, समस्त अज्ञानचेतना के प्रलय को स्पष्टतया नचाकर, निजरस से प्राप्त अपने स्वभाव को पूर्ण करके, अपनी ज्ञानचेतना को आनन्द पूर्वक नचाते हुए, अब सदाकाल प्रशमरस का पान करो।[2] इस अन्तिम अंक के अंत में नाटक का समापन करते हुए नाटककार अमृतचन्द्र ने ज्ञानस्वरूपी आत्म-नायक की सर्व-श्रेष्ठता प्रदर्शित कर, उसका ही आलम्बन करने की प्रेरणा दी है। वे लिखते हैं कि यह समयसार ही एक मात्र जगत् को जानने वाला अद्वितीय तथा अक्षय नेत्र है जो अपने आनन्दमयविज्ञानघन स्वभाव को प्रत्यक्षकर पूर्णता को प्राप्त होता है।[3] ऐसे समयसार के अनुभव की प्रेरणा हेतु वे लिखते हैं कि—अधिक कथन करने से क्या प्रयोजन ? बहुत विकल्पों से भी अब बस होओ, बस होओ तथा इस एकमात्र परमार्थ स्वरूप का ही निरन्तर अनुभव करो। निजरस के प्रसार से पूर्णज्ञान स्फुरायमान होता है ऐसे समयसार से श्रेष्ठ अन्य कोई पदार्थ नहीं है।[4] इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व सफल नाटककार के रूप में प्रस्फुटित पाते हैं। उनकी आत्मख्याति समयसारकलशयुक्त टीका विश्व की प्रथम संस्कृत

---

१. अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम् समयसार आत्मख्याति टीका पृष्ठ ४४१

२. अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च ।
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञान संचेतनायाः ॥
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां,
सानन्दं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥ समयसार कलश २३३ ॥

३. इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णतां,
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥ समयसार कलश २४५ ॥

४. अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥ २४४ ॥

काव्यकृति मानी जा सकती है,।[1] जो नाटकीय शैली में उपलब्ध है।

नाटकों में प्रतीकनाटक भी होते हैं। आत्मख्याति टीका "प्रतीक-नाटक" की कोटि में आती है। प्रतीक नाटकोंमें भावात्मक तत्त्वों अथवा मनोगत भावों को पात्र बनाकर नाटकीय अभिनय दिखाया जाता है। इस प्रकार का प्रयास सर्वप्रथम अश्वघोष ने किया है। उनकी रचनाओं में मनो-भावों को पात्र बनाकर आध्यत्मिक चिंतन को प्रतीकात्मक पद्धति से प्रस्तुत किया गया है। ऐसे प्रतीक नाटकों की रचना हुई भी हो तो ऐसी रचनाएं प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। इस शैली की प्रमुख विशेषता मानव मन के सूक्ष्मतत्वों को पात्रों के रूप में प्रदर्शित करके अध्यात्म के दुर्ज्ञेय रहस्यों को बोधगम्य बनाने के प्रयास में झलकती है। दार्शनिक विषय इतने गहन एवं शुष्क होते हैं कि उनमें रस उत्पन्न करना मरूभूमि में जलस्रोत प्रवाहित करने जैसा दुष्कर कार्य है।[2] उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में हमें आचार्य अमृतचन्द्र एक सफलतम प्रतीकनाटक विशेषज्ञ प्रतीत होते हैं। उनकी आत्मख्याति टीका में रमणीय नाट्यशैली अथवा प्रतीकात्मक नाट्यशैली के दर्शन होते हैं। अमृतचन्द्र ने प्रकारान्तर भावात्मक नवतत्त्वों कर्ताकर्म तथा पुण्यपाप आदि तथ्यों को मानवीय रूप में पात्राभिनय तथा विभिन्न स्वांगों द्वारा व्यक्त किया है। गद्यात्मक-टीका तथा पद्यात्मक-कलशों-दोनों के द्वारा अध्यात्म के सूक्ष्म व गहनतत्त्वों को सुगम, सुबोध तथा बालबुद्धिगम्य बनाने में अपूर्व सफलता पाई है। वे स्वय लिखते हैं कि अब अज्ञानी-अप्रतिबुद्ध को समझाने का प्रयास करते हैं।[3] वे अपनी अभिनय शैली द्वारा जैन अध्यात्म एवं दर्शन के रहस्योद्घाटन में तो सफलता प्राप्त करते ही हैं साथ ही भावानुकुल गद्य तथा प्रसंगानुकुल पद्य रचना द्वारा स्वानुभूतिरूप आनन्द रस की अजस्र धारा प्रवाहित करने में भी सफल होते हैं। उन्होंने अभिनय शैली में अध्यात्म रसधारा बहाकर अत्यत दुष्कर कार्य को भी सुकर कर दिखाया है। नाटककार की सफलता एवं उद्देश्य पूर्ति इसी में है कि वह सहृदजनों को अलौकिक

---

१. निजामृतपान (अमृतचन्द्रकृत कलशों का पद्यानुवाद, अनुवादक-आचार्य विद्यासागर) प्रस्तावना पृष्ठ "घ"।

२. हिन्दी नाटक-उद्भव और विकास, पृष्ठ १२८, डॉ० दशरथ ओझा, प्रथम संस्करण, १९७०

३. "यथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते" समयसार गाथा २३ की टीका।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आनन्द का रसास्वाद करा सके। नाटकों के अनुशीलन का फल ही स्वसंवेद्य परमानन्द रूप रसास्वाद है।[1] अमृतचन्द्र ऐसे ही परमानन्द रस के रसास्वादन हेतु टीकाएं रची हैं। प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका टीका के आरम्भ में ही वे इस बात की घोषणा करते हैं कि परमानन्द रूप सुधारस के पिपासुजनों एवं भव्यजीवों के हित करने हेतु तत्त्वस्वरूप स्पष्ट करने वाली टीका रची जाती है।[2] उनकी आत्मख्याति टीका में अध्यात्मरस तथा शांतरस का समुद्र लहराता है। उसमें निजस्वरूप का परमरस लबालब भरा हुआ है।[3] अमृतचन्द्र ऐसे ही समयसार को नमस्कार करते हैं, जो स्वानुभव में प्रकाशित होता है।[4] इस प्रकार उक्त आत्मख्याति समयसार कलश टीका प्रतीकनाटकों के इतिहास की परम्परा की पुनर्स्थापक तथा दसवीं विक्रम सदी की सर्वप्रथम प्रतीक नाटक कृति सिद्ध होती है। साथ ही उक्त कृति तत्कालीन समाज की अभिरूचि की भी परिचायक है। इस नाट्यकृति की एक विशेषता यह भी है कि इसमें दर्शक और पात्र अभेद रूप से हैं। इस अध्यात्म ग्रन्थ में नाटक के रुपक, रंगविन्यास तथा तत्कालीन जनरूचि के दर्शन होते हैं।[5] यद्यपि कुछ विचारकों का विचार है कि छंद बाहुल्ययुक्त कृति नाटक नहीं कहला सकती। समयसार की आत्मख्याति टीका में भी छंदों की अधिकता है, अतः उसे भी नाट्यकृति मानना संगत नहीं है, किन्तु उपर्युक्त विचार उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि सभी काव्यों में नाटकीयता और सभी नाटकों में काव्यात्मकता पाई जाती है।[6] मानव जब भावातिरेक में

---

१. दशरूपकम्, (धनंजयकृत) प्रथम प्रकाश, श्लोक ६ पृष्ठ ३, ४

२ परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्यवृत्तिरियम्॥ ३॥

प्रवचनसार (तत्त्वदीपिका टीका) पद्य-३

३. निज स्वरूप को परमरस जामे भर्‌यो अपार।
वन्दों परमानन्दमय समयसार अविकार॥

नाटक समयसार, पं. बनारसीदास

४. "नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।....." आत्मख्याति टीका, पद्य १

५. समयसार कलश नाटकम्, प्रस्तावना पृष्ठ ४-५, मराठी भाषांतरकार क्षुल्लकादिसागर। वीर संवत् २४९३ (१९७० ईस्वी)

६. टी. सी. इलियट– Problems of the Drama, Page 29.
"All poetry tends towards drama, and all drama towards poetry."

अपने विचारों को व्यक्त करता है, तब उसकी वह अभिव्यक्ति छदात्मक होती है। आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाएं भी इसी विशेषता से मण्डित है। अनुभूति की प्रबलता में उनकी अभिव्यक्ति गद्य से पद्य का रूप धारण करती है, इसलिए अपनी टीका में उन्होंने पद्यांशों के बीच यत्र तत्र पद्यों की समायोजना भी की है। वे रससिद्ध नाटककार तथा स्वयंसिद्ध कवीन्द्र थे। इस प्रकार अमृतचन्द्र के सर्वतोमुखी व्यक्तित्व का एक पहलू "नाटककार" के रूप में विद्यमान है।

अमृतचन्द्र काव्यकार के रूप में— आचार्य अमृतचन्द्र के बहुमुखी व्यक्तित्व के अंतर्गत उत्कृष्ट काव्यकार का रूप भी उनकी कृतियों में प्रस्फुटित है। वे प्रौढ़तम संस्कृत गद्य लेखक, रससिद्ध पद्य प्रणेता तथा सफल चम्पूकाव्यकार है। कुन्दकुन्द आचार्य के समयप्राभृत, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय पर लिखित गद्य टीकाएं उनके असाधारण, चमत्कारी एवं अर्थगांभीर्ययुक्त गद्य की परिचायक है। समयसार कलश, तत्त्वार्थसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा लघुतत्त्वस्फोट ये कृतियां उनके सरस, सुबोध, मनोहारि पद्य के प्रमाण हैं। समयप्राभृत की आत्मख्याति गद्य टीका तथा उसमें यथासमय आगत पद्यों का समुचित प्रयोग उनकी सफल चम्पूकाव्य शैली के उदाहरण हैं। यहां हम उनके काव्यकार के रूप का गद्य, पद्य तथा चम्पू काव्य की दृष्टि से मूल्यांकन प्रस्तुत करते हैं।

काव्यशास्त्रकार रसयुक्त वाक्य को काव्य की सज्ञा देते है।[1] तथा अंतरात्मा की अनुभूति को रस कहते हैं।[2] भावों के उत्कर्ष को भी "रस" नाम अभिहित किया जाता है।[3] जैन साहित्य निर्माताओं ने लौकिक तथा अलौकिक दोनों ही अवस्थाओं में अनिर्वचनीय आनन्द को को रस कहा है।[4] अध्यात्म साहित्य में निश्चयनय की शैली के कथनानुसार आत्मानुभूति को ही रस माना गया है।[5]

---

१. (विश्वनाथ) "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।" काव्यादर्श

२. "रस्यते अन्तरात्मनाऽनुभूयते इति रसः" अभिधान राजेन्द्र

३. "भावोत्कर्षो रसः स्मृतः" हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, भाग १ डा. नेमिचन्द्र, पृष्ठ २२६

४. वही, पृष्ठ २२७ ५. वही, पृष्ठ २२७

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आचार्य अमृतचन्द्र का समग्र वाङ्मय, चाहे वह गद्य हो, पद्य हो अथवा मिश्र, रसाप्लावित है। पद-पद पर उनके वाक्यों से अध्यात्म का रस छलकता है। उनके पद्यों में आत्मानुभूति का रसातिरेक यत्र तत्र सर्वत्र द्रष्टव्य है। उनकी आत्मख्याति समयसार कलश युक्त टीका में निश्चयनय की कथनशैली द्वारा आत्मानुभूति रूप रस का सुष्ठु परिपाक हुआ है। अनिर्वचनीय आनन्द के उल्लेख भी उसमें उपलब्ध होते हैं। उक्त टीका के मंगलाचरण रूप प्रारम्भिक पद्य में अपने शुद्धात्मा को नमस्कार करते हुए लिखा है कि द्रव्यकर्म, भावकर्म तथा नोकर्म से रहित शुद्धात्मा समयसार है उसे नमस्कार हो। वह शुद्धात्मा अनुभूति के द्वारा प्रकाशित होता है। वह चैतन्य स्वभाव वाला है, सत्तास्वरूप है तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला है।[1] उक्त शुद्धात्मा की अनुभूति शुद्धनय निश्चयनय के आश्रय से होती है। वह आत्मानुभूति ज्ञानानुभूति ही है। ऐसा जानकर आत्मा का अनुभव करना चाहिये।[2] ऐसे आत्मानुभव का आनन्द अनिर्वचनीय होता है। उसमें द्वैतभाव नहीं होता।[3] निश्चयनयाश्रित वह अनुभव चैतन्य चमत्कार मात्र तेजपुञ्ज रूप होता है।[4] आचार्य अमृतचन्द्र ऐसे शुद्धात्मा के अनुभव में निरन्तर संलग्न रहते हैं। वे लिखते हैं कि शुद्धात्मा की ऐसी महिमा है, जिससे वह एकमात्र अपने ही अनुभव से जानने में आता है तथा उस समय वह व्यक्त एवं ध्रुव ज्ञान होता है।[5] ऐसी अनन्त चैतन्य लक्षण वाली आत्म ज्योति जो एकत्व से च्युत न होने वाली तथा निर्मलता के साथ उदित होने वाली है, उसे वे सदा अनुभव करते हैं।[6] इतना ही नहीं, उस चैतन्यज्योति आत्मा के अनुभव रस के रसास्वादन की प्रेरणा भी आचार्य अमृतचन्द्र ने की है। वे लिखते हैं – हे जगज्जनों अनादि संसार में आज तक मोह का अनुभव किया है, उसे छोड़ो और आत्मरसिकजनों को रूचिकर,

---

१. नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ।। समयसार कलश नं. १

२. आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिकाया, ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प, मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ।।१३।।

३. "अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव" (समयसार कलश ६)

४. "अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत्।" (वही, कलश ७)

५. "आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवम्।" वही, कलश १२

६. "अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम्।
सततमनुभवामोऽनन्त चैतन्य चिन्हम् ।। वही, कलश २०

उदित होते हुए ज्ञानस्वभाव का अनुभव करो, रसास्वादन करो।[1] उक्त शुद्धात्मा का रसास्वाद आबालवृद्ध सभी कर सकते हैं, परन्तु अनादि-कालीन बन्ध के कारण पर द्रव्यों के साथ एकत्व बुद्धि के कारण अज्ञानी बना हुआ है, आत्मज्ञान प्रगट नहीं होता। आत्मानुभूति से साध्य निजात्मा की सिद्धि अन्य किसी प्रकार से नहीं हो सकती।[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र जिस आत्मामृत के रसिक है उसी के रसिक बाल-वृद्ध सभी जगत् बने, तदर्थ वे अपने साहित्य द्वारा जगत् को परम कल्याणकारी प्रेरणा करते हैं। उनके समग्र साहित्य में यदि कोई रस अंगीरस – प्रमुख-रस के रूप में रसोत्कर्ष को प्राप्त हुआ है तो वह है शांतरस। शांतरस, अध्यात्मरस, परमानन्दामृत, ज्ञानरस आदि सभी एकार्थवाची है। इस प्रकार अध्यात्मरसिक अमृतचन्द्र की रसानुभूति जब गद्यरूप में अभिव्यक्त हुई तो उनका गद्य सहज ही प्रौढ़तम गद्यवैशिष्ट्यों से अनुप्राणित हो गया और वे प्रौढ़तम गद्यकाव्यकार के रूप में प्रादुर्भूत हुए। जब भावो-त्कर्ष आनन्दानुभूति के रूप में प्रकट हुआ, तब उनकी अभिव्यक्ति भाव-वाही पद्यकाव्य के रूप में प्रवाहित हुई और वे रससिद्ध कवीन्द्र अथवा पद्यकाव्यकार के रूप में प्रगट हुए। जब भावों का उतार चढ़ाव अनवरत प्रवाहित हुआ तब उनकी अभिव्यक्ति गद्य पद्यात्मक रही और वे चम्पू-काव्य लेखक के रूप में व्यक्त हुए। यहां उनके गद्यकाव्यकार के रूप का आकलन प्रस्तुत है।

अमृतचन्द्र गद्यकाव्यकार — विद्वानों ने गद्य को कवियों की विद्वता की कसौटी माना है। संस्कृत साहित्य में "गद्यं कवीनां निकष वदन्ति" की उक्ति प्रचलित है।[3] पद्यकाव्य की अपेक्षा काव्यशैली में गद्य लिखने वाले लेखकों की संख्या बहुत थोड़ी है। संस्कृत गद्यकाव्यकारों में सुबन्धु, बाणभट्ट, दण्डी, वादीभसिंहसूरि आदि प्रमुख हैं।[4] आचार्य अमृतचन्द्र

---

१. "त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं, रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुच्चैः।"
समयसार कलश २२

२. यदा तु आबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि भगवत्यनुभू-त्यात्मन्यरमन्यनादि बन्धवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनु-भूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्पद्यते ·····साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तेः।"
समयसार गाथा १७ १८ की आत्मख्याति टीका

३. कादम्बरी, प्रस्तावना पृष्ठ २ (व्याख्याकार-कृष्णमोहनठक्कुरः) १९६३

४. महाकवि हरिचन्द–एक अनुशीलन, पृष्ठ ४

भी इन्हीं प्रमुख गद्यकाव्य लेखकों की कोटि में अग्रणी हैं। उनका गद्य-साहित्य प्रायः टीकाओं के रूप में उपलब्ध है। उनके गद्य में प्रौढ़तम गद्यकाव्यों की अनेक विशेषताएं प्रस्फुटित हुई हैं। उनकी समस्त गद्य-कृतियों में 'आत्मख्याति टीका" अपने आप में एक अनुपम निधि है। इसमें भाषा की गम्भीरता, प्रौढ़ता तथा सहजता देखते ही बनती है। भाववाही, अर्थवाही, तथा मर्मस्पर्शी भाषा अध्यात्मतत्त्व के गूढ़तम रहस्यों की उद्घाटक है। उनकी गद्यकाव्यधारा कहीं सहज तथा सुगम कहीं क्लिष्ट और दुर्गम, कभी मंदप्रवाहयुक्त तो कभी तीव्रावेगयुक्त एवं रस-छंद तथा अलंकार युक्त तरंगिणी की भांति प्रतीत होती है। संस्कृत टीकाकार ब्रह्मचन्द्र ने अमृतचन्द्र के समयसार कलशों पर टीका रचकर उसका नाम "परमाध्यात्मतरंगिणी" रखा है। इस अध्यात्म तरंगिणी में अवगाहन करने वालों को अभूतपूर्व आनन्द तथा शांतिलाभ होता है। उनके सरल, सुगम लघुवाक्यावलि युक्त तथा चमत्कारी गद्य के कई उदाहरण उनकी टीका कृतियों में उपलब्ध हैं। उनमें से कुछ का अवलोकन कराया जाता है :—

अमृतचन्द्र एक स्थल पर आत्मा की श्रेष्ठता, उसकी ज्ञानमयता तथा ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन का फल निरूपण करते हुए वे लिखते हैं– "आत्मा किल परमार्थः, तत्तु ज्ञानम्; आत्मा च एक पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेवपदं, यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः।.....ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम्। तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रांतिः, भवत्यात्मलाभः, सिध्यत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्च्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवंते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्म उपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति।"[1] यह है उनके सरल, सुगम,

---

१. समयसार गाथा २०४ की टीका – उक्त गद्य का हिन्दी अर्थ इस प्रकार है : – "आत्मा वास्तव में परमपदार्थ है। वह (आत्मा) ज्ञान है। आत्मा एक ही पदार्थ है, इसलिए ज्ञान भी एक ही पद है, यह ज्ञान नामक एक पद परमार्थ स्वरूप मोक्ष का उपाय है। .....इसलिए जिसमें समस्त भेद दूर हुए हैं ऐसे आत्मस्वभावभूत एक ज्ञान का ही अवलम्बन करना चाहिये, उसके अवलम्बन से ही निजपद की प्राप्ति होती है, भ्रांति का नाश होता है, आत्मा का लाभ होता है और अनात्मा का परिहार सिद्ध होता है। ऐसा होने से–कर्म बलवान नहीं होते, रागद्वेष मोह उत्पन्न नहीं होते, अतः पुनः नवीन कर्मों का आस्रव नहीं होता, उससे पुनः नवीन कर्मबन्ध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्म मुक्त होकर निर्जरा को प्राप्त हो जाता है, समस्त कर्मों का अभाव होने से साक्षात् मोक्ष होता है।"

लघुवाक्यावलियुक्त तथा चमत्कारी गद्य का नमूना। अध्यात्म के गूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन करने हेतु उनके गद्य साहित्य में सर्वत्र दृष्टांतों का सहारा लिया गया है, उससे गद्य की सरलता तथा सुगमता और भी बढ़ जाती है। ऐसे दृष्टांतयुक्त गद्य का नमूना यहां दिया जाता है। इसमें धनार्थी का दृष्टांत देकर मोक्षार्थी को किस प्रकार ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण करना चाहिए यह बताया है। यथा–"यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते, ततस्तमेव श्रद्धते, ततस्तमेवानुचरति। तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम्।"[१]

आचार्य अमृतचन्द्र के गद्य में सरलता, स्पष्टता के साथ साथ प्रौढ़ता के भी दर्शन होते हैं। एक ही पद अथवा प्रकरण का स्पष्टीकरण वे तब तक करते जाते हैं, जब तक वह भलीप्रकार से पाठक के समझ में न आ जावे। ऐसे स्पष्टीकरणों में भाषा का सहज प्रवाह एवं तारतम्य भी बना रहता है। उदाहरण के लिए एक स्थल पर "चारित्र" के स्वरूप का स्पटीकरण करते हुए वे लिखते हैं: –"स्वरूपे चरणं चारित्रं। स्वसमय-प्रवृत्तिरित्यर्थः। तदेववस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः। शुद्ध चैतन्य प्रकाशनमित्यर्थः। तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम्। साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादित समस्त मोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः।"[२]

---

१. "जैसे निश्चय से कोई धन का अर्थी पुरुष बहुत उद्यम से पहले तो राजा को जाने (कि यह राजा है), फिर उसी का श्रद्धान करे (कि यह अवश्य राजा ही है, इसकी सेवा करने से अवश्य धन की प्राप्ति होगी, और फिर उसी का अनुचरण करे (सेवा करे, आज्ञा में रहे, उसे प्रसन्न करे), इसी प्रकार मोक्षार्थी पुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिये और फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिये) कि यही आत्मा है, इसका आचरण करने से अवश्य कर्मों से छूटा जा सकेगा") और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिये। साध्य सिद्धि इसी प्रकार संभव है अन्य प्रकार से अनुपपत्ति है। समयप्राभृत, गाथा १७-१८ की आत्मख्याति टीका

२. स्वरूप में चरण (रमण करना) चारित्र है। स्वसमय में प्रवृत्ति करना ऐसा इसका तात्पर्य है। यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। शुद्धचैतन्य का प्रकाश करना यह इसका अर्थ है। वही यथावस्थित आत्मगुण होने से साम्य है। और साम्य दर्शन तथा चारित्रमोहनीय के उदयजनित समस्त मोह और क्षोभ के अभाव के कारण अत्यंत निर्विकारी जीव का परिणाम है। प्रवचनसार गाथा ७ की आत्मख्याति टीका।

इस प्रकार का चारित्र आत्मा के होता है, इसकी सिद्धि हेतु वे लिखते हैं:-

"यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्यपरिणताय:पिण्डवत्तन्मयं भवति। ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम्।"[1]

इस प्रकार जहां उन्होंने एक ओर सरल सुबोध और प्रवाही गद्य का प्रयोग किया है, वहीं उनके दार्शनिक, गहन एवं गूढ़तम सिद्धांतों के विवेचन में क्लिष्ट, दुर्गम तथा प्रौढ़ गद्य का भी प्रयोग मिलता है। ऐसे स्थलों पर लेखक की विद्वत्ता, प्रौढ़ता तथा गभीर दार्शनिकता के भी दर्शन होते हैं। एक स्थल पर "अनेकांत स्वरूप आत्मा को ज्ञानमात्रपने से व्यपदेश करना किस प्रकार सम्भव है इस सन्दर्भ में अनेकांत का सविस्तार खुलासा करते हुए वे अपनी प्रौढ़तम गद्यशैली में लिखते हैं:— "नन्वनेकांतमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षण प्रसिद्धया लक्ष्यप्रसिद्धियर्थम्। आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं तदसाधारण-गुणत्वात्। तेन ज्ञानप्रसिद्ध्या तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः। ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या, लक्ष्यमेव प्रसाधनीयम् ? नाप्रसिद्धलक्षणस्य लक्ष्यप्रसिद्धिः, प्रसिद्ध लक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः। ननु किं तल्लक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्ध्या ततो भिन्नं प्रसिद्ध्यति ? न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं, ज्ञानात्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात्। तर्हि किं कृतो लक्ष्य लक्षण विभागः ? प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः। प्रसिद्ध हि ज्ञानं, ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात् तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्य-मानस्तदविनाभूतानंतधर्मसमुदयमूर्तिरात्मा। ततो ज्ञानमात्राचलित-निखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतं अनन्तधर्मजातं यद्याव-

---

१. वास्तव में जो द्रव्य जिस समय जिस भाव से परिणमन करता है, वह द्रव्य उस समय "उष्णतारूप से परिणमित लोहे के गोले की भांति उस मय है, इसलिए यह आत्मा धर्मरूप परिणमित होने से धर्म ही है। इस प्रकार आत्मा की चारित्रता सिद्ध हुई। प्रवचनसार, गाथा ८ की टीका।

ल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खल्वात्मा। एतदर्थमेवात्रास्यज्ञानमात्रतया व्यपदेशः।[1]

इस प्रकार उपरोक्त गद्यांश में जहां एक ओर अमृतचन्द्र की दार्शनिक गंभीरता, सैद्धांतिक प्रौढ़ता तथा स्पष्टता के दर्शन होते हैं, वही उनकी सहेतुक एवं प्रवाहपूर्ण गद्यशैली में प्रकरण की सुस्पष्टता सिद्धांत-विज्ञता तथा निरूपण कुशलता की छाप साहित्यरसिको पर पड़ती है। अमृतचन्द्र का गद्य भावातिरेक के कारण पद्यमयता में परिणत प्रतीत होता है। उनका पद्य तो पद्यरूप है ही, परन्तु गद्य भी पद्यरूपता को धारण करता है। उनके गद्य में पद्यमयता का रस होने से "गद्यकाव्य की श्रेणी में उसकी गणना होती है। उनका गद्य किस प्रकार पद्यरूपता को प्राप्त होता है उसका नमूना देखिये। शिष्य का प्रश्न है कि हमारा परमार्थ व हितकारी पद क्या है? इसके उत्तर स्वरूप वे लिखते हैं :—

---

१. "आत्मा अनेकांतमय है फिर भी उसका ज्ञानमात्रता से क्यों व्यपदेश किया जाता है? लक्षण की प्रसिद्धि के द्वारा लक्ष्य की प्रसिद्धि करने के लिए आत्मा को ज्ञानमात्र रूप से व्यपदेश किया जाता है। आत्मा का ज्ञान लक्षण है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है; इसलिए ज्ञान की प्रसिद्धि द्वारा उसके लक्ष्य आत्मा की प्रसिद्धि होती है। इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन है? मात्र लक्ष्य ही प्रसाध्य (प्रसिद्धि करने योग्य) है? जिसे लक्षण अप्रसिद्ध हो उसे लक्ष्य की प्रसिद्धि नही होती। जिसे लक्षण प्रसिद्ध होता है उसी को लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है। ऐसा कौन सा लक्ष्य है कि जो ज्ञान की प्रसिद्धि के द्वारा उससे भिन्न प्रसिद्ध होता है? ज्ञान से भिन्न लक्ष्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान और आत्मा में द्रव्यपने से अभेद है। तब फिर लक्षण और लक्ष्य का विभाग किसलिए किया गया है? प्रसिद्धत्व और प्रसाध्यमानत्व के कारण लक्षण और लक्ष्य का विभाग किया जाता है। ज्ञान प्रसिद्ध है क्योंकि ज्ञानमात्र को स्वसंवेदन से सिद्धपना है। वह प्रसिद्ध ज्ञान के द्वारा प्रसाध्यमान, तदविनाभूत अनन्त समुदायरूप मूर्ति आत्मा है इसलिए ज्ञानमात्र में अचलितपने से स्थापित दृष्टि के द्वारा क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान, तदविनाभूत अनंतधर्म समूह कुछ जितना लक्षित होत है, वह सब वास्तव में एक आत्मा है। इसी कारण से यहां आत्मा का ज्ञानमात्रता से व्यपदेश है। (समयसार, आत्मख्याति टीका, परिशिष्ट पृष्ठ ५८६)

"इह खलुभगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुमशक्यत्वात् अपदभूताः। यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानः, नियतत्वावस्थाः, एकः, नित्यः, अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुं शक्यत्वात् पदभूतः। ततः सर्वानिवास्थायिभावान् मुक्त्वा स्थायिभावभूतं परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदं स्वाद्यम्।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्।
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ॥१३९॥[1]

इस प्रकार गद्यांश में कथित भावार्थ ही भावातिरेक के कारण पद्यरूप परिणत होकर व्यक्त हुआ है। आत्मख्याति टीका में उक्त प्रकार के गद्य में पद्यमयता के दर्शन पद-पद पर प्राप्त होते हैं। इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र का गद्य साहित्य श्रेष्ठ तथा प्रौढ़तम गद्यकाव्य वैशिष्ट्यों से विभूषित है। एक स्थल पर क्षायिकज्ञान अथवा केवलज्ञान को एकांततः सुखस्वरूप निरूपण करते हुए, उसमें खेद (आकुलता) की संभावना का खण्डन तथा केवलज्ञानियों में ही पारमार्थिक सुख होता है

---

१. वास्तव में, इस भगवान आत्मा में बहुत से द्रव्य-भावों के मध्य में से, जो अतत्स्वभाव से अनुभव में आते हुए, (आत्मा के स्वभाव रूप नहीं किन्तु परस्वभावरूप अनुभव में आते हुए) अनियत अवस्थावाले, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी भाव हैं, वे सब स्वयं अस्थाई होने के कारण स्थाता (रहने वाले) के स्थान नहीं हो सकने योग्य होने से अपदभूत हैं, और जो तत्स्वभाव से (आत्मस्वभावरूप से) अनुभव में आता हुआ, नियत अवस्थावाला, एक, नित्य, अव्यभिचारी भाव (चैतन्यमात्र ज्ञानभाव) है, वह एक ही स्वयं स्थायी होने से स्थाता का स्थान हो सकने योग्य होने से पदभूत है। इसलिए समस्त अस्थायी भावों को छोड़कर, स्थायी भावरूप वाला, परमार्थ रसरूप से स्वाद में आने वाला यह एक ज्ञान ही आस्वादन के योग्य है।

पद्य का अर्थ – "वह एक ही पद आस्वादन के योग्य है, जो कि विपत्तियों का अपद है (अर्थात् जिसमे आपदायें नहीं आ सकती हैं) तथा जिसके समक्ष समस्त अन्य पद अपद (दुखदायी–आकुलता रूप) ही भासित होते हैं।"

समयसार गाथा २०३ की आत्मख्याति टीका तथा १३९ वाँ कलश।

इसका श्रद्धान कराने हेतु अमृतचन्द्र ने जो टीका लिखी है, वह उनके प्रौढ़तम, भावप्रवाही तथा विद्वतापूर्ण गद्य का नमूना प्रस्तुत करती है—

यथा—"अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य सभवादैकांतिक सुखत्वं नास्तीति प्रत्याचष्टे अत्र को हि नाम खेदः, कश्च परिणामः, कश्च-केवलिसुखयोर्व्यतिरेकः, यतः केवलस्यैकांतिक सुखत्वं न स्यात् ? खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, ननाम केवलपरिणाम मात्रम् । घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिंस्तद्बुद्धिमाधाय परिछेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यतः परिणामयन्ति, ततस्तानि तस्य प्रत्यर्थं परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते । तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः । यतश्च त्रिसमयावच्छिन्नसकलपदार्थं परिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूतं चित्रभित्ति स्थानीयमनंतस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः । यतश्च समस्त स्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरङ्कुशनन्तशक्तितया सकल त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कूटस्थत्वेनात्यन्तनिःप्रकम्पं व्यवस्थितत्वाद नाकुलतां सौख्यलक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्तां बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम् । ततः कुतः केवलसुखयोर्व्यतिरेकः । अतः सर्वथा केवलं सुखमैकान्तिकमुपादनीयम् ।"[1] आगे केवलियों में पारमार्थिक सुख होता है, इसकी

---

१. "अब केवलज्ञान को भी परिणाम के द्वारा खेद की संभावना के कारण ऐकान्तिक सुख नहीं है" ऐसी मान्यता का खण्डन करते हैं यहाँ (केवलज्ञान के संबंध में) खेद क्या है ? परिणाम क्या है ? केवलज्ञान और सुख का व्यतिरेक क्या है ? जिससे केवलज्ञान को एकांततः सुखत्व न हो ? (१) खेद के आयतन (स्थान) घातिकर्म हैं, केवल परिणाम मात्र नहीं । घातिकर्म महामोह के उत्पादक होने से धतूरे की भांति अतत् में तत्बुद्धि धारण करवाकर आत्मा को ज्ञेयपदार्थ के प्रति परिणमन कराते हैं, इसलिए वे घातिकर्म प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित हो होकर थकने वाले आत्मा के लिये खेद के कारण होते है । उनका (घातिकर्मों का) अभाव होने से केवलज्ञान में खेद कहाँ से प्रगट हो सकता है ? (२) और तीनकालरूप तीन भेद वाले समस्त पदार्थों की ज्ञेयाकार रूप विविधता को प्रकाशित करने का स्थानरूप केवलज्ञान चित्रित दीवार की भांति स्वयं ही अनंतस्वरूप स्वयमेव परिणमित होता है इसलिए केवलज्ञान ही परिणाम है । तथा अन्य परिणाम कहाँ है कि जिनसे खेद की उत्पत्ति हो ? (३) और केवलज्ञान समस्त स्वभाव प्रतिघात के अभाव के कारण निरंकुश अनंतशक्ति के उल्लसित होने से समस्त त्रैकालिक लोकालोक के आकार में व्याप्त होकर कूटस्थतया अत्यंत निष्कम्प है, इसलिये आत्मा से अभिन्न सुख लक्षणभूत अनाकुलता को धारण करता हुआ केवलज्ञान ही सुख है, इसलिये केवल ज्ञान और सुख का व्यतिरेक कहाँ है ? अर्थात् नहीं है ।"

प्रवचनसार गाथा ६० की टीका, पृष्ठ ८६–८७

श्रद्धा कराने हेतु लौकिक सुखाभास को सुख पुकारना रूढ़ि मात्र है, परमार्थ नहीं – ऐसा ज्ञान कराया तथा यह भी लिखा कि जो इस परमार्थ सुख की श्रद्धा तत्काल करते हैं वे निकट-आसन्नभव्य (निकट भविष्य में मोक्ष पाने योग्य) हैं तथा जो इसकी श्रद्धा बाद में करेंगे वे दूर भव्य हैं और जो इसकी श्रद्धा नहीं करेंगे वे अभव्य हैं। इस आशय की गभीर तथा प्रौढ़ गद्य टीका इस प्रकार है — "इह खलु स्वभाप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशलिनां सुखाभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढ़िः। केवलिनां तु भगवतांप्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयं। न किलैवं येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्या पश्यन्ति। ये पुनरिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति। ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते तु दूरभव्या इति।[1]

आचार्य अमृतचन्द्र के पद्य की प्रौढ़ता के साथ-साथ अलंकारमयी गद्यकाव्य की छटा भी अत्यन्त सरस एवं रमणीय है।

इन्द्रियाधीनता जब तक है तब तक दुःख ही है, इस तथ्य के स्पष्टीकरणार्थ प्रयुक्त गद्य में उपमाओं की झड़ी द्रष्टव्य है, गद्यकाव्य की सरसता एवं रमणीयता आस्वाद्य है –

यथा–

"येषां जीवदवस्थानि हतकानीन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम्। किन्तु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात्।

---

१. "इस लोक में मोहनीय आदि कर्मजाल वालों के स्वभाव प्रतिघात के कारण और आकुलता के कारण सुखाभास होने पर भी उस सुखाभास को "सुख" कहने की अपारमार्थिक रूढ़ि है,] और घातिकर्म नष्ट कर चुकने वाले केवली भगवान के स्वभाव प्रतिघात के अभाव के कारण और अनाकुलता के कारण सुख के यथोक्त कारण तथा लक्षण का सद्भाव होने से पारमार्थिक सुख है– यह श्रद्धा करने योग्य है। जिन्हें ऐसी श्रद्धा नहीं है वे मोक्षसुख के सुधापान से दूर रहने वाले अभव्य मृगतृष्णा के जलसमूह को ही देखते (अनुभव करते) हैं, और जो इस वचन को इसी समय स्वीकार करते हैं वे शिवश्री (मोक्ष लक्ष्मी) के भाजन आसन्नभव्य हैं और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूर भव्य हैं।" —प्रवचनसार गाथा ६२ की तत्त्वप्रदीपिका टीका, पृष्ठ ९०

अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणु-कुट्टनीगातस्पर्शं इव, सफरस्य बडिशमिषस्वाद इव, इन्दिरस्यसंकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरंङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदना-वशीकृतातामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः। यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशांतशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाह-ज्वरस्यारनालपरिषेक इव। निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णविचूर्णमिव विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव। रूढ़व्रणस्यालेपनदानमिव, विषय व्यापारो न दृश्येत। दृश्यते चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः।"[1]

इस तरह अमृतचन्द्र का गद्य उच्चकोटि का गद्यकाव्य है। उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त वे अनेक गद्यशैलियों के प्रणेता हैं। उनमें प्रमुख हैं— हेतुपुरस्सर न्यायशैली, व्युत्पत्तिशैली, दृष्टांतशैली, निश्चयव्यवहार-नयप्रतिपादनशैली, व्याख्याशैली, अनुमानपरकशैली, प्रश्नोत्तरशैली, क्लिष्टदार्शनिक विवेचनशैली, प्रश्नशैली आदि। इन शैलियों का

---

१. जिनको "हत" (निन्द्य) इन्द्रियाँ जीवित हैं, उन्हें उपाधि के कारण (बाह्य संयोगों के कारण) दुःख नहीं है, किन्तु स्वाभाविक ही है क्योंकि उनकी विषयों में रतिदेखी जाती है। जैसे हाथी हथिनी रूपी कुट्टिनी के शरीर स्पर्श की ओर, मछली बंसी में फंसे हुए मांस के स्वाद की ओर, भ्रमर बंद हो जाने वाले कमल की गंध की ओर, पंतगा दीपक की ज्योति के रूप की ओर, और हिरन शिकारी के संगीत के स्वर की ओर दौड़ते हुए दिखाई देते हैं। उसी प्रकार दुर्निवार इन्द्रियवेदना के वशीभूत होते हुए वे लोग वास्तव में, अति-समीप नाशस्वभाव वाले विषयों की ओर दौड़ते दिखाई देते हैं। और यदि उनका दुःख स्वाभाविक है ऐसा न माना जाय तो जैसे जिसका शीतज्वर उप-शांत हो गया है, वह पसीना लाने के लिये प्रयास करता, तथा दाहज्वर उतर जाने पर कांजी से शरीर के ताप को उतारता, तथा आँखों का दुख दूर हो जाने पर वटाचूर्ण (शंखादि का चूर्ण) आंजता, कर्णशूल नष्ट होने पर बकरे का मूत्र कान में डालता और घाव भर जाने पर कोई पुनः लेप करता दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार उनके विषय व्यापार देखने में नहीं आना चाहिये, किन्तु उनके वह (विषय प्रवृत्ति) तो देखी जाती है, इससे सिद्ध हुआ कि जिनके इन्द्रियाँ जीवित हैं ऐसे परोक्षज्ञानियों के दुःख स्वाभाविक है।

—प्रवचनसार, गाथा ६४ की टीका, पृष्ठ ९२

सविस्तार अनुशीलन आगे किया गया है। उपर्युक्त विशेषताओं के कारण ही आचार्य अमृतचन्द्र एक श्रेष्ठ एवं प्रौढ़तम गद्यलेखक सिद्ध होते हैं।

अमृतचन्द्र पद्यकाव्यकार — आचार्य अमृतचन्द्र जितने प्रौढ़ एवं सिद्धहस्त गद्यलेखक हैं, उससे भी कहीं अधिक प्रौढ़ और कुशल काव्यकार भी हैं। उनमें पद्यकाव्य प्रतिभा नैसर्गिक तथा असाधारण थी। वे असाधारण कवि ही नहीं, अपितु कवियों में श्रेष्ठ थे। इसीलिए "कवीन्द्र" पद से विभूषित थे। उन्होंने स्वयं भी एक स्थल पर अपने नाम के समक्ष कवीन्द्र पद का प्रयोग किया है।[1] डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने उन्हें गद्य लेखक की अपेक्षा पद्यकार के रूप में विशेष सक्षम माना है।[2] "पद्य" शब्द का अर्थ हैं "पत्तुं योग्यं पद्यम्" अर्थात् जो गतिशील हो वह पद्य कहलाता है।[3] गतिशीलता एवं भावप्रवाहपने के कारण ही गद्य की अपेक्षा पद्यरचनायें अधिक प्रभावशाली एवं रसमयी सिद्ध हुई हैं। सहृदयजनों के हृदयों को उद्वेलित करने तथा प्रचुरता से रसास्वाद कराने में पद्यकाव्य विशेष सफल सिद्ध हुआ है। आचार्य अमृतचन्द्र रससिद्ध कवीन्द्र थे। उनकी कवित्वशक्ति तथा विलक्षण प्रतिभा उनके द्वारा रचित पद्य साहित्य में विशेष रूप से प्रस्फुटित है। उनकी अद्यावधि उपलब्ध पद्य रचनाओं में पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, समयसार कलश, तत्त्वार्थसार तथा लघुतत्त्वस्फोट प्रसिद्ध हैं। ये समस्त कृतियाँ आध्यात्मिक महाकवि, रससिद्ध कवीन्द्र, आचार्य अमृतचन्द्र के असाधारण व्यक्तित्व से अनुप्राणित हैं। "समयसार कलश" अमृतचन्द्र के अध्यात्मामृत का सागर है। मधुर पद्यों में अध्यात्मविद्या के सार को समाहित किये हुए है। प्रत्येक कलश में जैन अध्यात्म व जैनागम का रहस्य और कुन्दकुन्दाचार्य के सूत्रों का भाव भरा हुआ है। वे कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों की रहस्यज्ञता के ज्वलंत उदाहरण हैं। विद्वानों ने इन पद्यमय कलशों को कुन्दकुन्द द्वारा निर्मित जिनदर्शन तथा अध्यात्मरूप मन्दिर के स्वर्णकलश

---

१. लघुतत्त्वस्फोट ६२६ वाँ पद्य, आस्वादयत्वमृतचन्द्रकवीन्द्र एष .....

२. प्रवचनसार, प्रस्तावना अंग्रेजी, पृष्ठ ९४-९५, III Edn. १९६४—
"Amrtachandra is more a poet than a prosewriter, to this even a few verses in his commentary on Pravacanasara bear withness."

३. महाकवि हरिचन्द एक अनुशीलन, पृष्ठ ३

की भांति महत्वपूर्ण माना है।[1] समयसार की मूलगाथायें तथा आत्मख्याति संस्कृत टीका को पढ़ने पर भी समयसार कलशों को पढ़े बिना पूर्णरूपेण आत्मीय, अनुपम आनन्द का आस्वादन नहीं हो पाता।[2] उन कलशों की रचना इतनी सरस है कि सहृदय पाठक को, तद्गत भावों को हृदयंगम किये बिना भी उनके पठन मात्र में अपूर्व आनन्द मिलता है। सचमुच में अमृतचन्द्र आध्यात्मिक कवियों के मुकुटमणि हैं। उनके पद्य उतने दुरुह नहीं है जितना उनका गद्य। किन्तु दोनों प्रकारों में एक प्रकार का सौष्ठव पाया जाता है।[3] उनके पद्य सौष्ठव का नमूना इस प्रकार है :—

उभयनय विरोध ध्वंसिनी स्यात्पदाङ्के, जिनवचसि रमतेयि स्वयं वांत मोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनय पक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥[4]

आचार्य अमृतचन्द्र का अध्यात्म विषयक पाण्डित्य जितना गंभीर और तलस्पर्शी है, उसको व्यक्त करने वाली भाषा भी तदनुरूप, स्वाभाविक तथा धारा प्रवाह में प्रवाहित होती है। समयसार कलश अतिसुन्दर और अध्यात्म रस से भरे हुए हैं।[5] उन कलशों में अनुभव रस का भण्डार भरा है। जिसे भी उस अनुभव रस का रसास्वादन हो जाता है, वह संसाररूप समुद्र से पार हो जाता है।[6] लौकिकजनों को अध्यात्म

---

१. (अ) समयसार नाटक, पं. बनारसीदास, स्याद्वाद द्वार, पद्य नं. १, २
अद्भुतग्रन्थ अध्यातम बानी, समुझै कोउ विरला ज्ञानी।
यामैं, स्याद्वाद अधिकारा, ताको जो कीजै विस्तारा॥
तो गरंथ अति शोभापावे, वह मन्दिर यह कलश कहावै।
तब चित अमृत वाचन गढ़ि खोले, अमृतचन्द्र आचारज बोले॥
(ब) परमाध्यात्मतरंगिणी की प्रस्तावना, पं. गजाधरलाल कृत, पृष्ठ १
(स) आत्मधर्म, अप्रेल, ६६ अंक १२, पृष्ठ ७३१, प्रवचन, संत कानजी स्वामी
२. परमाध्यात्मरंगिणी, प्रस्तावना, पृष्ठ १
३. जैन साहित्य का इतिहास, भाग२, पृष्ठ १७३, १७४
४. समयसार कलश, पद्य क्रमांक ४
५. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १७३
६. समयसार नाटक, पं. बनारसीदास, ईडर के भण्डार के प्रति का अंतिम अंश।
"समयसार नाटक अकथ, अनुभव रस भण्डार।
याको रस जो जानहीं सो पावें भवपार॥"

का विषय शुष्क प्रतीत होता है। उस पर सरस कविता करना कठिन है। आचार्य अमृतचन्द्र ने ऐसे कठिन कार्य को भी अपनी अलौकिक आध्यात्मिक प्रतिभा एवं कवित्वशक्ति से सुकर एवं सुगम कर दिखाया है। उनकी लेखनी में बल है, कवितानों में प्रसाद है, शब्दों में रस है और सिद्धांत प्रतिपादन में अस्खलन है। वे उच्च कोटि के कवि हैं।[1] यद्यपि दर्शन और अध्यात्म के कई अन्य दिग्गज आचार्य भी हुए हैं परन्तु अध्यात्मरस की सरिता में अपने को निमज्जित कर देने वाले आचार्य अमृतचन्द्र ही हुए हैं। उन्होंने अध्यात्मसागर का अवगाहन करके अध्यात्मतरंगिणी प्रवाहित की है।[2]

उनकी आत्मख्याति टीका के पाठकों को अमृतचन्द्र की अध्यात्म रसिकता, अनुभवप्रखरता, प्रकाण्डविद्वता, वस्तुस्वरूप की न्याय तर्क तथा दृष्टांत से सिद्ध करने की असाधारण शक्ति और उनकी उत्तम काव्यशक्ति का पूरा ज्ञान हो जाता है। संक्षेप में गम्भीर रहस्यों को भर देने की उनकी अनोखी सामर्थ्य विद्वानों को आश्चर्यान्वित करती है। प्रत्येक कलश में अनुभव रस की लहरी तथा अध्यात्म की मस्ती पाई जाती है। तत्त्वज्ञान और अध्यात्मरस से सराबोर उनके कलश आध्यात्मरसिकों को अपूर्व आनन्द प्रदान करते हैं। उसके पठन एवं रसास्वादन से हृदतंत्री के तार मानों झनझना उठते हैं।[3] उक्त झनझाहट एवं आनंदानुभव पैदा कराने वाले कुछेक कलश यहाँ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत हैं। आत्मस्वभाव का दिग्दर्शन कराते हुए वे लिखते हैं :—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त विमुक्तमेकम्।
विलीन-संकल्प-विकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥[4]

इसी प्रकार नयों के विकल्परूप पक्षपात को छोड़कर, जो स्वरूप में लीन होते हैं उन्हें साक्षात् अध्यात्मरूप अमृत पीने को मिलता है। उक्त अमृत से भरा उपेन्द्रवज्रा छंद रूप कलश इस प्रकार है :—

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजाल च्युतशांत चित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥[5]

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, पृष्ठ ३२५–२६
२. अध्यात्म अमृतकलश, प्राक्कथन, पृष्ठ ७
३. समयसार, प्रस्तावना, पृष्ठ ६, सोनगढ़ तृतीयावृत्ति १९६४
४. समयसार कलश, क्रमांक १० ५. समयसार कलश, क्रमांक ६६

उक्त साक्षात् अमृत को पीने हेतु ज्ञानसिन्धु, शांतरस परिपूर्ण निज भगवान् आत्मा में निमग्न होने की प्रेरणा वसंततिलका छंद रूप निम्न पद्य में की गई है :—

मज्जन्तु निर्भरममी समभेव लोका आलोकमुच्छति शांत रसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रम तिरस्करिणीं भरेण, प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिंधु ॥[1]

उक्त प्रेरणा के साथ-साथ, पदलालित्य की भी छटा दर्शनीय है। यहाँ द्रुतविलंबित छंद में ज्ञानकला द्वारा सुलभ निजपद को कर्मों द्वारा नहीं अपितु शुद्धात्मा के अनुभव की कला द्वारा प्राप्त करने हेतु निरन्तर अभ्यास करने की प्रेरणा दी गई है। यथा :—

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं, सहजबोधकला सुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात् कलयितुं यततां सततं जगत् ॥[2]

यद्यपि समयसार कलशों में कई स्थलों पर पुनरुक्ति पाई जाती है।[3] तथापि अध्यात्म में पुनरुक्ति को दोषाधायक नहीं माना जाता है क्योंकि अनादि काल से संसार के जीव अध्यात्म से दूर रहे हैं अतः उनका ध्यान अध्यात्म की ओर आकर्षित कराने के लिए कलशों में भिन्न-भिन्न प्रकारों से कथन किया गया है।[4]

एक ही कलश में अनेक परिभाषाएँ तथा गम्भीर सिद्धांत प्ररूपणा करने की असाधारण कवित्व शक्ति अमृतचन्द्र में है। इसे हम सूत्र रूपेण कथन शैली अथवा अर्थगांभीर्यमयी शैली कह सकते हैं। उनके अर्थगांभीर्य का नमूना निम्न पद्य में निहित है :—

१. समयसार कलश, क्रमांक ३२ २. समयसार कलश, क्रमांक १४३

३. एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युत पक्षपाततस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥ कलश १७०
इसी प्रकार उपरोक्त पद्य के प्रथम चरण के द्वितीय शब्द "बद्धो" के स्थान पर क्रमशः मूढो, रक्तो, दुष्टो, कर्त्ता, भोक्ता, जीवो, सूक्ष्मो, हेतुः, कार्य, एको, भावो, शांतो, नित्यो, वाच्यो, नाना, वेद्यो, दृश्यो, वेद्यो व भातो पदपरिवर्तन करके शेषांश पूर्ववत् ही रखा है और इस की पुनरावृत्ति ७० से ८६ वें कलश तक पाई जाती है। इसी प्रकार पद्य क्रमांक ६४ एवं ६५ में भी कुछ शब्दों के परिवर्तन के साथ अधिकांश शब्द पुनरुक्त हैं।

४. अध्यात्म अमृत कलश, पं. जगमोहनलाल शास्त्री, पृष्ठ २६

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परणति क्रिया सा त्रयमपि भिन्न न वस्तुतया ॥[1]

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥[2]

अर्थगांभीर्य के साथ साथ जहाँ वे दृष्टांत प्रस्तुत कर निरूपित विषय को सरल एवं सुबोध बना देते हैं, वहीं वे अपनी अनोखी तर्कशक्ति तथा सालंकृत पद्य भी प्रस्तुत करने की असाधारण क्षमता रखते हैं। एक स्थल पर वे वर्णादिक जीव के कहे जाने पर भी जीव के नहीं हैं, इस कथन की सिद्धि हेतु लिखते हैं :—

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भोघृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीव जल्पनेऽपि न तन्मयः ॥[3]

जिस प्रकार घृतकुम्भ (घी का घड़ा) कथन किये जाने पर भी घड़ा घीमय नहीं है उसी प्रकार "वर्णादिमान जीव है" ऐसा कथन किये जाने पर भी जीव वर्णादिरूप नहीं हैं। इसी अभिप्राय की सिद्धि हेतु वे दृष्टांतमयी सालंकृत शैली में सुन्दर तर्क प्रस्तुत करते हैं, जिससे कथन भली भांति स्पष्ट एवं सिद्ध हो जाता है। यथा—

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित्, तदेव तस्यान्न कथंचनान्यत् ।
रूक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं, पश्यन्ति रूक्मं न कथंचनासिम् ॥[4]

अर्थात् जिस वस्तु से जो भाव बने, वह भाव वह वस्तु ही है किसी भी प्रकार अन्य वस्तु नहीं है। जैसे जगत् में स्वर्णनिर्मित स्थान को लोग स्वर्ण ही देखते हैं, किसी प्रकार से तलवार नहीं देखते हैं। अन्यत्र इसी प्रकार तर्कप्रधान शैली में रथोद्धता तथा इन्द्रवज्रा दो पद्यों में लिखा है कि जो ज्ञाता है वह कर्त्ता नहीं तथा जो कर्त्ता है वह ज्ञाता नहीं। जानने

---

१. समयसार कलश ५१ ("जो परिणमित होता है सो कर्त्ता, जो (परिणमित होने वाले का) परिणाम है वह कर्म है और जो परणति है वह क्रिया है, ये तीनों (कर्त्ता, कर्म एवं क्रिया) वस्तुरूप से भिन्न नहीं है।")

२. समयसार कलश ५४ ("एक द्रव्य के दो कर्त्ता नहीं होते, एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते तथा एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होती क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य रूप नहीं होता।")

३. समयसार कलश, ४० ४. वही, कलश क्रमांक ३८

रूप ज्ञप्ति क्रिया में करने रूप करोति क्रिया नहीं होती तथा करोति क्रिया में ज्ञप्ति क्रिया नहीं होती, अतः सिद्ध होता है कि जो ज्ञाता है वह कर्ता नहीं है।[1] इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र जिस बात की सिद्धि करते हैं, तदर्थ जो तर्क प्रस्तुत करते हैं तथा प्रस्तुतीकरण हेतु जिस प्रकार की शब्द संरचना करते हैं उससे उनके असाधारण काव्यकार का रूप साकार हो उठता है। उनके द्वारा प्रयुक्त २५ प्रकार के छन्द[2] उपमा, उत्प्रेक्षा, अनुप्रास, दृष्टांत, यमक, रूपक आदि अनेक अलंकार, प्रसाद, माधुर्य, ओज गुणों का प्रस्फुटन, विभिन्न रसों का यथावसर परिपाक, पदलालित्य, स्वरलहरी, वाणी का अद्भुत विलास इत्यादि से उनका लोकोत्तर व्यक्तित्व, प्रतिभाशाली कवित्व तथा अद्वितीय कृतित्व सहज ही प्रगट हो जाता है।

पुरुषार्थसिद्धयुपाय उनकी २२६ आर्या-छन्दों में प्रसादगुणमयी एक स्वतन्त्र रचना है, जिसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र तथा अहिंसा का अनूठा वर्णन है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थ जैनाचार विषयक ग्रन्थरत्नों में श्रेष्ठ कोहनूर है। इसमें श्रावकों के आचार का विशेष तथा मुनि आचार का संक्षिप्त दिग्दर्शन हुआ है। इसमें प्रयुक्त सूक्तियां जैनागम के सारसूत्र की भांति गम्भीर अर्थ को समाहित किये हैं। प्रत्येक सूक्तियां में गम्भीर सिद्धांत घोषित किया गया। उदाहरण स्वरूप कुछ सूक्तियां इस प्रकार है :— "भवति मुनीनाममौकिकी वृत्तिः" (१६) कार्यविशेषोहिकारणविशेषात्। (१२२), विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्। (२), व्यवहार निश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्। (४), भूतार्थ-

---

१. रथोद्धताछंद– यः करोति स करोति केवलं, यस्तुवेत्ति स तु वेत्ति केवलम्।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित्, यस्तुवेत्ति न करोति स क्वचित्॥
इन्द्रवज्राछंद– ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः, ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने, ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च॥
समयसार कलश, क्रमांक ९६ तथा ९७

२. अनुष्टुप्, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित्, उपजाति, वसंततिलका, पृथ्वी, आर्या, स्वागता, शालिनी, मन्द्राक्रांता, स्रग्धरा, उपेन्द्रवज्रा, रथोद्धता, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, शिखरणी, नर्दटक, वंशस्थ, वियोगिनी, मन्जुभाषिणी, तोटक, पुष्पताग्रा, प्रहर्षिणी, मत्तमयूर, हरिणी इन २५ प्रकार के पद्यो का प्रयोग हुआ है।

बोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः। (५), गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्ध-नयनचक्रसञ्चाराः। (५८). न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः। (८५), नित्य-मदत्तं परित्याज्यम्। (१०६). मूर्च्छा तु ममत्व परिणामः। (१११), त्यक्तव्या रात्रि भुक्तिरपि। (१२६), कर्त्तव्योऽवश्यमतिथये भागः। (१७६), शिथिलित लोभो भवत्यहिंसेव। (१७४), मोक्षोपायो, न बन्धनोपायः। (२११)[1]

ये सूक्तियाँ अपने में जैनधर्म का मर्म, अर्थ गौरव तथा दार्शनिक-तार्किक महत्त्व समाहित किये हुए हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का पद्यसाहित्य जहाँ एक ओर गम्भीर दार्शनिकता, सिद्धांतविज्ञता तथा अध्यात्मरसिकता से व्याप्त है, वहीं दूसरी ओर उसमें अलंकारों की आकर्षक झिल-मिलाहट, काव्यसौन्दर्य का चरमोत्कर्ष तथा उनके विशाल व्यक्तित्व की छाप भी विद्यमान है।

उनकी कवित्वशक्ति का उत्कर्ष एवं काव्य की प्रौढ़ता का सर्व-श्रेष्ठ उदाहरण उनके द्वारा रचित "लघुतत्त्वस्फोट नामक" स्तोत्रकाव्य है। इसमें विभिन्न छन्दों में २५ अध्यायों में जैनदर्शन का परमगम्भीर सागर लहराता हुआ प्रदर्शित किया गया है। इसके प्रथम अध्याय में क्लिष्टतम परन्तु सालंकृत काव्य का उत्कृष्ट रूप देखने को मिलता है। २४ तीर्थङ्करों की वन्दना २४ पद्यों में की गई है। प्रत्येक पद्य अपने आप में अद्वितीय अर्थगाम्भीर्य, अनुप्रासात्मक शैली तथा शब्दद्युति को संजोये हुए है। वहाँ कविता कामिनी का सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य अभिव्यक्त हुआ है अथवा सरस्वती स्वयं विभिन्न अलंकारों के बीच साकार हो उठी है। उदाहरण के लिए द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ की स्तुति करते हुए वे वसंततिलका छन्द में लिखते हैं—

माताऽसि मानमसि मेयमसीशिमासि
मानस्य चासि फलमित्यजितासि सर्वम्।
नास्येव किञ्चिदुत नासि तथापि
किञ्चिदस्येव चिच्चकचकायितचचुरुच्चैः ॥२॥[2]

---

१. पुरुषार्थसिद्धयुपाय के उपर्युक्त सूक्तिसम्मुख अंकित पद्य क्रमांक।

२. लघुतत्त्वस्फोटः, अध्याय १, पद्य नं. २

इस चमत्कारी रहस्यमयी पद्य का अर्थ इस प्रकार है कि हे अजितनाथ तीर्थङ्कर आप ज्ञायक हो, ज्ञान हो, ज्ञेय हो, नअन्तचतुष्टय रूप लक्ष्मी के ईश्वर हो और ज्ञान के फल हो, इस तरह आप सब कुछ हो। आपके ज्ञान का कुछ भी नहीं है और आप अन्य किसी पदार्थ रूप नहीं हैं, तो भी आप उत्कृष्ट रूप से चैतन्य चमत्कार रूप हो। इसी तरह चतुर्थ तीर्थङ्कर अभिनन्दननाथ की स्तुति में रचित पद्य गम्भीर, आकर्षक, अनुप्रास अलंकार से अलंकृत तथा उच्चकवित्वशक्ति का जाज्वल्यमान उदाहरण है, यथा —

यद्भाति भाति तदिहाथ च न भाति भाति,
नाभाति भाति स च भाति न यो नभाति।
भा भाति भात्यपि च भाति न भात्यभाति,
सा चाभिनन्दन विभान्त्यभिनन्दतित्वाम् ॥४॥

अर्थात्, हे अभिनन्दन नाथ ! जिस देदीप्यमान ज्ञान से यह आत्मा सुशोभित है, वह ज्ञान अन्य पदार्थों में सुशोभित नहीं होता क्योंकि वे चेतन नहीं है। वह ज्ञान जो इस निजात्मा में महान वैभव के साथ देदीप्यमान है, चेतनता रहित पदार्थों में प्रदीप्त नहीं होता। विशिष्ट रूप से शोभायमान वह ज्ञानज्योति (सर्वज्ञता जिसमें ज्ञाता ज्ञेय तथा ज्ञान गर्भित है) आपका अभिनन्दन करती है।[1]

इसी तरह दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथ की स्तुति में रचित पद्य में भी अनुप्रास के साथ विरोधाभास अलंकार भी प्रस्फुटित हुआ है। पद्य में आगत भाव इस प्रकार है — हे शीतलनाथ जिनेन्द्र, आप (क्रोधादि सर्वविकारों से) शून्य होने पर भी, (ज्ञानादि अनन्त गुणों से) अतिशय पूर्ण हैं। (स्वकीय गुण पर्यायों से) परिपूर्ण होकर भी (अन्य द्रव्य के गुण-पर्यायों से) शून्य है। अन्य द्रव्यों मे शून्यविभव होकर भी ज्ञेयरूपता को प्राप्त हुए अनेक द्रव्यों से पूर्ण हैं। अनेक अतिशयों (महिमाओं) से परिपूर्ण होकर भी सदा एक ही हैं। इस तरह हे शीतलनाथ आपके चरित्र को जानने के लिए कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं। मूल पद्य इस प्रकार है—

---

१. लघुतत्त्वस्फोट–अध्याय १ पद्य नं. ४

शून्योऽपि निर्भरभृतोऽसि भृतोऽपि
चान्यशून्योऽन्यशून्य विभवोऽप्यसि नैकपूर्णः ।
त्वं नैकपूर्ण महिमापि सदैक एव
कः शीतलेति चरितं तव मातुमीष्टे ॥[1]

उनके समयसार कलश में एक स्थल पर शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन क्यों संभव नहीं है – इसके उत्तर में उन्होंने दृष्टांत तथा दार्ष्टांत रूप में जो दो काव्य रचे हैं वे उत्तमकाव्य की दृष्टि से बेजोड़ हैं तथा उत्प्रेक्षा अलंकार के सुन्दर उदाहरण है, यथा —

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजी निगीर्ण भूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखाबलयेन पातालम् ॥[2]

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्णसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥[3]

उन्होंने अपनी अलंकार शैली का कौशल टीकांत में प्रदर्शित किया है। वहाँ उन्होंने एक साथ लुप्तोपमा, रूपक, व्यतिरेक तथा अनुप्रास अलंकारों का मनोहारि प्रयोग किया है। वह पद्य इस प्रकार है —

---

१. लघुतत्त्वस्फोट, पद्य क्रमांक १०, अध्याय प्रथम ।
अर्थः–(हे शीतलनाथ जिनेन्द्र, आप कामक्रोधादि समस्त विकारों से शून्य होकर भी, ज्ञानदर्शनादि गुणों से अतिशय पूर्ण हो, स्वकीय गुणपर्यायों से परिपूर्ण होकर भी अन्यद्रव्य के गुण पर्यायों से शून्य हो, अन्यद्रव्यों से शून्य विभव होकर भी ज्ञेयरूपता को प्राप्त हुए अनेक द्रव्यों से परिपूर्ण हो, अनेक अतिशयों से परिपूर्ण होकर भी सदा एक हो हो, ऐसे आपके चरित को जानने में कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ।

२. समयसार कलश, क्रमांक २५
अर्थः– यह नगर ऐसा है कि जिसने अपने कोट के द्वारा आकाश को मानो ग्रसित कर रखा है (अर्थात् कोट बहुत ऊंचा है) बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को मानो निगल लिया है (अर्थात् चारों ओर बगीचों से पृथ्वी ढक गई है), और कोट के चारों ओर की खाई के घेरे से मानों पाताल को पी रहा है (अर्थात् खाई बहुत गहरी है) ।''

३. वही, कलश क्रमांक ३६ – ''भगवान जिनेन्द्र का उत्कृष्ट रूप क्षोभरहित, गंभीर समुद्र के समान है, विकार रहित तथा सुस्थित है, जिसमें अपूर्व तथा स्वाभाविक लावण्य है, ऐसा रूप जयवंत वर्तो ।

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समंता
ज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥[1]

उक्त पद्य में प्रथम चरण में आत्मनि, आत्मना, आत्मनं, आत्मन् में तथा द्वितीय चरण में धारयत्-ध्वस्तमोहम् आदि पदों में अनुप्रास अलंकार प्रयुक्त है। तथा अमृतचन्द्रज्योतिः पद में "आत्मा को अमृतचन्द्र-समान कहा है" यहां समान पद वाचक "वत्" पद का लोप होने से लुप्तोपमा अलंकार प्रकट होता है। यदि "वत्" अर्थ न करके मात्र अमृतचन्द्ररूपज्योति अर्थ किया जाय तो भेदरूपक अलंकार सिद्ध होता है। आत्मा को अमृतमय चन्द्रमा के समान कहने पर भी, ध्वस्तमोहः विमलपूर्ण तथा निःसपत्नस्वभाव विशेषणों द्वारा चन्द्रमा के साथ व्यतिरेक भी सिद्ध होता है क्योंकि ध्वस्तमोह विशेषण अज्ञानरूप अंधकार का दूर होना बतलाता है, विमलपूर्ण विशेषण लांछनरहितता को बताता है और निःसपत्नस्वभाव द्वारा चन्द्रमा की भांति राहु से ग्रसित अथवा मेघाच्छादित होने का निषेध बताया गया है—इस तरह समास परिवर्तन के द्वारा अमृतचन्द्रज्योति के अन्य अनेक अर्थ संभव हैं।[2] अलंकारों की सविस्तार चर्चा आगे यथास्थान की जायेगी अतः यहां हम अलंकार के अंतिम उदाहरण के रूप में अतिसुन्दर, सुगम तथा सुबोध कारणमाला नामक अलंकार प्रस्तुत करते हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में मद्य के दोष को बताते हुए वे उक्त अलंकार का प्रयोग करते हैं :—यथा

मद्यं मोहयति मनो, मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्माजीवो हिंसामविशंकमाचरति ॥ ६२ ॥[3]

---

१. समयसार कलश २७६, अर्थ – अकम्पचैतन्य स्वरूप आत्मा में, अपने पुरुषार्थ से ही निरन्तर मग्न हुई मोहांधकार को नष्ट करने वाली, स्वच्छ तथा परिपूर्ण, रागादि विरोधी भावों से रहित, उदय को प्राप्त हुई यह अमृतमयी चन्द्र समान आत्मज्योति सदा प्रकाशमान रहो।

२. समयसार, परिशिष्ट, पृष्ठ ६०१ सोनगढ़, १९६४

३. अर्थ – मदिरा मन को मोहित करती है, मोहितचित्तपुरुष तो धर्म को भूल जाता है, धर्म को भूला हुआ जीव निःशंक होकर हिंसा का आचरण करता है।" देखो, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पद्य नं. ६२।

इस प्रकार छन्द, रस, अलंकारों का समुचित प्रयोग, काव्योचित अनेक गुणों का समावेश, भावानुकुल अर्थगरिमायुक्त भाषा तथा अध्यात्म-रस से परिपूर्ण पद्य रचना से अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व निश्चित रूप से एक सफलतम, प्रतिभाशाली, अद्वितीय तथा उच्चकोटि के काव्यकार के रूप में प्रस्फुटित होता है। विद्वान अध्येता उनके काव्य को नाटककाव्य, अनुपमकाव्य तथा लयात्मक काव्य की संज्ञा देते हैं, उन्हें निर्दोष काव्य प्रणेता तथा संस्कृत में लयात्मक काव्य का आद्य आविष्कर्ता मानते हैं।[1] उन्होंने जितना कौशल गद्यकाव्य की रचना में प्रदर्शित किया, उससे कहीं अधिक सिद्धि एवं प्रसिद्धि पद्यकाव्य के प्रणयन में प्राप्त की है। तत्त्वार्थसार नामक विशाल महत्वपूर्ण ग्रन्थ उनकी असाधारण पद्यकाव्य प्रणयन शक्ति का प्रतीक है। गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों तथा भावों को और उनपर रचित श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक आदि भाष्यों को अपने अंतर्मुखी व्यक्तित्व में समाहित करके कविता- तरंगिणी के माध्यम से प्रवाहित किया है। उनकी उपलब्ध पद्यरचनाएं उनके उच्चकोटि के काव्यकार होने का प्रमाण हैं। उनकी अंतिमकृति लघुतत्त्वस्फोटः में उनके महाकवित्व का उत्कर्ष एवं प्रस्फुटन देखकर उनका "कवीन्द्र" पद सार्थक प्रतीत होता है। इस तरह अमृतचन्द्र निस्संदेह सफल पद्यकाव्यकार के रूप में अपनी कृतियों में प्रकट होते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र चम्पूकाव्यकार — आचार्य अमृतचन्द्र जितने प्रौढ़ गद्यकाव्यकार तथा पद्यकाव्यकार हैं, उतने ही कुशल वे चम्पूकाव्यकार भी हैं। समयसार पर उनकी आत्मख्याति टीका तथा उसमें बीच बीच में आगत पद्य उनकी चम्पूकाव्य शैली का उदाहरण है। काव्यलक्षणकारों ने "गद्य तथा पद्य मय रचना को चम्पूकाव्य कहा है" यथा – "गद्यपद्यमयं-काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते।"[2] इस तरह उक्त परिभाषा के अनुसार आत्म-ख्याति टीका चम्पूकाव्यशैली में लिखी गई कृति प्रतीत होती है। उसमें दार्शनिक व्याख्याएं गद्य में तथा भावोत्कर्ष पद्य में अभिव्यक्त पाते हैं। उदाहरण के रूप में एक स्थल पर ज्ञानी पुरुषों का त्याग (प्रत्याख्यान), स्वभाव तथा परभाव का भेदज्ञान होने पर, सहज ही हो जाता है। इस

---

१. निजामृतपान (समयसारकलशों का पद्यानुवाद) प्रथम पृष्ठ घ, ङ, च

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ. बलदेव प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ ४१४

अभिप्राय की विवेचना वे सरल, सालंकृत गद्य तथा सरस पद्य में करते हुए लिखते हैं:—

"यथा हि कश्चित्पुरुषः सभ्रांत्या रजकात्परकीय चीवरमादायात्मीयमित्या परिदध्य शयानः स्वयमज्ञानी सन्येन तदंचलमालंब्य बलान्नग्नीक्रियमाणों मंक्षु, प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुन्चति तच्चोवरमचिरात्, तथा ज्ञातापि संभ्रांत्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपायात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मंक्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रोत वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिन्हैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुन्चति सर्वान्परभावानचिरात् ।

मालिनी छंदः—

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यत्यंतवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टांतदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता, स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव॥२६॥[1]

---

१. आत्मख्यातिकलशटीका (गाथा ३५ की टीका) "जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है, और अपने आप ही अज्ञानी (यह वस्त्र पराया है ऐसे ज्ञान से रहित) हो रहा है। किन्तु जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर पकड़कर खींचता है और उसे नग्न कर कहता है कि "तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आ गया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे, (तब बारम्बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह, (उस वस्त्र की) सर्व चिन्हों से भलीभांति परीक्षा करके' "अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है" ऐसा जानकर ज्ञानी होता हुआ, उस वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है। इसी प्रकार ज्ञाता भी भ्रमवश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपने में एक रूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है। जब श्री गुरु परभाव का विवेक (भेदज्ञान) करके उसे एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि "तू जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तव में एक (ज्ञानमात्र) ही है, तब बारम्बार कहे गये इस आगम वाक्य को सुनता हुआ वह (स्वपर के) समस्त चिन्हों से भलीभांति परीक्षा करके "अवश्य यह परभाव ही है, (मैं एक ज्ञान मात्र ही हूँ) यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावों को तत्काल छोड़ देता है।
मालिनी छंद का अर्थ – "यह परभाव के त्याग के दृष्टांत की दृष्टि रूप यह वृत्ति जबतक वेगपूर्वक पुरानी न हो तब तक तत्काल ही परद्रव्यों के सकल भावों से रहित यह आत्मानुभूति स्वयं प्रकट हो जाती है।" २६ ॥

इसी तरह की चम्पूशैली का प्रयोग सम्पूर्ण टीका में पाते हैं। सम्पूर्ण कृति में गद्य के साथ पद्यों का प्रयोग प्रचुरमात्रा में हुआ है। पद्यों की संख्या २७८ है जिससे चम्पूकाव्यशैलीगत गद्य के साथ समुचित अनुपात में पद्यों का मिश्रण सहज बन पड़ा है। तथा आचार्य अमृतचन्द्र की चम्पूशैली में रचना करने की सफल क्षमता का परिचय भी हुआ है। प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय की उभय टीकाएं यद्यपि प्रमुखतः प्रौढ़तम एवं क्लिष्ट गद्यकाव्यशैली में हैं तथापि उनमें भी बीच बीच में कुछ पद्य आ पड़े हैं जिससे आचार्य अमृतचन्द्र का चम्पूकाव्य शैली का स्नेह प्रदर्शित होता है। डॉ. पद्मनाभ जैनी, (प्रोफेसर, केलीफोर्निया विश्वविद्यालय) ने भी अमृतचन्द्र की शैली को उत्तरमध्यकालीन अनुप्रासात्मक चम्पूशैली के रूप में स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में अमृतचन्द्र को तत्कालीन चम्पूशैली से पूर्वस्नेह था।[1] अमृतचन्द्र को हम चम्पूकाव्यशैली का प्रमुख उन्नायक मानते हैं कारण कि चम्पूशैली के साहित्य की उपलब्धि दसवीं शताब्दी से पूर्व नहीं होती।[2] आचार्य अमृतचन्द्र दसवीं शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ के हैं। उनका समय हमने विभिन्न आधारों पर ईस्वी ९०५ निश्चित किया है। मध्यकालीन चम्पूकाव्यकारों में नलचम्पू तथा मदालसाचम्पू के लेखक त्रिविक्रमभट्ट (ईस्वी ९१५)[3] यशस्तिलकचम्पूकार सोमदेव (ईस्वी ९५९)[4], जीवन्धर चम्पूरचयिता महाकवि हरिचन्द (११-१२ वीं सदी)[5] पुरुदेव चम्पूकार अर्हद्दास (तेरहवीं सदी)[6] के नाम उल्लेख्य हैं। इन सभी चम्पूकाव्यकारों में आचार्य अमृतचन्द्र वयवरिष्ठ तो हैं ही, साथ ही चम्पूयुग के आद्य उन्नायकों में भी श्रेष्ठ हैं। जहां त्रिविक्रम श्लेष-प्रधान रचनाकार हैं वहां अमृतचन्द्र अनुप्रास कवीन्द्र हैं उनकी अनुप्रास शैली चमत्कारोत्पादक, रसाभिव्यंजक तथा अनुभव रस से परिपूर्ण होती है। उदाहरण के लिए रागी जीव ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) क्यों नहीं होता? इसके स्पष्टीकरण में अमृतचन्द्र लिखते हैं:—

---

१. Amrtacandra, on the other hand, displays a predilection for the alliterative Champu style of the late mediaeval period,.....Introduction Page 3 of 'Laghu tattve Sphota' by AAmrtacandrasuri'

२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, डॉ. बलदेव प्रसाद उपाध्याय, पृष्ठ ४१४

३. वही, पृष्ठ ४१६ ४. वही, पृष्ठ ४२१

५. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग ४, पृष्ठ ५३२

६. महाकवि हरिचन्द, एक अनुशीलन, स्तम्भ १, पृष्ठ ६

"यस्य रागादीनामाज्ञानमयानां भावानांलेशस्यापि सद्भावोऽस्ति स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि ज्ञानमयस्य भावस्याभावादात्मानं न जानाति। यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति, स्वरूपपररूप सत्तासत्ताभ्यामेकस्य वस्तुतो निश्चीयमानत्वात् ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति। यस्तु जीव जीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति। ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः।[1]

मन्दाक्रांता छंद

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥ १३८॥[2]

इसी तरह "ज्ञानी को सर्व प्रकार के उपभोगों के प्रति विरक्ति होती है "इस कथन की सिद्धि हेतु प्रयुक्त सालंकृत एवं चमत्कृत चम्पूशैली का नमूना भी दृष्टव्य है यथा–

"इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः कतरेऽपि शरीरविषयाः। तत्र यतरे संसार विषयाः ततरे बंधनिमित्ताः यतरे शरीरविषय-

---

१. समयसार गाथा २०१-२०२ की आत्मख्याति टीका (अर्थ— जिसके रागादि अज्ञानमय भावों का लेशमात्र भी सद्भाव है, वह श्रुतकेवली जैसा होने पर भी ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता। जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता क्योंकि स्वरूप से सत्ता और पररूप से असत्ता दोनों के द्वारा एक वस्तु का निश्चय होता है। इसप्रकार जो आत्मा और अनात्मा को नहीं जानता वह जीव तथा अजीव को भी नहीं जानता। जो जीव तथा अजीव को नहीं जानता, वह सम्यग्दृष्टि ही नहीं है। अतः रागी सम्यग्ज्ञान के अभाव के कारण सम्यग्दृष्टि नहीं होता।

२. मन्दाक्रांता छंद का अर्थ :—अरे (वस्तुस्वरूप को न देखने वाले) अन्ध प्राणियों! तुम परपदार्थ में रागी हुए अनादिकालीन संसार से सदा उन्मत्त बने हो, जिस चतुर्गति रूप संसारी पर्यायों में लीन हो, वह तेरा स्थान नहीं है, नहीं है, अतः जागो जागो। यहां से जाओ, यहां से जाओ, तुम्हारा पद वह है जहां चैतन्यधातु अपने परमशुद्ध चैतन्य रस से भरी हुई स्थायीपने को प्राप्त होती है, वहां तेरा पद है। समयसारकलश १३८

स्ततरे तूपभोगनिमित्ताः । यतरे बंध निमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः यतरे तूपभोगनिमित्त स्ततरे सुखदुःखाद्याः । अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्यतत्प्रतिषेधत्वात् ।[1]

स्वागता छंद

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं, कर्मरागरसरिक्ततयैति ।
रंगयुक्तिरकषायितवस्त्रे स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्, सर्वरागरस वर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेषः कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥[2]

इस तरह उन उदाहरणों से अमृतचन्द्र की सरस, आलंकारिक तथा अध्यात्मरसभरित चम्पू शैली का भलीभांति परिचय मिलता है, अतः उन्हें हम गद्यपद्य काव्यकार के साथ ही चम्पूकाव्यकार भी कह सकते हैं। उनके ये तीनों अद्वितीय असाधारण साहित्यिक पहलू अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व के काव्यकार के पहलू को उजागर करते हैं। वे सिद्धहस्त प्रौढ़ गद्य लेखक, रससिद्ध पद्यप्रणेता तथा आकर्षक चम्पूकाव्यकार के रूप में अपनी कृतियों में प्रकाशमान है।

---

१. समयसार गाथा २१७ की टीका:—"इस लोक में जो अध्यवसान के उदय हैं वे कितने ही तो संसार सम्बन्धी हैं और कितने ही शरीर सम्बन्धी हैं। उनमें जितने संसार सम्बन्धी है, उतने बन्ध के निमित्त है और जितने शरीर संबंधी हैं उतने उपभोग के निमित्त हैं। जितने बन्ध के निमित्त हैं, उतने तो रागद्वेष-मोह आदि हैं और जितने उपभोग के निमित्त हैं उतने सुखदुःखादिक हैं। इन सभी में ज्ञानी के राग नही है, क्योंकि वे सभी नाना द्रव्यों के स्वभाव हैं इसलिए टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभाव वाले ज्ञानी के उनका निषेध है।

२. (स्वागता छंदों का) अर्थ– "राग के रस से शून्य होने के कारण ज्ञानी की कोई भी क्रिया ममत्व परिणाम को प्राप्त नहीं होती, जिस प्रकार लोध और फिटकरी से कषायला न किया वस्त्र, अन्य रंग के संयोग को स्वीकार करने पर भी; वह रंग बाहिर ही बाहिर बना रहता है अर्थात् वस्त्र को रंजित नहीं करता ॥ १४८ ॥"
"चूंकि ज्ञानीपुरुष अपने स्वभावरस से ही संपूर्णरागरसों का वर्जक (निषेधक) है अतः कर्मों के बीच पड़ा हुआ भी यह ज्ञानी समस्त कर्मों से लिप्त नहीं होता । १४९ ॥" समयसारकलश

आचार्य अमृतचन्द्र – व्याख्याकार के रूप में

१. असाधारण तथा अद्वितीय विद्वान्—आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व का एक पहलू सफलतम व्याख्याकार का भी है। व्याख्याकार के रूप में वे असाधारण तथा अद्वितीय विद्वान् थे। जिस प्रकार टीकाकार मल्लिनाथ, महाकवि कालिदास के ग्रन्थों के रहस्यज्ञ थे, उसी प्रकार अमृतचन्द्र आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के मर्मज्ञ व्याख्याता थे।[1] जिस तरह आचार्य विद्यानंदस्वामी न होते तो आचार्य अकलंक के ग्रन्थों का मर्म समझना कठिन होता, उसी तरह यदि आचार्य अमृतचन्द्र व्याख्याकार न होते तो कुन्दकुन्द के सूत्रों का अर्थ समझना मुश्किल होता। उनका अध्यात्मविषयक टीका साहित्य प्रमेय की दृष्टि से उतना ही महत्वपूर्ण है जितना मूल अध्यात्मसाहित्य।[2] आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थंकरों के उपदेश को ग्रन्थों में गूंथकर तीर्थंकर–सर्वज्ञतुल्य कार्य किया तथा आचार्य अमृतचन्द्र ने कुन्दकुन्द के हृदयगत रहस्य को गम्भीर टीकाओं द्वारा उद्घाटित कर गणधर तुल्य कार्य किया; उनकी टीकाएँ अंतरात्म-ज्योति जगमगा देने वाली हैं।[3] ग्रन्थकर्ता के मूलभावों एवं रहस्यों को प्रकट करना, उन पर गम्भीर भाष्य की रचना करना महान दार्शनिक का कार्य है। "भाष्यकाल को अलंकृत करने वाले ऐसे दार्शनिकों की गणना संसार के महान दार्शनिकों में की जाती है। अल्पाक्षररूप मूलसूत्रों में निहित तथ्यों का विशदीकरण अपनी तार्किक बुद्धि से निष्पन्नकर एक महान् साहित्य की सृष्टि इन दार्शनिकों द्वारा हुई है।[4] आचार्य अमृतचन्द्र भी ऐसे ही महान् टीका साहित्य के स्रष्टा हैं। उनकी समग्र टीकाएँ प्रौढ़तम, दार्शनिक तथा पांडित्यपूर्ण शैली में रचित हैं। वे संस्कृत वाङ्मय के उत्कर्ष एवं प्रौढ़ता की झलक को प्रस्तुत करती हैं।

समयसार की आत्मख्याति कलश टीका ऐसी श्रेष्ठ रचना है जो आचार्य अमृतचन्द्र की प्रकाण्डविद्वत्ता, वाग्मिता तथा अप्रतिम प्रांजलशैली की परिचायक है, साथ ही उनकी कीर्ति को श्रेष्ठ व्याख्याता के रूप में

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृष्ठ ४०२ खण्ड द्वितीय।

२. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १७२

३. आत्मधर्म अंक २४८, दिसम्बर १९६५, पृष्ठ ४५३
(संत कानजी स्वामी का प्रवचन)

४ संस्कृत साहित्य का इतिहास डॉ. बलदेव उपाध्याय पृष्ठ ६५६

अमरता प्रधान करने में समर्थ है। प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय पर रचित तत्त्वप्रदीपिका एवं समय व्याख्या नामक गद्यटीकाओं में व्याख्याता अमृतचन्द्र की विद्वत्ता दार्शनिकता, तथा प्रौढ़ता का उत्कर्ष चरमसीमा को स्पर्श करता प्रतीत होता है। ये दोनों टीकाएं गम्भीर-सैद्धांतिक व्याख्यान तथा दर्शन परक होने के कारण अधिकांश गद्यरूप में हैं, कहीं कहीं पाठक उनकी दार्शनिकता, कवित्व शक्ति तथा भावोद्रेक को पद्यरूप में भी प्रस्फुटित पाते हैं। उनकी टीका तत्त्वप्रदीपिका में १४ पद्य तथा समयव्याख्या में ८ पद्य सहज ही अभिव्यक्त हुए हैं। समयसार की आत्मख्याति टीका में उनकी प्रखरविद्वत्ता के साथ ही साथ अध्यात्मरसिकता का चरमोत्कर्ष विद्यमान है। यद्यपि इस टीका में गद्य तथा पद्य दोनों का सामन्जस्य है तथापि इसमें अमृतचन्द्र की असाधारण काव्यप्रतिभा विशेष रूप से प्रगट हुई है। इससे यह बात भी प्रमाणित होती है कि अमृतचन्द्र मात्र गद्यटीका लिखने में ही नहीं अपितु पद्यटीका लिखने में भी सिद्धहस्त थे। पद्यटीकाकार के रूप में उनका व्यक्तित्व "तत्त्वार्थसार नामक पद्य टीकाकृति से स्पष्टतः प्रमाणित है। तत्त्वार्थसार पद्यटीका गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र पर आधारित ७२० पद्यों में है। इस तरह स्पष्ट है कि अद्यावधि उपलब्ध अमृतचन्द्र की समस्त रचनाओं में बहुभाग टीकासाहित्य तथा शेष भाग मौलिक साहित्य के रूप में है। इसे हम उनके व्याख्याकार होने का प्रमुख आधार मान सकते है।

२. सोद्देश्य टीकाकृतियाँ—उनकी समस्त टीकाकृतियों की सृष्टि एक विशिष्ट उद्देश्य को लेकर हुई है, पाण्डित्य प्रदर्शन उनका ध्येय नहीं था। वे पाण्डित्यप्रदर्शन के काल में हुए तथा एक सफल व्याख्याकार के रूप में उन्होंने विभिन्न टीकाओं की रचना के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। प्रत्येक टीका के आरम्भ में उन्होंने अपने उद्देश्य को स्पष्ट घोषित किया है। आत्मख्याति टीका की रचना का उद्देश्य घोषित करते हुए वे लिखते हैं—"परपरणति (विकारदशा) का कारण मोहनामक कर्म है, जिसके अनभव से मेरी परिणति मलिन होती रही है, अब इस समयसार की व्याख्या द्वारा मेरी परिणति परमविशुद्धि को प्राप्त होवे। मैं द्रव्यदृष्टि से शुद्धचैतन्यमात्रमूर्ति हूँ।[1] इसी तरह तत्त्वप्रदीपिका

१. आत्मख्याति, समयसार, कलश, पद्य क्रमांक ३

टीका का लक्ष्य स्पष्ट करते हुए कहा है– "परमानन्दरूप अमृतरस के पिपासु, भव्यजीवों के हित के लिए, वस्तुतत्त्व को स्पष्ट दर्शानेवाली प्रवचनसार की यह टीका रची जा रही है।[1] समयव्याख्या का उद्देश्य व महिमा इस प्रकार है कि यह समयव्याख्या टीका सम्यग्ज्ञान रूपी निर्मल ज्योति को जन्म देने वाली (जननी) है तथा दोनों (निश्चय-व्यवहार) नयों के आश्रय से रची गई है, इसे संक्षेप में कहा जाता है।[2] तत्त्वार्थसार टीका के आरम्भ में भी यह लक्ष्य स्पष्ट घोषित है कि अब मोक्षाभिलाषी जीवों (मुमुक्षुओं) के कल्याण के लिए, मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने हेतु दीपक के समान यह तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ अत्यंत स्पष्ट रूप से कहा जाता है।[3] इस तरह विभिन्न ग्रन्थों के मर्म का रहस्योद्घाटन करने और अपने घोषित उद्देश्यों को पाने में वे सफल हुए हैं। उनकी उपलब्ध टीकाकृतियां उनकी सफलता की द्योतक हैं।

३. **संस्कृत गद्य तथा पद्य साहित्य की विभिन्न शैलियों का प्रयोग**– व्याख्याकार के रूप में उन्होंने अपने भाष्यों में संस्कृतगद्य तथा पद्य साहित्य की विभिन्न शैलियों का सफल प्रयोग किया है। कुछ नवीन शैलियों के वे पुरस्कर्ता भी हैं। उनकी टीकाओं में कुछ उपलब्ध प्रमुख शैलियों के नाम इस प्रकार है– व्युत्पत्ति-अर्थशैली, नयशैली, हेतुपुरस्सर शैली, दृष्टांत व दार्ष्टांत शैली, "दृष्टांत में तर्क, तर्क में प्रश्न, प्रश्न में समाधान व्याख्या शैली, प्रश्न शैली, तर्कसापेक्ष शैली, अनुमान पंचावयवशैली, शैली", न्याय शैली, अनेकांतरूप कथन शैली, प्रत्यभिज्ञान शैली, सूत्ररूप कथन शैली, समासविग्रह परक शैली, समासबहुलदीर्घ वाक्यावलि युक्त शैली तथा तुलनात्मक कथन शैली आदि। इन शैलियों का सप्रमाण आकलन हम आगे यथासमय सविस्तार करेंगे, फिर भी उदाहरण के रूप में कुछ शैलियों का प्रयोग इस प्रकार है—

व्युत्पत्ति या निरुक्तिपरक शैली –आचार्य अमृतचन्द्र ने जहां जहां मूल शब्द के रहस्य को प्रकट करना चाहा, वहाँ उक्त शैली का प्रयोग किया है। यथा - समयसार की टीका प्रारम्भ करते समय "समय" शब्द की गम्भीरता को प्रकट करते हुए लिखा है "समयतेएकत्वेन युगपज्जा-

---

१. तत्त्वप्रदीपिका, पद्य क्रमांक ३

२. समयव्याख्या, पद्य क्रमांक ३

३. तत्त्वार्थसार, पद्य नं. २

नाति, गच्छति चेति निरुक्तेः" अर्थात् *"समय शब्द का अर्थ है एकत्व* रूप से साथ साथ जाने तथा गमन (परिणमन) करे।[1] उक्त शब्द की व्याख्या का स्पष्टीकरण करते हुए पुनः लिखा है– "समयशब्देनात्र सामान्येन सर्वएवार्थोऽभिधीयते। समयते एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः। अर्थात् यहां "समय शब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं क्योंकि व्युत्पत्ति के अनुसार समयते अर्थात् एकीभाव से अपने गुण पर्यायों को प्राप्त होकर जो परिणमन करे वह समय है।[2] "द्रव्य" शब्द की व्याख्या भी इसी शैली में की गई है।[3]

सरलार्थ शली—उक्त "समय" शब्द का ही अन्य प्रकरण में सरलार्थ करते हुए समय का अर्थ आगम किया है, यथा - "समयो हि आगमः"।[4] श्रमण पद का अर्थ महाश्रमण या सर्वज्ञ–वीतरागदेव किया है यथा– "श्रमणा हि महाश्रमणाः सर्वज्ञवीतरागाः।[5] आचार्य अमृतचन्द्र प्रत्येक शब्द का प्रकरणानुसार जहां जो अर्थ अभिप्रेत है वह अर्थ करने में कुशल हैं। व्याख्याकार की सफलता भी इसी में है। एक स्थल पर "समय" शब्द का प्रयोग दर्शन या मत के रूप में करते हुए सांख्यदर्शन को *"सांख्यसमय"*[6] पद से अभिहित करते हैं। अन्यत्र समय पद का प्रयोग "काल" के पर्यायवाची अर्थ में भी करते हैं। यथा – "ज्ञानसमयेऽनादि ज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात्"[7] इस वाक्य में "ज्ञानसमये" पद का अर्थ "ज्ञान के काल में" अभिप्रेत है। इसी तरह एक स्थल पर "समय" शब्द का प्रयोग आत्मा के अर्थ में किया है यथा–"नमः समय साराय"[8] अर्थात् शुद्ध आत्मा को नमस्कार हो। इस तरह यथोचित यथार्थ शब्द प्रयोग की चातुरी उनके व्याख्याता पद को महत्त्वपूर्ण बनाती है।

नयशैली– नय शैली में द्रव्य के स्वरूप का मार्मिक, गम्भीर, दार्शनिक तथा सुस्पष्ट व्याख्यान करते हुए वे लिखते हैं कि वास्तव में सभी वस्तुओं का स्वरूप सामान्य विशेषात्मक होने से वस्तुस्वरूप दृष्टाओं

---

१. समयसार गाथा २ की टीका, पृष्ठ ६ २. वही, गाथा ३ की टीका, पृष्ठ ११
३. पंचास्तिकाय गाथा ६ की टीका, पृष्ठ २५
४. पंचास्तिकाय गाथा २ की टीका। ५. वही, गाथा २ की टीका।
६. समयसार गाथा ३४४ की आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ४७१
७. वही, गाथा ३४४ पृष्ठ ४७२
८. आत्मख्याति, समयसारकलश प्रथम।

के सामान्य और विशेष को जानने वाली क्रमशः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय रूप दो आँखें होती हैं। इनमें पर्यायार्थिक नयचक्षु को सर्वथा बन्द करके केवल द्रव्यार्थिक नयचक्षु को खोलकर देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्यायरूप भेदों में अवस्थित एक जीवसामान्य को देखने वाले तथा भेदों को न देखने वाले जीवों को "सभी जीवद्रव्य है" ऐसा प्रतिभासित होता है। और जब द्रव्यार्थिक नयचक्षु को सर्वथा बन्द करके केवल पर्यायार्थिक नयचक्षु को खोलकर देखा जाता है तब जीवद्रव्य में नारकत्वादि भेद देखने तथा सामान्य को न देखने वाले जीवों को (वह जीवद्रव्य) अन्य अन्य प्रतिभासित होता है, क्योंकि द्रव्य उन उन विशेषों से तन्मय होने से उन उन भेदों से अनन्य है। जैसे कण्डे, पत्ते और काष्ठमय अग्नि। और जब द्रव्यार्थिक व पर्यायार्थिक नय रूप दोनों ही चक्षुओं को खोलकर उनके द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व आदि में रहने वाला जीव सामान्य तथा जीवसामान्य में रहने वाले नारकत्व आदि विशेष एक काल में ही दिखाई देते हैं। वहां एक आँख से देखा जाना एकदेश अवलोकन है तथा दोनों आँखों से देखा जाना सर्वावलोकन है। इसलिए सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते।[1] उक्त गद्यांश में

---

१. प्रवचनसार गाथा ११४ की तत्त्वदीपिका टीका—"सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुपपद्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकांतनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ् मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यमेकमवलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वंजीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यङ् मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति। द्रव्यस्य तत्तद्विशेष काले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गुणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्। यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते।

गम्भीर दार्शनिकता के साथ ही अमृतचन्द्र के प्रौढ़तम गद्य, सामासिक सालंकृत शैली एवं विद्वत्ता की स्पष्ट झलक मिलती है जो उन्हें उच्चकोटि का व्याख्याकार सिद्ध करती है।

सुगम व्याख्या शैली—ज्ञान को मोक्ष का कारण सिद्ध करते हुए सुगम व्याख्याशैली में वे लिखते हैं—"ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोरबंधहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः। तत्तु सकलकर्मादिजात्यंतरविविक्तचिज्जातिमात्रः परमार्थ आत्मेति यावत्। स तु युगपदेकीभावप्रवृत्तज्ञानगमनमयतया समयः, सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञानतया शुद्धः, केवलचिन्मात्रवस्तुतया केवली, मननमात्रभावतया मुनिः, स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी, स्वस्य भवनमात्रतया स्वभावः, स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तु भेदः।"[1] इसी शैली में अन्यत्र "जीवों को वास्तविक मोक्ष का कारण ज्ञान है" यह बतलाते हुए वे लिखते हैं–

"मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादि श्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वाभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थं मोक्षहेतुः।"[2] इसी तरह सरलतम, सुगमतम तथा

---

१. समयसार गाथा १५१ टीका, अर्थः–ज्ञान मोक्ष का कारण है क्योंकि वह शुभाशुभ कर्मों के बन्ध का कारण न होने से उसके इस प्रकार मोक्ष का कारणपना बनता है। वह ज्ञान समस्त कर्म आदि जातियों से भिन्न चैतन्य जातिमात्र परमार्थ (परमपदार्थ) है–आत्मा है। वह (आत्मा) एक ही साथ एक रूप से प्रवर्तमान ज्ञान और गमन स्वरूप होने से समय है, समस्त नयपक्षों से अमिश्रित एक ज्ञानस्वरूप होने से शुद्ध है, केवलचिन्मात्र वस्तुस्वरूप होने से केवली है, केवल मनन मात्र (ज्ञानमात्र) भावस्वरूप होने से मुनि है, स्वयं ही ज्ञानस्वरूप होने से ज्ञानी है, स्व का भवनमात्र स्वरूप होने से स्वभाव है अथवा स्वतः चैतन्य का भवनमात्रस्वरूप होने से सद्भाव है, इस प्रकार शब्दभेदहोने पर भी वस्तुभेद नहीं है।

२. वही, गाथा १५५ की टीका, अर्थः–मोक्ष का कारण वास्तव में सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र है। वहां, सम्यग्दर्शन तो जीवादि पदार्थों के श्रद्धानस्वभाव रूप ज्ञान का होना (परिणमन करना) है, जीवादि पदार्थों के ज्ञानस्वभावरूप ज्ञान का होना ज्ञान है, रागादि के त्याग स्वभाव रूप ज्ञान का होना सो चारित्र है। अतः इस प्रकार सम्यक्दर्शनज्ञानचारित्र तीनों एक ज्ञान का ही भवन (परिणमन) है, इसलिए ज्ञान ही परमार्थ (वास्तविक) मोक्ष का कारण है।

सुगमतम तथा लघुत्तम वाक्यावलि के प्रयोग द्वारा सुग्राह्य, सुबोध तथा सुन्दरगद्य का श्रेष्ठ नमूना एक स्थल पर उपलब्ध होता है जहां वे ज्ञानी के धर्म (पुण्य) का परिग्रह नहीं होता "इस बात की सिद्धि करते हुए लिखते हैं:-

"इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति, यस्येच्छा नास्ति। इच्छा त्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो ज्ञानमय एवं भावोऽस्ति। ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद्धर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनो धर्म परिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद्-धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात्।"[1] यह है अमृतचन्द्र की सुगमव्याख्या शैली एवं श्रृंखलाबद्ध कथन का नमूना।

प्रश्नोत्तर शैली— इस शैली में अमृतचन्द्र के गद्य का मनोहारि रूप देखने को मिलता है, साथ उनके गम्भीर दार्शनिक सैद्धांतिक ज्ञन तथा अनोखी तर्क शक्ति का भी परिचय प्राप्त होता है। कर्तृत्वगुण के व्याख्यान में जीव के परभावों के कर्तृत्व का निषेध तथा स्वभाव के कर्तृत्व का समर्थन करते हुए वे लिखते हैं:- जीवा हि निश्चयेन परभावानामकरणात्स्वभावानां कर्तारो भविष्यन्ति। तांश्च कुर्वाणाः किमनादिनिधनाः, किं सादिसनिधनाः, किं साद्यनिधनाः, किं तदाकारेण परिणताः, किमपरिणताः भविष्यंतीत्याशक्येदमुक्तं। जीवा हि सहज चैतन्य लक्षण पारिणामिक भावेनानादिनिधनः। त एवौदयिक क्षायोपशमिकौपशमिकभावैः सादिसनिधनाः। त एव क्षायिकभावेन साद्यनिधनाः। न च सादित्वात्सनिधनत्वं क्षायिक भावस्याशंक्यम् स खलूपाधिनिवृत्तौ प्रवर्तमानः सिद्धभाव इव सद्भाव एव जीवस्य सद्भावेन चानन्ता एव जीवाः प्रतिज्ञायंते। न च तेषामनादिनिधनसहज चैतन्य लक्षणैक भावानां सादिसनिधनानि साद्यनिधनानि भावांतराणि नोपपद्यंत इति वक्तव्यम्,

---

१. समयसार गाथा २१० की टीका- (अर्थ-"इच्छा परिग्रह है। उसके परिग्रह नहीं है जिसके इच्छा नहीं है। इच्छा तो अज्ञानमय भाव है और अज्ञानमय भाव ज्ञानी के नहीं होता, ज्ञानी के ज्ञानमय ही भाव होता है, इसलिए अज्ञानमय भाव-इच्छा के अभाव होने से ज्ञानी धर्म (पुण्य) को नहीं चाहता, इसलिए ज्ञानी के धर्म का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव के कारण यह (ज्ञानी) धर्म का केवल ज्ञायक ही है।

ते खल्वनादि कर्ममलीमसाः पंकसंपृक्त तोयवत्तदाकारेण परिणतत्वात्पंच-प्रधानगुणप्रधानत्वेनैवानुभूयंत इति ।"[1] अन्यत्र प्रश्नोत्तर शैली में दृष्टांत तथा तर्क का सुन्दर प्रयोग करते हुए स्वात्मा में क्रिया के होने में विरोध है इसलिए आत्मा के स्वज्ञायकता कैसे घटित होती है ? इस प्रश्न का उत्तर एक असाधारण व्याख्याकार की प्रतिभा के प्रदर्शन के साथ दिया है– यथा– "ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथ नामात्म-परिच्छेदकत्वम् । का हि नाम क्रिया ? की दृशश्च विरोधः ? क्रिया हि अत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्ति रूपा वा । उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाविरुद्धैव । ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशन क्रिययैव प्रत्यवस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतारः । यथा हि प्रकाशकस्य परं प्रकाश्यतामापन्नं प्रकाशयतः स्वस्मिन् प्रकाश्ये न प्रकाशकान्तरं मृग्यं स्वयमेव प्रकाशनक्रियायाः समुपलम्भात् । तथा परिच्छेदकस्यात्मनः परं परिच्छेद्यतामापन्नं परिच्छिन्दतः स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेद्यकान्तरं मृग्य, स्वयमेव परिच्छेदनक्रियायाः समुपलम्भात् । ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेय-रूपत्वं च ? परिणाम संबंधत्वात् । यतः खलु आत्मा द्रव्याणि च परिणामैः

---

१ पंचास्तिकाय गाथा ५३ की टीका:— निश्चय से जीव परभावों का अकर्ता होने से स्वभावों के कर्ता होते हैं और उन्हें (अपने भावों को) करते हुए क्या वे अनादि अनंत हैं ? क्या सादि अनंत हैं ? क्या तदाकाररूप परिणत हैं ? क्या तदाकार रूप अपरिणत हैं ? ऐसी आशंका उठाकर यह कहा गया है– कि जीव वास्तव में सहज चैतन्य लक्षण पारिणामिक भाव से अनादि अनंत है । वे ही औदयिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावों से सादि सांत हैं । वे ही क्षायिकभाव से सादि अनंत हैं । "क्षायिक भाव सादि होने से सांत होगा ?" ऐसी आशंका करना योग्य नहीं है । (कारण कि) वह वास्तव में उपाधि की निवृत्ति होने पर प्रवर्तता हुआ सिद्धभाव की भांति, जीव का सद्भाव ही वे, और सद्भाव से जीव अनंत ही स्वीकार किये जाते हैं । तथा अनादिअनंत सहजचैतन्यलक्षण एक भाववाले उन्हें सादि सांत और सादि अनंत भावान्तर घटित नहीं होते, ऐसा कहना योग्य नहीं है; (क्योंकि) वे वास्तव में अनादि कर्म से मलिन वर्तते हुए कीचड़ से सहित (सम्पर्कयुक्त) जल की भांति तदाकार रूप परिणत होने के कारण पांच प्रधानगुणों से प्रधानतावाले ही अनुभव में आते हैं ॥ ५३ ॥

सह संबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयकारेण परणतिरबाधिता प्रतपति ॥ ३६ ॥[1]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से अमृतचन्द्र का व्याख्याकार का रूप भलीभांतिप्रगट हो जाता है।

४. **एक ही पद्य के अनेक अर्थ** — अमृतचन्द्र एक ही पद के प्रकरण-वशात् अनेक अर्थ करके संबंधित पद में निहित अभिप्राय को बड़ी कुशलता के साथ प्रदर्शित करते है। प्रवचनसार में ज्ञेयतत्व प्रज्ञापन में "अलिंग-ग्रहण" पद के २० अर्थ किये हैं।[2] इसी पद का अर्थ समयसार के जीव अजीव अधिकार में ७ भेद तथा ४२ प्रभेदों द्वारा किया है।[3] प्रचास्तिकाय के मोक्षमार्ग-प्रपंचवर्णन प्रकरण में अलिंगग्रहण का अर्थ

---

१. प्रवचनसार-ज्ञानतत्त्वप्रज्ञापन — गाथा ३६ की तत्त्वप्रदीपिका टीका १-अर्थात् (अपने में क्रिया के होने का विरोध है, इसलिए आत्मा के स्वज्ञायकता कैसे घटित होती है ? (उत्तर) कौनसी क्रिया है और किस प्रकार का विरोध है ? जो यहां (प्रश्न ये) विरोध क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप होगी या ज्ञप्तिरूप होगी। प्रथम, उत्पत्तिरूप क्रिया "कोई स्वय अपने में से उत्पन्न नहीं हो सकती" इस आगम कथन से विरुद्ध ही है, परन्तु ज्ञप्तिरूप क्रिया में विरोध नहीं आता क्योंकि वह प्रकाशन क्रिया की भांति उत्पत्ति क्रिया से विरुद्ध प्रकार की होती है। जैसे जो प्रकाश्यभूत पर को प्रकाशित करता है ऐसे प्रकाशक दीपक को स्वप्रकाश्य को प्रकाशित करने के संबंध में अन्य प्रकाशक की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उसके स्वयमेव प्रकाशन क्रिया की प्राप्ति है, इसी प्रकार जो ज्ञेयभूत पर को जानता है ऐसे ज्ञायक आत्मा को स्वज्ञेय के जानने के सम्बन्ध में अन्य ज्ञायक की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि स्वयमेव क्रिया की प्राप्ति है। (प्रश्न) आत्मा को द्रव्यों की ज्ञानरूपता और द्रव्यों को आत्मा की ज्ञेयरूपता किस प्रकार घटित है ? उत्तर — वे परिणाम वाले होने से (घटित है)। आत्मा और द्रव्य परिणामयुक्त हैं, इसलिए आत्मा के, द्रव्य जिसका आलंबन है ऐसे ज्ञानरूप से और द्रव्यों के, ज्ञान का आलंबन लेकर ज्ञेयाकार रूप से परिणत अबाधित रूप से तपती है – प्रतापवन्त वर्तती है।

२. प्रवचनसार गाथा १७२ की तत्त्वप्रदीपिका टीका।

३. समयसार गाथा ४६ की आत्मख्याति टीका।

अन्य प्रकार से किया है।[1] अन्यत्र 'युक्ताहार" शब्द के आठ अर्थ किये हैं।[2] समय पद के अनेक अर्थों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। स्यात् पद का प्रयोग अस् धातु के विध्यर्थक अन्यपुरुष एक वचन के रूप में[3] तथा अन्यत्र उसे अव्यय या निपात रूप में किया है। स्यात् पद सर्वथापने का निषेधक, अनेकांत का द्योतक, कथंचित् अर्थ वाचक अव्यय शब्द है।[4] इस प्रकार कई पदों के अनेक अर्थ करके आपने सूक्ष्म-अर्थ अवबोधक दृष्टि का परिचय दिया है।

५. पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग— एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग में भी वे सक्षम रहे हैं। स्वर्ग के लिए कनक, कातंस्वर, सुवर्ण हेम, कांचन, जांबूनद, कल्याण आदि पर्यायवाची शब्द प्रवचनसार की टीका में उपलब्ध हैं।[5] समयसार में "चामीकर" शब्द भी स्वर्ण हेतु प्रयुक्त है।[6] अग्नि के लिए जातवेदस्, पाक, धूमध्वज, अनल, हव्यवाह, कुकूल, अंगार, सप्तार्चि आदि शब्द प्रयुक्त हैं।[7] व्यय पदवाची निमग्न, निमज्जति, उच्छेद, उच्छन्न, प्रलीन, संहार, अवसान, प्रध्वस्त, भग, विलय, असद्भूत शब्द तथा उत्पाद पदवाची उन्मग्न, उन्मज्जति, संभूति, सर्गः, प्रादुर्भाव, प्रभव, संभव सद्भूत शब्द प्रयुक्त हैं।[8] "कहा गया है" अर्थ प्रकाशनार्थ आम्नातम्, उपन्यस्तम्, उक्तम्, आख्यातम्, उदितम्, अभिहितम्, विवक्ष्यते व अभिधीयते, पदों का प्रयोग किया है।[9] इस तरह पर्यायवाची पद प्रयोग में भी अमृतचन्द्र कुशल हैं। इसकारण से उनकी व्याख्याएं भावस्पष्टीकरण में भी अनूठी हैं। जहां आवश्यक

---

१. पंचास्तिकाय गाथा १२७ की समयव्याख्या टीका।
२. समयसार गाथा २२६ की टीका।
३. वही गाथा २३, २४, २४ तथा ६१ की आत्मख्याति टीका।
४. पंचास्तिकाय गाथा १४ की टीका।
५. प्रवचनसार गाथा ६१, ६६, ८७, १११, ११३, १८ तथा ७७ की टीकाएं।
६. समयसार गाथा ३८
७. प्रवचनसार गाथा ३५, ५, ४१, ६३, ११४, १५३, २६८, २७५
८. प्रवचनसार गाथा ६६,६८,१००,१११,११६,३७ की टीका।
९. पंचास्तिकाय ४

समझते हैं, जहां वे संबंधित प्रकरण के विवेचन के बाद तात्पर्य अर्थ देकर भी विषय स्पष्टीकरण करते हैं।[1]

६. **मार्मिक सम्बोधन** — एक सफल सहृदय व्याख्याकार के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र अपनी टीकाओं में पद पद अत्यंत मार्मिक संबोधन करते चलते हैं, पाठकों को गम्भीर, महत्वपूर्ण प्रेरणा भी देते हैं, जिससे उनके व्याख्याता पद की शोभा और भी बढ़ जाती है। ये हैं उनके कुछेक मार्मिक प्रेरणा वाक्य – प्रसन्न हो जा, सावधान हो जा, तत्व-कौतुहली बन, कोलाहाल बन्द कर, ६ मास अनुभव का अभ्यासकर, शांतरस-ज्ञानसमुद्र में मग्न हो जावो, लाख बात की बात सुनो, एक बार भूतार्थ को ग्रहणकर, भेदज्ञानकला का अभ्यास कर, प्रमाद क्यों करता है, क्लेश क्यों पाता है. रागद्वेष का क्षयकर, अमृतरस को अन्त-काल तक पिओ, अधिक जल्प (बकवास या विकल्प) मत कर, सांख्यवत् अपने को कर्तामत मान, तब मोह को छोड़ो, यह अपद है अपद है, यह पद है, "नशा में चूर, नींद से भरपूर जो अनादि हैं इत्यादि।[2] अमृतचन्द्र जहां एक ओर मधुर, मार्मिक, महत्वपूर्ण शब्दों से प्रेरणा करते हैं वहां दूसरी ओर कहीं कहीं कठोर शब्दों का भी प्रयोग करते हैं यथा – रे दुरात्मन्, आत्मपंसन् (आत्मघाती), नयविभागानभिज्ञोसि, दुर्मेधसः ते अद्यापि पापाः, ते मिथ्यादृशो – आत्महनो भवन्ति, अज्ञानिनः एवं व्यवकार विमूढाः, बत ते बराकः,[3] ज्ञानं पशो, सीदति, पशु पशुरिव स्वच्छंदमाचेष्टते, पशुर्नश्यति, ज्ञान पशुर्नेच्छति, पशुः किल परद्रव्येषु विश्रम्यति, तुच्छीभूय पशु प्रणस्यति, अत्यंततुच्छः पशुः सीदति, स्वैरं पशुः क्रीडति, इति – अज्ञानविमूढानां····[4], इत्यादि। उक्त कठोर संबोधनों में भी जगज्जनों को जागृत करने की हितकारी भावना निहित है।

७. **दृष्टांत बहुलता** — उनकी टीकाओं में दृष्टांतों, का बाहुल्य है, जिसके कारण गूढ़तम, दार्शनिक सैद्धांतिक गुत्थियों को सुलझाने में उन्हें

---

१. प्रवचनसार गाथा १५१ टीका "इदमत्र तात्पर्यं आत्मनोऽर्थस्य विभक्त सिद्धये व्यवहार जीवत्व हेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेतव्याः।"

२. समयसार २५, ३८, ४४, ८६, २०२, ३४४, ३५५, ३७१, ४१४ गाथाओं की टीका तथा उनमें आगत कलश।

३. समयसार २५, २६, ४३, २००, २५६, ३२७ गाथाओं की टीका।

४. समयसार कलश– क्रमांक २४८ से २६२ तक।

अपूर्व सफलता मिली है। उन्होंने आत्मख्याति टीका में १०० से अधिक सुन्दर एवं मनोहारि दृष्टांतों का प्रयोग किया है। इस तरह प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में १२५ के लगभग और पंचास्तिकाय में ३५ के लगभग दृष्टांतों का प्रयोग कर अपने भाष्यों को सुगम एवं सरल बनाया है। यहां कुछ दृष्टांतों की सुन्दरता प्रदर्शित की जाती है। एक स्थल पर आत्मा को पुद्गल कर्म का अकर्ता सिद्ध करने हेतु वे मिट्टी के घड़े का स्पष्ट दृष्टांत प्रस्तुत करते हुए लिखते है – "यथा खलु मृण्मये कलश कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतर संक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः, द्रव्यांतर संक्रमयंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति। तथा पुद्गलमय ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणांतरसंक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते, द्रव्यांतरसंक्रममंतरेणान्यस्य वस्तुनः परिणमयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात् ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता।"[1]

इसी प्रकार शुभ अशुभ दोनों कर्मों का निषेध करने हेतु वे सुन्दर दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं — "यथा खलु कुशलः कश्चिद्-

---

१. समयसार गाथा १०४ की टीका — अर्थ "जैसे मिट्टीमय कलशरूप कार्य मिट्टी द्रव्य और मिट्टीगुण में निजरस से ही वर्तता है, उसमें कुम्हार अपने को (या अपने गुण को) मिलाता नहीं है क्योंकि (किसी वस्तु का) द्रव्यांतर या गुणांतर रूप में संक्रमण होने का वस्तुस्थिति से ही निषेध है, द्रव्यांतर रूप में संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से, अपने द्रव्य और गुण दोनों को उस घटरूपी कार्य में न डालता हुआ वह कुम्हार परमार्थ से उसका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता। इसी प्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य तथा पुद्गलगुणों में निजरस ही वर्तता हुआ उसमें आत्मा अपने द्रव्य या अपने गुण को वास्तव में मिलाता नहीं है क्योंकि द्रव्यांतर और गुणांतर में संक्रमण होना अशक्य है, द्रव्यांतर रूप में संक्रमण प्राप्त किये बिना अन्य वस्तु को परिणमित करना अशक्य होने से अपने द्रव्य और गुण दोनों को ज्ञानावरणादि कर्मों में न मिलाता हुआ, वह आत्मा परमार्थ से उसका कर्ता कैसे हो सकता है? (अर्थात् कभी नहीं हो सकता) इसलिए वास्तव में आत्मा पुद्गलकर्मों का अकर्ता सिद्ध हुआ।

वनहस्तीस्वस्व बन्धाय उपसर्प्पन्ती चटुलमुखीं मनोरममममनोरमां या करेणु कुट्टनी तत्त्वत; कुत्सितशीलां विज्ञायतया सह रागसंसर्गं प्रतिषेधयति, तथा किलात्मा रागो ज्ञानी स्वस्य बन्धाय उपसर्प्पन्तीं मनोरममममनोरमां वा सर्वमपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गो प्रतिषेधयति।[1] एक स्थल पर ज्ञान की सामर्थ्य के कारण ज्ञानी कर्म बन्ध को प्रप्त नहीं होता – इसका स्पष्टोकरण वे एक अत्यंत आकर्षक दृष्टांत देकर करते हैं – यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपमुंजानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागदिभावसद्भावेन बन्धकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुंजानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात्, रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वान्न बध्यते ज्ञानी।"[2] आगे वैराग्य शक्ति को दिखाते हुए लिखा है – "यथाकश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्ररतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्ररतिभावसामर्थ्यान्न माद्यति, तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्ततीव्रविरागभावः सन् विषयानुपभुंजानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी।[3] इस प्रकार यद्यपि उपरोक्त दृष्टांत

---

१. समयसार गाथा १४६ की टीका (अर्थ-जैसे कोई जंगल का कुशल हाथी अपने बन्धन के लिए निकट आती हुए सुन्दर मुखवाली मनोरम या अमनोरम हथिनीरूप कुट्टिनी को परमार्थतः बुरी जानकर उसके साथ राग या संसर्ग नहीं करता, इसी प्रकार आत्मा अरागीज्ञानी होता हुआ अपने बन्ध के लिए समीप आने वाली मनोरम या अमनोरम (शुभ या अशुभ) सभी कर्मप्रकृतियों को परमार्थतः बुरी जानकर उनके साथ राग तथा संसर्ग नहीं करता।)

२. जिस प्रकार कोई विषवैद्य, दूसरों के मारण के कारणभूत विष को भोगता हुआ भी, अमोघ (रामबाण) विद्या की सामर्थ्य से विषशक्ति के निरुद्ध होने से, नहीं मरता, इसी प्रकार अज्ञानियों को, रागादिभावों का सद्भाव होने से बन्ध के कारण पुद्गलकर्म के उदय को भोगता हुआ भी, ज्ञानिअमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादिभावों का अभाव होने से कर्मोदय की शक्ति रुक जाने से; बन्ध को प्राप्त नहीं होता। (समयसार गाथा १६५ की टीका)

३. जैसे कोई पुरुष, मदिरा के प्रति तीव्र अरतिभाव से प्रवर्तता हुआ, मदिरा को पीने पर भी, तीव्र अरतिभाव की सामर्थ्य के कारण मतवाला नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी भी, रागादिभावों के अभाव से सर्व द्रव्यों के उपयोग के प्रति तीव्र वैराग्य भाव से प्रवर्तता हुआ, विषयों को भोगता हुआ भी तीव्र वैराग्य भाव की सामर्थ्य के कारण कर्मबन्ध को प्राप्त नहीं होता। (समयसार गाथा १६६ टीका)

अमृतचन्द्र के व्याख्याकौशल को प्रमाणित करने हेतु पर्याप्त है तथापि यहां एक और सर्वोत्तम गद्यांश उद्धरण स्वरूप प्रस्तुत है। इसमें दृष्टांत का समुचित प्रयोग, सालंकृत गद्य सौन्दर्य, रूपक एवं अनुप्रास अलंकारों की छटा, तर्क की विलक्षणता, सामासिक प्रयोग चातुरी, प्रौढ़तम भाषा तथा अनुपम व विलक्षण गद्य का नमूना देखते ही बनता है। इसमें आत्मा के सुखस्वभाव की सिद्धि दृष्टांतों द्वारा की गई है – यथा – "यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभारभास्वरस्वरूप विकस्वरप्रकाशशालितया तेज; यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवन्नित्यमेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्णः यथा च देवगति नामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तित्वभावतया देवः। तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थनिर्वितथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञानं, तथैव चात्मतृप्तिसमुपजातपरिनिर्वृत्तिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं, तथैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भोत्कीर्ण समुदीर्णद्युतिस्तुतियोगिदिव्यात्मस्वरूपत्वाद्देवः। अतोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषयैः पर्याप्तम्। इति आनन्दप्रपञ्चः।"[1] उपरोक्त गद्यांश की अंतिम पंक्ति में बीस पदों[2] का

---

१. प्रवचनसार गाथा ६८ की टीका :— अर्थ – जैसे आकाश में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही सूर्य स्वयमेव अत्यधिक प्रभा समूह से चमकते हुए स्वरूप के द्वारा विकसित, प्रकाशयुक्त होने से तेज है, कभी उष्णतारूप परिणमित लोहे से तेज है, कभी उष्णतारूप परिणमित लोहे के गोले की भांति सदा उष्णता परिणाम को प्राप्त होने से उष्ण है और देवगति नामकर्म के धारावाहिक उदय के वशवर्ती स्वभाव से देव है, इसी प्रकार लोक में अन्यकारण की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान् आत्मा स्वयमेव स्वपर को प्रकाशित करने समर्थ सच्ची अनन्तशक्तियुक्त सहज संवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है, आत्मतृप्ति से उत्पन्न होने वाली परिनिर्वृत्ति (परिपूर्णता-मोक्ष) से प्रवर्तमान अनाकुलता में सुस्थितपने के कारण सौख्य है और जिन्हें आत्मतत्त्व की उपलब्धि निकट है ऐसे बुधजनों मनरूपी शिलास्तम्भ में जिसकी अतिशय द्युति-स्तुति उत्कीर्ण है ऐसा दिव्यआत्मस्वरूपवान् होने से देव है। इसलिए इस आत्मा को सुखसाधनाभास के विषयों से बस हो।

२. बीस पदों वाला एक बृहद्पद इस प्रकार है:— "च + आसन्न + आत्म + तत्त्व + उपलम्भ + लब्ध + वर्ण + जन + मानस + शिला + स्तम्भ + उत्कीर्ण + समुदीर्ण + द्युति + स्तुति + योगि + दिव्य + आत्म + स्वरूपत्वात् + देवः।
(प्रवचनसार गाथा ६८ की टीका)

एक बृहद् सामासिक पद है जो अनेक गद्यवैशिष्ट्यों से परिपूर्ण अमृतचन्द्र की असाधारण प्रतिभा का द्योतक है।

८. **अनेक प्रश्नों के उत्तर गर्भित करने की क्षमता**— व्याख्याकार के रूप में एक ही गाथा की टीका में अनेक प्रश्नों के उत्तर गर्भितकर अभिव्यक्त करने की उनमें अपूर्व-असाधारण क्षमता है। उदाहरणार्थ – समयसार में एक गाथा की टीका में ११ प्रश्नों के उत्तर गर्भित किये गये हैं।[1] अन्यत्र ७ प्रश्नों के उत्तर एक गाथा के भाष्य में व्यक्त किये हैं।[2] वे ११ प्रश्न क्रमशः इस प्रकार हैं – ग्रह या भूत कौन है ? रोग क्या है ?, रोग का फल क्या है ?, संसारी कैसे हैं ?, संसार में कैसे आचार्य सुलभ हैं ?, आत्मा स्पष्ट भिन्न कब दिखता है ?, आत्मा का शुद्धस्वरूप अनुभव में न आने के कारण क्या हैं ?, अनन्तकाल से सुलभ क्या रहा है ?, दुर्लभ क्या रहा है ?, कामभोगबन्धन की कथा कैसी है ?, अनुभव का कारण क्या है ? इनके उत्तर क्रमशः इस प्रकार है— महान्मोह भूत है, तृष्णा रोग है, दाहरूप अन्तर पीड़ा रोग का फल है, बैल की तरह भार ढोने वाले संसारी हैं, विषय समूह में फंसाने का मार्ग बताने वाले आचार्य सुलभ हैं, जब भेदज्ञानज्योति का प्रकाश होता है, तीन कारण हैं — कषायचक्र, अनात्मज्ञता तथा आत्मज्ञजनों की संगति व सेवा न करना, काम-भोग-बन्धन की कथा उनकी रुचि तथा अनुभूति सुलभ रही है, आत्मा का एकत्व स्वरूपानुभव दुर्लभ रहा है, एकत्वविभक्त आत्मा की विरोधी तथा अत्यंत विसंवाद कराने वाली है, अनुभव का कारण परिचय है – परिचय का कारण श्रवण है। इसी तरह वे एक ही तर्क द्वारा अनेक भ्रमों का निवारण भी करने में समर्थ हैं।[3]

गाथाओं की स्पष्टता के लिए वे सूत्रतात्पर्य तथा सिद्धांत तात्पर्य ऐसे दो प्रकार से अभिप्राय को स्पष्ट सूचित करते हैं जो एक सफलतम व्याख्याता की विशेषता है – यथा "अलं विस्तरेण। स्वस्ति साक्षान्मोक्ष-मार्गसारत्वेन शास्त्रतात्पर्यभूताय वीतरागत्वायेति। द्विविधं किल तात्पर्यम् — सूत्रतात्पर्यं शास्त्रतात्पर्यञ्चेति। तत्रसूत्रतात्पर्यं प्रतिसूत्रमेव

---

१. समयसार गाथा ४ की टीका।

२. वही, गाथा ५ की टीका।

३. समयसार गाथा ५५ की टीका।

प्रतिपादितम्। शास्त्रतात्पर्यं त्विदं प्रतिपाद्यते।[1] प्रत्येक गाथा की टीका आरंभ करते हुये "अत्र" पद प्रयोग द्वारा सूत्रतात्पर्य की सूचना (उत्थानिका में या प्रारंभिक पंक्ति में ही) करते हैं यथा—"अत्र पंचास्तिकायानां कालस्य च द्रव्यत्वमुक्तम्।"[2]

९. **अव्यय पदों आदि का प्रयोग**—उनकी टीकाओं में प्रायः सभी प्रकार के अव्यय पदों का, विभिन्न उपसर्गों का, अधिकांश प्रत्ययों, धातुरूपों तथा अप्रयुक्त क्लिष्ट शब्दों, विभिन्न अलंकारों, रसों, गुणों और छंदों का प्रयोग हुआ है।

१०. **बाणभट्ट की गद्य शैलियों का प्रयोग**—अपने पूर्ववर्ती सुप्रसिद्ध प्रौढ़तम गद्यलेखक बाणभट्ट के ग्रथों में प्रयुक्त गद्यशैलियों को आचार्य अमृतचद्र ने अपने असाधारण व्यक्तित्व द्वारा दार्शनिक सैद्धांतिक गुत्थियों को सुलझाते हुये बड़ी कुशलता के साथ प्रस्तुत किया है। यहां तुलनात्मक दृष्टि से कुछ गद्यशैलियों के उदाहरण दिये जाते हैं जिनसे अमृतचंद्र की प्रौढ़ता, क्षमता तथा व्याख्यानकला का भलीभांति परिचय होता है और वे बाणभट्ट की भांति प्रौढ़तम व्याख्याता प्रमाणित होते हैं।

कदाचित पद का बहुशः प्रयोग—"स कदाचिदनवरतदोलायमान रत्नवलयो घर्घरिकास्फालन प्रकम्पझणझणायमान मणिकर्णपूरः स्वयमारब्ध मृदंगवाद्यः संगीतक प्रसंगेन, कदाचिदविरलविमुक्तशरासार शून्यीकृत कानने मृगयाव्यापारेण, कदाचिदाबद्धविदग्धमण्डलः काव्यप्रबंधरचनेन, कदाचिच्छास्त्रालोपेन, कदाचिदाख्यानकाख्यायिकेतिहासपुराणाकर्णनेन, कदाचिदालेख्य विनोदेन, कदाचिद्वीणया, कदाचिद्दर्शनागतमुनिजनचरणशुश्रूषया, कदाचिदक्षरच्युतकमात्राच्युतकबिन्दुमतीगूढ़चतुर्थपादप्रहेलिकाप्रदानादिभिर्वनितासंभोगसुखपराङ्मुख सुहृत्परिवृतो दिवसमनेषीत्।"[3]

दर्शनाचरणाय कदाचित् प्रशाम्यतः, कदाचित् संविजमानः, कदाचिदनुकम्पमानाः, कदाचिदास्तिक्यमुद्वहन्तः ....।"[4]

"**इव**" **पद प्रयोग द्वारा उत्प्रेक्षा अलंकार**—"उपशांतवचसि शुकनासे चन्द्रापीडः ताभिरमलाभिः उपदेशवाग्भिः प्रक्षालित इव, उन्मीलित

---

१. पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका
२. पंचास्तिकाय गाथा ६ की टीका
३. कादम्बरी, पूर्वभाग, पृष्ठ १३
४. पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका

इव, स्वच्छीकृत इव, निर्भृत इव, अभिषिक्त इव, अभिलिप्त इव, अलंकृत इव, पवित्रीकृत इव, उद्भासित इव, प्रीतहृदयोमुहूर्तं स्थित्वा स्वभवनमाजगाम।"[1]

येऽत्रकेवलनिश्चयावलम्बिनः सकलक्रियाकर्मकाण्डाडम्बरविरक्तबुद्धयोऽर्धमीलितविलोचनपुटाः किमपि स्वबुद्ध्यावलोक्य यथासुखमासते ते खल्ववधीरित भिन्नसाध्यसाधनभावा अभिन्नसाध्यसाधनभावमलभमाना अंतराल एव प्रमादकादम्बरीमदभरालसचेतसो [मत्ता इव, मूर्च्छिता इव, सुषुप्ता इव, प्रभूतघृतसितोपलरायसासादित सौहित्या इव, समुल्वणबल सञ्जनितजाड्या इव, दारुणमनोभ्रंशविहितमोहा इव, मुद्रितविशिष्ट चैतन्या वनस्पतीयः इव·····केवलं पापमेव बध्नन्ति।"[2]

विभिन्न क्रियापदों का लघुवाक्यों के साथ प्रयोग—"मूढो हि मदनेनायास्यते। का वा सुखाशासाधुजननिन्दितेष्वेवंविधेषु प्राकृतजनबहुमतेषु विषयेषु भवतः। स खलु धर्मबुद्ध्या विषलतां सिञ्चति, कुवलयमालेतिनिस्त्रिंशलतामालिंगति, कृष्णागुरुधूमलेखति, कृष्णसर्पमवगूहति, रत्नमिति ज्वलंतमंगारमभिस्पृशति, मृणालमिति दुष्टवारणदन्तमुसलमुन्मूलयति, मूढो विषयोपभोगेष्वनिष्टानुबन्धिषु यः सुखबुद्धिमारोपयति।"[3]

"एतस्य शास्त्रस्यार्थभूतं शुद्धचैतन्यस्वभावात्मानं कश्चिज्जीवतावज्जानीते, ततस्तमेवानुगन्तुमुद्यमते, ततोऽस्य क्षीयते दृष्टिमोहः, ततः स्वरूपपरिचयादुन्मज्जति ज्ञानज्योतिः, ततो रागद्वेषौ प्रशाम्यतः, ततः उत्तरपूर्वंश्च बन्धो विनश्यति, ततः पूर्वबन्धहेतुत्वाभावात् स्वरूपस्थो नित्यं प्रतपतीति।"[4]

जिज्ञासा व्यक्त करने हेतु प्रश्नों की झड़ी—"कस्मिन्देशे भवान्कथं जातः, केन वा नाम कृतम्, का ते माता, कस्ते पिता, कथं वेदानामागमः, कथं शास्त्राणां परिचयः, कुतः कला आसादिताः, किंहेतुकं जन्मान्तरानुस्मरणम्, उत वरप्रदानम् अथवा विहङ्गवेषधारी कश्चिच्छन्नं निवससि, क्व वा पूर्वमुषितम्, कियद्वयः, कथं पञ्जरबन्धनम्, कथं चाण्डालहस्तगमनम्, इह वा कथमागमनम्।"[5]

---

१. कादम्बरी, पृष्ठ २३१
२. पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका
३. कादम्बरी, पृष्ठ ३२१
४. पंचास्तिकाय गाथा १०४ की टीका
५. कादम्बरी, पृष्ठ ३७

"तांश्च कुर्वाणाः किमनादिनिधनाः, किं सादिसनिधनाः किं साद्यनिधनाः, किं तदाकारेण परिणताः, किमपरिणताः भविष्यंतीत्याशंक्येदमुक्तम्।"[१]

"इव" पद प्रयोग द्वारा उपमालङ्कारमय वर्णन—"शरदमिव विकसितपुण्डरीकालोचनाम् प्रावृषमिव घनकेशजालाम्, मलयमेखलामिव चन्दनपल्लवावतंसाम्, नक्षत्रमालामिव विचित्रश्रवणाभरणभूषिताम्, श्रियमिव हस्तस्थितकमलशोभाम्, मूर्च्छामिव मनोहारिणीम्, अरण्यभूमिमिव रूपसंपन्नाम्, दिव्ययोषितमिवाकुलीनाम्, निद्रामिव सोचनग्राहिणीम्, अरण्यकमलिनीमिव मातङ्गकुलदूषिताम्, अमूर्तामिव स्पर्शवर्जिताम्, आलेख्यगतामिव दर्शनमात्रफलाम्, मधुमासकुसुम समृद्धिमिवाजातिम्, अनङ्गकुसुमचापलेखामिव मुष्टिग्राह्यमध्याम् यक्षाधिपलक्ष्मीमिवालकोद्भासिनीम्.....ददश।"[२]

"अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, सफरस्य बाडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः। यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगमयेत तदोपशांतशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरभस्य च वटाचूर्णावचूर्णनमिव, विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत। दृश्यते चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः।"[३]

दीर्घसमास पदावलि—"काव्यनाटकाख्यानकाख्यायिकालेख्यव्याख्यानादिक्रियानिपुणैरतिकठिनपीवरस्कन्धोरुबाहुभिरसकृदवदलितसमदरिपुगजघटापीठबन्धैः केशरिकिशोरकैरिव विक्रमैकरसैरपि विनयव्यवहारिभिरात्मनः प्रतिबिम्बैरिव राजपुत्रै सह रममाणः प्रथमे वयसि सुखमतिचिरमुवास।"[४]

"ईर्यासमितिपरिणतयतीन्द्रव्यापाद्यमानवेगापत्कालचोदितकुलिङ्गवत्बाह्यवस्तुनो बंधहेतुहेतोरबन्धहेतुत्वेन बंधहेतुत्वस्यानैकांतिकत्वात्। अतो न बाह्य वस्तु जीवस्यातद्भावो बन्धहेतुः अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बन्धहेतुः।"[५]

---

१. पंचास्तिकाय गाथा ५३ टीका
२. कादम्बरी, पृष्ठ २२-२३
३. प्रवचनसार, गाथा ६४ टीका
४. कादम्बरी, पृष्ठ १२
५. समयसार, गाथा २६५ की टीका

सालङ्कार क्लिष्ट पदयोजना— "शुककुलदलितदाडिमीफलद्रवाद्रीकृततलैरतिचपलकपिकम्पितकंकोलच्युतपल्लवफलशबलैरनवरतनिपतित कुसुमरेणुपांसुलैः पथिकजनरचितलवङ्गपल्लवसंस्तरैरतिकठोरनालिकेरकेतकीकरीरबकुलपरिगतप्रान्तैस्ताम्बूलीलतावनद्धपूगखण्डमण्डितैर्वनलक्ष्मीवासभुवनैरिव विराजिता लतामण्डपैः।[1]

"रजकशिलातलस्फाल्यमानविमलसलिलाप्लुतविहितोषपरिष्वङ्गमलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चयनयस्य भिन्नसाध्यसाधनभावाभावाद्दर्शनज्ञानचारित्र समाहितत्वरूपे विश्रांतसकल क्रियाकाण्डाडम्बर निस्तरंगपरमचैतन्यशालिनी निर्भरानन्दमालिनी भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूत्रयन्तः क्रमेण समुपजातसमरसीभावाः परमवीतरागभावमधिगम्य, साक्षान्मोक्षमनुभवन्तीति।"[2]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरणों से आचार्य अमृतचन्द्र का अद्वितीय व्याख्याकार का रूप प्रस्पष्ट हो जाता है जो उनके असाधारण व्यक्तित्व का एक और अभिन्न अंग है।

आचार्य अमृतचन्द्र तार्किक तथा नैयायिक के रूप में — आचार्य अमृतचन्द्र के बहुमुखी व्यक्तित्व का एक रूप तार्किक तथा नैयायिक भी है। वे उच्चकोटि के दार्शनिक विद्वान् तथा सफलतम व्याख्याता होने के साथ ही असाधारण तर्कशक्ति सम्पन्न थे। उनके तर्क अनूठे थे तथा न्याय अखण्डित था। उनकी समस्त कृतियो में उनकी विलक्षण तर्कशक्ति प्रस्फुटित हुई है। समयसार की आत्मख्याति टीका में उन्होंने स्वयं टीका के आरम्भ में इस बात की घोषणा की है कि वे अपने समस्त वैभव के साथ एकत्वविभक्त आत्मा का दिग्दर्शन कराते हैं। उनके वैभव के जन्म का एक आधार उनकी निर्बाध युक्तियां भी हैं। उनकी युक्तियां समस्त एकांत पक्षों को निराकृत करने में समर्थ है।[3] उनके तर्क निर्दोष तथा सबल हैं। तर्कों के द्वारा वे क्लिष्ट, दुर्गम तथा दुर्बोध-दार्शनिक सिद्धांतों की सिद्धि करने में सिद्धहस्त हैं। उनकी तर्कशक्ति तथा न्यायप्रतिभा

---

१. कादम्बरी, पृष्ठ ३८

२. पंचास्तिकाय गाथा १७२ टीका, पृष्ठ २६०-२६१

३. "समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलम्बनजन्मा ..... यः कश्चनापि ममात्मनः स्वविभवस्तेन समस्तेनाप्ययमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि।" (समयसार गाथा ५ की टीका)

पंचास्तिकाय ग्रंथ की टीका में विशेषरूप में विकसित और अभिव्यक्त हुई है। प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में अमृतचन्द्र की तार्किक और नैयायिक शक्ति का परिपाक हुआ है। सम्पूर्ण टीकाकृति हेतुपरक, तर्कसापेक्ष शैली से सुसज्जित है। उदाहरण[1] के लिए आकाश द्रव्य के प्रदेश की सिद्धि हेतु वे बड़े ही अनोखे व अद्वितीय तर्क प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि आकाश का एक परमाणु से व्याप्य क्षेत्र आकाशप्रदेश है जो शेष पांचों द्रव्यों के प्रदेशों तथा सूक्ष्मता रूप में परिणत स्कंधों को अवकाश देने में समर्थ है।

आकाश का अंश न मानने वाले के समक्ष वे सुन्दर तर्क प्रस्तुत कर कहते हैं कि आकाश में दो अंगुलियां फैलाकर बताइये कि उन अंगुलियों का क्षेत्र एक है या भिन्न हैं? यदि एक क्षेत्र माना जावे तो दो में से एक अंश का अभाव हो जायेगा, तथा दो से अधिक अंशों का भी अभाव सम्भव हो जाने से आकाश परमाणु की तरह प्रदेशमात्र सिद्ध होगा, जो सम्भव नहीं है। और यदि आकाश को भिन्न अंशों वाला अविभागी एक द्रव्य माना जावे तो अविभागी एक द्रव्य में अंशकल्पना फलित होती है। यदि दो अंगुलियों के भिन्न (अनेक) क्षेत्र माने जावें तो प्रश्न होगा कि आकाश के खण्डखण्ड रूप में अनेक द्रव्य हैं इसलिए दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं? परन्तु इनमें प्रथम तर्क सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि ऐसा होने से आकाश में अनंतद्रव्यपने का प्रसंग आ

---

१. प्रवचनसार गाथा १४० की टीका — "आकाशस्यैकाणुव्याप्योंशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपंचद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कंधानां चावकाशदानसमर्थः। अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणुनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः। यदि पुनराकाशस्यांशा न स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम्? एकं चेत् किमभिन्नांशाविभागैक द्रव्यत्वेन किं वा भिन्नांशाविभागैक द्रव्यत्वेन। अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुलेः क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या इत्यन्तरांशाभावः। एवं द्व्याद्यंशानामभावादाकाशस्य परमाणोरिव प्रदेशमात्रत्वम्। भिन्नांशाविभागैक द्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम्। अनेकं चेत किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वा विभागैकद्रव्यत्वेन। सविभागानेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम्।

जायेगा और यदि आकाश के अविभागी होने पर भी दो अंगुलियों के अनेक क्षेत्र हैं तो एक अविभागी द्रव्य में अंश कल्पना करना उचित है।

इसी प्रकार एक स्थल पर ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध होता है इस तथ्य की सिद्धि हेतु वे बड़े ही विलक्षण तर्कों का सहारा लेते हैं। वे लिखते हैं:— "इह किलस्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः। तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा, क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः। अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं, यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि, यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं, यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवन्तो विभाव्यंते न तथा ज्ञानस्यापि। इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वम्। इत्येवमात्मात्मास्रवयोर्विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्तते, तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबन्धोपि निवर्तते। तथा सति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधः सिद्ध्येत्।"[1]

वे एक स्थल पर प्रकृति (पुद्गल द्रव्य) तथा पुरुष (आत्मद्रव्य) को अपरिणामी मानने वाले सांख्यमतानुयायी शिष्य को समझाते हुए पुद्गल द्रव्य का परिणाम स्वभावत्व अनेक विलक्षण तर्कों द्वारा सिद्ध करते हैं, जिससे उनकी तार्किक प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। वे लिखते हैं — "अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायीशिष्यं प्रति – यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तदपरिणाम्येव स्यात् तथा सति संसाराभावः। अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणमयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः। किं स्वयमपरिणममानं परिणमाननं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत्? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणमयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत, न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षंते। ततः पुद्गलद्रव्यं परिणाम स्वभावं स्वयमेवास्तु। तथा सति कलशपरिणता मृतिका

---

१. समयसार गाथा ७१ की टीका।

स्वयं कलश इव जड़ स्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात्। इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम्।"[1]

उपरोक्त गद्यांश को अति संक्षेप में तर्क तथा न्याययुक्त शैली में पद्य रचना द्वारा भी व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं—

(उपजाति छंद)

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणाम शक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥[2]

इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र जहाँ एक ओर अपनी अकाट्य, अखण्डित युक्तियों (तर्कों) को प्रस्तुत कर वस्तुस्वरूप की सिद्धि करते हुए अपनी तार्किक शक्ति का ज्वलत उदाहरण प्रकट करते हैं, वहीं पर दूसरी ओर वे न्यायशैली में गम्भीर दार्शनिक गुत्थियों को बड़ी कुशलता के साथ सुलझाते हुए अपने उच्चकोटि के नैयायिकपने को भी प्रमाणित

---

१. समयसार गाथा ११६ से १२० तक की आत्मख्याति टीका का अर्थ — यदि पुद्गलद्रव्य जीव में स्वयं न बंधकर कर्मभाव से स्वयमेव न परिणमता हो, तो वह अपरिणामी ही सिद्ध होगा। और ऐसा होने से, संसार का अभाव होगा। यदि यहाँ यह तर्क उपस्थित किया जाये कि "जीव पुद्गलद्रव्य को कर्मभाव से परिणमाता है इसलिए संसार का अभाव न होगा।" तो उसका निराकरण दो तर्कों द्वारा करते हैं कि क्या जीव स्वयं न परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को कर्मभावरूप परिणमाता है या स्वयं परिणमते हुए पुद्गलद्रव्य को परिणमाता है? प्रथम तो स्वयं न परिणमते हुए (पुद्गल द्रव्य) को दूसरों के द्वारा नहीं परिणमाया जा सकता, क्योंकि जो शक्ति (वस्तु में) स्वतः न हो उसे अन्य कोई नहीं कर सकता। (अतः प्रथमपक्ष असत्य है) दूसरे स्वयं परिणमते हुए द्रव्य को अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं होती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं रखती (अतः दूसरा पक्ष भी असत्य है)। अतः (सिद्ध है कि) पुद्गलद्रव्य परिणमनस्वभाव वाला स्वयं ही है। ऐसा होने से, जैसे घट-रूपपरिणमित मिट्टी ही स्वयं घट है उसी प्रकार जड़स्वभाव वाले ज्ञानावरणादिकर्मरूप परिणमित पुद्गलद्रव्य ही स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म है। इस प्रकार पुद्गल द्रव्य का परिणाम स्वभावत्व सिद्ध हुआ।

२. उपजाति छन्द का अर्थ — "इस प्रकार पुद्गलद्रव्य की स्वभावभूत परिणमन शक्ति निर्विघ्न सिद्ध हुई और उसके सिद्ध होने पर, पुद्गलद्रव्य अपने जिस भाव को करता है उसका वह पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है।

करते हैं। न्यायशैली में निरूपण तथा वस्तुसिद्धि करते समय वे अन्य मान्यताओं का निराकरण आगम, युक्ति तथा स्वानुभव प्रमाण के बल पर करते हैं। वहाँ उनका उत्कृष्ट नैयायिक का रूप प्रस्फुटित हो जाता है। उदाहरण स्वरूप एक स्थल पर आत्मा के असली स्वरूप को न जानने वालों की विविध प्रकार की असत्य कल्पनाओं और मान्यताओं का सचोट, सतर्क एवं स्वानुभवप्रमाण युक्त शब्दों में खण्डन करते हैं कि "इस जगत में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण नपुंसकता से अत्यन्त विमूढ होते हुए, तात्विक आत्मा को न जानने वाले बहुत से अज्ञानीजन अनेक प्रकार से पर को भी आत्मा कहते हैं – बकते हैं। उनमें कोई तो अध्यवसान को, कई कर्म को, कई अध्यवसानों की परिपाटी को, नोकर्म रूप शरीर को, कर्म के उदय को, कर्म के तीव्रमंदरूप गुणों के अनुभव को, आत्मा और कर्म के मिश्रण को, कोई कर्म के संयोग को आत्मा कहते हैं, तथा अनेक प्रकार से दुर्बुद्धिजन पर को आत्मा निरूपित करते हैं; परन्तु परमार्थ के ज्ञाता उन्हें सत्यार्थवादी नहीं मानते।[1] वे सत्यार्थवादी क्यों नहीं है देखिये अमृतचन्द्र की न्यायशली के ही मूल कथन को, जो इस प्रकार है—

"यतः एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः संतश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहंते ततो न खल्वागमयुक्ति स्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात्, तदात्मवादिनः परमार्थवादिनः। एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः। इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः। न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकाया अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्यविवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खल्वनाद्यनंतपूर्वापरीभूतावयवैक संसरण लक्षण क्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवकर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्यविवेचकः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु तीव्रमंदानुभवभिद्यमान दुरंतरागरसनिर्भराध्यवसानसंतानो जीवस्ततोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात्। न खलु नवपुराणा-

---

१. समयसार गाथा ४३ की टीका — "इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यंतविमूढाः संतस्तात्विकमात्मानमजानंतो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्रलपंति।..... ..... एवमेवं प्रकारा इतरेपि बहुप्रकाराः परमात्मेति व्यपदिशंति दुर्मेधसः किन्तु न ते परमार्थ वादिभिः परमार्थवादिन इति निर्दिश्यन्ते।"

वस्थादि भेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्-स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु विश्वमपि पुण्यपाप-रूपेणाक्रामत्कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातारूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्र-मंदत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभवो जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु मज्जितावदुभया-त्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कार्त्स्न्यतः कर्मणोतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वर्थ क्रियासमर्थः कर्म संयोगो जीवः कर्म सयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसयोगा-दतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् ।[1]

---

१. समयसार गाथा ४४ की टीका — "यह समस्त अध्यवसानादि भाव, विश्व के (समस्त पदार्थों के) साक्षात् देखने वाले भगवान् (वीतराग-सर्वज्ञ अरहंतदेवों के द्वारा पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहे गये हैं, इसलिए वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य के होने के लिए समर्थ नहीं हैं कि जो जीवद्रव्य चैतन्य भाव से शून्य ऐसे पुद्गलद्रव्य से अतिरिक्त (भिन्न) कहा गया है, अतः जो इन अध्यवसाना-दिक को जीव कहते हैं वे वास्तव में परमार्थवादी नहीं है – क्योंकि आगम, युक्ति और स्वानुभव से उनका पक्ष बाधित है। उसमें "वे जीव नहीं हैं" यह सर्वज्ञ का वचन है वह तो आगम है और यह स्वानुभवगर्भित युक्ति है कि रागद्वेष से मलिन स्वयं ही उत्पन्न होते हुए अध्यवसानादिक जीव नहीं हैं क्योंकि कालिमा से भिन्न स्वर्ण की भांति, अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्व-भावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है। १। जिसका पूर्व अवयव अनादि है तथा भविष्य अवयव अनंत है ऐसी एक संसरणक्रिया के रूप में क्रीडाकरता हुआ कर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है। २। तीव्रमंदरूप अनुभव से भेदरूप होने पर दुरंत रागरसभरित अध्यवसान संतति भी जीव नहीं है, क्योंकि उससंतति से भिन्न चैतन्यस्वभावी जीव भेदज्ञानियों द्वारा उपलभ्यमान है। ३। नई पुरानी अवस्थाभेद से प्रवर्तमान नोकर्म भी जीव नहीं है, क्योंकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्य स्वभावीजीव भेदज्ञानियों द्वारा उपलभ्यमान है। ४। समस्त जगत को पुण्य-पाप रूप से व्याप्त करता हुआ कर्मविपाक भी जीव नहीं है, क्योंकि शुभाशुभ भाव से भिन्न चैतन्यस्वभावीजीव भेदज्ञानियों द्वारा उपलभ्यमान है। ५। साता असाता रूप से व्याप्त तीव्रमंद-भेद वाला कर्मानुभव भी जीव नहीं है, क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न चैतन्यस्वभावी

उपरोक्त भाष्य में न्यायशैली में कथित पांच प्रकार के बाधित-पक्षों में ये तीन प्रकारों का प्रयोग आचार्य अमृतचन्द्र ने किया है। जैन न्यायग्रन्थों में प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक तथा स्वसंवेदन इन पांच बाधित पक्षों का उल्लेख है।[1] यहाँ आगम, युक्ति (अनुमान), स्वानुभव (प्रत्यक्ष) इन तीनों बाधित पक्षों द्वारा आत्मा संबंधी असत्यमान्यता का निराकरण किया है।

न्यायशास्त्रों में अनुमान शैली का प्रयोग अत्यधिक मिलता है। साधन (तर्क, हेतु अथवा युक्ति) से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। अनुमान के ५ अंग है प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इनमें पक्ष तथा साध्य के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। साधन (तर्क) रूप वचन को हेतु कहते हैं। व्याप्ति पूर्वक दृष्टांत के कहने को उदाहरण कहते हैं। पक्ष और साधन में दृष्टांत की सदृशता दिखाने को उपनय कहते हैं तथा निष्कर्ष निकालकर प्रतिज्ञा के दोहराने को निगमन कहते हैं।[2] आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीकाओं में सर्वत्र उक्त अनुमान शैली के यथावश्यक कहीं सभी, कहीं, दो कहीं ३ तथा कहीं चार अंगों का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए उनकी अनुमान शैली का प्रमाण प्रस्तुत है। इसका प्रयोग वे "द्रव्यों से द्रव्यान्तर (अन्यद्रव्य) की उत्पत्ति तथा द्रव्य सत्ता के अर्थान्तरत्व (अन्यपदार्थपने) के होने का खण्डन करते हुए लिखते हैं[3]—

जीव भेदज्ञानियों द्वारा उपलभ्यमान है। ६। श्रीखण्ड की भांति उभयात्मक मिश्रित आत्मा और कर्म मिलकर भी जीव नहीं है, क्योंकि संपूर्णतया कर्मों से भिन्न चैतन्य स्वभावीजीव भेदज्ञानियों द्वारा उपलभ्यमान है। ७। अर्थ क्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है, क्योंकि आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न पलंग पर सोने वाले पुरुष की भांति, कर्म संयोग से भिन्न चैतन्यस्वभावी जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है।

१. "बाधितः प्रत्यक्षानुमानानमलोक स्ववचनैः। प्रमेयरत्नमाला। षष्ठसमुद्देश सूत्र १५ की टीका तथा जैन सिद्धांत प्रवेशिका – प्रश्नोत्तर क्रमांक ५५, ५६, ५७, ५८ (पृष्ठ १४ व १५)

२. जैन सिद्धांत प्रवेशिका क्रमांक ४१, ५९, ६०, ६१, ६२, ६७, तथा ६८

३. प्रवचनसार गाथा ९८ की टीका – (अर्थ – वास्तव में द्रव्यों से द्रव्यांतरों (दूसरे द्रव्य) की उत्पत्ति नहीं होती। (प्रतिज्ञावाक्य) क्योंकि सर्वद्रव्य स्वभाव-

न खलुद्रव्यैर्द्रव्यन्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्यानां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादि निधनं हि न साधनांतरमपेक्षते। गुणपर्यायात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते। यत्तुद्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यांतरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः। द्वयणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च। द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात्। अथैवं यथासिद्धं स्वभावतएव द्रव्यं तथा सदित्यपि तत्स्वभावत एव सिद्धमित्यवधार्यताम्। सत्तात्मनात्मनः स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात्। न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिप्रपद्यते, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात्। सतः

सिद्ध हैं। (हेतु या तर्क) स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादि निधनता से है। (हेतु का हेतु) अनादिनिधन को वास्तव में साधनांतर (अन्यसाधन) की अपेक्षा नहीं होती। वह गुणपर्यायात्मक अपने स्वभाव रूप मूलसाधन को धारणकर के स्वयमेव सिद्ध हुआ वर्तता है। (निगमन)

जो द्रव्यों से उत्पन्न होता है वह द्रव्यांतर नहीं है। (प्रतिज्ञा), क्योंकि कादाचित्कता (अनित्यता) के कारण वह पर्याय है। (हेतु), जैसे द्वयणुक इत्यादि तथा मनुष्य पर्याय इत्यादि (उदाहरण), द्रव्य तो अनवधि (मर्यादारहित) त्रिसमय-अवस्थायी (त्रिकाल स्थायी) होने से उत्पन्न नहीं होता।
अब इस प्रकार जैसे द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध है उसी प्रकार वह स्वभाव से ही सत्‌रूप सिद्ध है ऐसा निर्णय हो, क्योंकि सत्तात्मक अपने स्वभाव से निष्पन्न हुए भाववाला है। द्रव्य से अर्थांतर भूत सत्ता उत्पन्न नहीं होती कि जिसके समवाय से द्रव्य सत् हो। इसी को स्पष्ट समझाते हैं – प्रथम तो सत् से सत्ता को युतसिद्धता दिखाई नहीं देती। दूसरे अयुतसिद्धता से भी वह अर्थान्तरत्व नहीं बनता। "इसमें यह है" (द्रव्य में सत्ता है) ऐसी प्रतीत होती है इसलिए वह बन सकता है ऐसा कहा जाय तो (हम पूछते हैं कि) "इसमें यह है" ऐसी प्रतीति किसके आश्रय (कारण) से होती है। यदि कहा जाय कि भेद के आश्रय से होती है, तो वह कौनसा भेद है? प्रादेशिक या अतद्भाविक? प्रादेशिक तो है नहीं क्योंकि युतसिद्धत्व पहले ही निरर्थक कर दिया गया है और यदि अतद्भाविक कहा जाय तो वह उत्पन्न ही है, क्योंकि ऐसा (शास्त्र) का वचन है कि जो द्रव्य है वह गुण नहीं है; परन्तु (यह भी ध्यातव्य है कि) वह अतद्भाविक भेद एकांत से "इसमें यह है" ऐसी प्रतीति का कारण नहीं है, क्योंकि वह स्वयमेव उन्मग्न (उत्पन्न) तथा निमग्न (नाश) होता है।

सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्वं तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धस्यादर्शनात् अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपपद्यते। इहेदमितिप्रतातेरुत्पद्यत इति चेत् किं निबन्धना हीहेदमिति प्रतीतिः। भेदनिबन्धनेति चेत् को नाम भेदः। प्रादेशिक अतादभाविको वा। न तावत्प्रादेशिकः, पूर्वमेवयुतसिद्धत्वस्यापसरणात्। अतादभाविकश्चेत् उपपन्न एवं यद्द्रव्यं तन्न गुण इति वचनात्। अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमिति प्रतीतेर्निबंधनं, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात्—

इस तरह उक्त भाष्य में सर्वत्र अनुमान शैली के अंगों का प्रयोग किया है। साथ ही न्यायशास्त्रविषयक शब्दावलि – युतसिद्ध अयुतसिद्ध निष्पन्न-निष्पत्तिमद्भाव, सिद्धसिद्धमद्भूत भाव, प्रश्नोत्तर, तर्क-वितर्क, ऊहापोह आदि का प्रयोग प्रचुरमात्रा में किया है, जिससे अमृतचन्द्र की तार्किक व न्यायज्ञान रूप प्रतिभा का परिचय भलीभांति हो जाता है। एक स्थल पर प्रमुखरूप से सालंकार, ऊहापोह रूप सुन्दरतम शैली में "उत्पादव्यय तथा ध्रौव्य के परस्पर अविनाशीपने की सिद्धि करते हुए वे लिखते हैं[1] —

---

१. प्रवचनसार गाथा १०० की टीका– अर्थ — वास्तव में उत्पाद व्यय के बिना नहीं होता और व्यय उत्पाद के बिना नहीं होता, उत्पाद और व्यय स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते, और ध्रौव्य उत्पाद तथा व्यय के बिना नहीं होता। जो उत्पाद है वही व्यय है, जो व्यय है वही उत्पाद है, जो उत्पाद और व्यय है वही ध्रौव्य है, जो ध्रौव्य है वही उत्पाद तथा व्यय है। उसी प्रकार जो कुम्भ का उत्पाद है वही मृत्तिकापिण्ड का व्यय है, क्योंकि भाव का भावांतर के अभाव स्वभाव से अवभासन है। जो मृत्तिकापिण्ड का व्यय है, वही कुम्भ का उत्पाद है क्योंकि अभाव का भवांतर के भावस्वभाव से अवभासन है तथा जो कुम्भ का उत्पाद और पिण्ड का व्यय है वही मृत्तिका की स्थिति है, क्योंकि व्यतिरेक अन्वय का अतिक्रम नहीं करते, और जो मृत्तिका की स्थिति है वही कुम्भ का उत्पाद और पिण्ड का व्यय है क्योंकि व्यतिरेकों के द्वारा ही अन्वय प्रकाशित होता है। और यदि ऐसा न माना जाय तो फिर यह सिद्ध होगा कि उत्पाद अन्य है, व्यय अन्य है तथा ध्रौव्य अन्य है (अर्थात् तीनों भिन्न हैं परन्तु तीनों भिन्न मानने में जो दोष उपस्थित होगा उसे कहते हैं)

केवल उत्पादखोजक कुम्भ की उत्पत्ति के कारण का अभाव होने से उत्पत्ति ही नहीं होगी, तब समस्त ही भावों की उत्पत्ति ही नहीं होगी अथवा यदि असत् का उत्पाद होने लगे तो आकाशकुसुमादि का भी उत्पाद होगा (जो

"न खलु सर्गः संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टि-संहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः संहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति। तथाहि य एव कुम्भस्य सर्गः स एव मृत्पिण्डस्य संहारः, भावस्य भावांतराभावस्वभावेनावभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्गः अभावस्य भावांतरभाव-स्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकाणामन्वयानतिक्रमणात्। यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य प्रकाशनात्। यदि पुनर्नैवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति। तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभव-निरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा। तत्र कुम्भस्याभवनो सर्वेषामेव भावा-नामभवनिरेव भवेत्। असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात्। तथा केवलं संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणाभावादसंहरणि-रेव भवेत्। सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात्। तथा केवलां स्थितिमुपगच्छन्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्था-निरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा। तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत् क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणानामपि नित्यत्वं स्यात्। तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणा-न्वयस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्द्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्य-मनुमन्तव्यम् ॥१००॥

असम्भव है।) और केवल व्ययारम्भक मृत्पिण्ड का व्यय के कारण का अभाव होने से व्यय ही नहीं होगा अथवा तो सत् का ही उच्छेद होगा। वहां यदि मृत्पिण्ड का व्यय न होगा तो समस्त भावों का व्यय ही न होगा, अथवा यदि सत् का उच्छेद होगा तो चैतन्य इत्यादि का भी उच्छेद हो जायेगा। (यह दोष आयेगा)। और केवल ध्रौव्य प्राप्त करने को जाने वाली मृत्तिका की व्यतिरेक सहित स्थिति का (अन्वयका) अभाव होने से, स्थिति ही नहीं होगी अथवा तो क्षणिक को ही नित्यत्व का प्रसंग आयेगा। वहां यदि मिट्टी का ध्रौव्यत्व न हो तो समस्त ही भावों का ध्रौव्य ही नहीं होगा अथवा क्षणिक का नित्यत्व हो तो चित्त के क्षणिक भावों का भी नित्यत्व का प्रसंग आयेगा। (यह दोष आयेगा)। इसलिये द्रव्य को उत्तरोत्तर व्यति-रेकों की उत्पत्ति के साथ, पूर्व पूर्व के व्यतिरकों के संहार के साथ और अन्वय के अवस्थान के साथ अविनाभाववाला निर्विघ्न त्रिलक्षणता रूप चिह्न प्रकाशमान है ऐसा अवश्य मानना चाहिये ॥१००॥

इस तरह जहाँ अमृतचन्द्र ऊहापोह के द्वारा क्लिष्ट दार्शनिक तथ्यों को स्पष्ट करने की अनोखी सामर्थ्य रखते हैं, वहीं वे अपनी तर्कपूर्ण विधेयात्मक व्याख्या द्वारा एक पद का अर्थ करते हुये अनेक अन्यमतों के निराकरण करने में भी कुशल प्रतीत होते हैं। उनकी नैयायिक कुशलता का ज्वलंत उदाहरण "समय" पद की गंभीर व्याख्या है। "समय" पद का अर्थ करते हुए वे लिखते हैं[1]—

"योयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नि-

---

१. समयसार गाथा २ की आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ८-९ (अर्थ—यह जीव नामक पदार्थ सदा ही परिणमनस्वरूप स्वभाव में रहता हुआ होने से उत्पादव्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणयुक्त सत्तासहित है। (इसमें सत्ता को न मानने वाले नास्तिक वादियों का खण्डन हो गया तथा पुरुष (जीव) को अपरिणामी मानने वाले सांख्यवादियों का "परिणमनस्वभाव" कहने से खण्डन हुआ। नैयायिक और वैशेषिकवादी सत्ता को नित्य ही मानते हैं और बौद्ध क्षणिक ही मानते हैं, उनका निराकरण सत्ता को उत्पादव्यय और ध्रौव्य कहने से हुआ है।), जीव चैतन्यस्वरूपता से नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञानज्योति स्वरूप है (इस कथन से चैतन्य को ज्ञानाकाररूप न मानने वाले सांख्यमत का निराकरण हुआ), वह जीव अनंतधर्मों में रहने वाले एक धर्मीपने के कारण प्रगट द्रव्यत्व वाला है (इस विशेषण से वस्तु को धर्मों से रहित माननेवाले बौद्धमतियों का निराकरण हुआ), वह क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्तमान अनेक भाव स्वभाव के कारण गुणपर्यायों को धारण करने वाला है (इस विशेषण द्वारा पुरुष को निर्गुण मानने वाले सांख्यमत वालों का निरसन हो गया), और अपने तथा परद्रव्यों के आकारों को प्रकाशित करने की सामर्थ्य के कारण समस्तरूप को झलकाने वाली एकरूपता को प्राप्त करने वाला है (इस विशेषण से "ज्ञान अपने को ही जानता है पर को नहीं" ऐसा मानने वालों का निराकरण हुआ।), वह अन्य द्रव्यों के विशिष्ट गुणों-अवगाहन, गति, स्थिति, वर्तनाहेतुत्व तथा रूपित्व के अभाव के कारण और असाधारण चैतन्यरूपता स्वभाव के सद्भाव के कारण आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल—इन पाँच द्रव्यों से भिन्न है। और वह अनन्त अन्य द्रव्यों के साथ अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप होने पर भी, अपने स्वरूप से न छूटने से टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है। ऐसा जीव नामक पदार्थ समय है।

त्योदितविशददृशिज्ञप्ति ज्योतिरनंतधर्माधिरूढ़ैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रम प्रवृत्त विचित्र भाव स्वभावत्वादुत्संगितगुण पर्यायःस्वपराकारावभासन समर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाह गतिस्थितिवर्त्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधारण चिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाश धर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यंतमनंतद्रव्यसंकरेपि स्वरूपादप्रच्यवनाट्टंकोत्कीर्ण चित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः।"

इसी तरह अन्यमत खण्डनार्थ न्यायशैली में प्रयुक्त विभिन्न दोषों, आपत्तियों तथा प्रसंगों का उल्लेख टीकाओं में सर्वत्र मिलता है। उनमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं:—संकरादिदोषापत्तिः, विसंवादापत्ति[1], चेतनस्याचेतनापत्ति[2] इतरेतराश्रयदोष,[3] अव्याप्ति, अतिव्याप्ति, असंभवदोष[4] पुनरुक्तिदोष,[5] अनवस्थादोष[6] भाव्यभावक संकरदोष[7], ज्ञेयज्ञायक संकरदोष[8], जीव वा पुद्गल के एकत्व का प्रसंग[9], द्रव्य के नाश का प्रसंग[10], नित्यकर्तृत्व का प्रसंग, तन्मयता का प्रसंग[11] पर का स्वामी बनने से अजीवपने का प्रसंग[12], चेतन के अभाव का प्रसंग[13], अनैकांतिक हेत्वाभास[14] इत्यादि।

इसके अतिरिक्त वस्तु स्वरूप की सिद्धि हेतु विभिन्न न्यायों का प्रयोग भी उनकी कृतियों में मिलता है। उदाहरण के लिए एक स्थल पर "स्वर्णमुद्री न्याय" का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं — "यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यंतमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथंचनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामी

---

१. समयसार गाथा २ की आत्मख्याति टीका
२. वही गाथा २९८-२९९ की टीका ३. वही गाथा ७० की टीका
४. वही, गाथा ६८ की टीका तथा कलश नं. ४२ और ४०३ गाथा की टीका भी
५. वही, गाथा २२९ से २३६ की टीका अथवा कलश १५३ से १६० तक व ७० से ७९ तक
६. वही, गाथा २१६ की टीका ७. वही, गाथा ३२ की टीका
८. वही, गाथा ३१ की टीका ९. वही, गाथा ६२ की टीका,
१०. वही, गाथा ९९ की टीका ११. वही, गाथा १०० की टीका
१२. वही, गाथा २०८ की टीका १३. वही, गाथा २९९ की टीका
१४. वही, गाथा २६५ की टीका

करावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्य च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रंज्योतिः, समस्त क्रमाक्रम प्रवर्तमान व्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेकः ।[1]—

इसी तरह "जो पूर्वक जो, जो ही है" न्याय का उल्लेख करते हुए लिखा है कि मिथ्यात्वादि गुणस्थान पौद्गलिक मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होते होने से सदा ही अचेतन है, क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है – ऐसा समझकर "जो पूर्वक होने वाले जो जो हैं, वे जो ही होते हैं" इसी न्याय से वे कर्म पुद्गल ही है। यथा – "मिथ्यादृष्ट्यादीनि हि पौद्गलिक मोहकप्रकृर्मतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव नतु जीवः ।"[2]

एक स्थल पर "टंकोत्कीर्ण न्याय" द्वारा ज्ञान की नित्यता तथा क्षायिकपने के माहात्म्य को दर्शाया है। वे लिखते हैं – "यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञाने तट्टंकोत्कीर्णन्यायावस्थित समस्तवस्तुज्ञेयाकाम्रतयाधिरोपितनित्यत्वं[3] अन्यत्र "अंजनचूर्णसमुद्गक न्याय" के आधार पर सभी द्रव्यों के निवास के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण किया है यथा – "कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ।"[4] इस तरह अनेक

---

१. समयसार गाथा ३८ की टीका का अर्थ – जो अनादि मोह रूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण अत्यंत अप्रतिबुद्ध था और विरतगुरु से निरन्तर समझाये जाने पर जो किसी प्रकार समझकर, सावधान होकर "जैसे कोई पुरुष मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल गया हो और फिर स्मरण करके उस सोने को देखे" इस न्याय से, अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था, उसे जानकर, उसका श्रद्धानकर और उसका आचरण करके जो सम्यक प्रकार से एक आत्माराम हुआ, वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्य ज्योति रूप आत्मा हूँ कि जो मेरे ही अनुभव से प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, चिन्मात्र भाव के कारण मैं समस्त क्रमरूप तथा अक्रमरूप प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता इसलिए मैं एक हूँ ·····।"

२. समयसार गाथा ६८ की टीका ३. प्रवचनसार गाथा ५१ की टीका

४. प्रवचनसार गाथा १३६ की टीका

न्यायों के उल्लेख एवं प्रयोग से उनको न्याय विज्ञता का परिचय मिलता है। उनकी टीकाएँ तथा वस्तुस्वरूप की सिद्धि हेतु प्रयुक्त नैयायिक शब्दावलि[1] भी उनके तार्किक तथा नैयायिक रूप व्यक्तित्व के श्रेष्ठ प्रमाण हैं। उन्होंने स्वमत मंडनार्थ तथा परमत खण्डनार्थ प्रयुक्त न्यायशास्त्रोक्त पदों का प्रचुरमात्रा में प्रयोग किया है, जो अमृतचन्द्र को प्रखर तार्किक तथा कुशल न्यायवेत्ता सिद्ध करते हैं। तार्किक तथा नैयायिक का रूप भी आचार्य अमृतचन्द्र के विशाल व्यक्तित्व का एक पहलू है।

आचार्य अमृतचन्द्र भाषाविद् के रूप में

आचार्य अमृतचन्द्र के बहुमुखी व्यक्तित्व में उनका भाषाविद् का रूप भी अप्रतिम है वे प्राकृत तथा संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान थे। संस्कृत भाषा पर तो उनका अस्खलित आधिपत्य था। उनके पूर्ववर्ती साहित्यकार कवि बाणभट्ट के संबन्ध में "बाणो बाणो बभूवेति" यह उक्ति चरितार्थ है। आचार्य अमृतचन्द्र की संस्कृत भाषा की प्रौढ़ता, गंभीरता, भावार्थवाहिता तथा सुन्दरता को निहार कर उपर्युक्त उक्ति अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व में भी सार्थक एवं ज्वलंत प्रतीत होती है। वे जैन सैद्धांतिक शब्दों तथा साधारण संज्ञाओं की भी व्याख्या करने में नहीं हिचकते। वे सारगर्भित संकेतों तथा संक्षिप्त व्याख्या को जानते थे।

---

१. नैयायिक शब्दावलि के प्रयोग दो प्रकार के हैं वस्तुस्वरूप के विपरीत मत खण्डनार्थ तथा वस्तुस्वरूप की सिद्धि (मण्डनार्थ प्रयुक्त शब्द)। खण्डनार्थ प्रयुक्त शब्दों में असिद्धेः, अनुपपत्तेः, आपत्तिः, प्रसंगात्, कुतस्त्यातत्सिद्धि, प्रत्याख्यातम्, उत्थाप्यते आदि प्रमुख हैं तथा मण्डनार्थ प्रयुक्त शब्दों में साधयति, सिद्ध्यति, आयातम्, निष्पन्नम्, सिद्धम्, न्याय्यम्, अस्तु, निश्चयः, निश्चिनोति, उपपन्नम्, अवश्यं, अनुसर्तव्यं, व्यवस्थापयितव्यम्, निश्चीयन्ते, सिद्धांतयति, प्रतिपन्नम्, अलमतिविस्तरेण, साधितम्, अनेन, व्याख्यातम्, उपपत्तिः, आम्नातम्, साकल्येन, सिद्धिः, स्थिता, प्रसजेत्, साध्यसिद्धि, अवतिष्ठते, निश्चितम् सुष्ठुपरीक्षय, न्याय्य एव, युक्ता प्रज्ञप्तिः, इति निश्चय-सिद्धांतः, प्रसाध्यम्, संपद्यते, न्यायबलेन एतदायातम्, प्रतिनियमः, प्रतिनियमः, करण, प्रत्यासत्ति, निश्चिन्वन्, मीमांस्यते, प्रसक्तौ, दण्डनीतयः इत्यादि मुख्य हैं।

कभी कभी उनका गद्य कृत्रिम तथा क्लिष्ट सा प्रतीत होता है। विचारों की अभिव्यक्ति प्रवाहपूर्ण है। वे गद्यकार की अपेक्षा कवि अधिक थे। उनकी आध्यात्मिक जगत् पर सम्प्रभुता थी। उनकी विचाराभिव्यक्ति अत्यन्त प्रभावपूर्ण थी। उनकी भाषा ओजपूर्ण, रसपूर्ण, अलंकार युक्त तथा अर्थवाही थी। अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व की प्रौढ़ता तथा भाषा प्रौढ़ता दोनों समकक्ष है। उनकी प्राकृतभाषा विज्ञता निःसंदेह सिद्ध है, क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य के प्राकृत ग्रन्थों के गूढ़ार्थों को संस्कृत भाषा के माध्यम से उद्घाटित करने में उन्होंने अद्वितीय सफलता तथा ख्याति प्राप्त की है। समयसार की आत्मख्याति टीका में उन्होंने पूर्वाचार्यों की कुछ प्राकृत गाथाओं को भी उदाहृत किया है। उन्होंने प्राकृत गाथाओं के एक-एक शब्द की व्याख्या सविस्तार करके उनमें निहित भाव को अत्यन्त सौष्ठव पूर्ण भाषा में प्रकट किया है। उनकी भाषा की सुष्ठुता एवं चारुता दर्शनीय हैं। उदाहरण के लिए यहाँ उनकी टीका का कुछ अंश प्रस्तुत है। इस अश में उन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द के "दाएहं अप्पणा सविहवेण" पद अर्थात् "आत्मा के निजवैभव से दिखाता हू"' का भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है —

"इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा, समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलम्बनजन्मा, निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरु प्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा, अनवरतस्यन्दिसुन्दरानन्दमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा, च यः कश्चनापि ममात्मनः स्व विभवस्तेन समस्तेनाप्ययमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेऽहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि"[1]

इस तरह स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र प्राकृत भाषा तथा उसमें अभिव्यक्त भावों पर असाधारण अधिकार रखते थे। संस्कृत भाषा तो उनके प्रौढ़ व्यक्तित्व की अनुवर्तिनी और उनके अंतराभिप्राय की प्रेरणा पर नाचने वाली थी। यह कारण है कि आत्मख्याति टीका में गद्य तथा पद्य दोनों काव्यविधाओं कासम्मिश्रण देखने को मिलता है। अमृतचन्द्र सर्वप्रथम गाथागत भावों को हृदयगत करते हैं पश्चात् अंतरंगानुभूति को सशक्त, सतर्क तथा सुन्दर भाषा में प्रगट करते हैं। जहाँ वे गाथागत या पदनिहित मर्म का विश्लेषण करते हैं, वहाँ भाषा गद्यरूप में प्रवाहित

---

१. समयसार गाथा ५ की टीका

होती है तथा जहाँ गाथा या पदगत रहस्यविषयक आनंदानुभूति का अतिरेक प्रगट करते हैं, वहाँ भाषा स्वयमेव पद्यमयी हो जाती है। इस प्रकार उन्हें गद्यपद्यमयी भाषाभिव्यक्ति द्वारा आत्मख्याति टीका में सर्वत्र अध्यात्मतरंगिणी प्रवाहित करने में असाधारण सफलता प्राप्त हुई है।

एक श्रेष्ठ भाषाविद् के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र ने संस्कृत भाषा को अनेक रूपों में प्रस्तुत किया है। वहीं उनकी भाषा अत्यन्त सरल, सुबोध तथा सर्वजनग्राही रहती है तो कहीं पर अत्यन्त क्लिष्ट, दुर्गम तथा विद्वज्जनग्राही होती है। इस तरह भाषाशैली के इन्हीं रूप परिवर्तनों के कारण वे कभी प्रौढ़तम गद्यकाव्यकार, तो कभी रससिद्ध अध्यात्मकवि तथा कभी उभयकाव्यकार – चम्पूकाव्यकार के रूप आदुर्भूत होते हैं। संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार होने के कारण ही उन्होंने उसे विभिन्न छन्दों, विभिन्न अलंकारों, विभिन्न रसों तथा व्याकरण विषयक प्रयोगों से संजोया है। एक शब्द को अनेक अर्थों तथा अनेक शब्दों को एक अर्थ में प्रयोग करने में वे दक्ष हैं। विभिन्न क्रियापदों व विभिन्न गणों की धातुओं का विभिन्न लकारों में प्रयोग, धातु के तद्धित, कृदंत तथा विभिन्न प्रत्ययांत प्रयोग, अनेक अव्ययों का पादपूरणार्थ प्रयोग, अनेक उपसर्गों का अर्थ परिवर्तनार्थ प्रयोग, अप्रयुक्त (अप्रचलित) शब्दों का प्रयोग इत्यादि विशेषताएँ उनकी भाषाविज्ञता को स्पष्ट प्रमाण हैं। उदाहरण के लिए उनके कुछ व्याकरण सम्बन्धी प्रयोग इस प्रकार है —

एक स्थल पर "प्रज्ञा द्वारा आत्मा को कैसे ग्रहण करना चाहिए ?" इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—"यो हि नियत स्वलक्षणावलंबिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं, ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमानायांतोऽत्यंतं मत्तो भिन्नाः। ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तत्किल चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतय एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये। अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं

चेतये, किन्तु सर्वविशुद्धचिन्मात्र भावोऽस्मि।"[1] इस प्रकार अस्मद् तथा चेतयमान् पदों के षट्कारकरूप विकल्पों का निषेध कर अभेद चिन्मात्र-भावरूप आत्मा को पकड़ाया। इसके पश्चात् इसी प्रकार की सुन्दर व्याकरण प्रयोग शैली में उक्त सामान्यचेतना को दर्शनमात्र एवं ज्ञानमात्र भाव रूप निरूपित करते हुए लिखा है—"चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पा-नतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव दृष्टत्व ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव। ततोऽहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेवपश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यंतमेवपश्यामि। अथवा न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यंतं पश्यामि, किंतु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि। अपि ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानंतमेव जानामि। अथवा न जानामि, न जानन्, जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानंतं जानामि, किंतुसर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि।[2]

एक "धातु" पद के प्रत्यय परिवर्तन से अनेक रूपों के प्रयोग में वे दक्ष थे। "कृ" धातु के कर्म, करोति, कार्यत्व, कुर्वाणः, कर्ता, क्रियमाणः[3]

---

१. समयसार गाथा २९७ की टीका—(अर्थ—"नियत स्वलक्षण का अवलंबन करने वाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया जो चेतन आत्मा है वह यह मैं हूँ, और अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य (जानने योग्य) जो ये शेष व्यवहाररूप भाव हैं वे सभी चेतकत्वरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते, इसलिए मुझसे अत्यंत भिन्न हैं, अतः मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिए ही, अपने में से ही, अपने में ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ। आत्मा की, चेतना ही एक क्रिया है इसलिए मैं "ग्रहण करता हूँ"। (चेतता हूँ) अर्थात् मैं चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुये द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुये के लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते में ही चेतता हूँ, चेतते को ही चेतता हूँ, अथवा न तो चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुए के द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिये चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ, न चेतते हुए को चेतता हूँ, किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ।"

२. समयसार गाथा, २९८-२९९ की टीका ३. प्रवचनसार गाथा, १८४

ज्ञेयीकुर्वन्, ज्ञानीकुर्वन्, आत्मीकुर्वन्[1] अकार्षं, अचीकरं कुर्वन्तम्[2] करोमि, कारयामि[3], करिष्यामि, कारयिष्यामि[4], कृत. कारित[5] इत्यादि प्रयोग, "दृश" धातु के पश्यति, दृष्टुं, दृष्टव्यं, दृष्टः[6], दर्शन, दृष्टत्वं, दृष्टारं, दृक्मात्र, दृष्टा[7] दर्शः[8], दृष्टि[9] इत्यादि प्रयोग तथा "सिध्" धातु के प्रसिद्धः, प्रसिद्धिः, प्रसिद्ध्या, प्रसिद्ध्यति, प्रसाधनीयम्, प्रसिद्धेन, प्रसाध्यमानत्वात्, प्रसाध्यमानः[10] इत्यादि प्रयोग उनकी दक्षता के प्रमाण हैं। वे उपसर्ग परिवर्तन कर अर्थ परिवर्तन करने में भी कुशल थे, उदाहरण के लिये राधः पद में विभिन्न उपसर्ग प्रयोग कर अपराधः, सापराधः, निरपराधः, आराधन, आराधक[11] आदि शब्दों का निर्माण हुआ है तथा जर् पद के निर्जीर्य, निर्जरक[12], निर्जीर्माणः, निर्जीर्णः निर्जरा, अजीर्णः[13] इत्यादि प्रयोग उनकी टीकाओं में मिलते हैं। उनकी टीकाओं तथा मौलिक रचनाओं में प्रायः अधिकांश प्रचलित उपसर्गों का उपयोग[14] तथा अव्ययों का प्रयोग हुआ है। एक स्थल पर तो एक ही गाथा की टीका में बत्तीस[15] प्रकार के विभिन्न अव्ययों के प्रयोग से उनकी संस्कृत भाषाविज्ञता का परिचय प्राप्त होता है। अमृतचन्द्र की टीकाओं तथा

---

१. समयसार गाथा २०० की टीका

२. वही, गाथा, २८७ से २८९ तक की टीका पृष्ठ ५२३

३. वही, पृष्ठ ५२८ ४. वही, पृष्ठ ५३१

५. वही, पृष्ठ ५२३ ६. वही, गाथा १७२ की टीका

७. वही, गाथा २९९ ८. वही, गाथा ५

९. वही, परिशिष्ट १ स्याद्वादाधिकार-पृष्ठ ५८८

१०. वही, परिशिष्ट १ पृष्ठ ५८६

११. वही, गाथा ३०४-३०५ की टीका १२. वही, गाथा १३ टीका

१३. वही, गाथा १९४

१४. विभिन्न उपसर्गों में मुख्य हैं—"वि, अन्, सं, प्रति, आ. अव्, अ, उप, परि, प्र, सन् अधि, उप, अन्तः, निः, सु, दुः, अभि, स, सह

१५. ये बत्तीस अव्यय इस प्रकार हैं—हि, ततः, खलु, अपि, इव, सदः, अलं, स्वस्ति, इति, किल, च, तत्र, एव, तु, पुनः अन्यथा, तथा, पुनः पुनः, अध, मनाक्-मनाक् अनवरतं, मुहुर्मुहु, नितरां, कदाचित् किंचित्, बहुधा, सुष्ठु, नितांत, सुचिरं, अत्र, यथा, केवलं। (पंचास्तिकाय गाथा, १७२ की समय-व्याख्या टीका)

अन्य कृतियों में प्रयुक्त विपुल संख्या में धातुरूप अथवा क्रियापद भी उनके संस्कृत भाषा के अधिकार को प्रकट करते हैं। विपुलकाय वाक्यावलि, दीर्घसामासिक पदावलि, अप्रयुक्त तत्सम तथा तद्भव शब्दावलि, अनेक गद्यशैलियां तथा संस्कृत भाषा विषयक अनेक विशेषताएं उनके सफलतम तथा उच्चकोटि के भाषाविद् रूप व्यक्तित्व के प्रबल प्रमाण हैं। उनकी कृतियों में अप्रयुक्त क्लिष्ट शब्दों की संख्या भी बहुत है। उन अप्रयुक्त शब्दों का अर्थ सर्वसाधारण को सरलता से ग्राह्य नहीं होता है। उनका अर्थ जानने हेतु शब्दकोष का सहारा लेना पड़ता है।

उनकी सभी कृतियों में संस्कृत भाषा का प्रौढ़तम रूप विद्यमान है। तत्तद्वैशिष्ट्यों तथा पदवैशिष्ट्यों को पद पद पर देखा जा सकता है। संस्कृत के विख्यात प्रौढ़ पूर्ववर्ती गद्यकारों के गद्य से भी अधिक प्रौढ़ तथा परिमार्जित गद्य तथा अध्यात्मरसभरित, सुन्दर, सालंकार एवं लयात्मक पद्य उनके श्रेष्ठ भाषाविज्ञ होने के प्रबल प्रमाण हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र सिद्धान्तज्ञ के रूप में

आचार्य अमृतचन्द्र उच्चकोटि के सिद्धान्तज्ञ थे। जिस प्रकार तीर्थंकर महावीर के बाद अनेक सिद्धांतपारगामी आचार्य हुए; परन्तु उनमें आचार्य कुन्दकुन्द का नाम सर्वाधिक विश्रुत एवं प्रामाणिक माना जाता रहा है, उसी प्रकार जैन सिद्धांतसूत्रों के तलस्पर्शी वेत्ता अनेक टीकाकार आचार्य हुए, परन्तु आचार्य अमृतचन्द्र का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रामाणिक टीकाकार के रूप में माना जाता है। इसका प्रमुख कारण है उनकी सिद्धान्तज्ञता। आचार्य कुन्दकुन्द के सूत्र तीर्थंकरों की वाणी का सार है, उस सार को हृदयंगम करके सफलतापूर्वक उसका मर्म प्रकट करने का श्रेय विशेष रूप से टीकाकार अमृतचन्द्र आचार्य को है। उनके सिद्धांतज्ञ होने के कुछ आधार इस प्रकार हैं—

१. अमृतचन्द्र कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के टीकाकार हैं। कुन्दकुन्दाचार्य को द्वितीय श्रुतस्कंध सिद्धांत परम्परा का ज्ञान प्राप्त था। वह सिद्धांत परम्परा मुख्यतः अध्यात्मपरक् तथा शुद्धद्रव्यार्थिक नय की कथन शैली से सम्बद्ध है। इसी सिद्धांतपरम्परा के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र हैं, अतः स्पष्ट है कि वे अध्यात्मपरक सिद्धांतों के तलस्पर्शी, गम्भीर अध्येता तथा व्याख्याता थे।

२. प्रथम श्रुतस्कंध सिद्धांत परम्परा षट्खण्डागम, गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रन्थों में निबद्ध है। कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य आचार्य उमास्वामी ने उक्त सिद्धांत परम्परा का सार मूलरूपेण निबद्ध करके "तत्त्वार्थसूत्र" नामक महानसूत्रग्रन्थ की संस्कृत में रचना की। आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर "तत्त्वार्थसार" नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों का पद्यरूप में सरलीकरण तथा विशदीकरण किया, इससे अमृतचन्द्र की जैनदार्शनिक सिद्धांतों की विज्ञता भी प्रमाणित होती है।

३. वे जैन आचारपरंपरा विषयक चरणानुयोग के सिद्धांतों के भी मर्मज्ञ थे। उनकी मौलिक रचना पुरुषार्थसिद्ध्युपाय इसका ज्वलंत प्रमाण है। इस ग्रन्थ में वर्णित अहिंसा सिद्धांत का विशद् विवेचन विद्वानों को भी विस्मयकारी है। ऐसा अनूठी सिद्धांतविवेचना अन्यत्र दुर्लभ है।

४. नवीन उपलब्ध "लघुतत्त्वस्फोट" नामक भक्तिकाव्य विषयक बेजोड़ कृति तो जैन सिद्धांतों का खजाना ही है, साथ ही आचार्य अमृतचन्द्र की सिद्धांतज्ञता का चिरस्थायी स्मारक है। इस ग्रन्थ में जिनेन्द्रदेव की स्तुति के बहाने आचार्य समंतभद्रस्वामी के युक्त्यनुशासन, देवागमस्तोत्र, स्तुतिविद्या, तथा स्वयंभूस्तोत्र ग्रन्थों की तरह दार्शनिक सिद्धांतों की गुत्थियों को एक श्रेष्ठतम काव्यकलाकार की हैसियत से सुलझाया तथा स्पष्टीकरण किया गया है। उनके पंचास्तिकाय तथा प्रवचनसार की टीकाओं में उनके सिद्धांतज्ञान का चरमोत्कर्ष देखने योग्य है।

५. अपनी टीकाओं में विभिन्न सिद्धांतों के स्पष्टीकरण के साथ ही पूर्वाचार्योक्त गाथाओं के "उक्तञ्च" के रूप में उद्धरण प्रस्तुतकर उनकी सम्पुष्टि की है।[1] उदाहरणार्थ "कर्मग्रन्थप्रतिपादितजीव गुणमार्गणा-स्थानादिप्रपंचितविचित्रविकल्परूपैः"[2] लिखकर गोम्मटसार आदि कर्म सिद्धांत विषयक ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

---

१. देखिये – पंचास्तिकाय गाथा १४६, १७२ की टीकाएं। प्रवचनसार गाथा ५२, १६६ तथा २७५ की टीकाएं। समयसार गाथा १२, ३०५ की टीकाएं।

२. पंचास्तिकाय गाथा १२३ की टीका।

६. जैनदर्शन में बहुचर्चित गूढ़ार्थवाची अनेक सिद्धांतों का विशद-रूपेण स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। उनमें स्याद्वाद, अनेकांत, कर्त्ताकर्म, निमित्तनैमित्तिक, क्रमबद्धपर्याय, षट्कारक, नय, प्रमाण, निक्षेप, पुण्यपाप बन्धमोक्ष, निश्चयाभास, व्यवहारभास, शुभ-अशुभ तथा शुद्ध उपयोग, द्रव्य-गुण-पर्याय, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, महास्कंध, महासत्ता, अवांतरसत्ता, युतसिद्ध-अयुतसिद्ध, सामान्यगुण, विशेषगुण, अस्तिकाय इत्यादि प्रमुख सिद्धांत हैं, जिनका स्पष्टोल्लेख आगे यथा स्थान किया गया है :

७. आचार्य अमृतचन्द्र जैनसिद्धांतों के पारंगत, अधिकारी, मर्मज्ञ-विशेषज्ञ तो थे ही, साथ ही वे अन्यदर्शनों में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध, नास्तिक, मीमांसक, अद्वैतब्रह्म तथा श्वेताम्बर आदि दर्शनों के ज्ञाता थे, इसीलिए उन्होंने अपनी कृतियों में इन मतों का उल्लेख तथा निराकरण किया है।[1]

८. वे सूत्रतात्पर्य तथा शास्त्रतात्पर्य को भी स्पष्ट करते जाते हैं। सूत्रतात्पर्य प्रत्येक सूत्र की उत्थानिका के रूप में प्रारम्भ में तथा गाथा टीका के अन्त में देते हैं, तथा शास्त्रतात्पर्य वीतरागता को बताते हैं।[2] गाथा की टीका के अन्त में "यहां यह तात्पर्य है" "इदमत्र तात्पर्य"[3] लिखकर सिद्धांतस्पष्टीकरण किया गया है। सिद्धांत स्पष्टीकरण करते समय वे बड़ी विलक्षण बुद्धि एवं तर्क का प्रयोग करते हैं तथा बालबुद्धि-जनों को भी सिद्धांत समझ में आ सके, उसके लिए वे दृष्टांत का सहारा

---

१. सांख्यमत—देखिये समयसार गाथा, ३३२ से ३४० तक की आत्मख्याति टीका कलश नं. २०५ से २०७ तक, समयसार गाथा २ की टीका। वैशेषिकमत-(प्रवचनसार गाथा, ९८, समयसार गाथा २ की टीका। नैयायिकमत-समय-सार गाथा, २ की टीका। बौद्धमत-पंचास्तिकाय गाथा, ३८ प्रवचनसार गाथा १४४। समयसार कलश २०६, २०८ तथा समयसार गाथा २ की टीका। नास्तिकमत - समयसार गाथा २ की टीका। अद्वैतब्रह्ममत - समयसार गाथा २ टीका, स्याद्वाद अधिकार (समयसार) परिशिष्ट पृष्ठ ५७१। श्वेताम्बरमत-पंचास्तिकाय गाथा १०५ तथा तत्त्वार्थसार अध्याय ५, पद्य क्र. ६। दिगम्बर जैन श्रमणाभासों का खण्डन-३३२ से ३४४ गाथा की टीका (समयसार)।

२. पंचास्तिकाय गाथा १७२ की टीका

३. प्रवचनसार गाथा १५१ की टीका

लेते हैं। दृष्टांत के सहारे दुर्गम सिद्धांत भी सुगम हो जाते हैं, इसका उल्लेख एक स्थल पर अमृतचन्द्र ने स्वयं किया है। यथा—

"अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धांतयति – येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्गुणांश्च पश्यति जानाति च, तेनैव प्रकारेण रूपादि रहितो रूपिभिः कर्मपुद्गलैः किल बध्यते, अन्यथा कथममूर्तो मूर्तं पश्यति जानाति चेत्यत्रापि पर्युनुयोगस्यानिवार्यत्वात्। न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृतं, किन्तु दृष्टांत द्वारेणाबालगोपाल-प्रकटितम्। तथाहि यथा बालस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतो जानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति सम्बन्धः, विषय भावावस्थितबलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसम्बन्धो बलीवर्दसंबंधव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनोरूपत्वेन स्पर्श-शून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति संबंधः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गल-निमित्तोपयोगाधिरूढ रागद्वेषादि भाव सम्बन्धः कर्म पुद्गलबंधव्यवहार साधकस्त्वस्त्येव।"[1]

उपर्युक्त टीका में अमृतचन्द्र की सिद्धांतज्ञता स्पष्ट रूप से प्रकट होती है।

९. एक श्रेष्ठ सिद्धांतवेत्ता ही ऐसा विलक्षण तथा गंभीर कथन कर सकता है कि अर्हंतादिकी भक्ति रूप शुभ राग-प्रशस्तराग भी साक्षात्

---

१. प्रवचनसार गाथा १७४ की टीका—अर्थ-जिस प्रकार से रूपादि रहित (जीव) रूपी द्रव्यों को, उनके गुणों को देखता व जानता है, उसी प्रकार रूपादि रहित (जीव) रूपी पुद्गल कर्मों के साथ बंधता है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो यह प्रश्न अनिवार्य होगा कि अमूर्त मूर्त को कैसे देखता है तथा जानता है? और यह (रूपी-अरूपी के बंध की बात) अत्यन्त दुर्घट भी नहीं है इसलिये उसे सिद्धांतरूप बताया है, परंतु आबालगोपाल सभी को ज्ञात हो जाय इसलिये दृष्टांत द्वारा समझाया गया है। जिस प्रकार बालगोपाल के पृथक् रहने वाले मिट्टी के बैल को अथवा सच्चे बैल को देखने जानने पर बैल के साथ संबंध नहीं है तथापि विषयरूप से अवस्थित बैल के निमित्त से उपयोगाधिरूढ़ बैल आकार के दर्शन ज्ञान के सम्बन्ध से बैल के साथ सम्बन्ध वाले व्यवहार का साधक अवश्य है, इसी प्रकार आत्मा अरूपीपने के कारण स्पर्श शून्य होने से उसका कर्मपुद्गलों के साथ सम्बन्ध नहीं है, तथापि एक क्षेत्रावगाही कर्म-पुद्गल के निमित्त से उपयोगारूढ़ रागद्वेषादि भावों के साथ सम्बन्ध, कर्म-पुद्गलों के साथ के बंधरूप व्यवहार का साधक अवश्य है।

मोक्ष का बाधक - अन्तराय है। उसका कारण प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं – "अर्हदादिभक्तिमात्ररागजनित साक्षान्मोक्षस्यान्तरायद्योतनमेतत्। यः खल्वर्हदादिभक्ति विधेयबुद्धिः सन् परमसंयमप्रधानमतितीव्रं तपस्तप्यते, स तावन्मात्ररागकलिकलङ्कित स्वान्तः साक्षान्मोक्षस्यान्तरायीभूतं विषयविषद्रुमामोदमोहितान्तरङ्गं स्वर्गलोकं समासाद्य, सुचिरं रागांगारै पच्यमानोऽन्तस्ताम्यतीति।"[1] इस व्याख्या के पूर्व सिद्धांतवेत्ता अमृतचन्द्र यह बात भी स्पष्ट करते हैं कि अर्हंतादि की भक्ति परसमय रूप प्रवृत्ति होने से साक्षात् मोक्ष के हेतुपने से रहित है, परन्तु उसमें परम्परा से मोक्ष का हेतुपना भी दर्शाया गया है।[2] यहाँ परम्परा से राग को मोक्ष का कारण सुनकर राग को उपादेय नहीं मानना चाहिए, बल्कि हेय ही मानना चाहिये।[3] जो उस अर्हंतादि की भक्ति रूप प्रशस्त-राग के एक कण को भी उपादेय मानता है अथवा जिसके हृदय में रागकण जीवित है, वह भले ही समस्तसिद्धांत का पारंगत हो तथापि रागरहित (अरागी) निज शुद्धस्वरूप स्वसमय (शुद्धात्मा) को वास्तव में नहीं जानता। इसलिए "धुनकी से चिपकी हुई रुई" के न्याय के अनुसार, जीव को स्वसमय की प्रसिद्धि हेतु अर्हंतादि की भक्ति विषयक भी रागरेणु क्रमशः दूर करने योग्य है।[4] वह रागरेणु अनर्थपरम्परा का कारण है।[5] एक स्थल पर तो वे यहाँ तक लिखते हैं कि इस जगत् में रत्नत्रयरूप धर्म निर्वाण का ही कारण होता है, अन्य गति का नहीं। रत्नत्रय के साथ जो पुण्य का आस्रव होता है, वह शुभोपयोग का अपराध है।[6] भक्तिरूप प्रशस्तराग - शुभराग - पुण्यभाव के विषय में इतना खुलासा कथन करना एक महान् सिद्धांतवेत्ता आचार्य अमृतचन्द्र जैसों का काम है।

---

१. पंचास्तिकाय गाथा, १७१

२. पंचास्तिकाय गाथा १७० ("....साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावेऽपि परम्परा मोक्षहेतुस्वभावद्योतनमेतत्॥")

३. वही गाथा १६६ (ततः सर्वत्र रागकणिकाऽपि परिहरणीया परसमयप्रवृत्ति निबन्धनत्वादिति")।

४. वही गाथा १६७ (यस्य खलु रागरेणु कणिकाऽपिजीवति....क्रमेण रागरेणुरपसरणीया।")

५. वही गाथा १६८ (रागलवमूलदोषपरंपरारव्यानमेतत्....ततोरागकलिविलासमूल एवायमनर्थसंतान इति")

६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय गाथा २२०– रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः॥

१०. उन्होंने अपनी टीकाओं में अनेक सैद्धांतिक युगलों का उल्लेख एवं स्पष्टीकरण किया है। उनमें कुछ युगलों के नाम इस प्रकार है —

ज्ञेय-ज्ञायक, बोध्य-बोधक, दाह्य-दहन, धर्म-धर्मी, वाच्य-वाचक, ज्ञान-ज्ञानी, ग्राह्य-ग्राहक, विकार्य-विकारक, आस्राव्य-आस्रावक, संवार्य-संवारक, निर्जर्य-निर्जरक, बंध्य-बंधक, मोक्ष्य-मोचक, साध्य-साधक, बध्य-घातक, प्रमेय-प्रमाण, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, भोक्ता-भोग्य, भाव्य-भावक, परिणाम-परिणामी, स्व-स्वामी संबंध, व्याप्य-व्यापक, प्रतिपाद्य-प्रतिपादक, निषेध्य-निषेधक, आधार-आधेय, प्रकरण-प्राकरणिक चेत्य-चेतक, उत्पाद्य-उत्पादक, कार्य-कारण, उपाय-उपेय, दर्शन-दृष्टा, ज्ञान-ज्ञाता, चेतना-चेतयिता, श्वेत्यः-श्वेतयित्री, वेद्य-वेदक, साध्य-सिद्धि,[1] विषय-विषयी, विशेषण-विशेष्य, अभिधेय-अभिधान, लक्ष्य-लक्षण, दंड-बण्डी, सिद्धि-सिद्धिमत्, निष्पन्न-निष्पत्तिमत्, विधीमान-विधायिका, कार्य-कारण, लिंग-लिंगी, वृत्ति-वृत्तिमान, ज्ञान-ज्ञेय, परिणम्य-परिणामक, उत्सर्ग-अपवाद, सामान्य-विशेष, दृष्टांत-दार्ष्टांत, अंग-अंगी, ज्ञेयतत्व-ज्ञातृतत्व, बधक-मोचक,[2] मेचक-अमेचक, एक-अनेक, तत्-असत्, अस्ति-नास्ति,[3] धन-धनी, लक्ष्य-लक्षण, शरीर-शरीरी, गुण-गुणी, त्याज्योपादान, हेय-उपादेय[4] इत्यादि। इस प्रकार इतने सैद्धांतिक युगलों का प्रयोग एवं स्पष्टीकरण सामान्य सिद्धांतवेत्ता नहीं अपितु विशेष सिद्धांतज्ञ ही कर सकता है।

अन्यत्र प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान कल्पों का विवेचन ४९-४९ भंगों, द्वारा किया गया है। कृत, कारित तथा अनुमोदना के ७ भंग बनाये तथा मन, वचन और काय के ७ भंग बनाये[5] तथा उन

---

१. समयसार गाथा क्रमांक ६, ७, ८, १०, ३१, १८, ७४, ८३, ८५ २०७, ७५, २७५, १८३, १९७, २९४, ३११, ४१५, (परिशिष्ठ)

२. प्रवचनसार गाथा ४०, ८०, ८६, ९५, १०६, १२२, १४२, १२९ १६५, १७४, १९१, १९९, २००, २१५, २३३, २४२, २७५, की टीकाएं।

३. समयसार गाथा ४१५ के बाद का परिशिष्ट तथा कलश क्रमांक २४८ से २५५ तक।

४. पंचास्तिकाय गाथा ९, ४७, १२७, १४५, १६१ इत्यादि की टीकाएं।

५. समयसार गाथ ३८७ से ३८९ की टीका:– ७ भंग इस प्रकार बनते हैं (१) कृत (२) कारित (३) अनुमोदना (४) कृत-कारित (५) कृत अनुमोदना (६) कारित अनुमोदना (७) कृतकारित अनुमोदना। इसी तरह (१) मन (२) वचन (३) काय (४) मन वचन (५) मन काय (६) वचन काय (७) मन वचन काय।

दोनों को परस्पर में बदल बदल कर प्रयोग करने से ७×७=४९ भंग तैयार होते हैं।[1] यह भंगनिर्माण विधि भी काफी श्रम तथा विशेषबुद्धि-गम्य है। इन सभी उल्लेखों तथा प्रमाणों के आधार पर आचार्य अमृतचन्द्र निःसंदेह रूप से उत्कृष्ट सिद्धांतज्ञ प्रमाणित होते हैं। एक स्थल पर उनका नाम "सिद्धांतविशारद" पद से विभूषित किया गया है।[2]

आचार्य अमृतचन्द्र जिस प्रकार प्रौढ़तम एवं गभीरतम आध्यात्मिक सिद्धांतों के ज्ञाता तथा रसिक थे, उसी प्रकार दार्शनिक सिद्धांतों के भी वे उत्कृष्ट अधिकारी विद्वान थे। इसका प्रबल प्रमाण यही है कि उन्होंने आध्यात्मिक सिद्धान्तों का रहस्य समयसार की टीका द्वारा उद्घाटित किया है तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का मर्म प्रवचनसार, पंचास्तिकाय की टीकाओं तथा तत्वार्थसार नामक कृति द्वारा अभिव्यक्त किया है। उन्होंने सिद्धान्तों को मात्र वाणी का विलास नहीं बनाया, अपितु उन्हें अपने जीवन में उतारा था, इसीलिए एक स्थल पर मोक्षमार्ग का दिग्दर्शन कराते हुये लिखा है कि उस मोक्षमार्ग के प्रणेता हम खड़े हैं।[3] वे द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग के सामंजस्य के प्रबल समर्थक रहे हैं। इसका प्रमाण निम्न पद्य है —

(वसंततिलका छन्द)

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम्।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं, द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥

---

१. इन दोनों के परस्पर भिन्न भिन्न संयोग वियोग द्वारा ४९ भंग तैयार होते हैं। (वही गाथा ३८९)

२. देखिये :— कन्नड़ प्रांतीय ताड़पत्रीय ग्रन्थ सूची – प्रस्तावना, पृष्ठ १५

३. प्रवचनसार गाथा २०१ की टीका :— इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां प्रणतिवन्दनात्मक नमस्कार पुरस्सरं विशुद्धदर्शनज्ञान प्रधानं साम्यनाम श्रामण्यमवान्तरग्रन्थसंदर्भोभय संभावित सौस्थित्यं स्वयं प्रतिपन्नं परेषामात्मापि यदि दुःखमोक्षार्थी तथा तत्प्रतिपद्यतां यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति ॥" अर्थात् इस प्रकार अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओं को प्रणाम वंदनात्मक नमस्कारपूर्वक विशुद्धदर्शन-ज्ञानप्रधान साम्यनामक श्रामण्य को जिसका इस ग्रन्थ के (ज्ञानतत्त्व तथा ज्ञेयतत्त्व रूप) दो संदर्भों द्वारा अवस्थापन हुआ है, उसे स्वयं अंगीकार किया, उसी प्रकार दूसरों का आत्मा भी, यदि दुःखों से मुक्त होने का इच्छुक है तो उसे अंगीकार करे। उस श्रामण्य को अंगीकार करने का जो यथानुभूत मार्ग है उसके प्रणेता हम यह खड़े हैं।

(इन्द्रवज्रा छंद)

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः ।
द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ॥
बुद्धवेति कर्माविरताः परेऽपि,
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरंतु ॥[1]

इसके अतिरिक्त मुख्यपने श्रावकों के तथा गौणपने मुनियों के आचार का निरूपक 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' नामक श्रेष्ठ ग्रन्थ भी इसका सबल प्रमाण है कि आचार्य अमृतचन्द्र एक गम्भीर सिद्धान्तज्ञ थे।

आचार्य अमृतचन्द्र व्याकरणज्ञ के रूप में

संस्कृत साहित्य की विभिन्न विधाओं में व्याकरण का स्थान सर्वोपरि है। अन्य विधाओं के विद्वान सुलभ हैं, परन्तु व्याकरण में दक्ष विद्वान् इने-गिने ही होते हैं, कारण कि व्याकरण एक अत्यंत क्लिष्ट तथा शुष्क विषय माना गया है। उसमें पारङ्गतता सभी को नहीं होती। व्याकरण की दक्षता बिना कोई भी विद्वान् किसी भी भाषा का अधिकारी विद्वान् नहीं हो सकता। आचार्य अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व अपने अनेक पक्षों में एक पक्ष व्याकरणविशेषज्ञ का भी समाहित किये हैं। उनकी व्याकरणज्ञता के कुछ आधारों का उल्लेख किया जाता है।

१. आचार्य अमृतचन्द्र अपनी टीकाओं में कभी-कभी एक-एक पद की व्याख्या समासविग्रह शैली द्वारा करते हैं। वे अनेक प्रकार के समास-विग्रह करके पद-शब्द में निहित भाव को प्रकट करते हैं। उदाहरण के लिए एक स्थल पर "अणुमहान्" पद की व्याख्या करते हुये लिखते हैं— "अणवोऽत्र प्रदेशा मूर्ताऽमूर्ताश्च निर्विभागांशास्तैः महान्तो ऽणुमहान्तः।" अर्थात् यहां अणु का प्रदेश मूर्त और अमूर्त निर्विभाग (छोटे-छोटे) अंश हैं, उनके द्वारा महान् होने से अणुमहान् है अर्थात् प्रदेशप्रचयात्मक होने से अणुमहान् है, इस प्रकार उन पांचों (जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश) द्रव्यों के कायपना (बहुप्रदेशीपना) सिद्ध हुआ।[1] वे इसी पद की व्याख्या पुनः करते हुये लिखते हैं–"अणुभ्यां महान्त इति व्युत्पत्त्या द्वयणुकपुद्गलस्कंधानामपि तथाविधत्वम्।" अर्थात् दो अणुओं (प्रदेशों) द्वारा जो महान् है वह अणुमहान् है। इस प्रकार व्युत्पत्ति द्वारा द्वयणुक

१. प्रवचनसार गाथा २०० की टीका, पद्य नं १२ तथा १३
२. पंचास्तिकाय गाथा ४ की टीका

पुद्गलस्कंधों को भी (अणुमहानपना होने से) कायपना सिद्ध है।[1] अमृतचन्द्र एक कुशल व्याकरणज्ञ होने से वे प्रथम व्युत्पत्ति में उत्पन्न शंका को दूर करने के लिये द्वितीय व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हैं। शंका यह है कि अणुमहान् की व्युत्पत्ति में प्रदेशों (अणुओं) के लिए बहुवचन का उपयोग किया है, जबकि संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार द्विवचन का समावेश बहुवचन में नहीं होता, इसलिये पुनः व्युत्पत्ति में परिवर्तन करके द्वि-अणुक स्कंधों को भी कायत्व सिद्ध किया। आगे फिर से परमाणुओं के कायपने की सिद्धि करने हेतु तृतीय व्युत्पत्ति प्रस्तुत करते हुए वे लिखते हैं–"अणवश्च महान्तश्च व्यक्तिशक्ति रूपाभ्यामिति परमाणूनामेक-प्रदेशात्मकत्वेऽपि तत्सिद्धिः।"[2] अर्थात् व्यक्ति और शक्ति रूप से अणु तथा महान् होने से (अथवा परमाणु व्यक्ति रूप से एक प्रदेशी तथा शक्ति रूप से अनेक प्रदेशी होने के कारण) परमाणुओं को भी, उनके एकप्रदेशीपना होने पर भी अणुमहान्पना - कायपना सिद्ध होता है।

२. एक कुशल वैयाकरण की व्याख्या व्युत्पत्ति अथवा निरुक्ति परक हुआ करती है। पूर्व में उनकी व्युत्पत्तिपरक शैली की चर्चा का उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ फिर भी उनकी उक्त व्याख्यापद्धति का एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। द्रव्य पद की व्याख्या करते हुये वे लिखते हैं–"द्रवति गच्छति सामान्यरूपेण स्वरूपेण व्याप्नोति, तांस्तान् क्रमभुवः सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभावविशेषानित्यानु-गतार्थया निरुक्त्या द्रव्यं व्याख्यातम्।"[3] अर्थात् जो द्रवित होता है प्राप्त होता है, सामान्यरूप स्वरूप से जो व्याप्त होता है, वह द्रव्य है।" इस प्रकार ("द्रु" धातु का अनुसरण करने वाली) अनुगत अर्थ वाली निरुक्ति से द्रव्य की व्याख्या की गई है। इसी प्रकार द्रव्य-गुण तथा पर्याय में एक ही अर्थवाचीपना पाया जाता है, इसके स्पष्टीकरण हेतु वे बड़ी कुशलता के साथ "ऋ" धातु से "अर्थ" पद की निष्पत्ति दिखाते हुए लिखते हैं–"तत्र गुणपर्यायानिर्यंति गुणपर्यायैर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयंति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः, द्रव्याणि

---

१. वही, गाथा ४ की टीका
२. वही, गाथा ४ की टीका
३. पंचास्तिकाय गाथा ६ की टीका

क्रमपरिणामेनेयर्ति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्थाः पर्यायाः।"[1] उपरोक्त अंश में "ऋ" धातु से विभिन्न प्रत्यय परिवर्तित करके "अर्थ", यर्ति, अर्यन्तः, इयर्ति तथा अर्यमाणं शब्दों की निष्पत्ति की गई है जो एक कुशल वैयाकरण के द्वारा ही सम्भव है।

३. अमृतचन्द्र के वाङ्मय में अधिकांश प्रत्ययों के प्रयोग से निष्पन्न शब्द उपलब्ध हैं। उनमें कुछ प्रत्ययों के नाम हैं – क्त्वा, डतमच्, शतृ, शानच्, ष्मत्, यत्, तुमुन्, ईयसुन्, अण्, इत तथा अन्य अनेक तद्धित-कृदन्त प्रत्यय इत्यादि। उनके द्वारा व्याकरण से सम्बन्धित सभी प्रकार के नियमों, प्रयोगों तथा सूक्ष्मताओं का भलीभांति निर्वहन किया गया है। अप्रचलित शब्दावलि, विभिन्न उपसर्गों से निर्मित विभिन्नार्थक पद, सभी प्रकार की संधियां, समास, धातुरूप, संज्ञाएं, विशेषण आदि, संज्ञाओं का क्रियारूप में प्रयोग जैसे – आत्मीकुर्वन्, ज्ञेयीकुर्वन्, ज्ञानीकुर्वन्[2] सूत्रयति, सूत्रयिष्यते, आसूत्र्यते, आसूत्रयति[3], कक्षीक्रियते, द्रवीकुर्युः, हेमीक्रियेरन्, पर्यायिकुर्युः, पर्यायमात्रीकियेत्[4] इत्यादि प्रयोगों से उनकी व्याकरणज्ञता भलीभांति विदित होती है।

४. वे षट्कारकों के प्रयोग द्वारा क्लिष्टतम सिद्धांत को भी बड़ी चातुरी के साथ समझा देते हैं। यथा एक स्थल पर द्रव्य तथा गुणों में अन्यपने का व्यपदेश (कथन) होने पर भी वे सर्वथा एकांतरूप से अन्य नहीं होते, अपितु उनमें अनन्यपना भी घटित होता है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं –

"व्यपदेशादीनामेकांतेन द्रव्यगुणान्यत्वनिबंधनत्वमत्र प्रत्याख्यातम्। यथा देवदत्तस्य गौरित्यन्त्वे षष्ठीव्यपदेशः, तथा वृक्षस्यशाखा,

---

१. प्रवचनसार गाथा ८७ की टीका—अर्थ-उनमें जो गुणों को और पर्यायों को प्राप्त करते हैं-पहुँचते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते है-पहुँचे जाते हैं ऐसे अर्थ वे द्रव्य हैं, जो द्रव्यों को आश्रय रूप में प्राप्त करते हैं-पहुँचते हैं अथवा जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं-पहुँचे जाते हैं ऐसे अर्थ वे गुण हैं तथा जो द्रव्यों को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते हैं-पहुँचे हैं अथवा जो द्रव्यों के द्वारा क्रमपरिणाम को प्राप्त किये जाते हैं, पहुँचे जाते हैं ऐसे अर्थ वे पर्याय हैं।

२. प्रवचनसार गाथा २०० की टीका ३. वही, गाथा १३७ की टीका

४. प्रवचनसार गाथा १११ की टीका

द्रव्यस्यगुणा इत्यनन्यत्वेऽपि । यथा देवदत्तः फलमङ्कुशेन धनदत्ताय वृक्षाद्वाटिकायामवचिनोतीत्यन्यत्वे कारक व्यपदेशः, तथा मृत्तिकाघटभावं स्वयं स्वेन स्वस्मै स्वस्मात् स्वस्मिन् करोतीत्यात्मात्मानमात्मनात्मने आत्मन आत्मनि जानातीत्यनन्यत्वेऽपि [illegible] प्रांशोर्देवदत्तस्य प्रांशुर्गौरित्यन्यत्वे संस्थानं, तथा प्रांशोर्वृक्षस्य प्रांशुः शाखाभरो मूर्त द्रव्यस्यमूर्ता गुणा इत्यन्यत्वेऽपि यथैकस्य देवदत्तस्य दशगाव इत्यन्यत्वे संख्या, तथैकस्य वृक्षस्य दशशाखाः, एकस्य द्रव्यस्यानन्ता गुणा इत्यन्यत्वेऽपि । यथा गोष्ठे गाव इत्यन्यत्वे विषयः, तथा वृक्षे शाखाः द्रव्ये गुणाः इत्यन्यत्वेऽपि । ततो न व्यपदेशादयो द्रव्यगुणानां वस्तुत्वेन भेदं साधयंतीति"[1] षट्कारकों के ऐसे प्रयोग गद्य में ही नहीं, पद्य में भी वे करते हैं और उसके द्वारा अपने सिद्धांत को स्पष्ट कर देते हैं। उदाहरण के लिए तत्त्वार्थसार (उपसंहार) के निम्न श्लोकों में गुणगुणी के भेद को गौण करके अभेदविवक्षा से आत्मा को दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप निरूपित करते हुये लिखा है कि—

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि ।
दर्शनज्ञान चारित्रत्रयमात्मैव सः स्मृतः ॥ ८॥

पश्यति स्वरूपं यं जानाति च चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥ ९॥

---

१. पंचास्तिकाय गाथा ४६ की टीका— अर्थ-व्यपदेश आदि मात्र से द्रव्य व गुणों के अन्यपने के प्रसंग का खण्डन किया है। जैसे "देवदत्त की गाय" इस प्रकार के अन्यपने में षष्ठी का व्यपदेश होता है, वैसे ही "वृक्ष की शाखा" या "द्रव्य के गुण" इस प्रकार के अनन्यपने में भी षष्ठी का व्यपदेश होता है। उसी तरह "मिट्टी स्वयं षट्भाव को अपने द्वारा, अपने लिये, अपने में से, अपने में करती है, तथा आत्मा, आत्मा को, आत्मा द्वारा, आत्मा के लिये, आत्मा में से, आत्मा में जानता है" ऐसे अनन्यपने में भी कारक व्यपदेश होता है। जिस प्रकार "ऊंचे देवदत्त की ऊंची गाय" ऐसा अन्यपने में संस्थान होता है, उसी प्रकार विशालवृक्ष का विशालशाखासमुदाय, मूर्त द्रव्य के मूर्तगुण, ऐसे अनन्यपने में भी संस्थान होता है। जिस प्रकार "एक देवदत्त की दस गायें" ऐसे अन्यपने में भी संख्या होती है, जिस प्रकार "बाड़े में गायें" ऐसे अन्यपने में विषय (आधार) होता है, उसी प्रकार "वृक्ष में शाखायें" द्रव्य में गुण ऐसे अन्यपने में भी विषय (आधार) होता है, इसलिए व्यपदेशादि मात्र से द्रव्य तथा गुणों में भेद सिद्ध नहीं होता।

दृश्यते येन रूपेण ज्ञायते चर्यतेऽपि च।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१०॥

यस्मै पश्यति जानाति स्वरूपाय चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥११॥

यस्मात्पश्यति जानाति स्वं स्वरूपाच्चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१२॥

यस्य पश्यति जानाति स्वरूपस्य चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१३॥

यस्मिन् पश्यति जानाति स्वस्वरूपे चरत्यपि।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव तन्मयः ॥१४॥

इस प्रकार उपरोक्त ७ पदों में "यद्" पुल्लिंग सर्वनाम पद के एक वचन की सातों विभक्तियों के रूपों का प्रयोग किया गया है, साथ ही आत्मा को दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र गुणरूप त्रयात्मक एवं अभेद सिद्ध किया गया है।तत्पश्चात् पद्य क्रमांक १५ से लेकर २० तक में क्रमशः दर्शनज्ञानचारित्ररूप क्रिया, गुण, पर्याय, प्रदेश, अगुरुलघुगुण तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय इन पदों के परिवर्तन के साथ पूर्ववत् श्लोकों की पुनरावृत्तिः हो गई है। इस प्रकार उनको व्याकरण सम्बन्धी कुशलता स्पष्ट प्रकट होती है।

आचार्य अमृतचन्द्र अध्यात्मरसिक के रूप में

आचार्य अमृतचन्द्र के बहुमुखी व्यक्तित्व का सर्वाधिक श्रेष्ठ पहलू उनका "अध्यात्मरसिक" होना है। "अध्यात्म" का व्युत्पत्यर्थ है "आत्मा की सीमा में रहना"। आचार्य अमृतचन्द्र का सम्पूर्ण जीवन एवं टीका साहित्य आत्मानुभूति का दर्पण है। समयसार की आत्मख्याति टीका के मंगलाचरण में टीकाकार ने "स्वानुभूत्या चकासते" पद द्वारा अनुभूति द्वारा प्रकट होने वाले निजशुद्धात्मा को नमस्कार किया है। उनकी टीका रचना का उद्देश्य भी निजात्मानुभूति द्वारा परमविशुद्धता पाना है[1] तथा उस विशुद्धता की प्राप्ति हेतु स्यात्पद मुद्रांकित जिनेन्द्र के वचनों में रमण करना जरूरी है। जिन वचनों में रमण करने से शीघ्र

---

१. समयसार कलश, ३

ही उच्च ज्योतिस्वरूप शुद्धात्मा (समयसार) के दर्शन होते हैं।[१] ऐसी आत्मज्योति का दर्शन टीकाकार पद-पद पर करते हैं।[२] इस आत्म-ज्योति के अनुभव में एकमात्र (अद्वैत) आत्मा ही प्रकाशित होता है, अन्य समस्त विकल्प छूट जाते हैं।[३] आचार्य अमृतचन्द्र ऐसी अनुभूति प्रकट करने की कल्याणकारी प्रेरणा सम्पूर्ण जगत् को देते हैं।[४] वे लिखते हैं कि भगवान् आत्मा की महिमा आत्मानुभवगम्य है[५] तथा अनुभव या अनुभूति शुद्धनयरूप है, उसे ही ज्ञानानुभूति कहते हैं। अतः अपनी आत्मा को अपनी आत्मा में अचल रूप से स्थिर कर देखने पर अपना आत्मा सर्व ओर से सदा एक ज्ञानघन ही अनुभव में आता है।[६] ऐसी अनुभूति उन्हें निरन्तर होती रहती है, इसीलिए वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि उसे "सततं अनुभवामः" हम हमेशा अनुभव करते हैं।[७]

आचार्य अमृतचन्द्र अध्यात्मरस के रसिक तो थे ही, साथ ही समग्र जगत् को भी इस अध्यात्म रस का रसास्वाद करने की प्रेरणा देते हुए वे लिखते हैं – "यह सम्पूर्ण जगत् अब तो इस अनादिकालीन मोह को छोड़कर अध्यात्मरसिकों को रूचिकर भेदज्ञान का आस्वादन करें।"[८] उनकी अध्यात्मरसिकता का ज्वलंत प्रमाण यही है कि वे चाहते हैं कि जगत् के प्राणी किसी प्रकार भी, यहाँ तक कि मरकर के भी शुद्धात्मानुभूति की प्राप्ति हेतु कौतुहली (जिज्ञासु) मात्र भी बन जावें, तो एक मुहूर्तमात्र में परद्रव्य-परभावों से पृथक् प्रकाशमान अपने आत्मा को देखकर उसका अनुभव कर सकते हैं और परद्रव्यों के साथ की एकत्व-बुद्धि-मोहभाव को स्वयं ही शीघ्र छोड़ सकते हैं।[९] आत्मानुभूति के (आनन्द) को प्रकट करते हुए वे लिखते हैं — "मैं सर्वाङ्ग में आत्मरस से परिपूर्ण अपने एक स्वरूप को स्वयं संचेतन अनुभव करता हूँ। मोहजन्यभाव मेरे कोई नहीं है– कोई नहीं है, मैं तो शुद्ध चैतन्यरस का महोदधि हूँ।"[१०] इस प्रकार समस्त परद्रव्यों के भावों के साथ भिन्नत्व का ज्ञान हो जाने पर अपना यह उपयोग स्वयं अपने एक स्वरूप को ही

---

१. समयसार कलश ४
२. वही, कलश ८
३. वही, कलश ६
४. वही, कलश, ११
५. वही, कलश १२
६. वही, कलश १३
७. वही, कलश, २०
८. वही, कलश २२
९. वही, कलश २३
१०. वही, कलश, ३०

धारण करता है। साथ ही परमार्थस्वरूप को प्रगटकर, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणति अपनी आत्मा की सीमा में प्रवृत्त होती है।[1] इस आत्मा की सीमा में प्रवृत्त होना ही अध्यात्म का रस है, जिसके रसिक आचार्य अमृतचन्द्र हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अध्यात्म की गंगा प्रवाहित की है। उनकी आध्यात्मिक टीकाएं एवं मौलिक कृतियाँ परवर्ती लेखकों, विद्वानों तथा मुमुक्षुओं को अध्यात्म की ओर आकृष्ट करने में सफल हुई हैं। यदि आचार्य कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक वाङ्मय पर आचार्य अमृतचन्द्र ने परम आध्यात्मिक, गम्भीर तथा प्रौढ़ टीकाएं न रची होतीं, तो अध्यात्म गंगा का प्रवाह अब तक अवरुद्ध अथवा लुप्तप्रायः हो गया होता, परन्तु आज एक हजार वर्ष के बाद भी अमृतरस भरी अमरकृतियाँ अध्यात्मसरिता के अजस्र स्रोत के रूप में विद्यमान हैं तथा अगणित भव्यात्माओं को कल्याण पथ पर अग्रसर करती हैं। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित एवं अनुप्राणित लेखकों की तालिका देखने पर ज्ञात होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र की अध्यात्मरसिकता अध्यात्मजगत् को दिनकर सदृश प्रकाशदायिनी, चन्द्रमा की चांदनी सदृश शांतिदायिनी, तथा कषाय संतप्त जगत् को सुरसरिवत् शीतलता प्रदायनी है।

उनकी अध्यात्म रसिकता का एक सबसे बड़ा प्रमाण यह भी है कि जिन-जिन कृतियों तथा भाष्यों की रचना उनके द्वारा हुई, उन सभी के अन्त में अमृतचन्द्र ने अपने कर्तापने का निषेध किया तथा कर्तृत्व के समस्त मोहजन्य विकल्पों से परे निर्विकल्प समाधिरूप निजस्वरूप में लीनता के आनन्द को ही अभिव्यक्त किया।[2] उन्होंने स्वयं को ग्रन्थकर्ता या व्याख्याता अमृतचन्द्र न लिखकर "स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र" लिखा है जो उनकी अध्यात्मरस की मस्ती को प्रगट करता है। तीन लोक तीन काल में जगत् के समस्त पदार्थों में निजशुद्धात्मा से श्रेष्ठ अन्य कोई पदार्थ नहीं है "न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति" ऐसा उनका वचन था। वे यहाँ तक लिखते हैं कि अधिक बात करने (विकल्पों) से अब बस होओ अर्थात् अधिक चर्चा बन्द करो, नाना प्रकार के विकल्पों को भी

---

१. समयसार कलश, ३१

२. आत्मख्याति कलश टीका, तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा समयव्याख्या टीका के अंतिम पद्य— "स्वरूपगुप्तस्य न हि किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः।"

बस करो – छोड़ो। यह एक मात्र परमार्थ-परमतत्त्व (आत्मा) है, उसका ही सदा अनुभव करो, क्योंकि वही सर्वश्रेष्ठ है। अपने चैतन्यरस के विस्तार से परिपूर्ण ज्ञान द्वारा विस्फुरित सुविशुद्ध परमात्मतत्त्व से श्रेष्ठ उत्कृष्ट - सारभूत किंचित् कोई पदार्थ नहीं है।[1] शुद्धात्मस्वरूप के प्रदर्शक समयसार शास्त्र की टीका को वे सम्पूर्ण जगत् का प्रकाशक (देखने वाला) एक मात्र चक्षु निरूपित करते हैं, क्योंकि वह विज्ञानघनस्वरूप, आनन्द से परिपूर्ण, अक्षय आत्मा को प्रत्यक्ष दिखाता हुआ पूर्णता को प्राप्त होता है।[2] इस ग्रन्थ में इस आत्मतत्त्व का प्रतिपादन हुआ तथा आत्मा को ज्ञानमात्र सिद्ध किया गया। वह आत्मा अखंडित, एकरूप, निराबाध तथा स्वयं द्वारा अनुभव करने योग्य है।[3]

अमृतचन्द्र की अध्यात्म रसिकता प्रत्येक कृति में प्रस्फुटित हुई है। प्रवचनसार की टीका के आरम्भ में भी उद्घोषणा करते हैं कि परमानंद रूप सुधारस के पिपासु भव्यजनों के हित के लिए तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका रची जा रही है, जिसमें अध्यात्मतत्त्व का स्पष्ट रूपेण प्रकटीकरण किया जा रहा है।[4] यद्यपि अमृतचन्द्रकृत सभी मौलिक अथवा टीका-कृतियों में उनकी अध्यात्मरसिकता का रस भरा है, तथापि समयसार की आत्मख्याति टीका में अमृतचन्द्र की अध्यात्मरसिकता का रससमुद्र सर्वत्र लहराता प्रतीत होता है तथा वे उसमें कभी तैरते, कभी क्रीडा करते तो कभी डुबकी लगाते दिखाई देते हैं। आत्मख्याति टीका की रचना अध्यात्म की मस्ती के समय की गई है, इसलिए उसमें आगत गद्य-पद्य, छन्द, रस, अलंकार तथा माधुर्यादिगुण सभी अध्यात्मरस से पगे एवं अध्यात्मरस के उत्कर्षाधायक हैं। इस सभी की सविस्तार चर्चा

---

१. अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति ॥ २४४ ॥
– समयसार कलश

२. इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम्।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥ २४५ ॥ समयसार कलश

३. इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम्।
अखंडमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥ २४६ ॥ समयसार कलश

४. परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥ ३ ॥ प्रवचनसार टीका

यथासमय आगे की गई है। इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र का एक पहलू अध्यात्मरसिक का भी है।

आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव

आचार्य अमृतचन्द्र के विशाल व्यक्तित्व का प्रभाव उनके परवर्ती आचार्यों, मुनियों, भट्टारकों तथा अनेकानेक विद्वानों पर पड़ा। उनके सर्वतोमुखी व्यक्तित्व से प्रभावित लेखकों ने अपनी कृतियों में अमृतचन्द्र का अनुकरण किया। कुछ ने उनके सिद्धांतज्ञान का अनुकरण किया, कुछ ने उन्हें प्रमाणरूपेण प्रस्तुत किया, कुछ उनकी अध्यात्मरसिकता से आकर्षित हुए, कुछ उनके वाङ्मय में निहित साहित्यिक वैशिष्टयों को अपनाने लगे, अनेकों ने उनकी शैली में साहित्य सृजन किया, अनेक विद्वानों ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और कई उनके द्वारा वितरीत परमानंदरूप अध्यात्म सुधारस के रसिक बने। उनके प्रभाव की परम्परा काल-व्यापी, क्षेत्र-व्यापी तथा जनमानस-व्यापी रही। कालापेक्षा उनका प्रभाव अद्यावधि वर्तमान है, जो लगभग एक हजार वर्ष से निरन्तर आत्महितैषियों को अनुप्राणित एवं प्रभावित करता आ रहा है। क्षेत्रापेक्षा समग्र भारतवर्ष का कोना-कोना उनकी कृतियों से प्रेरणा पाता रहा है। इतना ही नहीं, उनके प्रभाव में कुछ विदेशी विद्वान भी आये, जिन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों का अध्ययन, मनन, सम्पादन, भाषान्तरण, प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार किया है। इस दृष्टि से अमेरिका, जर्मनी, इंग्लैंड, अफ्रिका आदि के विद्वानों के नाम उल्लेख्य हैं, जिनका विस्तृत परिचय आगे कराया गया है। आध्यात्मिक जगत् के जनमानसों के वे हृदयहार रहे हैं। उनकी कृतियाँ अमृतरस के जलाशय को भांति कषायसंतप्तजनों को अलौकिक शांति-शीतलता एवं सुखप्रदायिनी हैं। वे साहित्य रसिकों के लिए चमत्कारी, विद्वानों के लिए मनोहारी तथा आत्मकल्याणेच्छुक जनों को संजीवनी समान समान लाभकारी हैं। आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व तथा कृतियों का व्यापक प्रभाव – उनकी रचनाओं के अनेक भाषा में प्रकाशन, अनेक संस्करण तथा लाखों–करोड़ों की संख्या में मुद्रण से प्रमाणित होता है। उनकी इस प्रभाव परम्परा को तीन श्रेणियों में विभाजित कर प्रस्तुत किया जा रहा है। वे श्रेणियां हैं आचार्य व मुनिवर्ग, भट्टारकवर्ग तथा विद्वत्समाज।

अमृतचन्द्र का आचार्य-मुनिवर्ग पर प्रभाव

देवसेनाचार्य पर प्रभाव — (८९३–९४३ ईस्वी) आचार्य देवसेन अमृतचन्द्र के कुछ बाद ही हुए हैं। उनका समय[1] जैनेन्द्रसिद्धांतकोशकार ने ८९३ से ९४३ ईस्वी के बीच लिखा है। आप प्रसिद्ध आचार्यों में गिने जाते हैं। आप धवलाटीकाकार आचार्य वीरसेन के शिष्य थे। आप श्री विमलगणी के शिष्य तथा अमितगति प्रथम के पुत्र थे। आपकी रचनाओं में दर्शनसार भावसंग्रह, आराधनासार, तत्त्वसार, ज्ञानसार, नयचक्र (प्राकृत में), आलापपद्धति (संस्कृत में) तथा धर्मसंग्रह (संस्कृत-प्राकृत में) मुख्य हैं।[2] उक्त आचार्य देवसेन पर आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसके कुछ आधार निम्नानुसार हैं—

१. जिसतरह आचार्य अमृतचन्द्र के "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" ग्रन्थ का अपरनाम "जिनप्रवचनरहस्यकोश" है, उसी प्रकार आचार्य देवसेन की "आलापपद्धति" नामक कृति का भी अपरनाम "द्रव्यानुयोग-प्रवेशिका" है जो एक प्रकार से ग्रन्थ के दो नामों के प्रचलन का अनुकरण है जो देवसेन ने आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों से किया है।

२. आचार्य देवसेन अमृतचन्द्र की कृतियों से परिचित थे, क्योंकि आलापपद्धति में निश्चयनय और व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों का जो कथन है, वह अमृतचन्द्राचार्य द्वारा समयसार की टीका "आत्म-ख्याति" में प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्था के आधार पर रचा गया प्रतीत होता है। उससे पहले किसी भी ग्रन्थ में उन भेद-प्रभेदों का कथन नहीं है। जिनमें उक्त कथन है, वे ग्रन्थ प्रायः आलापपद्धति के पश्चात् के हैं।[3]

३. अमृतचन्द्र ने अपने ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में "अहिंसा" तथा हिंसा के विशद् विवेचन के अन्तर्गत दो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण श्लोक लिखे हैं, जिनमें कहा है कि अत्यन्त कठिनता से पार हो सकने वाले, अनेक प्रकार के भंगों (भेदों) से युक्त गहन वन में मार्ग भूले हुए पुरुष को, अनेक प्रकार के नयसमूह के ज्ञाता श्रीगुरु ही शरण होते हैं। जिनेन्द्र भगवान का अतितीक्ष्ण धारवाला और दुःसाध्य नयचक्र धारण करने वाले मिथ्या-

---

१. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश, भाग–१, पृष्ठ ३३७
२. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश, भाग–२, पृष्ठ ४४९
३. जैन साहित्य का इतिहास, भाग–२, पृष्ठ १८२–१८३

ज्ञानी पुरुष के मस्तक को शीघ्र ही खण्ड-खण्ड कर देता है।[1] उक्त अर्थवाही श्लोकों में "प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः गुरुवो शरणं भवन्ति" तथा "जिनवरस्य नयचक्रम्" लिखकर आत्महितैषी तत्त्वजिज्ञासु जनों को सावधान किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि अमृतचन्द्र के अनुवर्ती आचार्य देवसेन ने "आलापपद्धति" अपरनाम "द्रव्यानुयोग प्रवेशिका" ग्रन्थ रचकर प्रबुद्धनयचक्र ज्ञाता के रूप में नयचक्र का बड़ी सावधानी से सचार किया है। साथ ही "नयचक्र" नामक ग्रन्थ रचकर जिनेन्द्रदेव के गहन, तीक्ष्णधारयुक्त, स्यात्पद द्वारा साध्य "नयचक्र" का दिग्दर्शन कराया है। उक्त दोनों ग्रन्थों में नयसंबंधी भेद-प्रभेद सहित विशद् स्पष्टीकरण किया गया है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि देवसेन ने अमृतचन्द्र के शब्दों में "प्रबुद्धनयचक्रसंचाराः गुरुवः" पद को सार्थक किया है। वे स्वयं 'आलापपद्धति" ग्रन्थ रचना द्वारा प्रबुद्धगुरु बने हैं तथा "जिनवरस्यनयचक्रं" को नयचक्र ग्रन्थ रचकर स्पष्ट किया है।[2] इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव देवसेनाचार्य पर स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

आचार्य अमितगति प्रथम पर प्रभाव (९१८–९६८ ईस्वी) — आचार्य अमितगति-प्रथम माथुरसघ के विद्वान् देवसेन के शिष्य थे। उनका एकमात्र ग्रंथ योगसार है। उनका समय विक्रम की ग्यारहवीं शती का प्रथम चरण है।[3] आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव अमितगति प्रथम पर था। उनके योगसार ग्रंथ में आचार्य अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि की टीकाओं का प्रभाव लक्षित होता है। उन्होंने अपने उक्त ग्रन्थ की रचना तत्त्वार्थसार तथा समयसारादि टीकाओं के भावों को ग्रहण कर की है।[4] इससे अमितगति प्रथम का अमृतचन्द्र से प्रभावित होना ज्ञात होता है।

---

१. इति विविधभंगगहने सुदुस्तरे मार्ग मूढदृष्टिनाम्।
गुरुवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्र संचारा ॥५८॥
अत्यन्त निशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

२. पुरातन जैनवाक्य सूची, प्रस्तावना, पृष्ठ १२६

३. जैन साहित्य का प्राचीन इतिहास, पं. परमानन्द, पृष्ठ २०४

४. तत्त्वानुशासन, प्रस्तावना, पं. जुगलकिशोर, पृष्ठ ३४

आचार्य प्रभाचन्द पर प्रभाव (९८०–१०६५ ईस्वी) — आचार्य प्रभाचन्द्र एक महान् तार्किक, नैयायिक तथा दार्शनिक विद्वान् थे। उनका समय ईस्वी ८९० से १०६५ के बीच निर्णीत है। उनके दो प्रकार के ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, मौलिक तथा टीकाग्रन्थ। उनमें प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, तत्त्वार्थवृत्ति पद विवरण, शब्दाम्भोज भास्कर, प्रवचनसारसरोजभास्कर तथा गद्यकथाकोश आदि प्रमुख है।[१] आचार्य प्रभाचन्द्र पर आचार्य अमृतचन्द्र का गहरा प्रभाव था।[२] उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र की तार्किक व दार्शनिक शैली का अनुकरण किया है। यहाँ उदाहरणार्थ उक्त आचार्यद्वय की टीकाओं के साम्यसूचक अवतरणों को प्रस्तुत किया जाता है —

१. द्रवति गच्छति ज्ञानान्यरूपेण स्वरूपेण व्याप्नोति, तांस्तान्, क्रमभुवः सहभुवश्च सद्भावपर्यायान् स्वभावविशेषातित्यनुगतार्थया निरूक्त्या द्रव्यं व्याख्यातम्। (पंचास्तिकाय समयव्याख्या गाथा ९ की टीका) तथा एकस्मिन् द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्यं न भवतीत्येवं यद्द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः। एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेर्नं पुनर्द्रव्यास्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्यैवं लक्षणोऽभावोऽतद्भावः। (तत्त्वप्रदीपिका गाथा १०८ की टीका)

".....तथाहि द्रवति द्रोष्यत्यदुद्रवतांस्तान् गुणपर्यायान् गुणपर्यायैर्वा द्रोष्यते द्रुतं वा द्रव्यमिति। गाम्यते उपलभ्यते द्रव्यमनेनेति गुणः। द्रव्यं वा द्रव्यान्तरान् ये न विशिष्यते स गुणः। इत्येतस्मादर्थविशेषात् यद् द्रव्यस्य गुणरूपे गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेणाभवनं एसो एव हि अतद्भावः। (प्रवचनसारसरोजभास्कर अध्याय २ गाथा १६ की टीका) (प्र. क. मा. प्र. पृ. ७४ से उद्धृत)

२. यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा भवति। तत्रासद्भवदध्रौव्यस्य संभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत्। सत्तातो पृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्र प्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत्। ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथकत्वेनान्यत्वात्। (तत्त्वप्रदीपिका टीका, गाथा १०५)

---

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रस्तावना, पृष्ठ ६७–६८

२. जैन साहित्य का इतिहास, भाग–२, पृष्ठ ३४७

यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मकं सत्तातः पृथग्वा ? तत्राद्यः पक्षो न भवति, यदि सत् सद्रूपं द्रव्यं तदा असद्रूपं ध्रुव निश्चयेन नं तत् भवति। कथं केन प्रकारेण द्रव्यं खरविषाणवत् । अथ सत्तातः पुनरन्यद्वा पृथग्भूतं द्रव्यं भवति तदा पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्ता कल्पना व्यर्था। सत्तासम्बधात्सत्त्वे चान्योन्याश्रयः सिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तासम्बन्धसिद्धिः तस्याश्च सम्बन्धसिद्धौ सत्यां तत्सत्वसिद्धिरिति तत्सत्त्वसिद्धिमन्तरेणापि सत्तासम्बन्धे खपुष्पादेरपि तत्प्रसङ्गः । तस्मात् द्रव्यं स्वयं सत्ता स्वयमेव सदभ्युपगन्तव्यम्। (प्रवचनसार सरोज भास्कर अ. २/गाथा १३) (प्रमेयकमलमार्तण्ड प्र. पृ. ७४ से उद्धृत)

इस प्रकार उपर्युक्त अवतरणों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र की तार्किक, दार्शनिक, गम्भीर तथा प्रौढ़ टीका शैली का प्रभाव प्रभाचन्द्र पर अवश्य पड़ा है।

आचार्य अमितगति द्वितीय पर प्रभाव (९९३-१०२१)— ये माथुरसंघ के विद्वान् नेमिषेण के प्रशिष्य तथा माधवसेन के शिष्य थे। ये विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के विद्वान् थे। उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा में वीरसेन, देवसेन, अमितगति प्रथम, नेमिषेण, माधवसेन आदि का उल्लेख किया है। इनकी उपलब्ध कृतियाँ इस प्रकार हैं – सुभाषितरत्न-संदोह, धर्मपरीक्षा, उपासकाचार, पंचसंग्रह, आराधना, तत्त्वभावना (सामायिकपाठ), भावनाद्वात्रिंशतिका आदि। उन्होंने इनकी रचना १०५० से १०७३ के बीच की थी।[1] अमितगति द्वितीय पर आचार्य अमृतचन्द्र का गहरा प्रभाव पड़ा है, जिसके कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं:—

१. अमितगति ने अमृतचन्द्र द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों की उन्हीं के समान शब्दों में पुनरावृत्ति की है। उदाहरण के लिए अमृतचन्द्र ने मद्य (शराब) को बहुत से जीवों की योनि (जन्मस्थान) निरूपित किया है। उन्होंने मद्य सेवन से उन जीवों की हिंसा होना भी बताया है। इसी बात का उल्लेख लगभग इन्हीं शब्दों में आचार्य अमितगति ने भी किया है। दोनों आचार्यों के मूल पद्य इस प्रकार हैं:—

---

१. जैनसाहित्य का प्राचीन इतिहास – भाग–२, पृष्ठ २८८ (पं. परमानन्द शास्त्री)

रसजानां च बहूनां जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्यं भजतां तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥ (अमृतचन्द्र)[1]

ये भवन्ति विविधाः शरीरिणस्तत्र सूक्ष्म वपुषो रसाङ्गिकाः।
तेऽखिला झटिति यान्ति पंचतां, निन्दितस्य सरकस्य पानतः ॥
(अमितगति)[2]

इतना ही नहीं, आचार्य अमितगति ने आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रयुक्त शब्दों तक को ज्यों का त्यों ग्रहण किया है। अमृतचन्द्र ने शराब के लिए "सरक"[3] शब्द का प्रयोग किया है, उसी शब्द का प्रयोग अमितगति ने भी किया है। अन्य श्रावकाचारों में उक्त सरक पद का प्रयोग नहीं मिलता।[4]

२. अमृतचन्द्र ने पांच उदुम्बर तथा तीन मकारों के त्याग करने पर जिनधर्म की देशना का पात्र होना लिखा है। अमितगत ने भी उक्त कथन को दुहराया है। उक्त आशय वाले तथा साम्य प्रगट करने वाले दोनों आचार्यों के पद्य इस प्रकार हैं —

अष्टावनिष्ट दुस्तर दुरिता यत् नान्यभूति परिवर्ज्य।
जिनधर्म देशनाया भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः ॥ (अमृतचन्द्र)[5]

आदावेव स्फुटमिह गुणानिर्मला धारणीयाः।
पाप ध्वंसि व्रतमपमलं कुर्वता श्रावकीयम् ॥ (अमितगति)[6]

अमृतचन्द्र ने हिंसक, दुखी तथा सुखी को मारने का निषेध किया है[7], अमितगति ने भी वैसा ही निषेधरूप निरूपण किया है।[8]

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक ६३
२. अमितगति श्रावकाचार – (६ वां पद्य/अध्याय ५ वां)
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पद्य क्रमांक ६४
४. जैनसंदेश, शोधांक ५ अक्टूबर १९५९, पृष्ठ १७७
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक ७४
६. अमितगति श्रावकाचार, पद्य नं. ७३, अध्याय ५
७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ८३, ८५, ८६ वां पद्य
८. अमितगति श्रावकाचार ६/६२, ३९, ४० वां पद्य

४. अनृतवचन और उसके भेदों का जिस प्रकार से अमृतचन्द्र ने कथन किया है[1], अमितगति ने भी उसी प्रकार से अनृतवचन के चार भेद करके निरूपण किया है।[2]

५. जिस प्रकार अमृतचन्द्र ने धन को बाह्यप्राण तथा धनहरण करने वाले को प्राणहर्ता बताया है, उसी प्रकार अमितगति ने भी निरूपण किया है। उनके इस तरह के साम्यदर्शक पद्य निम्नानुसार हैं –

अर्थानां य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थम्॥ (अमृतचन्द्र)[3]

यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति।
आश्वासकरं बाह्यं जीवानां जीवितं वित्तम्॥ (अमितगति)[4]

६. व्रतों के अतिचारों के वर्णन में अमितगति ने प्रायः उन्हीं पद्यों को अवतरित किया, जिनकी रचना अमृतचन्द्र ने की। अन्तर केवल कुछ शाब्दिक परिवर्तन मात्र का है। उदाहरणार्थ दो पद्य प्रस्तुत किये जाते हैं—

प्रतिरूपकव्यवहारस्तेन नियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिक मान करणे च॥ (अमृतचन्द्र)[5]

व्यवहारः कृत्रिमकस्तेन नियोगस्तदाहृतादानम्।
ते मानवैपरीत्यं विरुद्धराज्य व्यतिक्रमणम्॥ (अमितगति)[6]

७. अमृतचन्द्र ने हिंसा त्याग के इच्छुक को सर्वप्रथम मद्य, मांस, मधु तथा पांच उदुम्बर फलों के त्याग का विधान लिखा है।[7] अमितगति ने भी इसी नियम को दोहराया है।[8] इसी तरह मांस भक्षण के दोष बताते हुए अमृतचन्द्र लिखते हैं कि प्राणियों के घात किये बिना मांस की

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ९२, ९३, ९४, ९५, ९६, ९७, ९८ वां पद्य
२. अमितगति श्रावकाचार, अध्याय ६, पद्य क्रमांक ४८ से ५५ तक
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक १०३
४. अमितगति श्रावकाचार, पद्य ६१, अध्याय ६
५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. १८५
६. अमितगति श्रावकाचार, पद्य नं. ५, अध्याय १
७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ६१ वां पद्य
८. अमितगति श्रावकाचार, अध्याय ५, पद्य नं. १

उत्पत्ति संभव नहीं, अतः मांसभक्षी को हिंसा अनिवार्य रूप से होती है।[1] इसी बात की पुनरावृत्ति अमितगति ने भी की है।[2] अमृतचन्द्र ने रात्रि भोजन करने में हिंसा होना अनिवार्य लिखा है तथा उसे छोड़ने का उपदेश दिया है।[3] इसी का समर्थन तथा अनुकरण अमितगति ने भी किया है।[4] उनके ग्रन्थ "अमितगतिश्रावकाचार" की रचना का मूलाधार आचार्य अमृतचन्द्र का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय है।

इस प्रकार स्पष्ट रूप से आचार्य अमृतचन्द्र का आचार्य अमितगति द्वितीय पर भी व्यापक तथा गहन प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

आचार्य जयसेन (धर्मरत्नाकर कर्ता) पर प्रभाव (९९८ ईस्वी)– लाड़वागड़ संघ की गुर्वावलि के अनुसार जयसेन भावसेन के शिष्य तथा ब्रह्मसेन के गुरु थे। आपकी कृति धर्मरत्नाकर है। आपका समय ९९८ ईस्वी है।[5] आप आचार्य अमृतचन्द्र से विशेष प्रभावित थे। आपने अपने ग्रन्थ धर्मरत्नाकर में आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के १२४ पद्य ज्यों के त्यों उद्धृत किये हैं।[6] वैसे तो पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के पद्यों को अमृतचन्द्र के परवर्ती श्रावकाचार ग्रन्थ प्रणेता विद्वानों आचार्यों ने बहुत बड़ी संख्या में अवतरित किया है, परन्तु जयसेन ही इस अवतरण के कार्य में सबसे आगे हैं। उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ के आधे से अधिक भाग को अपने ग्रन्थ में ज्यों का त्यों सम्मिलित किया है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में कुल २२६ पद्य हैं। जयसेन ने अमृतचन्द्र कृत पद्यों को कहीं "उक्तं च" लिखकर प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है, तो कहीं पर विषय का निरूपण अमृतचन्द्र के ही मूलपद्यों को उद्धृत करके किया। किसी किसी अध्याय

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य ६५
२. अमितगति श्रावकाचार, अध्याय ५, पद्य १
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, १२९ वां पद्य
४. अमितगति श्रावकाचार, अध्याय ५, पद्य ४०, ४१, ४२
५. जैनेन्द्रसिद्धांतकोश, भाग २, पृष्ठ ३२४
६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से उद्धृत निम्नानुसार है — २३, २५, २६, २९, ३०, ४२ से ४९, ५१ से ५६, ५८ से ६०, ६४, ६६, ६७, ६९, ७० से ७३, ७५ से ९०, ९२ से १०१, १०३ से १०५, १०७, १०८, १११ से १३४, १३७ से १४०, १४२, १४३, १४५, १४६ से १६३, १६५, १६७, १६९, १७२, १७३, १७५ से १७९, १८५, १८८ से १९१, १९४, १९८

में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के श्लोकों की बहुतायतता है, उदाहरण के लिए "अहिंसासत्यव्रतविचार" नामक बारहवें अध्याय में कुल ११३ श्लोकों में ४३ श्लोक पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के हैं।

इस प्रकार अमृतचन्द्र का धर्मरत्नाकरकार जयसेन पर प्रभाव स्पष्टरूप से दिखाई देता है।

आचार्य पद्मनंदि (पंचम) पर प्रभाव (ईस्वी १०१६-११३६)

आचार्य पद्मनदि (पंचम) श्री वीरनंदि के शिष्य थे, साथ ही ज्ञानार्णवकार शुभचन्द्राचार्य के भी शिष्य थे। वीरनंदि इनके दीक्षागुरु तथा शुभचन्द्र शिक्षागुरु थे। इन्होंने पद्मनंदिपंचविंशतिः नामक ग्रन्थ की रचना की थी। उक्त ग्रन्थ के एकत्वसप्तति नामक अधिकार की टीका विक्रम सं. ११९३ की उपलब्ध है। इनका समय ईस्वी १०१६ से ११३६ है।[1] आप आचार्य अमृतचन्द्र से प्रभावित थे। पद्मनदि के समक्ष अमृतचन्द्र की कृतियाँ उपस्थित थीं, जिनका आलोड़न करके ही उनका उपयोग पद्मनदि ने अपने ग्रन्थ की रचना में किया है। उन्होंने न केवल अमृतचन्द्र की तत्त्वनिरूपण शैली को अपनाया, अपितु उनकी कृतियों की शब्दावलि का भी यथावत् प्रयोग किया है। यहाँ तत्सम्बधी कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

पद्मनंदि ने अमृतचन्द्र के ग्रन्थों के आधार पर अपने ग्रन्थ में पद्य रचना की है। अमृतचन्द्र द्वारा निरूपित विषय को लगभग समान रूपेण प्रस्तुत किया है। उदहरण के लिए अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में लिखा है कि अज्ञानी जीवों को समझाने (ज्ञान कराने) के लिए आचार्य अभूतार्थव्यवहारनय का उपदेश देते हैं और जो केवल व्यवहार नय को ही जानता है, उस मिथ्यादृष्टि जीव को उपदेश नहीं है। उनका मूल पद्य इस प्रकार है:—

अबुद्धस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति॥[2]

इसके अतिरिक्त इन्होंने आत्मख्याति टीका में कर्मक्षय या कर्म से मुक्ति का निमित्त ज्ञानरूप भूतार्थ धर्म ही बताया है। भूतार्थनय को ही

---

१. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश– भाग ३ पृष्ठ १०

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय – पद्य–६

शुद्धनय भी लिखा है – यथा "कर्ममोक्ष निमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते"[1] तथा "शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वात् भूतमर्थं प्रद्योतयति"[2]

इन उपरोक्त कथनों का सार ग्रहण कर आचार्य पद्मनंदि ने भी एक पद्य इसी सम्बन्ध में लिखा है जो इस प्रकार है:—

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रितं किंचित् ॥[3]

इसी तरह अमृतचन्द्र ने निश्चयनय को भूतार्थ तथा व्यवहार नय को अभूतार्थ लिखकर भूतार्थ ज्ञान से विमुख समस्त अभिप्राय को संसारमय लिखा है। इससे यह भी ध्वनित है कि भूतार्थज्ञान से विमुखपना संसारमय है तो भूतार्थनय (शुद्धनय) का सम्मुखपना (आश्रय) परमपद (मोक्ष) का कारण स्वयमेव सिद्ध हुआ। इसी अभिप्राय को पद्मनंदि ने भी ज्यों का त्यों दुहराया है। उक्त दोनों आचार्यों के कथन साम्य को भी देखिये:— (दोनों पद्य आर्या छंद में हैं।)

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥ (अमृतचन्द्र)[4]

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनयमाश्रिता ये प्राप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥ (पद्मनंदि)[5]

अन्यत्र अमृतचन्द्र ने लिखा है कि हे भव्य ! तुझे व्यर्थ के कोलाहल से क्या लाभ है। तू इस कोलाहल से विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल-लीन होकर देख, ऐसा छह माह तक अभ्यास कर और देख कि ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में उस आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं ? उस आत्मा का तेज-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है। उक्त कथन के सार को पद्मनंदि ने भी थोड़ा-बहुत शाब्दिक परिवर्तन

---

१. समयसार गाथा २७५ की आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ३९७
२. वही गाथा ११ की टीका, पृष्ठ २३
३. पद्मनंदिपंचविंशतिः, निश्चयपंचाशत्, पद्य नं. ६
४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. ५
५. पद्मनंदिपंचविंशति, निश्चयपंचाशत्, पद्य नं. ६

कर पुनरुद्धृत किया है। उदाहरण के लिए निम्न पद्यों पर तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन कीजिये:—

विरम किमपरेणाऽकार्यं कोलाहलेन,
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम्।
हृदयसरसिपुंसः पुद्गलाद् भिन्नधाम्नो,
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ॥ ३४ ॥[1]

निश्चेतव्यो जिनेन्द्रस्तदतुलवचसां गोचरेऽर्थे परोक्षे।
कार्यः सोऽपि प्रमाणं वदत किमपरेणालकोलाहलेन ॥ १२८ ॥[2]

किमालकोलाहलैरमलबोध संपन्निधेः,
समस्ति यदि कौतुकं किल तवात्मनो दर्शने।
निरुद्धसकलेन्द्रियो रहसिमुक्तसंग्रहः,
कियन्त्यपि दिनान्यतः स्थिरमना भवान् पश्यतु ॥१४४॥[3]

उपर्युक्त १२८ पद्य में "वदत किमपरेणालकोलाहलेन" अंश समयसार कलश के ३४ वें पद्य का प्रथम चरण "विरम किमपरेणाकार्य-कोलाहलेन" का प्रायः ज्यों का त्यों अनुकरण है तथा पद्य १४४ में "किमालकोलाहलैरमलबोध....." और "रहसिमुक्तसंग्रहः कियन्त्यपि दिनान्यतः स्थिरमना भावन् पश्यतु" इन अंशों में उक्त समयसार कलश के ३४ वें पद्य के प्रथम व द्वितीय चरणों का अनुसरण स्पष्ट दिखाई देता है।

यहाँ एक और उदाहरण दृष्टव्य है। आचार्य अमृतचन्द्र ने समय-सार तथा पंचास्तिकाय की टीकाओं के अन्त में लिखा है कि अपनी सहज योग्यता से वस्तुस्वरूप को सूचित करने वाले शब्दों द्वारा यह समयसार की व्याख्या की गई है, अपने स्वरूप में लीन अमृतचन्द्र सूरि का इसमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। इन्हीं शब्दों को किंचित् परिवर्तन के साथ पद्मनन्दि ने भी उद्धृत किया है। दोनों आचार्यों के मूल पद्यों को भी देखिये, जो इस प्रकार हैं—

---

१. समयसार कलश, अमृतचन्द्रप्रणीत, क्रमांक ३४
२. पद्मनंदिपंचविंशतिका, धर्मोपदेशामृतम्, पद्य क्रमांक १२८
३. वही, पद्य क्रमांक १४४

स्वशक्ति संसूचित वस्तुत्वै, व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।
स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति, कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥ (अमृतचन्द्र)[1]

निश्चयपंचाशत् पद्मनंदिनं सूरिमाथिभिः कैश्चित् ।
शब्दैः स्वशक्ति सूचित वस्तुगुणैर्विरचितेयमिति ॥ (पद्मनंदि)[2]

इसी तरह एक स्थल पर अमृतचन्द्र सम्यग्दृष्टि के साहस तथा निर्भयता की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव ही ऐसा श्रेष्ठतम साहस करने में समर्थ हैं कि वज्र के गिरने पर, तीनों लोक के प्राणी उसकी ध्वनि के भय से अपने मार्ग से चलायमान हो जावें, परन्तु ये सम्यग्दृष्टि "मैं ज्ञानशरीरी हूँ, पर के द्वारा अवध्य हूँ" ऐसा जानते हैं इसलिए स्वाभाविक निर्भयता के कारण सभी प्रकार की शंका को छोड़कर अपने ज्ञानस्वभाव से चलायमान नहीं होते। इसी आशय की पुनरावृत्ति पद्मनंदि ने भी की है। उक्त आशय सूचक पद्यों का साम्य देखिये—

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं,
यद् वज्रेऽपि हतत्यमी भयचलत् त्रैलोक्य मुक्ताध्वनि ।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शंकां विहाय स्वयं,
जानन्तः स्वमवध्यबोधवपुषं बोधाच्चचन्ते न हि ॥ (अमृतचन्द्र)[3]

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोकमुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात् ।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥
(पद्मनंदि)[4]

एक और स्थल पर अमृतचन्द्र ने लिखा है कि आत्मतत्त्व का चेतन-अचेतन परद्रव्यों के साथ किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नहीं है। जब (आत्मा का) पर के साथ कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है तब आत्मा के पुद्गलकर्म का कर्तापना कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा। इसी भावार्थ को दुहराते हुए पद्मनंदि लिखते हैं – मैं एक चैतन्यस्वरूप ही हूँ, उससे भिन्न दूसरा मेरा कोई भी स्वरूप कभी भी मेरा नहीं हो सकता। किसी

---

१. समयसार कलश, क्रमांक २७८ पंचास्तिकाय टीका का अन्तिम पद्य
२. पद्मनंदि पंचविंशतिः निश्चयपंचाशत्, पद्य नं. ६१
३. समयसार कलश, क्रमांक १५४
४. पद्मनंदिपंचविंशतः, धर्मोपदेशामृतम्, पद्य नं. ६३

परपदार्थ के साथ मेरा सम्बन्ध भी नहीं है, ऐसा मेरा दृढ़निश्चय है।

उपर्युक्त आशय के द्योतक दो पद्य इस प्रकार हैं –

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृ-कर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः॥ (अमृतचन्द्र)[1]

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित्,
सम्बन्धोऽपि न केनापि दृढ़पक्षो ममेदृशः॥ (पद्मनंदि)[2]

इस प्रकार अन्य अनेक स्थल उदाहरण योग्य हैं जिनसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पद्मनंदिपंचविंशतिः ग्रन्थ की रचना के प्रमुख स्रोत अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्धयुपाय तथा समयसार की आत्ख्यातिकलशयुक्त टीका को कहना उचित प्रतीत होता है। साथ ही "अमृतचन्द्र की कृतियों का प्रभाव आचार्य पद्मनंदि तथा उनकी कृतियों पर पड़ा" यह भी स्पष्ट प्रमाणित होता है।

आचार्य शुभचन्द्र प्रथम पर प्रभाव (१००३–११६८ ईस्वी)

ये परमारवंशीय राजा मुन्ज के भाई तथा शतकत्रय के कर्त्ता-भतृहरि के बड़े भाई थे। ये राजा सिंह के पुत्र थे। भर्तृहरि को संबोधनार्थ शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव नामक ग्रन्थ की रचना की थी। आप पद्मनंदिपंचविंशतिकार आचार्य पद्मनंदि के गुरु थे। आपका समय ईस्वी १००३ से ११६८ के बीच का था।[3] शुभचन्द्र पर आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव था, जिसके आधार निम्नानुसार हैं –

शुभचन्द्र ने अपने ग्रन्थ ज्ञानार्णव में अमृतचन्द्र के ग्रन्थ से १ पद्य उद्धृत किया है। यह उद्धरण १४ प्रकार के अंतरंग परिग्रहों का विवरण प्रस्तुत करने हेतु "उक्तं च" लिखकर प्रस्तुत किया है।[4] उक्त पद्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ का है। पद्य इस प्रकार है –

मिथ्यात्व – वेदराग दोषा हास्यादयोऽपि षट् चैव।
चत्वारश्च कषायश्चतुर्दशाभ्यन्तरा ग्रन्थाः॥[5]

---

१. समयसार कलश, क्रमांक २००
२. पद्मनंदिपंचविंशतिः, एकत्वसप्तति अधिकार, पद्य नं. ५४
३. जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश, चतुर्थ भाग, पृष्ठ ४१
४. ज्ञानर्णव सर्गषोडश, पद्य क्रमांक ६
५. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पद्य नं. ११६

उक्त उद्धरण से स्पष्ट संकेत मिलता है कि आचार्य अमृतचन्द्र का आचार्य शुभचन्द्र पर प्रभाव रहा है।

आचार्य वादीभसिंह पर प्रभाव (१०१५ - ११५० ईस्वी)

आचार्य वादीभसिंह संस्कृत के महाकवियों में अग्रगण्य थे। संस्कृत गद्यकारों में जो स्थान महाकवि बाणभट्ट का है, वही स्थान जैन संस्कृत गद्यलेखकों में आचार्य वादीभसिंह का है। उन्होंने "गद्यचिंतामणि" नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखकर जैन संस्कृत गद्यकाव्य को अमरत्व प्रदान किया है। उनका अपरनाम ओडयदेव था। वादीभसिंह उनका उपनाम या उपाधि थी।[1] उनका समय १०१५ से ११५० ईस्वी है।[2] वादीभसिंह पर आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव निम्न आधारों से प्रतीत होता है –

१. "गद्यचिंतामणि" की स्वोपज्ञ टीका के आरम्भिक पद्य में तथा आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयव्याख्या टीका के आरम्भिक पद्य में शब्दसाम्य तथा भावसाम्य झलकता है। उदाहरणार्थ निम्न पद्य अवलोकनीय है –

"दुर्निवारनयानीक विरोधध्वंसनौषधिः।
स्यात्कार जीविता जीयाज्जैनी सिद्धांतपद्धतिः॥ (अमृतचन्द्र)[3]

अशेषभाषामयदेहधारिणी जिनस्यवक्त्राम्बुरुहाद् विनिर्गता।
सरस्वती में कुरुतादनश्वरीं जिनश्रियं स्यात्पदलाञ्छनाञ्चिता॥
(वादीभसिंह)[4]

२. जिसप्रकार अमृतचन्द्र की टीकाएं प्रौढ़-गम्भीर गद्यशैली से मण्डित हैं उसी प्रकार वादीभसिंह की "गद्यचिंतामणि" रचना भी प्रौढ़, गम्भीर गद्यशैली से समन्वित है। उदाहरणार्थ निम्न गद्यांश दृष्टव्य है –

"कदाचित्किञ्चिद्रोचमानाः, कदाचित् किञ्चिद्विकल्पयन्तः, कदाचित्किञ्चिदाचरन्तः, दर्शनाचरणाय कदाचित्प्रशाम्यतः, कदाचित्संविजमानाः कदाचिदनुकम्पमानाः, कदाचिदास्तिक्यमुद्वहन्तः..... ।
(अमृतचन्द्र)[5]

---

१. ती. म. उ. आ. प., भाग ३ पृष्ठ २७
२. जैन सि. को, भाग ३, पृष्ठ ५४२
३. पंचास्तिकाय, समयव्याख्या टीका, पद्य २
४. गद्यचिंतामणि टीका, पद्य ४
५. पंचास्तिकाय, गाथा १७२ की टीका

कदाचित्प्रहतमृदुमृदङ्ग रङ्ग मधिवसन्तिवलासिनीनामति चतुर करण बन्धबन्धुमनङ्गतन्त्रशिक्षाविचक्षण विटविदूषकपरिषदुपास्यं, लास्यमवालोकिष्ट। कदाचिदनुगतवीणावेणुरणितरमणीयं रमणीयानां गतिमाकर्णयन्कर्णपारणामकार्षीत्। कदाचिद्विकचकुसुमप रिमलतरल मधुकर कलरवमुखरिते लतामण्डपे विरचितनवकिसलयम शयने कुशोदरीमरीरमत्।" (वादीभसिंह)[1]

३. उपमार्थे "इव" प्रयोग –

यदि पुनर्न तेषां दुख स्वाभाविकमभ्युपगम्येत् तदोपशान्तशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्र संरम्भस्य च वटाचूर्णविचूर्णमिव, विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव, रूढ़व्रणस्यालेपनदानमिव विषय व्यापारो न दृश्येत। दृश्यते चासौ। ततो स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः। (अमृतचन्द्र)[2]

स चेन्न स्याद्व्रीहिखंडनायास इव तन्डुलत्यागिनः, कूपखननप्रयास इव नीरनिरपेक्षिणः, कर्णशुक्तिरिव शास्त्रसुश्रुषापराङ्मुखस्य, द्रविणार्जन क्लेश इव वितरणगुणानभिज्ञस्य, तपस्याश्रम इव नैरात्म्यवादिनः, शिरोमारधारणश्रान्तिरिव जिनेश्वर चरणप्रणाम बहुमतिबहिष्कृतस्य, प्रव्रज्याप्रारम्भ इवेन्द्रियदासस्य विफल सकलोप्ययं प्रयासः स्यात्। (वादीभसिंह)[3]

इस प्रकार आचार्य वादीभसिंह पर भी आचार्य अमृतचन्द्र की रचनाशैली आदि का तथा व्यक्तित्व का प्रभाव प्रगट होता है।

पद्मप्रभमलधारी देव पर प्रभाव (११४० – ११८५ ईस्वी)

पद्मप्रभमलधारी देव एक आध्यात्मिक दिगम्बर साधु थे। उनकी एक मात्र कृति निमयसार ग्रन्थ की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका है। इनका समय ईस्वी ११४०-११८५ था।[4] आप आचार्य अमृतचन्द्र के पदानुगामी आचार्य थे। नियमसार की टीका रचने में आपने अमृतचन्द्र की अनोखी आध्यात्मिक शैली को ही आदर्श एवं आधार बनाया है। वे अमृतचन्द्र से कई प्रकार से प्रभावित थे। जिसके कुछ प्रमाण निम्नानुसार हैं।

---

१. गद्यचिंतामणि, प्रथम लम्भ, पृष्ठ ४२

२. प्रवचनसार, तत्त्वदीपिका, गाथा ६४ की टीका

३. गद्यचिंतामणि, द्वितीयो लम्भ, पृष्ठ १०२।

४. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश, भाग ३, पृष्ठ १०

१. उन्होंने अमृतचन्द्र की प्रौढ़तम गद्यशैली का अनुकरण किया है। जिस प्रकार अमृतचन्द्र प्रत्येक गाथा की टीका रचना के पूर्व गाथा की उत्थानिका या पूर्वसूचना देते हैं, उसी तरह पद्मप्रभ भी उत्थानिका पूर्वक टीका रचते हैं। उदाहरण हेतु – "अत्र शब्दज्ञानार्थरूपेण त्रिविधाऽभिधेयेता समयशब्दस्य लोकालोकविभागश्चाभिहितः।"[१] "अत्र पंचास्तिकायानां विशेषसंज्ञा सामान्यविशेषास्तित्वं कायत्वं चोक्तम्।"[२] "अत्रास्तित्वस्वरूपमुक्तम्"[३] "अत्रनियमशब्दस्य सारत्वप्रतिपादनद्वारेण स्वभावरत्नत्रयस्वरूपमुक्तम्"[४] "व्यवहार सम्यक्त्वस्वरूपाख्यानमेतत्"[५] "परमागमस्वरूपाख्यानमेतत्"[६] इत्यादि।

पद्मनंदि ने अमृतचन्द्र की गद्यशैली का अनुकरण ही नहीं किया, अपितु कहीं कहीं तो अमृतचन्द्र की टीका के मूलशब्दों एवं भावों को ज्यों का त्यों अपनी टीका में समाहित कर लिया है। उदाहरण के लिए अमृतचन्द्र ने नय के सम्बन्ध में स्पष्ट करते हुए लिखा है – "दो हि नयौ भगवता प्रणीतौ – द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। तत्र न खल्वेकनायायत्ता देशना किन्तु तदुभयायत्ता। ततः पर्यायार्थदेशादस्तित्वे स्वतः कथञ्चिद्-भिन्नेऽपि व्यवस्थिताः, द्रव्यार्थादेशात्स्वयमेव सन्तः सतोऽनन्यमया भवन्तीति।"[७] इसी टीका का अनुकरण करते हुए पद्मनंदि लिखते हैं – "इह हि नयद्वयस्य सफलत्वमुक्तम्। द्वौ हि नयौ भगवदर्हत्परमेश्वरेण प्रोक्तौद्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्चेति। द्रव्यमेवार्थः प्रयोजनमस्येति द्रव्यार्थिकः। पर्याय एवार्थः प्रयोजनमस्येति पर्यायार्थिकः। न खलु एकनयायत्तोपदेशो ग्राह्यः, किन्तु तदुभयायत्तोपदेशः। सत्ताग्राहकशुद्ध-द्रव्यार्थिकनयबलेन पूर्वोक्त व्यंजनपर्यायेभ्यः सकाशान्मुक्तामुक्तसमस्त जीवराशयः सर्वथा व्यतिरिक्ता एव।"[८]

---

१ पंचास्तिकाय, गाथा ३ की टीका।
२. वही गाथा ४ की टीका।
३. वही, गाथा ८ की टीका।
४. नियमसार, गाथा ३ की टीका।
५. वही, गाथा ५ की टीका।
६. वही, गाथा ८ की टीका।
७. पंचास्तिकाय, गाथा ४ की टीका।
८. नियमसार, गाथा १९ की टीका।

२. पद्मप्रभ ने अपनी तात्पर्यवृत्ति में अमृतचन्द्र के ग्रन्थों के कई श्लोक "उक्तं च" तथा "चोक्तं श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरिभिः" इत्यादि लिखकर उद्धृत किये हैं। इनमें १७ श्लोक[1] समयसार कलश टीका के हैं तथा ४ श्लोक[2] प्रवचसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका के हैं। यह अमृतचन्द्र के अनुकरण, अनुसरण तथा प्रभाव का प्रगट प्रमाण है।

३. पद्मप्रभ ने अमृतचन्द्र के पद्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत करने के साथ ही साथ उनकी ही शैली को अपनाकर गद्यटीका के बीच में यत्रतत्र पद्यों की भी रचना की है। जयसेनाचार्य की अपेक्षा अमृतचंद्र की शैली को पद्मप्रभ ने अधिक अपनाया है, उन्ही की तरह सुललित पद्यात्मक शैली में टीका का निर्माण किया है।[3]

इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व तथा कृतित्त्व का प्रभाव आचार्य पद्मप्रभमलधारी देव पर स्पष्ट से रूप से दृष्टिगत होता है।

जयसेनाचार्य (द्वितीय) पर प्रभाव (बारहवीं - तेरहवीं सदी)

आप जयसेन प्रथम (धर्मरत्नाकर के कर्ता) से भिन्न तथा उनसे बाद के हैं। अमृतचन्द्रसूरि के समान आप भी कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय ग्रन्थों के प्रसिद्ध टीकाकार हैं। प्रवचनसार ग्रन्थ की टीका के अन्त में एक प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि जयसेनाचार्य के गुरु सोमसेन थे। जयसेनाचार्य सेनगणान्वयी हैं।[4] आप अध्यात्मक्षेत्र के एक विरागी आचार्य थे। आपका समय ई. १२९२-१३२३ है।[5] डॉ. नेमिचंद्र शास्त्री ने उन्हें ग्यारहवीं ईस्वी सदी के उत्तरार्ध अथवा बारहवी के पूर्वार्ध का माना है।[6] आप आचार्य अमृतचंद्र से प्रभावित रहे हैं। इसके कुछ आधार इस प्रकार हैं —

---

१. समयसार कलश के क्रमशः २४, ४४, ११, ३५, ३६, ५, १८५, १३१, २४४, १८७, १८९, २२८, १०४, २२७, ९०, १९२, १३८ नम्बर के १७ श्लोक है।
२. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका टीका के क्रमशः ८, १२, ५, ४, ये ४ श्लोक उद्धृत हैं।
३. जैन साहित्य का इतिहास, भाग २, पृष्ठ १९७
४. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग ३, पृष्ठ १२२
५. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग २, पृष्ठ ३२४
६. ती. म. और उ. आ. परम्परा, भाग ३, पृष्ठ १४३

प्रथम तो, जयसेन ने कुन्दकुन्द के उन्हीं तीनों ग्रन्थों पर टीकाएं रची, जिन पर आचार्य अमृतचंद्र टीकाएँ रच चुके थे। आचार्य अमृतचन्द्र की प्रायः सभी टीकाएं उन्हें अत्यंत प्रौढ़ तथा विद्वज्जनग्राह्य प्रतीत हुईं। उन्होंने अमृतचन्द्रकृत टीकाओं के भावों का भी स्पष्टीकरण किया जाना आवश्यक समझा, इसलिए उन्होंने अपनी सभी टीकाओं का नाम "तात्पर्यवृत्ति टीका" रखा।

दूसरे, अपनी समयसार की तात्पर्यवृत्ति टीका में उन्होंने अत्यंत सरल एवं सुगम शैली में भाव-स्पष्टीकरण तो किया परन्तु अपने निरूपण की सम्पुष्टि हेतु आचार्य अमृतचन्द्र के पद्यों को "तथा चोक्तं" कहकर प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए नयपक्ष के विकल्प को छोड़कर समयसार स्वरूप होते हैं, इस तात्पर्य को व्यक्त करते हुए जयसेनाचार्य लिखते हैं – योऽसौ नयपक्षपातरहित स्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढादिनयविकल्परहितं चिदानंदैक स्वभाव जीवस्वरूपं भवतीति। तथा चोक्तं –

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसंति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्तएव साक्षादमृत पिबन्ति॥[1]

उपरोक्त पद्य समयसार कलश का ६९ वां कलश है। इसके बाद ही ७० वां कलश भी उदाहृत किया है। सम्पूर्ण तात्पर्यवृत्ति में समयसार कलश के कुल ७ श्लोक[2] प्रमाणरूपेण उद्धृत किये गये हैं।

तीसरे, जयसेन ने अपनी तात्पर्य वृत्ति में अमृतचन्द्राचार्य कृत टीकाओं का भली भांति उपयोग किया है। कहीं-कहीं पर उनके कुछ शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण कर टीका में प्रयोग किया है, तो कहीं पर अमृतचन्द्रकृत टीका के ही भावों को अभिव्यक्त किया है। अमृतचन्द्र द्वारा प्रदत्त दृष्टांतों को तो जयसेन ने बहुत बड़ी संख्या में यथावत् उदाहृत किया है। इस सम्बन्ध में कुछ स्थलों का अवलोकन कराया जाता है। प्रस्तुत उदाहरणों में शब्द भाव एवं दृष्टांत तीनों का अनुसरण किया गया है, यथा—

१. "यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचक संबंधावबोधबहिष्कृतत्वान्न किंचिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानि-

---

१. समयसार, जयसेनीय गाथा टीका १५०
२. वे ७ पद्य क्रमशः ६८, ६९, १८३, १३१, २३५, तथा २४७ वें हैं।

मेषोन्मेषित चक्षुः प्रेक्षत एव। यदा तु स एव तदेतद्भाषासम्बन्धैरेकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुदाय स्वस्ति पदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुझलज्झलल्लोचन पात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव।" (अमृतचन्द्र)[1]

"यथा कश्चिद् ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छ पल्ल्यां गतः तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वास्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन् सन् निरीक्ष्यते मेष इव। तथायमज्ञानिजनोप्यात्मेति भणिते सत्यमात्मशब्दस्यार्थमजानन् सन् भ्रांत्या निरीक्षत एव। यदा पुनर्निश्चयव्यवहारज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि जीवशब्दस्यार्थ इति कथ्यते तदा संतुष्टो भूत्वा जानातीति।" (जयसेन)[2]

२. "केचित्तु स्वकरविकीर्ण कतकनिपातमात्रोपजनित पंकपयोविवेकतया स्वपुरुषकाराविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवन्ति।" (अमृतचन्द्र)[3]

"यथा कोपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति नागरिकः पुनः विवेकीजनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति।" (जयसेन)[4]

३. "कतकस्थानीयत्वात् शुद्धनयस्य।" (अमृतचन्द्र)[5]

"कतकफलस्थानीयं निश्चनयम्।" (जयसेन)[6]

४. "अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैंधवखिल्योन्य द्रव्यसंयोग व्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोप्येकेलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते।" (अमृतचन्द्र)[7]

"यथालवणखिल्य एकरसोऽपि फलशाकपत्रशाकादि परद्रव्यसंयोगेन भिन्नभिन्नास्वाद प्रतिभात्यज्ञानिनाम्।" (जयसेन)[8]

---

१. समयसार, गाथा ८ आत्मख्याति टीका, पृष्ठ २०
२. समयसार, गाथा ८ तात्पर्यवृत्ति टीका, पृष्ठ ६
३. समयसार, गाथा ११ आत्मख्याति टीका, पृष्ठ २४
४. समयसार, गाथा १३ तात्पर्यवृत्ति टीका, पृष्ठ २
५. समयसार, गाथा ११ आत्मख्याति टीका, पृष्ठ २५
६. समयसार, गाथा १३ तात्पर्यवृत्ति टीका, पृष्ठ १२
७. समयसार, गाथा १५ आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ४४
८. समयसार, गाथा १६ तात्पर्यवृत्ति टीका, पृष्ठ १८

५. "यथा खलु विसिनीपत्रस्य सलिलानिमग्नस्य···· बद्धस्पृष्टत्वं ·····। यथा च मृत्तिकायाः करक करीरककंरीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं ·····। यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्त्वं ·····। यथा च कांचनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादि पर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं ·····। यथा चापां सप्तार्चिः प्रत्ययोष्ण समाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं ·····। (अमृतचन्द्राचार्य)[1]

"द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले विसिनीपत्रवत्। अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव स्थासकोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत्। नियतभवस्थितं निस्तरंगोत्तरंगावस्थसु समुद्रवत्। अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादिभेदरहितं गुरुत्वस्निग्धत्वपीतत्वादि धर्मेषु सुवर्णवत्। असंयुक्तमसंबद्ध रागादिविकल्परूपभावकर्मरहितं निश्चयनयेनोष्णरहितजलवदिति।" (जयसेनाचार्य)[2]

६. अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः क्रियते।····अथायमेव प्रतिबोध्यते रे दुरात्मन्। (अमृतचन्द्र)[3]
अथाप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं व्यवसायः क्रियते।····अथास्य बहिरात्मनः सम्बोधनं क्रियते रे दुरात्मन्·····। (जयसेन)[4]

७. इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं, न पुनर्निश्चयतः।···· (अमृतचन्द्र)[5]

यथा कनककलधौतयोः समावर्तितावस्थायां व्यवहारेणैकत्वेऽपि निश्चयेन भिन्नत्वं तथा जीवदेहयोरिति भावार्थः।" (जयसेन)[6]

८. इसी तरह "कार्तस्वर तथा कलधौत"[7] "नगर वर्णन से राजा का वर्णन नहीं होता,[8] किसी पुरुष द्वारा धोबी के घर से दूसरे के

---

१. समयसार, गाथा १४, आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ३६–४०
२. समयसार, गाथा, १६ तात्पर्यवृत्ति टीका, पृष्ठ १८
३. वही, गाथा २३, २४, २५, की आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ५७, ५८
४. वही, गाथा २८, २९, ३० तात्पर्यवृत्ति पृष्ठ २६, २७
५. वही, गाथा २७ आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ६२
६. वही, गाथा ३२ तात्पर्यवृत्ति पृष्ठ ३०
७. गाथा २९ पृष्ठ ६४ ८. गाथा ३० पृष्ठ ६५

वस्त्र लाने तथा उसे अपना समझने[1] निजकरतलविन्यस्तविस्मृत-चामीकरावलोकन न्याय[2] आठ लकड़ियों के संयोग से निर्मित भिन्न पलंग पर सोने वाले पुरुष की भांति[3] इत्यादि अनेक दृष्टांत आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी व्याख्या में दिये हैं उन्हें ज्यों का त्यों[4] आचार्य जयसेन ने अपनी तात्पर्यवृत्ति में भी ग्रहण कर प्रस्तुत किया है।

९. इतना ही नहीं, कहीं कहीं तो जयसेन ने अमृतचन्द्र की सूत्ररूपेण कथनशैली को भी उसी रूप में निर्दिष्ट किया है। उदाहरण के लिए अमृतचन्द्र एक स्थल पर लिखते हैं– "एवमेव च मोहपद-परिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमाननायालोभकर्मनोकर्म मनोवचनकाय-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शन सूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया-दिशान्यान्यप्यूह्यानि।[5] इसी का अनुकरण भी देखिये आचार्य जयसेन द्वारा, यथा –

एवमेव मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्ममनो-वचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्श सूत्राणि षोड़श व्याख्येयानि। अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणाम-रूपाणि ज्ञातव्यानि।[6]

१०. अमृतचन्द्र का जयसेन पर गहन एवं व्यापक प्रभाव का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि जयसेन ने कहीं कहीं तो समयसार की गाथा पर अपनी कुछ भी व्याख्या न लिखकर आचार्य अमृतचन्द्र की सम्पूर्ण गाथा टीका को यथावत् उद्धृत कर दिया है। उदाहरण स्वरूप अमृतचन्द्राचार्य कृत समयसार की गाथा क्रमांक २९६ से २९९ तक की आत्मख्याति टीका जयसेन ने शब्दशः पूर्णतः उद्धृत की है।[7]

---

१. गाथा ३५ पृष्ठ ७४ २. गाथा ३८ पृष्ठ ८० ३. गाथा ४४ पृष्ठ ९०

४. तुलना हेतु गाथा क्रमांक ३४, ३५, ४०, ४३, ४९ की तात्पर्यवृत्ति टीका द्रष्टव्य है।

५. समयसार, गाथा ३६, आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ७७ – ७८

६. समयसार, गाथा ४१, तात्पर्यवृत्ति पृष्ठ ३७

७. समयसार की गाथा क्रमांक ३१७, ३१८, ३१९ तथा ३२० की तात्पर्यवृत्ति टीका द्रष्टव्य है।

उपरोक्त सभी प्रमाणों एवं आधारों पर अमृतचन्द्र का प्रभाव जयसेन पर अत्यंत स्पष्ट हो जाता है।

मुनिरामसेन पर प्रभाव (बारहवी–तेरहवी सदी ईस्वी):– रामसेन नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं। उक्त मुनि रामसेन तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ के कर्ता हुए हैं जिनका समय ईसा की बारहवीं-तेरहवीं सदी है।[1] जयसेनाचार्य से पूर्व तत्त्वानुशासनकार रामसेन अमृतचन्द्र की टीकाओं से परिचित एवं प्रभावित थे। उन्होंने जो निश्चय-व्यवहार का कथन किया है, वह अमृतचन्द्र के द्वारा प्रदर्शित दिशा के अनुसार ही है।[2] तत्त्वानुशासन पर अमृतचन्द्राचार्य के तत्त्वार्थसार तथा समयसार आदि टीकाओं का प्रभाव पड़ा है, उनकी युक्ति पुरस्सर शैली को अपनाया गया है। इतना ही नहीं अपितु निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि को अमृतचन्द्र की भांति साथ लेकर चला गया है। अमृतचन्द्र की कथनशैली एवं तत्त्वदृष्टि के अतिरिक्त तत्त्वानुशासन में तात्विक एवं साहित्यिक अनुसरण भी पाया जाता है जिसके कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं –

आचार्य अमृतचन्द्र ने सात तत्त्वों में हेय तथा उपादेयपने का वर्णन करते हुए लिखा है कि उपादेय तत्त्व जीव तथा हेय तत्त्व अजीव हैं। हेय का उपादान हेतु आस्रव हैं तथा हेय का उपादान रूप बंध है। हेय के नाश (हान) का हेतु संवर व निर्जरा है और हेय के परिपूर्ण नाश रूप मोक्ष तत्त्व है। इसलिए उक्त सातों तत्त्वों का निरूपण किया गया है। इसी का अनुकरण करते हुए रामसेन ने बन्ध और उसके कारण आस्रव को हेय तथा मोक्ष और उसके कारण संवर–निर्जरा को उपादेय तत्त्व निरूपित किया है। उक्त दोनों विद्वान आचार्यों के मूल शब्द इस प्रकार हैं –

उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः।
हेयस्यास्मिन्नुपादान हेतुत्वेनास्रवः स्मृतः॥
हेयस्यादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तितः।
संवरो निर्जरो हेयहानहेतुतयोदितौ॥
हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः॥ (अमृतचन्द्राचार्य)[3]

---

१. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश, भाग ३, पृष्ठ ४१८
२. जैनसंदेश शोधांक, अक्टूबर १९५९, पृष्ठ १८०
३. तत्त्वार्थसार, प्रथम अधिकार, पद्य क्रमांक ७ एवं ८

बन्धो निबन्धनं चास्य हेयमित्युपदर्शितम् ।
हेयस्याऽशेष-दुःखस्य यस्माद्बीजमिदं द्वयम् ॥४॥
मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतम् ।
तदुपादेयं सुखं यस्मात्तस्मादिच्छेन्निजम् ॥५॥ (रामसेन)[1]

अन्यत्र अमृतचन्द्र ने निश्चय व व्यवहार की अपेक्षा से मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार करते हुए, उनमें निश्चय को साध्य तथा व्यवहार को साधन के रूप में निरूपित किया है। इन्हीं शब्दों की पुनरावृत्ति रामसेन ने की है। उनके साम्यदर्शक पद्य निम्नानुसार है –

निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधा स्थितः ।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥ (अमृतचन्द्र)[2]

मोक्षहेतुपुनर्द्वेधा निश्चयाद् व्यवहारतः ।
तत्राऽद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम् ॥(रामसेन)[3]

उपर्युक्त प्रमाणों से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव मुनिरामसेन पर भी था।

ब्रह्मदेवसूरि पर प्रभाव (१२९२–१३२३ ईस्वी) – आप बाल-ब्रह्मचारी थे, इसी से आपका नाम ब्रह्मदेव पड़ा। आप समयसार के टीकाकार जयसेन के सधर्मा थे क्योंकि उनकी उपदेश शैली से ब्रह्मदेव की शैली में अत्यधिक साम्य दिखाई देता है। इनका समय ईस्वी १२९२ से १३२३ है। इनकी कृतियों में द्रव्यसंग्रहटीका, परमात्मप्रकाशटीका, तत्त्वदीपक, ज्ञानदीपक, त्रिवर्णाचार दीपक, प्रतिष्ठातिलक आदि मुख्य हैं।[4] आचार्य अमृतचन्द्र के पश्चात् होने वाले ब्रह्मदेव पर उनके व्यक्तित्व का प्रभाव था, जिसके निम्न आधार हैं —

१. ब्रह्मदेव ने अपनी परमात्मप्रकाशटीका में अमृतचन्द्र के ग्रन्थ पुरुषर्थसिद्ध्युपाय से २१६ वां पद्य "दर्शनात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञान-मिष्यतेबोधः। इत्यादि पद्य उद्धृत किया है।[5] यह पद्य "तथा चोक्तम्"

---

१. तत्त्वानुशासन, पद्य क्रमांक ४ तथा ५
२. तत्त्वार्थसार, उपसंहार, पद्य नं. २
३. तत्त्वानुशासन, पद्य क्रमांक २८
४. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग ३, पृष्ठ २०५
५. परमात्म प्रकाश, गाथा ९६ की टीका

कहकर प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि ब्रह्मदेव अमृतचन्द्र को प्रमाण रूप में स्वीकार करते हैं।

२. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री लिखते हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों पर आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाएँ रचे जाने पर उनके बाद के विद्वानों और विद्यारसिक ग्रन्थकारों का ध्यान विशेष रूप से कुन्दकुन्द के साहित्य की ओर आकृष्ट हुआ था। ब्रह्मदेव की द्रव्य-संग्रहटीका भी इसका एक उदाहरण है।[1]

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव ब्रह्मदेवसूरि पर भी प्रकट होता है।

कवि डड्ढा पर प्रभाव (९९८ ईस्वी) – ये संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। इनका निवास स्थान चित्तौड़ था। इनके पिता का नाम श्रीपाल था। ये पोरवाल जाति के थे। इनकी एक मात्र कृति संस्कृत "पंचसंग्रह" है। कवि डड्ढा अमृतचन्द्रसूरि के बाद तथा के तथा अमित-गति के पूर्व के विद्वान हैं। इनका समय वि. सं. १०५५ (ईस्वी ९९८) है।[2] कवि डड्ढा आचार्य अमृतचन्द्र से प्रभावित थे। इसका आधार निम्नानुसार है –

डड्ढा ने अपने ग्रन्थ पंचसंग्रह में अमृतचन्द्र के ग्रन्थ के पद्य को अपने कथन के समर्थन में "उक्तं च" रूप से प्रस्तुत किया है। अमृतचन्द्र ने लिखा है कि "सोलह कषाय व नौ नोकषाय" कहीं गई है। इनमें जो किंचित् भेद है, वह नहीं गिना जाता है इसलिए दोनों मिलाकर पच्चीस कषाय कहलाती है। उनका मूल पद्य इस प्रकार है –

षोडशैव कषायाः स्युर्नोकषाया नवेरिताः।
ईषद्भेदो न भेदोऽत्र कषायाः पंचविंशतिः॥[3]

अमृतचन्द्र के उक्त पद्य को डड्ढा ने अपने ग्रन्थ पंचसंग्रह के प्रकृति-समुत्कीर्तन अधिकार में उद्धृत किया है।[4]

इस तरह अमृतचन्द्र का प्रभाव डड्ढा पर भी पड़ा है।

---

१. जैन संदेश शोधांक २५, लेख पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ७ (अक्टूबर ६७)
२. राजस्थान का जैन साहित्य, पृष्ठ ९७–९८
३. तत्त्वार्थसार, बंधाधिकार, पद्य क्रमांक ११
४. जैन संदेश शोधांक–२६ (२९ फरवरी, १९६८)

माइल्लधवल पर प्रभाव (११३६–१२४३ ईस्वी) – माइल्लधवल ने अपने ग्रन्थ की अन्तिम गाथाओं में आचार्य देवसेन (८९३–९४३ ईस्वी) को अपना गुरु घोषित किया है। उनकी एकमात्र कृति नयचक्र है। उक्त ग्रन्थ में द्रव्यसंग्रह तथा पद्मनंदिपंचविंशति के एकत्वसप्तति से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। उनका समय ११३६ और १२४३ ईस्वी के बीच का है।[1] नयचक्र का दूसरा नाम द्रव्यस्वभाव प्रकाशक भी है। उक्त ग्रन्थकर्ता माइल्लधवल पर आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव पड़ा था। इसके कुछ आधार इस प्रकार हैं –

दसवीं ईस्वी सदी में आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं की रचना होने पर विभिन्न लेखकों ने अपनी रचनाएँ की। तत्पश्चात माइल्लधवल ने भी द्रव्यस्वभाव प्रकाशक अपरनाम नयचक्र नामक ग्रन्थ रचा और उसमें नयों के विवेचन के साथ अध्यात्म का भी विवेचन किया।[2] उक्तविवेचन में उन्होंने अमृतचन्द्रकृत पंचास्तिकाय की संस्कृत टीका से भी कुछ उपयोगी विषयवस्तु ग्रहण की। डॉ. हीरालाल एवं डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने उक्त आशय का समर्थन करते हुए लिखा है कि द्रव्यस्वभाव प्रकाशक ग्रन्थ संस्कृत में अनुवाद मात्र नहीं है, प्रत्युत इसमें कुन्दकुन्द के समयसार तथा उसकी अमृतचन्द्र कृत टीका के उपयोगी अंश पाये जाते हैं।[3]

अतः आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव माइल्लधवल पर भी स्पष्ट प्रतीत होता है।

नरेन्द्रसेन पर प्रभाव (१०९८ ईस्वी) – लाड़बागड़ संघ की गुर्वावलि के अनुसार आप गुणसेन के शिष्य, उदयसेन के सधर्मा और गुणसेन द्वितीय, जयसेन द्वितीय तथा उदयसेन द्वितीय के गुरु थे। इनकी कृति का नाम सिद्धांतसारसंग्रह है। इनका समय ईस्वी १०९८ है।[4] नरेन्द्रसेन अमृतचन्द्र आचार्य से प्रभावित थे – इसके कुछ आधार इस प्रकार हैं –

---

१. नयचक्र, माइल्लधवल कृत का "जनरल एडीटोरियल", पृष्ठ ६–७

२. द्रव्यस्वभाव प्रकाशक (नयचक्र)–प्रस्तावना, पृष्ठ २१

३. वही-ज"जनरल एडीटोरियम" पृष्ठ ७ i. e. This is not just a Sanskrit rendering but contains useful matter from the samayasara (of Kundakunda and Amrtachandra's exposition of the same." Page-7.

४. जैनेन्द्रसिद्धांतकोश, भाग २, पृष्ठ ५७९

१. उनका सिद्धांतसार संग्रह ग्रंथ आचार्य अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थ-सार की शैली पर रचा गया है।

२. सम्पूर्ण ग्रन्थ तत्त्वार्थसार की भांति संस्कृत के अनुष्टुप् छंदों में लिखा गया है।

३. सिद्धांतसार रचने की प्रेरणा नरेन्द्रसेन ने अमृतचन्द्र के तत्त्वार्थ-सार से ग्रहण की। इस सम्बन्ध में पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने भी अपना समर्थन व्यक्त करते हुये लिखा है कि दोनों ग्रन्थों के अंतर्परीक्षण एवं तुलना करने से पता चलता है कि नरेन्द्रसेन को तत्त्वार्थसार से सिद्धांत-सार रचने की प्रेरणा मिली। नरेन्द्रसेन के पूर्वज जयसेन ने तो अपने धर्म-रत्नाकर में अमृतचन्द्र का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का अधिकांश भाग उद्धृत किया है। यद्यपि नरेन्द्रसेन ने ऐसा नहीं किया परन्तु अपने सिद्धांतसार में प्रकारान्तर से तत्त्वार्थसार को अपना लिया है। दोनों ग्रन्थों के नाम-करण में भी भावसाम्य है।[1]

पंडित आशाधर पर प्रभाव (११७३-१२४३) – आपका जन्म नागौर के पास माण्डलगढ़ में हुआ था, परन्तु बादशाह शहाबुद्दीन के अत्याचार के कारण मालवा देश की धारानगरी में रहने लगे। आपके पिता सल्लक्षण तथा माता रत्नो बघेरवाल जाति के थे। आप उच्च-कोटि के विद्वान तथा पं० आशाधर नाम से प्रसिद्ध थे। आपका समय ईस्वी ११७३ से १२४३ था। आपकी लगभग २० कृतियाँ उपलब्ध होती हैं उनमें सागार धर्मामृत, अनगारधर्मामृत, अध्यात्मरहस्य, इष्टोपदेश टीका, भगवती आराधना टीका, सहस्रनाम आदि उल्लेखनीय थे।[2]

आप आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व तथा कृतित्व से प्रभावित थे। इसके कुछ आधार इस प्रकार हैं –

१. आशाधर ने अपनी कृतियों में अमृतचन्द्र की कई कृतियों के उद्धरण अपने तत्वनिरूपण की पुष्टि हेतु प्रमाणरूपेण प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के लिये अनगार धर्मामृत ग्रन्थ में आशाधर ने अमृतचन्द्र के

---

१. जैनसाहित्य का इतिहास, भाग २ पृष्ठ ३५५

२. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश-भाग प्रथम-पृष्ठ २६४

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के १६ पद[1] समयसार कलश के १४ कलश[2], तत्वार्थसार का अधिकार २ का ५८वाँ श्लोक तथा प्रवचनसार की तत्त्व-प्रदीपिका टीका का एक पद[3] प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। इससे अमृतचन्द्र के व्यापक आदर का पता चलता है।

२. आशाधर ने अमृतचन्द्र के ग्रन्थों से पदों को उद्धृत ही नहीं किया है अपितु कुछ पद्यों को शाब्दिक परिवर्तन के साथ प्रस्तुत कर अपने ग्रन्थ में समाहित किया है। उन पद्यों में अधिकांश साम्य भी पाया जाता है। ऐसे साम्यदर्शक पद्यों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थं बोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥ (अमृतचन्द्र)[4]

व्यवहारमभूतार्थं प्रायो भूतार्थं विमुखजन मोहात्।
केवलमुपयुञ्जानो व्यंजनवद् भ्रश्यति स्वार्थात्॥(पं. आशाधर)[5]

एक स्थल पर अमृतचन्द्र लिखते हैं कि जो जीव निश्चय के स्वरूप को न जानकर उसको ही निश्चय से अंगीकार करता है वह मूर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है और बाह्य क्रिया रूप आचरण का नाश करता है। इसी अभिप्राय का समर्थन एवं पुनरावृत्ति पं. आशाधर भी करते हैं। दोनों के मूल कथन इस प्रकार हैं –

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिः करणालसो बालः॥ (अमृतचन्द्र)[6]
व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति।
बीजादिना विना मूढ़ः स सस्यानि सिसृक्षति॥ (पं. आशाधर)[7]

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के क्रमशः १६ पद इस प्रकार उद्धृत हैं-पद्य नं. २२०, २११, २२५, ३४, ३३, ३२, २६, २७, २८, २६, ३०, ४६, ४८, ४२, ६६, १११, ११२, ११३ तथा ११४

२. समयसार कलश के १४ कलश क्रमशः १६४, २०५, १३१, ११०, २४, २२५, २२६, २२७, २२८, २२६, २३०, २३१, २१४ तथा १११ हैं।

३. प्रवचनसार, चरणानुयोगचूलिका (तत्त्वप्रदीपिका टीका) पद्य क्रमांक १३

४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. ५

५. अनगारधर्मामृत, अध्याय प्रथम, पद्य नं. ६६

६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. ५

७. अनगारधर्मामृत, अध्याय प्रथम, पद्य नं. १००

इसी तरह अमृतचन्द्र ने प्रथम अवस्था में व्यवहारनय को हस्तावलंब रूप बताया, साथ ही खेद भी व्यक्त किया कि वह भी परद्रव्यों से भिन्न, चैतन्यचमत्कार मात्र देखने (अनुभव करने) वालों के लिए वह व्यवहार नय कुछ भी उपयोगी नहीं है। यथा –

व्यवहरणनयः स्याद् अधुनाऽपीह प्रयोगमेवानां,
इह निहितपदानां हन्तहस्तावलम्बः।
तदपि परमर्थं चिच्चमत्कार मात्रं,
पर विरहितमन्तः पश्यतांनैष किंचित् ॥[1]

इन्हीं शब्दों तथा भावों को ग्रहण कर पं. आशाधर ने भी लिखा है कि जैसे नट रस्सी पर स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करने के लिए बारम्बार बांस का सहारा लेते हैं और उसमें दक्ष हो जाने पर उसका सहारा छोड़ देते हैं, वैसे ही धीर मुमुक्षु को निश्चय में निरावलम्बन पूर्वक विहार करने के लिए बारम्बार व्यवहारनय का अवलम्बन लेना चाहिए तथा उसमें (निश्चय में) समर्थ हो जाने पर व्यवहार का आलम्बन छोड़ देना चाहिए। मूल गाथा इस प्रकार है—

भूतार्थं रज्जुवत्स्वैरं विहर्तुं वंशवन्मुहुः।
श्रयेद् यो धीरेरभूतार्थो हेयस्तद्विहतीश्वरैः ॥ (पं. आशाधर)[2]

यहां हम अमृतचन्द्र के अनुकरण पर लिखे गये पं. आशाधर के पद्यों को मूल रूप में ही प्रस्तुत करते हैं।

१. बन्धन होने तथा न होने के नियम का उल्लेख अमृतचन्द्र ने इस प्रकार किया है—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥
येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥
येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ (अमृतचन्द्र)[3]

उपरोक्त तीनों पद्यों का भाव एक ही पद्य में समाहित करके पं. आशाधर ने लिखा है—

---

१. समयसार कलश, नं. ५
२. अनगारधर्मामृत, अध्याय प्रथम, पद्य नं. १०१
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक २१२, २१३, २१४

येनांशेन विशुद्धिः स्याज्जन्तोस्तेन न बन्धनम् ।
येनांशेन तु रागः स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम् ॥ (पं. आशाधर)[1]

२. रागादि की अनुत्पत्ति को अहिंसा तथा उसकी उत्पत्ति को हिंसा बताते हुए अमृतचन्द्र जैनागम का सार इस प्रकार व्यक्त करते हैं –

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः ॥[2]

इसी अभिप्राय की पुनरावृत्ति पं. आशाधर निम्न शब्दों में करते हैं–

परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम् ।
हिंसा रागाद्युद्भूतिरहिंसा तदनुद्भवः ॥[3]

३. आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि यद्यपि परवस्तु के कारण आत्मा को जरा भी हिंसा नहीं होती, तथापि परिणामों की निर्मलता के लिये हिंसा के स्थानों से निवृत्त हो जाना चाहिये । यथा –

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तु निबन्धना भवति पुंसः ।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥[4]

इन शब्दों का ज्यों का त्यों अनुसरण करते हुए पं० आशाधर भी लिखते हैं –

हिंसा यद्यपि पुंसः स्यान्न स्वल्पाप्यन्यवस्तुतः ।
तथापि हिंसायतनाद्विरमेद्भावविशुद्धये ॥[5]

४. आत्मा के शुद्धोपयोग रूप परिणामों के घात होने को ही हिंसा बताते हुए तथा असत्य वचनादि भेदों को शिष्यों को समझाने के लिए कहा गया है – इस प्रकार कथन करते हुए अमृतचन्द्र ने लिखा है –

आत्मपरिणाम हिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥[6]

इसी कथन को आधार बनाकर पं० आशाधर ने भी लिखा है –

---

१. अनगारधर्मामृत, अध्याय प्रथम, श्लोक नं. ११०
२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. ४४
३. अनगार धर्मामृत, अध्याय चतुर्थ-श्लोक नं. २६
४. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. ४६
५. अनगार धर्मामृत, अध्याय ४ पद्य नं. २८
६. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. ४२

सुखमचलमहिंसा लक्षणादेव धर्मात्, भवति विधिरशेषोऽप्यस्य शेषोऽनुकल्पः।
इह भवगहनेऽस्मावेव दूरं दुरापः, प्रवचनवचनानां जीवितं चायमेव ॥[1]

५. कर्ता-कर्म आदि का भेद व्यवहारदृष्टि में कहा गया है परन्तु निश्चयदृष्टि से तो कर्ता-कर्म के भेद दो पदार्थों में घटित न होकर एक ही में घटित होते हैं यथा –

व्यावहारिक-दृशैव केवलं, कर्तृ-कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ॥(अमृतचन्द्र)[2]

इसी सिद्धांत को लगभग इन्हीं शब्दों में पं० आशाधर लिखते हैं –

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक ॥[3]

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र का गम्भीर प्रभाव पं० आशाधर पर स्पष्टतः प्रकट होता है।

पण्डित राजमल्ल पाण्डे (ईस्वी १५४६-१६०५) – आप मगध देश के विराट्नगर में बादशाह अकबर के समय में निवास करते थे। आप काष्ठासंघी भट्टारकों की आम्नाय के पंडित थे। पं० बनारसीदास ने इन्हें "पाण्डे" राजमल्ल नाम से उल्लिखित किया है। आपकी कृतियों में अमृतचन्द्राचार्य कृत आत्मख्याति समयसार कलश टीका की ढूढ़ारी हिन्दी भाषा में बालबोध टीका, पिंगल ग्रन्थ-छंदोविद्या, पंचास्तिकाय टीका, लाटी संहिता, पंचाध्यायी, जम्बूस्वामीचरित्र तथा अध्यात्मकमल-मार्तण्ड मुख्य हैं। इनका समय ईस्वी १५४६-१६०५ है।[4]

१. पंडित राजमल्ल पाण्डे आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के मर्मज्ञ, तथा रसिक विद्वान् थे। अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व का विशेष प्रभाव एवं उनकी कृतियों का प्रभुत्व राजमल्ल की कृतियों पर था। इस सम्बन्ध में पंडित बनारसीदास ने अपने ग्रन्थ नाटक समयसार में पाण्डे राजमल्ल की समयसार मर्मज्ञता का उल्लेख किया है। यथा –

पाण्डे राजमल्ल जिनधर्मी, समयसार नाटक के मर्मी।
तिनहि ग्रन्थ की टीका कीनी, बालबोध सुगम करि दीनी ॥[5]

---

१. अनगार धर्मामृत, अध्याय षष्ठ, श्लोक ८१। २. समयसार कलश, क्रमांक २१०
३. अनगार धर्मामृत, अध्याय प्रथम, पद्य नं. १०२
४. जैनेन्द्रसिद्धांतकोश, भाग ३ पृष्ठ ४१४
५. समयसार नाटक, अंतिमप्रशस्ति, पद्य नं. २३

२. अमृतचन्द्र का पं. राजमल्ल पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनकी कृतियों में यत्र तत्र आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं के मूलशब्द, वाक्य एवं यथावत् भावप्रस्फुटन हुआ है। यही कारण है कि उनकी पंचाध्यायी कृति को, अमृतचन्द्र की टीकाओं, भावों तथा शैली से अनुप्राणित एवं समंजित देखकर, भ्रमवशात् अमृतचन्द्र की ही कृति कुछ विद्वानों ने समझ ली थी।[1] अमृतचन्द्र की रचनाशैली की साम्यता पं. राजमल्ल की कृतियों में स्पष्ट दिखाई देती है। उदाहरण के लिए – अमृतचन्द्र ने चेतना प्रकरण के अन्तर्गत ज्ञानचेतना की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आत्मा अपने को – ज्ञानमात्र को चेतने से स्वयं ही ज्ञानचेतना है, ऐसा आशय है। उनके मूल शब्द इस प्रकार हैं – "स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः।[2] इन्हीं शब्दों को पंचाध्यायीकार ने श्लोकबद्ध करके प्रस्तुत किया है यथा –

अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्य स्तन्मात्रतः स्वयम्।
स चेत्यतेऽनया शुद्धः शुद्धा सा ज्ञान चेतना ॥ (पं. राजमल्ल)[3]

३. आचार्य अमृतचन्द्र व्यवहार नय को कथंचित् प्रयोजनीय बताते हुए लिखते हैं –

"व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्यपदव्या-
मिहनिहितपदानां हंत हस्तावलम्बः।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कार मात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित्॥[4]

उक्त पद्य रचना के पूर्व टीका में अमृतचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से जानने में आता हुआ उस काल में प्रयोजनवान है – क्योंकि तीर्थ तथा तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्था है। टीका के मूल शब्द इस प्रकार है – "व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थं

---

१. पंचाध्यायी, प्रस्तावना पृष्ठ १५, पं. फूलचन्द शास्त्री (टीकाकार, "पण्डित देवकीनन्दन)

२. समयसार, गाथा ३८६ की आत्मख्याति टीका, पृष्ठ ५२०

३. पंचाध्यायी, अध्याय २, पद्य नं. १६६

४. समयसार कलश क्रमांक ४

तीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् ।"[1] अमृतचन्द्र ने एक स्थल पर महिष के (भैंसे का) ध्यान का दृष्टान्त देते हुए लिखा है – "यथा वाऽपरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्माना वेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रंकषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात् प्रच्युत मानुषोचितापवरकद्वार विनिस्सरणतया तथा विधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ।[2] इस प्रकार उपरोक्त शब्दों एवं भावों को पं. राजमल्ल ने निम्न पद्यों में ज्यों का त्यों समाहित करके प्रस्तुत किया है। वे पद्य इस प्रकार हैं –

तस्मादाश्रयणीयः केषांचित् स नयः प्रसंगत्वात् ।
अपि सविकल्पानामिव न श्रेयो निर्विकल्पबोधवताम् ।।
नैवं यतोऽस्ति भेदोऽनिर्वचनीयो नयः स परमार्थः ।
तस्मात्तीर्थस्थितये श्रेयान् कश्चित् स वाबदूकोऽपि ।।
दृष्टान्तोऽपि च महिषध्यानाविष्टो यथा हि कोऽपि नरः ।
महिषोऽयमहं तस्योपासक इति नयावलम्बी स्यात् ।।[3]

इससे स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव पं. राजमल्ल पाण्डे पर था।

पण्डित बनारसीदास पर प्रभाव (ईस्वी १५८७–१६४४) – आप आगरा के निवासी, श्रीमालवैश्य थे। आपके पिता खरगसेन थे। प्रारम्भ में आप श्वेताम्बर आम्नाय में थे, बाद में दिगम्बर हो गये। आप जवाहरात के व्यापारी थे। गोस्वामी तुलसीदास के समकालीन थे। आपकी निम्न कृतियाँ प्रसिद्ध हैं – नवरस पद्यावलि, नाममाला, नाटकसमयसार, बनारसीविलास, कर्मप्रकृतिविधान, अर्धकथानक आदि। आपका समय ईस्वी १५८७-१६४४ है। आप आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व व कृतित्व से प्रभावित ही नहीं थे, अपितु उन्होंने उनके ग्रन्थों को आत्मसात् करके आध्यात्मिक रचनाएँ की। प्राकृत भाषा में उपलब्ध आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का समयप्राभृत तथा उसकी अमृतचन्द्राचार्य कृत आत्मख्याति–समयसार कलश टीका को आत्मसात् करके नाटकसमयसार की रचना की गई है। यद्यपि नाटकसमयसार अमृतचन्द्र कृत

---

१. समयसार, आत्मख्याति टीका गाथा १२
२. समयसार, आत्मख्याति टीका, गाथा ९६
३. पंचाध्यायी, अध्याय प्रथम, क्रमांक ६३९, ६४१, ६४९

कलशों का हीनाधिक रूप से छायानुवाद सा प्रतीत होता है, तथापि बनारसीदास ने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा उसे अद्वितीय आध्यात्मिक रंग में रंगा है। यह एक बड़ा ही अपूर्व ग्रन्थ है।[1] इस संदर्भ में डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन लिखते हैं कि आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द का समयप्राभृत, उसकी अमृतचन्द्राचार्य कृत "आत्मख्याति" नामक संस्कृत टीका और पं. राजमलजी कृत भाषा टीका इन तीनों ग्रन्थों के आधार पर ही इस हिन्दी पद्य बद्ध ग्रन्थ नाटकसमयसार का प्रणयन हुआ है।[2] कविवर पर आचार्य कुन्दकुन्द एवं अमृतचन्द्र आचार्य का प्रभाव अवश्य रहा है। बनारसीदासजी ने समयसार के कलशों का अनुवाद ही नहीं किया है, अपितु उनके मर्म को अपने ढंग से व्यक्त किया है जिससे वह बिल्कुल स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा मालूम होता है। यह कार्य वही लेखक कर सकता है जिसने उसके मूलभाव को अच्छी तरह हृदयंगम करके अपना बना लिया है।[3] इतना ही नहीं, पं. बनारसीदासजी ने विषय व्यवस्था में भी अमृतचन्द्र का अनुकरण किया है। उनका नाटकसमयसार ग्रन्थ अमृतचन्द्र के कलशों का हीनाधिक, संक्षिप्त और विशद्, मूलानुगामी पद्यानुवाद है। जो आलंकारिक बहुरंगी रंगों में प्रस्फुटित हुआ है। प. बनारसीदास ने स्वयं ग्रन्थ की प्रशस्ति में इस बात का उल्लेख करते हुए लिखा है –

समयसार नाटक अकथ, अनुभव रस भण्डार।
याको रस जो जानहीं, सो पावें भवपार॥
अनुभौ रस के रसियानै, तीन प्रकार एकत्र बखानै।
समयसार कलशा अति नीका, राजमली सुगम यह टीका॥
ताकै अनुक्रम भाषा कीनी, बनारसी ग्याता रसलीनी।
ऐसा ग्रन्थ अपूरब भाया, तानें सबका मनहिं लुभाया॥[4]

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार टीका के अंत में "स्याद्वादद्वार" स्वयं रचकर जोड़ दिया है। इससे ग्रन्थ की उपयोगिता और भी अधिक हो गई है। उन्होंने स्याद्वादद्वार के सम्बन्ध में अत्यन्त भव्य उद्गार व्यक्त

---

१. जैनहितैषी, सम्पादक नाथूराम प्रेमी, नवम्बर–दिसम्बर, १६१६, भाग १२, अंक ११–१२, पृष्ठ ५६२
२. कविवर बनारसीदास जीवनी और कृतित्व, पृष्ठ १२६
३. वही, पृष्ठ १४२–१४३
४. ईडर के भण्डार की प्रति का अन्तिम अंश, पद्य क्रमांक १, २, ३

किये हैं। पं. बनारसीदास ने वे उद्‌गार पद्यबद्ध किये हैं। जो इस प्रकार हैं –

अद्‌भुतग्रन्थ अध्यातम बानी, समुझे कोई बिरला ज्ञानी।
यामैं स्याद्वाद अधिकारा, ताको जो कीजै बिसतारा॥
तौ गिरन्थ अति शोभा पावे, वह मन्दिर यहु कलश कहावे।
तबचित अमृतवचन गढ़ि खोले, अमृतचन्द्र अचारज बोले॥[1]

पं. बनारसीदास ने अमृतचन्द्र के कलशों एवं भावों को किस प्रकार आत्मसात् करके पद्यरचना द्वारा अभिव्यक्त किया है, उसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं –

१. एक स्थल पर आचार्य ने नवतत्त्वरूप विविध अवस्थाओं में छिपी आत्मज्योति को विविधवर्णसमूह में छिपे स्वर्ण से उदाहृरत करके विविध प्रकार दिखाई देने वाली कहा, परन्तु पर्यायदृष्टि छोड़कर शुद्धनय रूप द्रव्यदृष्टि से उसे चैतन्य चमत्कार मात्र प्रकाशमान निरूपित किया है। यथा –

चिरमिति नवतत्वच्छन्नमुन्नीयमानं, कनकमिव निमग्नं वर्णमाला कलापे।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं, प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम्॥[2]

इसी कलश का भावार्थ पण्डित बनारसीदास ने इन शब्दों में संजोया है –

जैसे बनवारी मैं कुघात के मिलाप हेम,
नाना भांति भयो पै तथापि एक नाम है।
कसिकै कसौटी लीकु निरखै सराफ ताहि,
वान के प्रवान करि लेतु देतु दाम है॥
तैसे ही अनादि पुद्‌गल सौं संजोगी जीव,
नव तत्त्व रूप में अरूपी महाधाम है।
दीसै उनमान सौं उद्योतवान् ठौर ठौर,
दूसरों न और एक आतम ही राम है॥[3]

२. इसी तरह निजात्मा का स्वरूप दर्शाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है –

---

१. नाटकसमसार, स्याद्वादद्वार, १, २
२. समयसार कलश, पद्य नं. ८
३. समयसार नाटक, जीवद्वार, पद्य नं ९

सर्वतः स्वरसनिर्भर भावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥[1]

इस श्लोक का सार बनारसीदासजी के सरस शब्दों में इस प्रकार है —

कहै विचक्षणपुरुष सदा मैं एक हौं,
अपने रससौं भर्‌यौ आपनी टेक हौं।
मोह कर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है,
शुद्ध चेतना सिन्धु हमारौं रूप है ॥[2]

३. कर्ता, कर्म और क्रिया का स्वरूप बताते हुए उन तीनों को एक ही वस्तु के तीन नाम भेद करते हुए अमृतचन्द्र लिखते हैं –

यः परिणमति स कर्ता, यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥[3]

उपरोक्त श्लोकगत भावों को कितने सरल एवं सुबोध शब्दों में पं. बनारसीदास ने व्यक्त किया है। उनके शब्द इस प्रकार हैं –

करता परिणामी दरब, करम रूप परिणाम।
किरिया परजय की फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम ॥[4]

इस तरह के एक दो ही नहीं, सैंकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं, क्योंकि सम्पूर्ण ही ग्रन्थ अमृतचन्द्र कृत समयसार कलश एवं टीका पर मुख्यपने आधारित है।

अंत में सम्यग्ज्ञान के बिना सम्पूर्ण चारित्र निस्सार है, यहाँ तक कि महाव्रत-समिति आदि का पालन भी कोई कीमत नहीं रखता" इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र घोषणा करते हैं कि –

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्याद्,
इत्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा,
आत्मानात्मावगम विरहात् सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥[5]

---

१. समयसार कलश, पद्य नं. ३०
२. समयसार नाटक – जीवद्वार, पद्य नं ३३
३. समयसार कलश, पद्य नं. ५१
४. समयसार नाटक, कर्त्ताकर्म क्रिया द्वार, पद्य ७
५. समयसार कलश, क्रमांक १३७

तथा ज्ञानहीन क्रिया मोक्षदायी नहीं होती इस सम्बन्ध में भी स्पष्ट लिखा है —

क्लिश्यंतां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः।
क्लिश्यंतां च परे महाव्रततपो भारेण भग्नाश्चिरम्॥
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयम्।
ज्ञानं ज्ञानगुण बिना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि॥[1]

उपरोक्त दोनों पद्यों का अनुसरण करते हुये बनारसीदास जी ने हिन्दी पद्यानुवाद इन शब्दों में किया है —

"जो नर सम्यकवंत कहावत, सम्यग्ज्ञानकला नहिं जागी।
आतम अंग अबंध विचारत, धारत संग कहै हम त्यागी॥
भेष धरें मुनिराज पटंतर, अंतर मोहमहानल दागी।
सुन्न हिये करतूति करै, पर सो सठ जीव न होय विरागी॥[2]

तथा आगे वे पुनः लिखते हैं —

कोई क्रूर कष्ट सहैं, तपसौं शरीर दहैं,
धूम्रपान करैं अधोमुख ह्वै के झूले हैं।
केई महाव्रत गहैं क्रिया में मगन रहैं,
बहैं मुनिभार पै पयार कैसे पूले हैं॥
इत्यादिक जीवनि को सर्वथा मुकति नाहिं,
फिरैं जगमांहि ज्यों बयारि के बबूले हैं।
जिन के हिए में ज्ञान तिन्ह ही कौं निरवान,
करम के करतार भरम में भूले हैं॥[3]

डा० जगदीशचन्द्र जैन ने जम्बूस्वामी चरित की प्रस्तावना में लिखा है कि अमृतचन्द्रसूरि के आत्मख्याति समयसार की तरह पं० बनारसीदास ने अपने नाटक समयसार के आदि में चिदात्मभाव को नमस्कार करके संसार ताप की शांति तथा अपने मोहनीय कर्म के नाश के लिए उक्त ग्रन्थ की रचना की और उसमें कुन्दकुन्दाचार्य तथा अमृतचन्द्राचार्य का स्मरण किया है। कवि ने अपने ग्रन्थ को आत्मख्याति के ढंग

---

१. समयसार कलश नं. १४२
२. समयसार नाटक, निर्जराद्वार पद्य क्रमांक ८
३. वही, पद्य क्रमांक २१

पर अनेक छंद, अलंकार आदि से सुसज्जित अध्यात्म शास्त्र की अति सुन्दर रचना करके जैन साहित्य के गौरव को वृद्धिगत किया है।[1]

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव पं० बनारसीदास पर स्पष्ट प्रकट होता है।

पण्डित भूधरदास पर प्रभाव (१७३२ ईस्वी) – आप आगरा निवासी तथा खण्डेलवाल जैन थे। आपकी कृतियों में प्रमुख कृति "पार्श्व-पुराण" है। आपका समय १७८९ संवत् (१७२२ ईस्वी) है।[2] आप आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों से विशेष प्रभावित थे। जिसके कुछ आधार इस प्रकार हैं।

प्रथम तो भूधरदास का पार्श्वपुराण यद्यपि पार्श्वनाथ जिनेन्द्र के जीवनचरित से सम्बद्ध प्रथमानुयोग का ग्रन्थ है, फिर भी इसका बहुभाग द्रव्यानुयोग विषयक तत्त्वनिरूपण में उपयोग किया गया है। तत्त्वनिरूपण का प्रमुख आधार आचार्य अमृतचन्द्र के ही ग्रंथों में वर्णित विचार थे। लेखक ने स्वयं भी इस बात को स्वीकार किया है। इसका उल्लेख उन्होंने सात तत्त्व के निरूपण करते समय किया है। यथा –

> अमृतचन्द्र मुनिराज कृत किमपि अर्थ अवधार।
> जीवतत्त्व वर्णन लिख्यो अब अजीव अधिकार॥[3]

उक्त प्रमाण से आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव पण्डित भूधरदास पर भी लक्षित होता है।

पं० हीरानंद पर प्रभाव (१६१३-१६८३ ईस्वी) – पं० हीरानंद आगरा निवासी पं० जगजीवन के साथी थे। जगजीवन की प्रेरणा से पं० हीरानंद ने पंचास्तिकाय का पद्यानुवाद १६४३ ईस्वी में किया था। उनका समय १६१३ से १६८३ ईस्वी है।[4] पं हीरानंद आचार्य अमृतचन्द्र से प्रभावित थे, इसके कुछ आधार इस प्रकार हैं –

---

१. अर्धकथानक, पं. बनारसीदासकृत संपादक - नाथूरामप्रेमी, पृष्ठ ८६ (१९७५) प्रथम संस्था

२. बृहत् जैन शब्दार्णव, भाग २, पृष्ठ ५७२

३. पार्श्वपुराण, अधिकार ९, पृष्ठ ७२-७३ (प्रकाशक-जैन ग्रन्थ र० का०, बम्बई) वीर० नि० सं० २४३४ (ज्ञानसागर प्रेस)

४. पंचास्तिकाय, समयसार - पं० हीरानंद, प्रशस्ति पद्य २९, पृष्ठ १९६

ख्सपरसनीनी कुंकुंदमुनिजननयकारा वज्राकियाआनमहितसारा १९ तिसमें
नानाअरथविथारा ज्ञानीजनमनपरमपियारा वज्रनगहीरतीरनहिपावै ज्ञानी
जनमनजहँलगधावै २० आगमअरुअध्यातमकथनी जहांतहांजिनशासनगथनी
आगमभेदकथनकोंकहना अध्यातमनिरभेदनिवहना २१ भेदअभेददोऊइक
संगी स्यादवादरचनासरवंगी तातैयाहीरचनामांही भेदअभेददोऊदिषराही २२
तातैग्रंथमयाविसतारा दरवितभावितअरथविहारा भव्यजीवमुनिमुनिहितनय
जै स्वपरविवेकबीजयदनियजै २३ प्रगटमोषमारगदिषराया ज्ञानीजनमुनिमु
निपाया जहांतहांपंचासतिकाया कथनचलनवकुकालविताया २४ सवइक
समतचदमुनिराजा नयप्रमानमुनिजअमलसमाजा जथाजातपदवीनिरयाही स
समअष्टमगुनअवगाही २५ स्यादवादवादीअतिनीका ताकोंदेषिआनमतफीका

पंचास्तिकाय, समयसार, पं० हीरानन्द कृत पद्यानुवाद प्रति का एक पृष्ठ

१. वे आचार्य अमृतचन्द्र के अत्यधिक प्रशंसक थे। उन्होंने लिखा है कि अमृतचन्द्र मुनिराज समाज में निजामृत के समान थे। वे सातवें-आठवें गुणस्थान में झूलते थे। वे ऐसे कुशल स्याद्वादी वक्ता थे कि उनके समक्ष अन्य मत के वक्ता फीके पड़ते थे। ये आचार्य कुन्दकुन्द के अभिप्राय को प्रगट करने वाले वक्ता थे। वे स्व पर भेदज्ञान के अभ्यास में प्रवीण थे तथा पर को त्याग कर अपने निजात्मस्वरूप में लीन रहते थे।[1]

२. पं० हीरानंद ने पंचास्तिकाय समयसार पद्यानुवाद में सर्वत्र आचार्य अमृतचन्द्र के मौलिक भावों को ही अभिव्यक्त किया है। उनकी समग्र कृति आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं विचारों से अनुप्राणित है।[2]

३. वे आचार्य अमृतचन्द्र की पंचास्तिकाय की समयव्याख्या टीका के रसिक थे। उन्होंने अपनी अनुभूति एवं उद्गारों को व्यक्त करते हुए लिखा है कि पंचास्तिकाय की टीका उपन्यास की भांति रोचक, गम्भीर शब्द एवं अर्थ वाली, समस्त प्रकार के अनुमान प्रमाण से संयुक्त, आत्मानुभव के अमृतरस से आप्लावित और कुन्दकुन्द के अनुभवरस की लहर-युक्त तरंगिणी थी।[3]

इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र का पं० हीरानंद पर प्रभाव स्पष्ट होता है।

पं. रूपचद, पं. चतुर्भुज, पं. भगवतीदास, पं. कुंवरपाल आदि पर प्रभाव (१६३६ ईस्वी)— पं. रूपचन्द भी आगरा में पं. बनारसीदास के समकालीन विद्वान कवि थे। उनका समय १६३६ ईस्वी था।[4] पं. रूपचन्द ने पं. बनारसीदास की आस्था को निर्मल एवं दृढ किया था।[5] उपरोक्त सभी विद्वान, आचार्य अमृतचन्द्र से प्रभावित तथा उनके साहित्य के रसिक थे।[6] पं. रूपचन्द ने नाटक समयसार पर भाषा टीका भी लिखी है। अन्य विद्वान्, कभी समयसार नाटक का रहस्य सुनते थे, कभी शास्त्र सुनते थे तथा कभी तर्कपूर्ण तत्त्वचर्चा करते थे।[7] उक्त सभी विद्वानों का

---

१. पंचास्तिकाय, समयसार, पद्य क्रमांक ४१६, ४१७, ४२० तथा ४२१, पृष्ठ १६३
२. वही, पद्य क्रमांक १२ पृष्ठ ३ तथा पद्य १२ पृष्ठ १६५
३. वही, (ह० लि० प्रति० पृष्ठ २ पद्य १३ तथा पृष्ठ ११० पद्य २८)
४. जैन सिद्धांत कोश, भाग ३, पृष्ठ ४१६
५. समयसार नाटक (विक्रमसंवत् १६८६) पृष्ठ २१
६. वही, पृष्ठ ५३७ ७. वही, पृष्ठ ५३७

उल्लेख पं. बनारसीदास ने अपने ग्रन्थ समयसार नाटक में किया है। इससे उक्त सभी पर आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव स्पष्ट प्रगट होता है।

पं. जोधराज गोदीका पर प्रभाव (१६४३–१७०३ ईस्वी) — पं. जोधराज गोदीका सांगानेर के निवासी थे। उनका समय १६४३ से १७०३ ईस्वी के बीच का है। उनकी कृतियों में धर्मसरोवर, सम्यक्त्व-कौमुदी भाष्य, प्रीतंकरचरित्र, कथाकोश, प्रवचनसार, भावदीपिकावचनिका, ज्ञानसमुद्र इत्यादि प्रमुख हैं।[1] पं. जोधराज गोदीका पर आचार्य अमृतचंद्र का प्रभाव निम्न आधारों से स्पष्ट होता है –

१. उन्होंने अमृतचन्द्रकृत प्रवचनसार की टीका का गम्भीर अध्ययन किया तथा उसके ही भावों को पद्यों में अभिव्यक्त किया।

२. स्वयं उन्होंने उक्त पद्यानुवादरूप भाषाटीका की प्रशस्ति में इस बात का उल्लेख किया है कि आचार्य अमृतचन्दकृत प्रवचनसार की टीका पण्डितों द्वारा पूज्य तथा अनुपम है। उनकी टीका पं. हेमराज ने ने 'तत्त्वदीपिका वचनिका' नाम से की है।

इन प्रकार के उल्लेखों से आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव कवि पं. जोधराज गोदीका पर भी लक्षित होता है।

पं. हेमराज पर प्रभाव (ईस्वी सत्तरहवी शती) — पं. हेमराज आगरा निवासी तथा गर्ग गोत्रीय थे। वे पं. रूपचन्द के शिष्य थे तथा पाण्डे उपनाम से जाने जाते थे। उनका समय ईस्वी की सत्तरहवी शती था।[2] इनकी प्रमुख कृतियां प्रवचसार टीका, पंचास्तिकाय टीका, भक्तामरभाष्य गोम्मटसार वचनिका तथा नयचक्रवचनिका आदि हैं।[3] पं. हेमराज भी आचार्य अमृतचन्द्र से प्रभावित रहे हैं। इसका सर्वप्रथम आधार यही है कि उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र कृत प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय की टीका के आधार पर हिन्दी वचनिकाएं लिखीं पं. वृन्दावनदास ने प्रवचनसार की टीका की प्रशस्ति में इसका उल्लेख भी किया है जो इस प्रकार है –

---

१. जैन सिद्धांत कोश, भाग २, पृष्ठ ३४५

२. प्रशस्ति संग्रह, पृष्ठ २३७ (कस्तूरचन्द कासलीवाल कृत)

३. जैन सिद्धांत कोश, भाग ४, पृष्ठ ५४४

मुनि कुन्दकुन्द कृत मूल जु, सु अमृतचन्द्र टीका करी
तसु हेमराज ने वचनिका रची अध्यातम रस भरी।[1]

इस प्रकार पं. हेमराज पर आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव प्रगट होता है।

पण्डित टोडरमल पर प्रभाव (१७२०–१७६७ ईस्वी) – पंडित टोडरमल का अधिकांश जीवन जयपुर में बीता, वे पण्डित परम्परामें अग्रणी, बौद्धिक-तार्किक प्रतिभा के धनी तथा आचार्य कल्प की उपाधि से सम्मानित थे। इनकी प्रमुख कृतियां, सम्यग्ज्ञान चंद्रिका, गोम्मटसार पूजा, त्रिलोकसारटीका, मोक्षमार्गप्रकाशक, आत्मानुशासन भाषा टीका, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, और पुरुषार्थसिद्धयुपाय भाषा टीका हैं।[2] इनका समय १७२० से १७६७ ईस्वी निर्णीत है।[3] पण्डित टोडरमल पर आचार्य अमृतचन्द्र के गहन प्रभाव के निम्न आधार है –

१. उन्होंने अमृतचन्द्र कृत समयसार-प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय की टीकाओं का गम्भीर अध्ययन किया था।[4] उनका पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ तो वे आत्मसात् कर चुके थे। इन ग्रन्थों की स्पष्ट झलक मोक्षमार्ग प्रकाशक में मिलती है।[5]

२. उन्होंने मोक्षमार्ग प्रकाशक में आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के अनेक प्रमाण अपने विवेचन की सम्पुष्टि हेतु प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने तीनों टीकाओं आत्मख्याति, तत्त्वप्रदीपिका एवं समयव्याख्या का ग्रन्थ में सर्वत्र उपयोग किया है। आत्मख्याति के पांच,[6] तत्त्वप्रदीपिका के पांच[7] समयव्याख्या के दो[8] और पुरुषार्थसिद्धयुपाय के तीन[9] उद्धरण

---

१. प्रवचनसार परमागम-प्रशस्ति, पं. वृन्दावन कृत, पद्य १०७, पृष्ठ २२६
२. पं टोडरमल व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व, डॉ. भारिल्ल, पृष्ठ ७६
३. वही, पृष्ठ ५३
४. मोक्षमार्ग प्रथम, पृष्ठ ११-१२
५. समयसार वैभव, प्रथम, पृष्ठ १७
६. समयसार गाथा टीका, क्रमांक ६, ८, ७३, २७६, २७७
७. प्रवचनसार गाथा टीका, क्रमांक १२१, २३२, २३६, आदि
८. पंचास्तिकाय गाथा टीका, क्रमांक १३६
९. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, पद्य ६, ७, २१६

मोक्षमार्ग प्रकाशक में उपलब्ध होते हैं। समयसार कलश के १४ पद्य[1] भी उद्धृत पाते हैं।

३. अनेक स्थलों पर उन्होंने अमृतचन्द्र की कृतियों में वर्णित भावों को ही अपने शब्दों में व्यक्त किया है। उदाहरणार्थ निम्न अंश प्रस्तुत हैः—

"एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्त्यात्मकः" (अमृतचन्द्र)[2]
"सो मोक्षमार्ग एक वीतराग भाव है।" (टोडरमल)[3]

न चैतदप्रसिद्धं पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणाम कारणस्य दर्शनात् (अमृतचन्द्र)[4]

जैसे भूख होने पर मुख द्वारा ग्रहण किया हुआ भोजनरूप पुद्गल पिण्ड मांस, शुक्र, शोणित आदि धातुरूप परिणमित होता है।" (टोडरमल)[5]

ततः स कर्मनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थधर्मं नश्रद्धत्ते। भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव श्रद्धत्ते। ततो अस्य भूतार्थ धर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति। (अमृतचन्द्र)[6]

तथा कदाचित् सुदेव सुगुरु सुशास्त्र का भी निमित्त बन जाये तो उनके निश्चय उपदेश का श्रद्धान नहीं करता, व्यवहार श्रद्धान से अतत्त्वश्रद्धानी ही रहता है। (टोडरमल)[7]

४. पं. टोडरमल ने आचार्य अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्धयुपाय ग्रन्थ की विस्तृत हिन्दी वचनिका लिखी जो उनकी अमृतचन्द्र के प्रति आस्था की परिचायक है।

५. पं० टोडरमल ने अपनी "रहस्यपूर्ण चिट्ठी" में स्पष्ट घोषित किया है कि वर्तमान काल में अध्यात्मतत्त्व तो आत्मख्याति समयसार ग्रन्थ की अमृतचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका में है।[8]

---

१. समयसार कलश क्रमांक ६, २६, ३७, १११, १३०, १३६, १३७, १४२, १७३, १६६, २०३, २२१, २५४, एवं २५६
२. समयसार कलश २४०
३. मोक्ष मार्ग प्रकाशक, पृष्ठ १४
४. समयसार, आत्मख्याति टीका गाथा १७६
५. मोक्ष मार्ग प्रकाशक, पृष्ठ २६
६. समयसार गाथा २७५ की टीका
७. मोक्ष मार्ग प्रकाशक, पृष्ठ ५१-५२
८. रहस्यपूर्ण चिट्ठी पृष्ठ ६

ये शब्द तथा उपरोक्त आधार पं. टोडरमल पर आचार्य अमृतचन्द्र के प्रभाव को स्पष्ट करते हैं।

पं. जयचन्द छाबड़ा पर प्रभाव (१७६३–१८२६ ईस्वी)— पंडित जयचन्द छाबड़ा जयपुर निवासी खण्डेलवाल जैन थे. वे पंडित सदासुखदास के गुरु तथा पं. वृन्दावनदास के समकालीन थे। इनकी अनेक कृतियां उपलब्ध हैं जिनमें परीक्षामुख, आप्तमीमांसा, पत्रपरीक्षा, सर्वार्थ-सिद्धि, द्रव्यसंग्रह, समयसार आत्मख्याति, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, अष्टपाहुड़ तथा ज्ञानार्णव इनसभी ग्रन्थों परटीकाएं प्रमुख हैं। उनका समय १७६३ से १८२६ ईस्वी हैं।[1] वे आचार्य अमृतचन्द्र से कई प्रकार से प्रभावित थे।

१. उन्होंने अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका पर वचनिका लिखी है जो अमृतचन्द्र की टीका की रहस्योद्घाटक एवं सर्वजनोपयोगी है। यह वचनिका समस्त हिन्दी टीकाओं में श्रेष्ठ, अध्यात्मरसभरित, तथा लोकप्रिय है। उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र की टीका आत्मसात् कर ली थी। वे उसके रसिक तो थे ही, साथ ही उसके व्यापक प्रसारक व प्रचारक भी थे। टीका के अन्त में उन्होंने स्वयं निम्न उद्गार व्यक्त किये है –

कुन्द कुन्द मुनि किया गाथाबंध प्राकृत है.
प्राभृत समय शुद्ध आतम दर्शावनूं।
सुधाचन्द सूरि करी संस्कृत टीका वर,
आत्मख्याति नाम यथातथ्य मन भावनूं॥
देश की वचनिका में लिखि जयचन्द्र पढ़,
संक्षेप अर्थ अल्पबुद्धि कूं पावनूं।
पढ़ो सुनूं मन लाय, शुद्धात्मा लखाय,
ज्ञानरूप गहो चिदानन्द दरसावनूं॥[2]

इस प्रकार आचार्य अमतचन्द्र का पं. जयचन्द्र पर गहन प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

---

१. जैन सिद्धांत कोश, भाग पृष्ठ ३२३
२. समयसार प्राभृत (आत्मख्याति संस्कृत टीका) (फलटण) पृष्ठ ५६३

पं. वृन्दावनदास पर प्रभाव (१७९१–१८४८ ईस्वी)— आप अग्रवाल गोयलगोत्री थे। ये काशी निवासी प्रसिद्ध हिन्दी कवि थे। वृन्दावनविलास, प्रवचनसार परमागम (पद्यानुवाद) आदि इनके ग्रन्थ हैं। आपका समय १७९१–१८४८ ईस्वी है।[1] आचार्य अमृतचन्द्र का आप पर गम्भीर प्रभाव पड़ा था। इसके आधार इस प्रकार हैं –

१. आपने, आचार्य अमृतचन्द्र कृत प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका के आधार पर प्रवचनसार परमागम नाम से पद्यानुवाद की रचना की है।[2]

२. कवि वृन्दावन ने आचार्य अमृतचन्द्र कृत तीनों संस्कृत टीकाएं जो प्राभृतत्रयी या नाटकत्रयी के नाम से अभिहित है, भलीभांति अवलोकन की थीं।[3]

३. उन्होंने अपनी रचना "गुरुस्तुति" में आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं की प्रशंसा की है। उनकी टीकाओं को निजानन्द का प्रवाह बहाने वाली टीका लिखा है यथा :—

गुरुदेव अमीइन्दु ने तिनकी करी टीका।
झरता है निजानन्द अमीवृन्द सरीका॥

इस प्रकार उपरोक्त उल्लेखों से स्पष्ट है कि पं. वृन्दावनदास भी आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व तथा उनकी कृतियों से प्रभावित थे।

पं. सदासुखदास पर प्रभाव (१७९५–१८७५ इस्वी) – पं. सदासुखदास जयपुर निवासी पं. दुलीचन्द कासलीवाल के पुत्र थे। आपका जन्म १७९५ ईस्वी में हुआ था। इनकी निम्न कृतियां उपलब्ध हैं – भगवती आराधना भाषाटीका, अकलंकस्तोत्र, मृत्युमहोत्सव, रत्नकरण्ड श्रावकाचार भाषाटीका, तथा नित्यनियम पूजा।[4] आचार्य अमृतचन्द्र का आप पर प्रभाव था। इन्होंने अपनी टीकाओं में अमृतचन्द्र की कृतियों के उद्धरण प्रमाणरूप में प्रस्तुत किये हैं। रत्नकरण्ड श्रावकाचार के पद्य क्रमांक ५३ की टीका में हिंसा का स्वरूप स्पष्ट करने हेतु आचार्य

---

१. जैन सिद्धांत कोश, भाग ३, पृष्ठ ५८५
२. प्रवचनसार परमागम, पृष्ठ १४ (१९१९ ईस्वी)
३. वही, पृष्ठ २८
४. र. क. श्रा. प्र. पृष्ठ (च च)

अमृतचन्द्र कृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के आठ श्लोक[1] उद्धृत किये हैं। उन्होंने अपनी वचनिकाओं में अमृतचन्द्र के विचारों को यत्रतत्र अभिव्यक्त किया है। इससे स्पष्ट होता है कि वे भी आचार्य अमृतचन्द्र से प्रभावित थे।

पं. दौलतराम (१७९८–१८७५ ईस्वी)— पं. दौलतराम हाथरस के निवासी आध्यात्मिक विद्वान् थे। आपके १०० से अधिक पद्य उपलब्ध होते हैं, जो अध्यात्म एवं वैराग्य रस से रसाप्लावित हैं। "छहढाला" नामक कृति के कारण उनकी जैन समाज में बहुत प्रसिद्धि है। उनका समय १७९८ से १८७५ के बीच रहा है।[2] पं. दौलतराम पर आचार्य अमृतचन्द्र के प्रभाव के कुछ आधार निम्नानुसार हैं —

१. पं. दौलतराम ने आचार्य अमृतचन्द्र की कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की अवशेष टीका पूर्ण की, जिसे पं. टोडरमल ने प्रारम्भ किया था किन्तु वे अपने जीवनकाल में पूर्ण नहीं कर पाये।

२. उन्होंने अपनी रचना "छहढाला" में आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों से भाव एवं अर्थ ग्रहणकर उसे पद्य रूप में प्रस्तुत किया है। उनके कुछ पद्य तो अमृतचन्द्र के श्लोकों के छायानुवाद मात्र हैं। उदाहरणार्थ तुलनात्मक निम्न अंश अवलोकनीय हैं —

निश्चय व्यवहाराभ्यां मोक्षमार्गो द्विधास्थितः।
तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥ (अमृतचन्द्र)[3]

सम्यग्दर्शन ज्ञान चरन शिवमग, सो द्विविध विचारो।
जो सत्यारथ रूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो॥ (दौलतराम)[4]

पृथगाराधनमिष्टं दर्शन सहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षण भेदेन यतो नानात्वं सम्भवत्यनयोः॥३२॥ पु. सि. उ.।
सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥३३॥ पु. सि. उ.।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के ४३ से ५० तक पद्यों को उद्धृत किया है।
२. महाकवि दौलतराम कासलीवाल–व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्र., पृष्ठ ६
३. तत्त्वार्थसार, उपसंहार, पद्य क्रमांक २
४. छहढाला, तृतीयढाल, पद्य १

कारणकार्यं विधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥ (अमृतचन्द्र)[1]

सम्यक् साथै ज्ञान होय पे भिन्न अराधो।
लक्षण श्रद्धा जान दुहू में भेद अबाधो॥
सम्यक् कारण जान ज्ञान कारज है सोई।
युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तें होई॥ (दौलतराम)[2]

कर्त्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसाय विविक्तमात्मरूपं तत्॥ (अमृतचन्द्र)[3]

तातैं जिनवर कथित तत्त्व, अभ्यास करीजै।
संशय विभ्रम मोह त्याग आपो लख लीजै॥ (दौलतराम)[4]

भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥ (अमृतचन्द्र)[5]

जे पूरब शिव गये जांहि अरू आगै जैहैं।
सो सब महिमा ज्ञानतनी मुनिनाथ कहै हैं॥ (दौलतराम)[6]

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव पं. दौलतराम के रोम रोम में समाया था।

पं. भूधरमिश्र पर प्रभाव (१८१४ ईस्वी)— पं. भूधरमिश्र आगरा के समीपस्थ शाहगज के थे। आप जाति से ब्राह्मण थे। आपके गुरु का नाम रंगनाथ था। आपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका बृजभाषा में विक्रम संवत् १८७१ में लिखी थी। आपका समय संवत् १८५० से १९०० के बीच का प्रमाणित होता है। आप आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों से प्रभावित हुए, विशेषतः अमृतचन्द्र का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ उनके जीवन परिवर्तन का मूलकारण बना। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का अहिंसा प्रकरण आपकी विशदबुद्धि में ऐसा समाया, कि आपकी उत्कंठा जैनधर्म के तत्त्वों को जानने की हुई। पं. रंगनाथजी के पास आपने जैन सिद्धांतों की अभिज्ञता प्राप्त की, तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की टीका

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक ३४
२. छहढाला, चतुर्थढाल, पद्य २
३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३५
४. छहढाला, चतुर्थढाल (पद्य ६ पूर्वार्ध)
५. स. सा. क. १३१
६. छहढाला, चतुर्थढाल (पद्य ८ पूर्वार्ध)

करने की रुचि हुई। उक्त टीका में टीकाकार ने यशस्तिलकचम्पू, रयणसार, धर्मोपदेशपीयूषवर्षीश्रावकाचार, अष्टादश अक्षरीप्रबोधसार, योगीन्द्रदेवकृत श्रावकाचार, वीरनंदिकृत यत्याचार आदि ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है।[1]

इससे स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव पण्डित भूधरमिश्र पर भी था।

पं. गणेशप्रसाद वर्णी पर प्रभाव (१८७४–१९६१ ईस्वी) – पं. गणेशप्रसाद वर्णी धलिलपुर जिले के हंसेरा ग्राम में वैष्णव परिवार में पैदा हुए थे। बाद में आपने जैनधर्म धारण किया था। इनका जन्म १८७४ ईस्वी में हुआ था।[2] आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व दोनों से आप गम्भीर रूप में प्रभावित थे। इसके कुछ आधार इस प्रकार है –

१. उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्याति संस्कृत टीका को कण्ठस्थ कर लिया था।[3] क्योंकि वे उक्त टीका के गंभीर रसिक थे।

२. अपने एक पत्र में उन्होंने समयसार को मोक्षमार्ग (मुक्ति) का वकील बताया है।[4] वे उक्त ग्रन्थ की अमृतचन्द्र कृत टीका के अध्ययन, मनन तथा रसास्वादन में निमग्न रहते थे।

३. अपने पत्रों में उल्लिखित सिद्धांतों एवं रहस्यों की पुष्टि में उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों से उद्धरण प्रस्तुत किये हैं।[5] इतना ही नहीं उन उद्धरणों को उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र का आदेश कह कर अपनी आस्था एवं अपना आदर व्यक्त किया है।

इन सभी बातों से प्रमाणित है कि आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभाव पं. गणेशप्रसाद वर्णी पर अवश्य था।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, प्रस्तावना, पृष्ठ ५, पं. नाथूराम प्रेमी (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) प्रकाशक – परमश्रुतप्रभावकमंडल, बम्बई वीर नि. संवत् २४३१ (ईस्वी १९०४)।

२. श्री गणेशप्रसाद वर्णी स्मृति ग्रन्थ खण्ड द्वितीय पृष्ठ १

३. वही, खण्ड प्रथम, पृष्ठ ११२

४. वर्णीवाणी, भाग ४, पृष्ठ १४९

५. आध्यात्मिक पत्रावलि भाग ३, पृष्ठ ७७-७८

ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद पर प्रभाव (१८७८–१९४८ ईस्वी) – ब्र. शीतलप्रसाद अग्रवाल गोयलगोत्रीय श्रावक थे। आपने अपने जीवन-में ज्ञान का अद्वितीय प्रकाश किया। आप कर्मठ, विरागी एवं प्रभावशाली विद्वान् थे। आपका जन्म १८७८ ईस्वी में तथा निधन १९४८ ईस्वी में हुआ था।[1] आपकी रचनाओं में प्रमुख है – नियमसार भाषाटीका, पंचास्तिकाय टीका (दो खण्डों में) प्रवचनसार टीका (तीन खण्ड), समयसार तथा समयसार कलश भाषा टीका आदि।[2] आप भी आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं ग्रन्थों से प्रभावित थे जिनके कुछ आधार इस प्रकार हैं –

१. उन्होंने समयसार तथा समयसार कलश पर हिन्दी टीकाएं रचीं जो अमृतचन्द्र की कृतियों में वर्णित भावों से अनुप्राणित हैं।[3]

२. उन्होंने प्रवचनसार की टीका में अपने विचारों के स्पष्टीकरण एव प्रमाणीकरण के लिए आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों से कई प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उदाहरण के लिए प्रवचनसार टीका के तृतीय खण्ड में विभिन्न स्थलों पर समयसार कलश के पांच पद्य[4] तत्त्वार्थसार के आठ पद्य[5] तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के १३ पद्य[6] उद्धृत किये गये हैं।

३. स्वयं ब्रह्मचारी जी ने एक स्थल पर आचार्य अमृतचन्द्र की महान् आत्मज्ञानी, न्यायपूर्ण, सुन्दर लेख आदि शब्दों द्वारा प्रशंसा की है।[7] भट्टारक वीरसेन कारंजा के सानिध्य में उन्होंने अमृतचन्द्र की समयसार आत्मख्याति टीका का गहन अध्ययन किया था।

इस तरह स्पष्ट होता है कि वे अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं ग्रंथों से प्रभावित थे।

---

१. जैन सिद्धान्त कोश, भाग ४, पृष्ठ ३०
२. आगमपथ (शीतलजन्मशताब्दि विशेषांक), पृष्ठ ७४
३. प्रवचनसार टीका, तृतीय खण्ड, प्रारम्भिक पद्य १३, १४
४. वही, खण्ड ३, पृष्ठ २४२, २७०, ३३६, ३४७
५. वही, खण्ड ३, पृष्ठ ८७, २२८, २९०
६. वही, खण्ड ३, पृष्ठ १०३, १०७, ११२, ११४, ११५, १७८, २७०
७. सहजसुखसाधन भूमिका, पृष्ठ ३

संत कानजी स्वामी पर प्रभाव (१८८९-१९८० ई॰) -- संत कानजी स्वामी का जन्म श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कुल में हुआ था। आप विलक्षण बुद्धि के धनी, परमविरागी तथा अध्यात्म रसिक संत थे। आपने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार को पाकर दिगम्बर जैनधर्म को स्वीकार किया। पश्चात् समग्र भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी दिगम्बर जैन अध्यात्म का शंखनाद एवं समयसार (शुद्धात्मा) का डिमडिम नाद किया। सर्वत्र अभूतपूर्व क्रांति ला दी तथा अध्यात्मयुग का प्रवर्तन किया। आपका जन्म १८८९ ईस्वी तथा स्वर्गवास १९८० ईस्वी में हुआ।[1] आप आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के भ्रमरवत् रसिक थे। आचार्य अमृतचन्द्र के अध्यात्मामृत को पी-पीकर आनंद विभोर हो जाते थे। संत कानजी स्वामी आचार्य अमृतचन्द्र से अत्यधिक प्रभावित थे। इसके कुछ आधार इस प्रकार हैं –

१. उन्होंने अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका सहित समयसार का सत्रह बार तो लोकोन्मुख पारायण किया था और अनेक बार आत्मोन्मुख। आत्मोन्मुख पारायण तो संख्यातीत किये थे। उन्होंने समयसार की प्रत्येक गाथा के मर्म को गहनता से समझा था, उसकी गूढ़ता में प्रवेश किया था।[2] आत्मख्याति टीका के अतिरिक्त अमृतचन्द्र की अन्य कृतियों का भी उन्होंने गहन अध्ययन एवं प्रचार-प्रसार भी किया। इतना ही नहीं, उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति, तत्त्वप्रदीपिका और समयव्याख्या तीनों टीकाओं को संगमरमर की दीवारों पर उत्कीर्ण करा दिया। ये कार्य सोनगढ़ (भावनगर-सौराष्ट्र) में "महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन परमागम मंदिर" में सम्पन्न हुआ जो सहस्त्रों वर्षों तक दिगम्बर अध्यात्म का अनुपम प्रवाह प्रवाहित रखेगा। परमागम मंदिर आचार्य कुंदकुंद, आचार्य अमृतचन्द्र तथा पद्मप्रभमलधारीदेव की यशोगाथा का अमर-स्मारक तो है ही, साथ ही संत कानजी स्वामी की युगसृष्टि का चिर-प्रतीक भी है।

२. आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका के अंत में वर्णित सैंतालीस नयों पर विस्तृत प्रवचन किए जो सम्यक् अनेकांत शैली में

---

१. आगमपथ, (मासिक) मई १९७६ (विशेषांक), पृष्ठ ४०-४१

२. तीर्थंकर, (मासिक) सितम्बर १९७४ पृष्ठ २६

अनुपम आत्म-वैभव दर्शाने वाले हैं। उन प्रवचनों का गुजराती में "नय-प्रज्ञापन" तथा हिंदी में "आत्मप्रसिद्धि" नाम से ग्रंथबद्ध प्रकाशन हो चुका है।

३. उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र की यत्र-तत्र-सर्वत्र भूरि-भूरि प्रशंसा की है। उनके समयसार कलश पर प्रवचन करते हुए उन्होंने कहा था कि आचार्य अमृतचन्द्र महामुनि दिगम्बर संत हुए हैं। वे सर्वशास्त्रों के पारगामी, तथा सातिशय निर्मलबुद्धि के धारक थे।[1] वर्तमान भरतक्षेत्र में तीर्थङ्करों का विरह है, परन्तु उन तीर्थङ्करों का उपदेश कैसा था, इसका स्पष्टीकरण करके आचार्य कुन्दकुन्द ने तीर्थङ्करों के विरह को भुला दिया है और अमृतचन्द्राचार्य देव ने भी अलौकिक टीकायें रचकर आचार्य कुन्दकुन्द के गम्भीर रहस्य को प्रगट कर गणधर तुल्य कार्य किया है। वाह, अंतरज्योति जगमगा दे – ऐसी टीका है।[2]

ये हैं संत कानजी स्वामी के अनुभूतिगम्य हार्दिक उद्गार आचार्य अमृतचन्द्र के प्रति, जो आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के, संत कानजी स्वामी पर प्रभाव को प्रमाणित करते हैं।

क्षु० निजानंद (स्वामी कर्मानन्द वेदांती) पर प्रभाव (१९२०-१९७० ईस्वी) – क्षु० निजानन्द (स्वामी कर्मानन्द) भिवानी के अग्रवाल जातीय वैष्णव सम्प्रदाय में जन्मे थे। आपका झुकाव आर्यसमाजी विचारधारा की ओर विशेष था। वैदिक साहित्य का उनका गम्भीर अध्ययन था।[3] उन पर आचार्य अमृतचन्द्र का गहरा प्रभाव था। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि उन्होंने जो समयसार पर निजानंदीय श्लोक सहित टीका लिखी उसमें आचार्य अमृतचन्द्र के समयसार कलश के ९४ पद्य तथा तत्त्वार्थसार के ६ पद्य प्रमाण-रूपेण प्रस्तुत किये हैं। वे समयसार तथा उनकी टीकाओं का १८-१८ घंटे तक अध्ययन व मनन करते थे।[4] इससे प्रकट होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र का क्षु० निजानंद पर प्रभाव था।

---

१. आत्मधर्म (मासिक) जुलाई, १९६४, पृष्ठ १
२. वही, दिसम्बर, १९६५, पृष्ठ ४५३, ४५४
३. समयसार (निजानंदीय भाषा टीका) पृष्ठ क्रमांक १
४. समयसार (निजानंदीय भाषा टीका) प्रकाशकीय पृष्ठ प्रथम

उपाध्याय हर्षवर्धन पर प्रभाव (१५ वीं ईस्वी शती) — उपाध्याय हर्षवर्धन ईसा की १५वी शती के विद्वान हैं। उनकी एक रचना "अध्यात्म बिन्दु" नाम से लालभाई दलपतभाई संस्कृत विद्यामन्दिर, अहमदाबाद से प्रकाशित है। उक्त रचना अध्यात्मपरक शैली में निश्चय-व्यवहार, कर्ता-कर्म तथा शुद्धात्मस्वरूप प्रकाशनार्थ रची गई है। इस रचना पर आचार्य कुन्दकुन्द तथा उनके टीकाकार अमृतचन्द्र का प्रभाव पड़ा है। उक्त ग्रन्थ के सम्पादक विद्वान् नगीन जे. शाह ने इस सम्बन्ध में अपनी प्रस्तावना में संकेत किया है। उन्होंने, हर्षवर्धन के "अध्यात्मबिन्दु" ग्रंथ के कई पद्यों का समयसार मूल तथा उसकी अमृतचन्द्रकृत टीका के श्लोकों से शब्द साम्य एवं भावसाम्यदर्शक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं।[1]

इससे ज्ञात होता है कि आचार्य अमृतचन्द्र का उपाध्याय हर्षवर्धन पर भी प्रभाव पड़ा था।

भट्टारक शुभचन्द्र पर प्रभाव (१५१६–१५५६ ईस्वी) – नंदिसंघ बलात्कारगण की गुर्वावलि के अनुसार भट्टारक शुभचन्द्र विजयकीर्ति के शिष्य तथा लक्ष्मीचन्द्र के गुरु थे। आप षट्भाषा कवि की उपाधि से विभूषित थे। आपने एक टीका रची जो परमाध्यात्मतरंगिणी नाम से विश्रुत है। आपका समय ईस्वी १५१६ – १५५६ है।[2] आप आचार्य अमृतचन्द्र की आध्यात्मिक रचनाओं तथा टीकाओं से प्रभावित थे। इसके कुछ आधार इस प्रकार हैं –

१. अमृतचन्द्र की समयसार कलश टीका ने शुभचन्द्र को इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने उसके प्रत्येक कलश पर सुंदर आध्यात्मिक टीका रची। अमृतचन्द्र के कलश अध्यात्मरसाप्लावित होने के कारण उन पर लिखित टीका का नाम "परमाध्यात्मतरंगिणी" रखना भी उचित ही है। उक्त टीका उन्होंने त्रिभुवनकीर्ति के आग्रह पर लिखी थी।[3]

२. शुभचन्द्र ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका भी लिखी है। उक्त टीका में उन्होंने अमृतचन्द्र के ग्रंथों की विषयवस्तु का भी प्रयोग

---

१. जैन संदेश, शोधांक – ३१, पृष्ठ ३१६ (दिसंबर १६७२)

२. जैनेन्द्र सिद्धांतकोश, चतुर्थ भाग, पृष्ठ ४१

३. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान – प्रथम संस्करण १६०१, पृष्ठ ४६

किया है। उनके मूल पद्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया है।[1] उद्धृत पद्य इस प्रकार है –

भेदेनैक्यमुपानीय स्वजातेरविरोधतः।
समस्तग्रहण यस्मात्स नयः संग्रहो मतः॥ (अमृतचन्द्र)[2]

भट्टारक वीरसेन (कारंजा) पर प्रभाव (१९२६ ईस्वी) – भट्टारक वीरसेन कारंजा (अकोला) की भट्टारक गद्दी के पट्टधर थे। वे अध्यात्मशास्त्र के मर्मज्ञ तथा प्रसारक थे। जैन अध्यात्म की चर्चा को घर-घर तक फैलाने का उन्होंने प्रयास किया। वे स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों में वर्णित अध्यात्म से प्रभावित थे। उन्होंने सर्वप्रथम "श्रीसमयप्राभृत-आत्मख्याति टीका" को मुद्रित कराया था।[3]

२. पं. हीरानन्द जी कृत "पंचास्तिकाय-समयसार" पद्यानुवाद का भी प्रकाशन उनकी प्रेरणा से हुआ था। उक्त पद्यानुवाद आचार्य अमृतचन्द्र कृत समयव्याख्या टीका से अनुप्राणित है।

३. पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री ने उन्हें वर्तमान युग में समयसार का अध्येता लिखा है।[4]

४. ब्र. शीतलप्रसाद ने भी उन्हें समयसार का व्याख्यान करने वाला अद्वितीय महात्मा निरूपित किया है। ब्रह्मचारी जी ने स्वयं भट्टारक जी के पास अमृतचन्द्र कृत समयसार-आत्मख्याति टीका का वाचन किया था। वे वीरसेन के अर्थ प्रकाशन से लाभान्वित हुए थे।[5]

इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र का भट्टारक वीरसेन पर प्रभाव था।

卐

---

१. कार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २७२ की टीका, पृष्ठ १९५ राजचन्द्र जैन शास्त्र माला आगास, १९६०

२. तत्त्वार्थसार, पीठिका (प्रथम अधिकार) पद्य नं ४५

३. आत्मप्रमोद (प्रस्तावना, ब्र. नन्दलाल) पृष्ठ १ २

४. समयसार वैभव, प्रथम पृष्ठ १७

५. सहजसुखसाधन (ले. ब्र. शीतलप्रसाद जी भूमिका पृष्ठ ३)

चतुर्थ अध्याय

कृतियाँ

आचार्य अमृतचन्द्र जितने सफल एवं कुशल टीकाकार थे, उतने ही सिद्धहस्त तथा गम्भीर मौलिक ग्रंथ-प्रणेता भी। उनकी समस्त कृतियों में अध्यात्म का अमृत छलकता है। वे अध्यात्म-रसिक, प्रौढ़, प्रांजल, व गंभीर टीकाकार, दार्शनिक विद्वान, तथा आत्मानुभवी विचारक थे। उपर्युक्त सभी वैशिष्ट्य उनकी कृतियों में यत्र तत्र सर्वत्र बिकीर्ण हैं। उनकी समस्त कृतियों का सर्वाङ्गीण परिचय कराने हेतु यहाँ तीन विभाग किये गये हैं, जिनके अन्तर्गत उनकी कृतियों का समुचित परिचय प्रस्तुत है।

प्रथम विभाग में अमृतचन्द्राचार्य प्रणीत मौलिक-स्वतंत्र कृतियों का आकलन है। दूसरे विभाग में उनकी गद्य तथा पद्यमयी टीकाओं का अनुशीलन प्रस्तुत है, और तीसरे विभाग में अन्य कृतियों का परिचय कराया है। इसके दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में उन कृतियों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है, जो अमृतचन्द्र प्रणीत सिद्ध की गई हैं तथा दूसरे खण्ड में उन कृतियों की चर्चा की जा रही है, जो भ्रमवशात् अमृतचन्द्र की कल्पित हैं।

द्वितीय विभाग में ग्रहीत टीकाओं में समयसार की "आत्मख्याति", प्रवचनसार की "तत्त्वप्रदीपिका" तथा पंचास्तिकाय की "समयव्याख्या" नामक गद्य टीकाएं हैं, जो संस्कृत गद्य वाङ्मय की अमूल्य निधियाँ हैं तथा जैनदर्शन का सार अपने में समाहित किये हुए हैं। इसी विभाग में समयसार की आत्मख्याति टीका के साथ-साथ प्रयुक्त संस्कृत पद्यों का संकलन है, जो समयसारकलश नाम से अभिहित है। इसे पद्यटीका के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त दूसरी पद्यटीका "तत्त्वार्थ-सार" भी है जो आचार्य उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर लिखी गई सविस्तार टीका है।

तृतीय विभाग में सर्वप्रथम प्रथम बार प्रकाश में आने वाली अमृतचन्द्र की अत्यन्त क्लिष्ट, दार्शनिक, गम्भीर रचना है, जिसका नाम 'लघुत्वस्फोट' अपरनाम 'शक्तिमणित्कोश' भी है। यह जिनेन्द्रस्तुति विषयक एक अद्वितीय काव्यकृति है। इसी विभाग में उन कृतियों की

भी चर्चा की गई है, जो किन्हीं विद्वानों द्वारा भ्रम से अमृतचन्द्र की मान ली गई हैं जबकि वे कृतियाँ अमृतचन्द्र कृत नहीं हैं। इस सम्बन्ध में षट्पाहुड़ टीका, पञ्चाध्यायी, ढाढसीगाथा तथा श्रावकाचार नामक ग्रंथ चर्चित हैं। प्रस्तुत अध्याय में उपरोक्त विभागों के अन्तर्गत अमृतचंद्र की कृतियों का सर्वाङ्गीण सविस्तार परिचय कराया जा रहा है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय (पद्य)

परिचय –

"पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" आचार्य अमृतचन्द्र कृत, आचारविषयक अनुपम ग्रन्थरत्न है। इसका अपरनाम "जिनप्रवचनरहस्यकोश" भी है। वास्तव में उक्त ग्रन्थ जिनेन्द्रकथित जिनवाणी का सार है। यह अमृतचन्द्र की मौलिक पद्यरचना है, जो २२६ आर्या छंदों में रचित है तथा जैन-जगत में व्यापकरूप से विश्रुत है। इसमें श्रावकाचार का प्रमुखरूप से तथा यत्याचार (साधुचर्या) का गौणरूप से संक्षिप्त निरूपण है। यह कृति, द्रविड़, कन्नड़, हिन्दी, ढूंढ़ारी (राजस्थानी हिन्दी), गुजराती, मराठी, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में अनेक संस्करणों में, गद्य तथा पद्य उभयरूपों में तथा लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुकी है। अब तक शताधिक विद्वान् इस ग्रन्थ पर टीकायें रचकर प्रकाशित करा चुके हैं। जैन ही नहीं, अजैन विद्वान भी इस कृति से प्रभावित होकर अपने विचारों में परिवर्तन कर जैनदर्शन की ओर आकर्षित हुए हैं।[1] लगभग एक हजार वर्ष से जैन श्रावक एवं मुनि के आचरण को आलोकित करने वाली इस कृति का आचार संहिता के रूप में सर्वोच्च एवं महत्त्वपूर्ण स्थान है। सर्वप्रथम ईस्वी दूसरी सदी में आचार्य समंतभद्रस्वामी द्वारा जैन श्रावकों की आचार संहिता के रूप में "रत्नकरण्डश्रावकाचार" नामक कृति की रचना की गई थी। तत्पश्चात् सर्वाधिक मान्य एवं प्रसिद्ध रचना आचार्य अमृतचन्द्र कृत "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" ही है। इसका अहिंसा प्रकरण अत्यंत गहन, स्पष्ट, विशद, अद्वितीय एवं अनुपम है।

नामकरण –

इस ग्रन्थ का अपरनाम "जिनप्रवचनरहस्यकोश" इसके महत्त्व को स्पष्टतः प्रकाशित करता है। आचार्य अमृतचन्द्र को इस रचना का

---

१. देखिये – प्रस्तावना, पृष्ठ ५, ६ (पु. नि.उ.) पं. नाथूराम प्रेमी सन् १६०४

नाम "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" पुकारना ही इष्ट था क्योंकि इस बात का उल्लेख उन्होंने स्वयं ही ग्रन्थारम्भ में किया है। वे लिखते हैं – तीनलोक संबंधी पदार्थों को प्रकाशित करने वाले अद्वितीय नेत्र स्वरूप उत्कृष्ट जैनागम को प्रयत्नपूर्वक जानकर – हृदयंगमकर हमारे द्वारा विद्वानों के लिए यह "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" ग्रन्थ उद्धार – प्रस्तुत किया जाता है।[1] "पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" पद में पुरुष, अर्थ, सिद्धि व उपाय ये चार उप-पद हैं जिनका अर्थ है – आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि या प्राप्ति का उपाय। वास्तव में जब आत्मा सर्वप्रकार के विभावों से पार होकर अपने अचल चैतन्यस्वरूप को प्राप्त करता है, तब सम्यक् प्रकार से पुरुषार्थ के प्रयोजन की सिद्धि प्राप्ति करता है तथा कृतकृत्य होता है।[2] इस तरह अमृतचन्द्र स्वयं अपने ग्रन्थ में 'पुरुष' का अर्थ "चैतन्यस्वरूप आत्मा" घोषित करते हैं।[3] उस चैतन्य आत्मा का प्रयोजन मोक्ष है। मोक्ष की प्राप्ति का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एक साथ प्राप्ति होना है। इसका भी निर्देश उन्होंने एक स्थल पर किया है। वे लिखते हैं – "विपरीत अभिप्राय का नाश करके अर्थात् सम्यग्दर्शन प्राप्त करके, निजस्वरूप को यथार्थरूप से जानकर के अर्थात् सम्यग्ज्ञान करके तथा उस स्वरूप में अविचल – स्थिर होना अर्थात् सम्यक्चारित्र प्रगट होना ही पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है।[4] इस तरह ग्रन्थ का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय नाम उचित एवं सार्थक प्रतीत होता है।

कर्तृत्व —

उक्त ग्रन्थ के प्रणेता के विषय में आद्यन्त कभी किसी को भी विप्रतिपत्ति नहीं हुई। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आचार्य अमृतचन्द्र की मौलिक रचना निर्विवाद सिद्ध है। अमृतचन्द्र के समकालीन तथा उत्तरकालीन सभी ग्रन्थकारों ने उक्त कृति को आचार्य अमृतचन्द्र कृत निरूपित किया है।

---

१. लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरूपोद्धियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ पु.सि.उ., पद्य क्रमांक ३

२. सर्वं विवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरुषार्थसिद्धिमापन्न ॥ पु.सि.उ., पद्य क्रमांक ११

३. "अस्ति पुरुषश्चिदात्मा", पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक ६

४. विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥ पु.सि.उ., पद्य क्रमांक १५

अमृतचन्द्र के अन्य ग्रन्थों की रचनाओं से मिलान करने पर शैली, शब्द, विद्वत्ता, विषय स्पष्टीकरण क्षमता और अन्त में ग्रन्थ कर्तृत्व का विकल्प निषेध इत्यादि साम्यताओं से भी उक्त कृति आचार्य अमृतचन्द्र कृत स्पष्टरूप से ज्ञात होती है।

प्रामाणिकता –

श्रावकाचारों की परम्परा में रत्नकरण्डश्रावकाचार के पश्चात् यदि कोई सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है, तो वह है पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय। आचार्य अमृतचन्द्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में प्रणीत वर्ण्यवस्तु को ही आधार बनाते हुए तथा कुन्दकुन्दाचार्य के अध्यात्म ग्रन्थों को आत्मसात् करके जो टीकाएँ रचीं, उन्हीं के आधार पर पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ग्रन्थ का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ रचना से न केवल श्रावकाचार एवं यत्याचार विषयक प्राचीन आर्षपरम्परा का उन्नयन ही हुआ, अपितु उक्त परम्परा का सम्वर्द्धन, संरक्षण, विकास तथा प्रकाश भी हुआ है। उक्त ग्रन्थ रचना से प्रभावित एवं अनुप्राणित होकर उनके बाद के विद्वानों ने आचार विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की हैं। उन सभी रचनाओं को दिशाबोध एवं आधारस्रोत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय से हीनाधिक रूप में अवश्य प्राप्त हुए हैं।

आधार स्रोत –

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ के आधार स्रोत भी अमृतचन्द्रकृत टीकाओं में उपलब्ध होते हैं। इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं –

१. पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ की रचना टीकाकृतियों के बाद की है, क्योंकि टीकाओं में उपलब्ध भाष्य के कुछ अंशों को पद्यरूप में पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय में पुनः प्रस्तुत किया गया है। एक स्थल पर अमृतचन्द्र ने अपनी टीका में पुरुषार्थ की सिद्धि के उपाय स्वरूप ध्यान का उल्लेख किया है।[1] उक्त उल्लेख पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रन्थ के नामकरण का आधार सूत्र प्रतीत होता है।

२. आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का आरम्भ वक्ता के लक्षण से किया है। वे लिखते हैं – मुख्य और उपचार के कथन द्वारा शिष्यों के दुर्निवार अज्ञानभाव को नष्ट करने वाले, व्यवहार तथा निश्चय

---

१. "परमपुरुषार्थसिद्ध्युपायभूतं ध्यानं जायते इति।" पंचास्तिकाय गाथा १४६ की टीका, पृष्ठ २१५

के ज्ञाता गुरु ही जगत् में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करते हैं।[1] उक्त कथन का आधार पंचास्तिकाय ग्रन्थ की टीका का वह अंशोल्लेख है, जिसमें कहा गया है कि इस प्रकार दोनों नयों के आधीन परमेश्वर जिनेन्द्र के धर्म-तीर्थ की प्रवर्तना होती है।[2] निश्चय-व्यवहार सम्बन्धी प्रारम्भिक निरूपण भी समयसार की आत्मख्याति टीका के आधार पर किया गया है। व्यवहार निश्चय को भलीभांति जानकर जो जीव उनके पक्ष से रहित अर्थात् मध्यस्थ होता है, वही शिष्य जिनेन्द्र के उपदेश के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है।[3] इसी आशय को उन्होंने आत्मख्याति टीका के एक कलश में पहले ही अभिव्यक्त करते हुये लिखा है कि जो जीव नय-पक्षपात से मुक्त होकर, विकल्पसमूह से हटकर, शांतचित्त होकर, हमेशा अपने निजस्वरूप में गुप्त (लीन) होते हैं, वे ही साक्षात् आनंद रूप अमृत को पीते हैं।[4] उपरोक्त अर्थवाची तथा साम्यदर्शी उभय श्लोकों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की रचना का आधार स्रोत अपनी स्वोपज्ञ टीकायें बनाई है। यहाँ हम एक उदाहरण प्रवचन-सार की तत्त्वप्रदीपिका का भी प्रस्तुत करते हैं, जिसमें लिखा है कि कर्म रूप परिणमित होने की शक्ति वाले पुद्गल स्कंध, समान क्षेत्रावगाही जीव के परिणाम मात्र का – बहिरंगसाधनमात्र का आश्रय लेकर, जीव उन (पुद्गलस्कंधों) को परिणमाने वाला नहीं होने पर भी, स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित होते हैं। टीका के मूलशब्द इस प्रकार हैं –

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढ़ जीवपरिणाममात्रं बहिरंग साधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमन शक्तियोगिनः पुद्गल-स्कंधाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति।[5] इस टीका का सार पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय में इस प्रकार समायोजित किया है –

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥[1]

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक ४

२. 'अत एवोभयनयायत्ता पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना इति।"
पंचास्तिकाय गाथा १५९ की टीका,

३. "व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः ॥८॥पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

४. समयसार कलश, पद्य नम्बर ६९ ५. प्रवचनसार गाथा १६९ की टीका

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. १२

इस तरह कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय की टीकाओं से पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की रचना के आधार स्रोत प्रस्तुत किये गये हैं। यहां रत्नकरण्डश्रावकार का भी एक प्रमाण अवलोकनीय है। समंतभद्राचार्य ने चारित्र के यथार्थ स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है कि दर्शनमोह रूप अंधकार के दूर होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से सम्यग्ज्ञान की भी उपलब्धि हुई हो – ऐसा साधु राग-द्वेष के नाश (अभाव) करने के लिए सम्यक्चारित्र को अंगीकार करता है। इसी कथन के आधार पर आचार्य अमृतचन्द्र ने भी सम्यक्चारित्र का स्वरूप इसी प्रकार निरूपित किया है। यहां उपरोक्त दोनों आचार्यों के मूलशब्दों का अवलोकन कराया जाता है –

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥ (समंतभद्राचार्य)[२]

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निःप्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम्॥ (अमृतचन्द्राचार्य)[३]

विषय वस्तु –

"पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" की प्रतिपाद्य विषयवस्तु अधिकांश रत्नकरण्डश्रावकाचार में वर्णित प्रकरणानुसार प्रस्तुत की गई है। अन्तर सिर्फ इतना है कि अमृतचन्द्र ने किसी प्रकरण को विशेष स्पष्ट किया है किसी को कम। उदाहरण के लिए अहिंसा अणुव्रत में अहिंसा का स्वरूप निरूपण जितना विशद् सूक्ष्म एवं मौलिक रूप से पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में आचार्य अमृतचन्द्र ने किया है, वैसे अनूठा वर्णन श्रावकाचार ग्रन्थों की समग्र परम्परा में कहीं भी किसी भी ग्रन्थ में युगपत् तथा स्पष्टरूपेण उल्लिखित नहीं मिलता। दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रत इन तीनों गुणव्रतों का निरूपण पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में संक्षेप में (केवल ६ पद्यों द्वारा) किया गया है, जबकि रत्नकरण्डश्रावकाचार में इन्हीं का वर्णन कुछ विस्तृत रूप में (२४ पद्यों द्वारा) हुआ है। सम्यग्ज्ञान अधिकार में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में प्रमाण-नयों का स्वरूप, सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान में कार्यकारण भाव का नियम, सम्यग्ज्ञान का स्वरूप तथा इसके ८ अंगों

---

२. रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य नं. ४७

३. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. ३७

का प्रतिपादन है, जबकि रत्नकरण्डश्रावकाचार में केवल सम्यग्ज्ञान का स्वरूप एवं प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग का लक्षण दर्शाया गया है। ११ प्रतिमाओं का प्रकरण पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में वर्णित नहीं है, वहीं रत्नकरण्डश्रावकाचार में संक्षेप में उल्लिखित है। शेष प्रकरण पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी वे ही हैं जो रत्नकरण्डश्रावकाचार में उपलब्ध हैं। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में वर्णित समस्त विषय वस्तु को निम्नलिखित ६ विभागों में विभक्त किया गया है –

१. ग्रन्थपीठिका (श्लोक १ से १९ तक)
२. सम्यग्दर्शन अधिकार (श्लोक २० से ३० तक)
३. सम्यग्दर्शन अधिकार (श्लोक ३१ से ३६ तक)
४. सम्यक्चारित्र अधिकार (श्लोक ३७ से १७४ तक)
५. सल्लेखना अधिकार (श्लोक १७५ से १९६ तक)
६. सकलचारित्र अधिकार (श्लोक १९७ से २२६ तक)

ग्रन्थपीठिका –

इसमें प्रथम तो मंगलाचरण के रूप में इष्टदेव को स्मरण किया है। वहाँ गुणप्रधान स्मरण है व्यक्तिप्रधान नहीं। इष्टदेव को परंज्योति अर्थात् केवलज्ञानस्वरूप कहा तथा उसे दर्पण के समान समस्त पदार्थों को झलकाने वाला कहा। तत्पश्चात् परमागम का प्राणस्वरूप अनेकांत को समस्त विरोधों का शमन करने वाला होने से नमस्कार किया है। आगे लेखक ने त्रिलोक संबंधी पदार्थों को प्रकाशित करने वाले एकमात्र नेत्रस्वरूप परमागम को भलीभांति जानकर, विद्वानों के लिए पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ग्रन्थ की रचना करने की प्रतिज्ञा की है। साथ ही निश्चय-व्यवहार का रहस्यज्ञ वक्ता ही शिष्यों का दुर्निवार अज्ञानांधकार नष्ट कर जगत् में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन करने वाला होता है, यह घोषित किया है।[1] तत्पश्चात् निश्चय को भूतार्थ तथा व्यवहार को अभूतार्थ बतलाते हुए, अधिकांश जगज्जन भूतार्थज्ञान अर्थात् वस्तुस्वरूप के यथार्थ ज्ञान से रहित है, यह स्पष्ट किया। यद्यपि व्यवहार नय अभूतार्थ – असत्यार्थ कथन करने वाला है, वस्तु का असली स्वरूप नहीं बतलाता, तथापि अज्ञानीजीवों को समझाने के लिए आचार्य व्यवहारनय का भी उपदेश

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक १, २, ३, ४

करते हैं, परन्तु जो जीव मात्र व्यवहार को ही जानता है, उसको व्यवहार का उपदेश नहीं है। वास्तव में समग्र देशना का सार या रहस्य उसे ही प्राप्त होता है जो निश्चय-व्यवहार को यथार्थ समझकर नयपक्ष को छोड़कर मध्यस्थ होता है।[1]

इसके बाद ग्रन्थ में प्रतिपाद्य विषय का प्रारम्भ होता है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि से रहित, गुण-पर्याय सहित तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त चैतन्य आत्मा ही पुरुष कहलाता है। अपने रागादि विकारी परिणामों का कर्त्ता और भोक्ता स्वयं अज्ञानी आत्मा ही होता है, परन्तु जब आत्मा सर्व प्रकार के विभावों को त्याग कर अपने निष्कम्प चैतन्य-स्वरूप में स्थिर होता है तब आत्मा के प्रयोजन की सिद्धि होती है और वह कृतकृत्य होता है।[2] यहाँ कारण-कार्य का ज्ञान कराते हुए आचार्य लिखते हैं कि जीव के परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल स्कंध स्वयमेव ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमित होते हैं और इसी प्रकार ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म के उदय का निमित्त पाकर जीव स्वयं ही रागादि भाव रूप परिणमित होता होता है। न जीव के परिणाम पुद्गलकर्मों के परिणमन कर्त्ता हैं और न ही पुद्गलकर्म जीवपरिणाम के कर्त्ता। इस प्रकार सहज कारण-कार्य या निमित्त-नैमित्तिक संबंध बनता है। ऐसा सहज कारण-कार्य का नियम न मानकर अज्ञानी जीव रागादि भावों तथा शरीरादि को एक दूसरे का कर्त्ता मानते हैं। उन्हें संयुक्त न होने पर भी संयुक्त रूप से मानते हैं, यही अज्ञान उनके संसार परिभ्रमण का बीज है।[3] इसके बाद विपरीत श्रद्धान का नाश, निजात्मा का यथार्थज्ञान तथा निजस्वरूप की स्थिरता को ही पुरुषार्थसिद्धि का उपाय गया है। मुनियों की अलौकिक वृत्ति तथा मुनिधर्म का उपदेश पहले न करके, गृहस्थ धर्म के उपदेशदाता को दण्डनीय बताया है जिसका कारण उपदेशदाता द्वारा अक्रम (क्रमभंग) कथन करने से योग्य पात्र का ठगाया जाना है।[4] इस प्रकार पीठिका की प्रतिपाद्य वस्तु समाप्त होती है।

सम्यग्दर्शन अधिकार –

इस अधिकार में श्रावकधर्म के साधनार्थ ग्रहस्थ को भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का यथाशक्ति सेवन करने का उपदेश है।

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक ५, ६, ७, ८
२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक ९, १०, ११
३. वही, पद्य क्रमांक १२, १३, १४ ४. वही, पद्य क्रमांक १५ से १९ तक।

इन तीनों में सर्वप्रथम श्रावक को सम्यक्त्व की ही साधना भलीभांति, समस्त प्रयत्नों द्वारा करनी चाहिये क्योंकि सम्यक्त्व के होने पर ही ज्ञान तथा चारित्र सच्चे होते हैं। यहां सम्यग्दर्शन का स्वरूप निरूपित करते हुए लिखा है कि जीव अजीव आदि तत्त्वार्थों का, विपरीत अभिप्राय से रहित श्रद्धान निरन्तर करना चाहिये। वह श्रद्धान आत्मस्वरूप ही है।[1] सम्यग्दर्शन के संरक्षणार्थ तथा परिशोषणार्थ निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य तथा प्रभावना इन आठ अंगों का सेवन करना आवश्यक है। इन आठ अंगों के संक्षेप में लक्षण इस प्रकार हैं – सर्वज्ञकथित, अनेकांतस्वरूप वस्तु-स्वभाव में शंका नहीं करना निशंकित अंग है। इस लोक की सम्पदा आदि, परलोक की चक्रवर्ती, नारायण आदि पदों की अभिलाषा तथा एकांतवादी मतों की आकांक्षा का त्याग करना निकांक्षित अंग है। भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि नाना प्रकार के भावों में, मलमूत्रादि से संपर्क होने में ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा अंग है। जगत् के मिथ्या शास्त्रों, मिथ्यातत्त्वों, मिथ्या-देवताओं में श्रद्धा नहीं करना तथा तत्त्वरुचि रखना अमूढ़दृष्टि है। मार्दव आदि भावनाओं से हमेशा आत्मा के शुद्धस्वरूप को वृद्धि करना तथा दूसरों के दोषों को गुप्त रखना उपगूहन अंग है। काम, क्रोध, मद आदि के कारण न्यायमार्ग से विचलित होने वाले अपनी तथा पर की युक्तिपूर्वक स्थिरता करना स्थितिकरण है। मोक्षसुखसम्पदा के कारणभूत धर्म – अहिंसा में तथा सभी साधर्मीजनों में हमेशा उत्कृष्ट वात्सल्य भाव धारण करना वात्सल्य अंग है। रत्नत्रय के तेज से अपनी आत्मा को प्रभावित करना तथा दान, तप, जिनपूजनादि और विद्या के अतिशय द्वारा जैनधर्म की प्रभावना करना प्रभावना है।[2] इस प्रकार आठ अंगों के निरूपण सहित उक्त अधिकार समाप्त होता है।

सम्यग्ज्ञान अधिकार –

तृतीय विभाग सम्यग्ज्ञान अधिकार में सम्यक्त्व के धारक पुरुषों को हमेशा जिनागम की परम्परा, युक्ति अर्थात् प्रमाण तथा नय से विचार करके प्रयत्नपूर्वक सम्यग्ज्ञान का सेवन करना कर्तव्य निरूपित किया है। यह भी स्पष्ट किया है कि यद्यपि सम्यग्दर्शन के

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक २०, २१, २२,

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक २० से ३० तक।

साथ ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है तथापि उसकी पृथक् आराधना करना उचित है, कारण कि दोनों में कारण-कार्य रूप लक्षण भेद से भिन्नता संभव है। सम्यग्दर्शन कारण तथा सम्यग्ज्ञान कार्य होने से सम्यक्त्व के बाद ही सम्यग्ज्ञान की आराधना करना लिखा है। कारण और कार्य का एककाल होने पर भी दीपक और प्रकाश की भांति सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान में कारण-कार्यपने की विधि सुघटित होती है। यहां सम्यग्ज्ञान का लक्षण भी लिखा है कि प्रशस्त अनेकान्तात्मक स्वभाव वाले पदार्थों का संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय रहित निर्णय करना चाहिये। वह सम्यग्ज्ञान आत्मस्वरूप ही है। इस सम्यग्ज्ञान के भी आठ अंग कहे हैं जो क्रमशः व्यंजनाचार, अर्थाचार, कालाचार, विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार तथा अनिह्नवाचार नाम से कहे गये हैं।[1]

सम्यक्चारित्र अधिकार —

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का चौथा विभाग सम्यक्चारित्र का निरूपक है। इसमें श्रावकों के आचरण व नियमों का विशद् विवेचन है। अमृतचन्द्र ने प्रारम्भ में ही लिखा है कि दर्शनमोह के नाश होने अर्थात् सम्यग्ज्ञान से तत्त्वार्थों को भलीभांति जान लेने पर हमेशा दृढ़ चित्तवाले पुरुषों को सम्यक्चारित्र का अवलम्बन करना चाहिये क्योंकि अज्ञान सहित चारित्र सम्यक्चारित्र नाम नहीं पाता, इसलिए सम्यग्ज्ञान के बाद ही सम्यक्चारित्र की आराधना करना कहा गया है।[2] सम्यक्चारित्र का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है कि समस्त पापयुक्त मन-वचन-काय के योग के त्याग से चारित्र होता है जो संपूर्ण कषाय रहित, निर्मल, विरक्तता सहित और आत्मस्वरूप होता है।[3] तत्पश्चात् चारित्र के देश-चारित्र तथा सकल-चारित्र ये दो भेद किये हैं। उनमें सर्वथा सर्वदेश त्याग में लीन मुनि शुद्धोपयोगस्वरूप में आचरण करने वाला होता है तथा एकदेश त्याग में लगा हुआ श्रावक होता है। एकदेश चारित्र के अंतर्गत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह इन ५ पापों का सूक्ष्म तथा सविस्तार विवेचन किया गया है। इन सभी का स्पष्ट परिचय आगे सातवें अध्याय में किया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अहिंसा तथा हिंसा का लक्षण बहुत ही मार्मिक एवं सूत्ररूप में निरूपित

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक ३१ से ३६ तक

२. वही, पद्य क्रमांक ३७, ३८ ३. वही, पद्य क्रमांक ३९

करते हुये लिखा है कि रागादि भावों की उत्पत्ति होना ही हिंसा है, यह जिनागम का सार है।[1] उन्होंने प्रायः समस्त प्रकार की हिंसा-पोषक प्रवृत्तियों का सुयुक्तियों द्वारा खण्डन किया है।[2] तथा उपसंहार रूप में लिखा है कि हिंस्य (जिसकी हिंसा की जाती है), हिंसक (हिंसा करने वाला कषायवान् जीव), हिंसा (प्राणघात की क्रिया) तथा हिंसा के फल (पापसंचय) को यथार्थरूप में जानकर ही वास्तविक रूप में हिंसा का त्याग संभव है।[3] वे यह भी सूचित करते हैं कि अत्यन्त कठिनता से पार होने योग्य, अनेक प्रकार भंगयुक्त गहन वन में, मार्ग भूले जनों को नयसमूह के ज्ञाता गुरु ही शरण होते हैं। जिनेन्द्रदेव द्वारा वर्णित नयरूपी चक्र अत्यंत पैनी धारवाला है, दुःसाध्य है, यह मिथ्याज्ञानी पुरुषों के मस्तक को तुरंत खण्ड-खण्ड कर देता है।[4] अन्य चर्चित विषयों में मद्य, मांस, मधु के दोष तथा त्याग, पांच उदुम्बर, फलों के दोष तथा उनका त्याग, सत्यव्रत के भेद व स्वरूप, अचौर्यव्रत के अंतर्गत कुशील का स्वरूप एवं त्याग का उपदेश, परिग्रह का स्वरूप व त्याग का उपदेश, रात्रि भोजन में हिंसा तथा उसके त्याग का विधान, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ-दण्डव्रत, इन तीनों गुणव्रतों का स्वरूप, सामायिक प्रोषधोपवास, भोगोप-भोगपरिमाण तथा वैयावृत्त इन चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप, नवधाभक्ति, दातार के गुण, दान तथा पात्र विचार इत्यादि विषयों पर इस विभाग में विशद् प्रकाश डाला गया है।[5]

सल्लेखना अधिकार –

इसमें सल्लेखना को धर्मरूप धन को परलोक में साथ ले जाने में समर्थ बतलाया है। मरण के समय शास्त्रोक्त विधि से सल्लेखना धारण करना कर्त्तव्य है। सल्लेखना को आत्मघात मानने वालों की मान्यता का निरसन करते हुये लिखा है कि रागादिभावों के अभाव के कारण सल्लेखना आत्मघात नहीं है।[6] वास्तव में क्रोधादि कषायों से घिरा हुआ मनुष्य ही आत्मघाती है। सल्लेखना को अहिंसास्वरूप बतलाते हुये सम्यक्त्व, व्रत तथा शीलव्रतों के अतिचारों का निरूपण किया गया है।[7]

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य क्रमांक ४४ २. वही, पद्य क्रमांक ४५ से ५७ तक
३. वही, पद्य नं. ६० ४. वही, पद्य ५८, ५९
५. वही, पद्य नं. १६१ से १७४ तक ६. वही, पद्य १७५ से १७७ तक
७. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य १८१ से १९६ तक।

सकलचारित्र अधिकार –

यह इस ग्रन्थ का छठवां एवं अंतिम विभाग है जिसमें मुनियों के सकलचारित्र का वर्णन है। इनमें अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेश ये छह बाह्यतप तथा विनय, वैयावृत्य, प्रायश्चित, व्युत्सर्ग, स्वाध्याय तथा ध्यान ये छह अंतरंग तप – इन बारह तपों का निरूपण हैं। समता, वंदना, स्तव (स्तुति), प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग ये छह आवश्यक, तीन गुप्ति (मन, वचन, काय), पांच समिति (ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना), दशधर्म (उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम तप, त्याग, आकिंचन्य, एवं ब्रह्मचर्य) बारह अनुप्रेक्षा, बाईस परिषहजय इत्यादि का वर्णन किया गया है।[२] यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि रत्नत्रय से कभी बन्ध नहीं होता। वह तो एकमात्र मोक्ष का ही कारण (उपाय) है। यहाँ बन्ध के नियम का निर्देश किया गया है कि जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र हैं, उतने अंश से बन्ध नहीं होता और जितने अंश में राग मौजूद है, उतने रागांश से बन्ध होता है।[३] योग और कषाय बन्ध के कारण हैं परन्तु रत्नत्रय तो न योगरूप है और न कषाय रूप, वह तो शुद्धस्वभावरूप ही है। शुद्धात्मा का निश्चय, सम्यग्दर्शन, शुद्धात्मा का ज्ञान, सम्यग्ज्ञान तथा शुद्धात्मा में स्थिरता, सम्यक्चारित्र है। इन तीनों से बन्ध कदापि नहीं होता, ये तो निर्वाण के ही कारण हैं। आगम में सम्यक्त्व तथा चारित्र से तीर्थंकर प्रकृति, आहारकशरीर तथा ग्रैवेयकादि सम्बन्धी देवायु का बन्ध होना लिखा है वह व्यवहार नय का उपचरित कथन मात्र है। नय के ज्ञाताओं को ऐसे कथनों का रहस्य या अभिप्राय ज्ञात हो जाने से ऐसे कथन दोषाधायक नहीं होते। यहाँ मर्म की बात यह है कि योग व कषाय से होने वाला तीर्थंकर आदि प्रकृतियों का बन्ध सम्यक्त्व तथा चारित्र के सद्भाव में ही होता है, अभाव में नहीं, परन्तु बन्ध के कारण सम्यक्त्व व चारित्र नहीं है।[३] रत्नत्रयधारी मुनियों को देवायु आदि प्रकृतियों का बन्ध क्यों होता है? इस शंका का समाधान करते हुए स्पष्ट घोषणा की है कि

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य १६७ से २१० तक

२. वही, पद्य २११ से २१४ तक

३. वही, पद्य २१५ से २१८ तक।

रत्नत्रय तो एकमात्र निर्वाण का ही कारण है, अन्य गति आदि के बन्ध का कारण नहीं है, परन्तु रत्नत्रय के साथ जो पुण्यास्रव होता है, वह शुभोपयोग का अपराध है। फिर भी जगत् में "घी जलाता है" ऐसे प्रसिद्ध लोक व्यवहार की भांति रत्नत्रय को भी बन्ध के कारणपने का व्यवहार रूढ़ हो चुका है। अन्त में यह स्पष्ट किया गया है कि पूर्वोक्त निश्चय-व्यवहार रूप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्रमय मोक्षमार्ग है, जिस पर चलकर आत्मा परमात्मपद को प्राप्त करता है तथा लोक के अन्त में विराजमान होता है। वह परमपद कृतकृत्य है, समस्त पदार्थों का ज्ञाता है, विषयसुख से रहित ज्ञानानन्द मय है, ज्ञान स्वरूप है तथा मोक्षपद में सदैव आनन्द रूप से विराजमान रहता है।[1] आचार्य अमृतचन्द्र उपसंहार करते हुए जैन नीति अथवा नयविवक्षा को दही की मथानी की रस्सी को खींचने वाली ग्वालिनी की तरह मुख्य तथा गौण करके वस्तु का सार प्राप्त कराने वाली बतलाते हैं।[2] अंतिम पद्य द्वारा आचार्य अमृतचन्द्र घोषणा करते हैं कि "नानावर्णों से शब्दों से वाक्यों की और वाक्यों से पवित्र इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय शास्त्र की रचना हुई है, इसकी रचना में मेरा कुछ भी (कर्तृत्व) नहीं है।[3]

इस प्रकार समग्र कृति में विवेचित तथा यथाक्रम समायोजित विषयवस्तु से पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की रचना अपने आप में अद्वितीय, अनुपम व अनूठी है तथा अमृतचन्द्र के अमृतोपम आनन्दामृत से अभिसंचित है। सूत्रबद्ध, सुव्यवस्थित, सतर्क व सोदाहरण तत्त्वविवेचन से उक्त कृति का अपरनाम "जिनप्रवचनरहस्यकोश" सार्थक हो गया है।

पाठानुसंधान –

आचार्य अमृतचन्द्र की मौलिक एवं स्वतंत्र रचनाओं में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय सर्वाधिक विश्रुत रचना रही है। जैन समाज के बाल गोपाल तक इससे परिचित हैं। धार्मिक पाठशालाओं में इसका पठन-पाठन अवश्य होता है। इसकी विशेष प्रसिद्धि के कुछ कारण हैं। प्रथम तो, उक्त कृति श्रावकों के आचरण की प्रदर्शिका या आचार संहिता के रूप में ख्यातिप्राप्त है। दूसरे, इस रचना की निरूपण शैली अत्यंत सरल, सीधी एवं सतर्क है। तीसरे, इसमें निरूपित अहिंसा

---

१. वही, पद्य २१९ से २२४ तक २. वही, पद्य २२५ वां।
३. वही, पद्य २२६ वां

का प्रकरण श्रावकाचारों की आद्यन्त परम्परा में अनुपम, आकर्षक एवं आश्चर्यकारी है । चौथे, यह कृति आचार्य अमृतचन्द्र के अमृतोपम अध्यात्मरस से परिपूर्ण तथा जिनागम के गम्भीर रहस्यों की उद्घाटन करने वाली रचना है। पांचवे, इस ग्रन्थ की एक नहीं, अनेक प्रतियां मुद्रित एवं हस्तलिखित दोनों प्रकार की प्रायः प्रत्येक जिनमन्दिर तथा जैनशास्त्रभण्डारों में मिलती हैं। इतना ही नहीं, इस ग्रन्थ की प्रतियां अनेक श्रावकों के पास उपलब्ध होती हैं। मैंने स्वयं अनेक जिनमन्दिरों में शास्त्रभण्डारों को देखा[1] तो वहां पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ की एक से अधिक प्रतियां उपलब्ध हुईं। मैंने स्वयं भी पाठानुसंधान हेतु बीस प्रकार की विभिन्न टीकाकारों, सम्पादकों, अनुवादकों तथा लिपिकारों की पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की प्रतियाँ प्राप्त की हैं जिनका विस्तृत विवरण आगे दिया गया है। उपलब्ध प्रतियों की भाषा हिन्दी, ब्रजभाषा, मराठी पद्य व गद्य, गुजराती, अंग्रेजी इत्यादि हैं। ये सभी प्रतियाँ दो प्रकार की हैं मुद्रित तथा हस्तलिखित। मुद्रित में भी अधिकांश पुस्तकाकार सजिल्द हैं, कुछ शास्त्राकार अर्थात् पृथक् पृष्ठों वाली है। इनमें हस्तलिखित प्रतियां सर्वाधिक प्राचीन हैं। इसका कारण यह है कि मुद्रण के विकास के पूर्व तो हस्तलिखित प्रतियों के माध्यम से ही पठन-पाठन की परम्परा चलती रही है। हस्तलिखित प्रतियों में कुछ प्रतियों का विवरण इस प्रकार है – सर्वप्रथम टीका पंडित प्रवर टोडरमलजी जयपुर की ढूढारी भाषा में उपलब्ध होती है, जिसे वे अपने जीवनकाल में पूर्ण नहीं कर पाये। उसे पंडित दौलतराम जी ने विक्रम संवत् १८२७ (अर्थात् १७७० ईस्वी) में पूर्ण किया था। उक्त हस्तलिखित प्रति सजिल्द एवं सुन्दर लिखावट में है। लिपिकार फतेराम व्यास तथा लिपिकाल १९४६ विक्रम संवत् (१८८९ ईस्वी) है। यह प्रति श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर हनुमानताल जबलपूर (मध्य प्रदेश) के हस्तलिखित शास्त्र भण्डार

---

१. कुछ देखे गये शास्त्रभन्डारों के नाम इस प्रकार हैं – सिवनी, बारासिवनी, छिदवाड़ा, जबलपुर, सागर, भोपाल, इन्दोर, उज्जैन, विदिशा, गुना, सीहोर, इत्यादि (मध्यप्रदेश में), नागपुर, पूना, कोल्हापुर, सोलापुर, बालचन्दनगर, बाहुबलिकुम्भोज इत्यादि (महाराष्ट्र में), जयपुर के कई शास्त्र भन्डार, आगरा, ब्यावर, अजमेर तथा अहमदाबाद, महेसाना, भावनगर, फतेपुर, (गुजरात) इत्यादि।

करियेटीकापुरणउरधरिधर्मसनेहा॥ज्ञानवटीकापुरणकरीभाषाकूपनिधानाकुसलहोइवकुंसघकोलहोजीवनि
जज्ञान॥९॥सुबहोइराजाप्रजाहोइधर्मकीवृद्धि॥मिटैरोगदुखनगनकेपावैनवनिधसिद्धि॥१०॥अठारहसैऊपरैसं॰
वतसत्ताईस॥मासमागिसरसितसरिसमुदिवसाएउनतीस॥११॥१८२७॥संतनसेवकज्ञानजानताकूपरनिवैपरवा
ना॥मासुकलपंचमगुरुवारा॥ग्रंथिसमाप्तलिखीविचारा॥१२॥वंसबड़ेरजातामधुसूदनबड़नागरवरगोनविख्याता॥श्राव
कजानगरानप्रवीनश्रीजिनधर्मविषैलवलीना॥१३॥तिनसुतदासीरामप्रधानप्रज्ञादानविषैलवलीना॥वंसवरोरागाम
नगरानवनिजनोपनिवकूरैविचरा॥१४॥तिनकेगरकरोलीकारणाथयहसंसारमहकिरिग्रंथ॥तिनकेसुतउपनेवरधारि
बुद्धिवंतगुनवंतउदारा॥१५॥नीरामवैदगुनामालताजयुबुद्धिवंतसुखलाल॥नेमीचंद्रपरमयरीनलघुसुतचीमनला
लमुलीना॥१६॥पापसमेधीरेवरप्रीतितजैनकीनिजकुलकीरीति॥मास्त्रश्रवणितिकरैविचारयूजादानतवैग्रधिकार
१७॥ताथाएहकछुकारणपाय॥ग्रलवरमधिपुनिवासकराय॥पुनादानवकृतविनिजानि॥नेमीचंद्रचैलकुलज्ञान॥२०॥दादा
नेमीचंदवीनितमेंनिजपुरहितमुविचार॥पुरुषार्थसिधुपायकोलिखवायोहितधारा॥१९॥पायविदारणादयवरणसुख
कारणगुणधामानगरनग्रलवरकेविषैलिखोग्रासकैनाम॥२०॥जबलगिनाडिगमुमेरहैनवलगिससिग्ररसर॥तव
लगिनविजनमुखकमलविशेरहोयहपुरा॥२१॥इतग्रंथग्रमृतचंदसूरिकृतपुरुषार्थसिधुपायभाषावचनिकासंपूर्णम॥ ॥
मितिग्रसाढसुक्ल॥ग्रुकवारा॥संवत॥१९४८॥श्रीलालजीके॥ ॥ ॥

में उपलब्ध है। यहां भिन्न भिन्न संवत् की अन्य कई प्रतिलिपियां भी हैं। इस प्रति में लिपि विषयक शाब्दिक त्रुटियां अनेक हैं। उदाहरण के लिए प्रारम्भिक कुछ पद्यों की टोडरमलजीकृत मुद्रित प्रति से तुलना की जाती है। मुद्रित प्रति दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट – सोनगढ़ जिला भावनगर (सौराष्ट्र) से प्रकाशित है।

	जबलपुर की (हस्तलिखित) प्रति	सोनगढ़ की (मुद्रित) प्रति
	पुरुसार्थसिद्ध्योपयाय	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय
	(पद्य क्रमांक १) पय्यायैः	पर्यायैः
	दर्प्पण	दर्पण
(पद्य-२)	निषद्ध	निषिद्ध
	विलसितानं	विलसितानां
	अनेकांते	अनेकान्तम्
(पद्य-३)	रूपोद्रयते	रूपोद्ध्रियते
	विदुष्षां	विदुषां
	सिद्धूपायोयं	सिद्ध्युपायोऽयम
(पद्य-४)	दुरस्त	दुस्तर
	निश्चयज्ञा	निश्चयज्ञाः
(पद्य-५)	वरणयन्त्यभूतार्थं	वर्णयन्त्यभूतार्थम्
	विमुख प्राय	विमुखः प्रायः
(पद्य-६)	अवुधस्य वोधनार्थं	अबुधस्य बोधनार्थं
	मुनीस्वरा	मुनीश्वराः
(पद्य-७)	माणवक हि एव	माणवक एव
(पद्य-८)	य प्राप्नोति	यः प्राप्नोति
	देसना	देशना
	शिष्य	शिष्यः

इसी प्रकार की त्रुटियां प्रायः अधिकांश पद्यों में पाई जाती हैं। उपर्युक्त तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि हस्तलिखित प्रति में ही त्रटियां पाई जाती हैं, मुद्रित प्रति में उन त्रुटियों का सुधार हुआ है।

द्वितीय हस्तलिखित प्रति पं० भूधरमिश्र द्वारा रचित उपलब्ध हुई है। यह प्रति ब्रजभाषा (हिन्दी) में है। इसकी रचना संवत् १८७१ (ईस्वी १८१४) ये हुई थी। यह पृथक् पत्रों वाली स्पष्ट अक्षरों में में लिखी गई है। लिपिकार पंजबार चौबे चन्देरी (मध्य प्रदेश) हैं।

सवसैंमैनीभावहरषगुनपैकरौउचितभुचितकोंदेचिदयाचितमेंधरौ।तहांरहोमध्यस्थजहांविरो
तहै।चारभावनास्वरूपजैनकीरीतिहै।१३।दोहरा।चारभावनाचितधरौयभावशक्तिअनुमान।जिन
पूजौश्रुतसांभलौसीखसमापितजान।१४।गीतिकाछंद।संवतअठारहसैरुकोतरमासभादोंतणी
यासुभशुक्लपक्षसुगंधदशमीग्रंथलिखिपूरणकियो।धनिअमृतचंदजतीसजलधरउपमतो
षमकालमेंउपदेसवरषाकरीसीतलभविकजनवनजालमें।१५।सवैया।साधरमीलोगनपरेमो
हिदिढकीनोंमेंमीमनफेरकुहिलिखिदेमेंधरीहै।रंगनाथपंडितनेंअरथपढाइदीनोंयामेंकछू
कोंनकविरीतउपच्चरीहै।व्याकरनकोसकलाविद्यामेंनिपुनभलावंसीधरमित्रतिनसोधिसुधि
रीहै।एनेउपगारीमिलिकीनाउपगारनीकात्तवयहवालवोधटीकाविसतरीहै।१६।अवसानमं
गल०।छप्पै०।पनविविविचस्नारविंदअरपसुतकेरे।करैदासअरदासआसहरसाहिवमेरे

यह लिपि संवत् १९२९ (ईस्वी) की है। यह प्रति श्री दिगम्बर जैन मंदिर. चौक, भोपाल में उपलब्ध है। यहाँ भी विभिन्न संवत्सरों की हस्तलिखित तथा मुद्रित कई प्रतियां हैं। इसमें भी पाठ सम्बन्धी अनेक अशुद्धियां हैं जो लिपि विषयक हैं। पूर्वोक्त सोनगढ़ प्रति के साथ इसकी तुलना करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सर्वाधिक सही एवं उपयोगी पाठ किस प्रति का है। उदाहरण स्वरूप यहाँ कुछ पद्यों की तुलना की जाती है।

	भोपाल की (हस्तलिखित) प्रति	सोनगढ़ की (मुद्रित) प्रति
पद्य क्रमांक १	पर्यायै	पर्यायैः
	दर्प्पन	दर्पण
पद्य २	परमागंमस्थ जीव	परमागमस्य जीवं
	विलसिताना	विलसितानां
पद्य ३	नेत्रे	नेत्रं
	परमागम	परमागमं
	विदुपां	विदुषां
	सिद्ध्युपायोय	सिद्ध्युपायोऽयम
पद्य ४	विणेय	विनेय
	दुर्बोधा	दुर्बोधाः
पद्य ५	व्यवहार	व्यवहारं
	वर्णयत्यभूतार्थं	वर्णयन्त्यभूतार्थम
	वोधविमुखः	बोधविमुखः
पद्य ६	देशयत्यभूतार्थं	देशयन्त्यभूतार्थम
	केवलमेवेति	केवलमवैति
पद्य ७	मानवक	माणवक
पद्य ८	मध्यस्थ	मध्यस्थः
	देशनाया	देशनायाः
	शिष्य	शिष्यः

ऐसी ही त्रुटियां प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ में पाई जाती हैं, अतः शुद्ध पाठानुसंधान की दृष्टि से यह प्रति भी अधिक उपयोगी प्रतीत नहीं होती। इस प्रति में पद्य संख्या में भी अन्तर है। मुद्रित प्रति में २२६ पद्य हैं जबकि हस्तलिखित प्रति में केवल २२५ पद्य हैं। वास्तव में मूल-पाठ पूर्ण है परन्तु पद्य संख्या लिखने में लिपिकार ने कई जगह भूलें की

श्रीमत्चंद्रजीनेंद्रजलधारुधमग्रीष्मकालमें उपदेसवरषाकरीसीतलभविकजनवन
जालमें १५॥ऊ५॥ए ऽ॥स साधरमालोगनेंचुरनाहटकीनिर्मलताकेरयुद्धिलि
पवेनेवरहे रंगनाषंडितनेंश्रुरषपढाषरीनोमनहरीकोनकावेरीनउच्चरहे॥ व्याक
रणीसकलाविद्योनुरागमलावंसोधरामेंगनसोधसुकरीह स्नउमगरीमलि
कोनाउदगालीकालवषहवालेधरीकाविसतरीह १६॥श्र॥ ...परा
विकदिवेचरनाएंद्रसुरासुरकें कोदासत्रदासत्रासहरसाहवमेरे महसंसारश्रावः
रसागरेसोर्द सुनविनतादनहराहीतहु स्नकोर श्रवहदुरीनकीमलिनमतिभरहुश्रे
सम्त्रसनसरणा निजकारहुकेमचहुसधेनतादपस्वसुषकरन॥ ...ग्रा...पुधा...यासद्यु...
पस्करनागजनश्रवचनरहस्का...वनिदनकीतहो॥मीनकीतीकसुदी॥४॥संवत्...

(इ. ऐ. सीरीज़ बीकानेर (...) की पुरुषाकी सिद्धमुख्य प्रति का अंतिम [redacted] पत्रा, सामने का पृष्ठ)

हैं। उपर्युक्त लेखक (पं० भूधर मिश्र) की रचना की एक प्रतिलिपि हनुमानताल, जबलपुर के मन्दिर में भी है। यह तीसरी हस्तलिखित पृथक् पत्रों वाली प्रति है जो लिपि की अपेक्षा भोपाल की प्रति से अत्यधिक सुन्दर, स्वच्छ एवं आकर्षक है परन्तु त्रुटियों की संख्या इसमें और भी अधिक है। उदाहरण के लिए निम्न पद्य तुलना हेतु प्रस्तुत हैं –

	जबलपुर प्रति	सोनगढ़ प्रति
पद्य १	रणंतपर्यायै	रनंतपर्यायैः
	दर्पनतल इव शकला	दर्पण तल इव शकला
	पदार्थमालि	पदार्थमालिका
पद्य २	परमागस्य	परमागमस्य
	जासंधुरविधानं	जात्यन्ध सिन्धुरविधानम्
	विरोधमथनः नमाम्यः-	विरोधमथनं नामाम्यनेकान्तम्
	अनेकान्तं	

इस प्रकार पाठशोध की दृष्टि से यह प्रति भी अनुपयोगी ही है। इस प्रति की रचना तिथि तो वही विक्रम संवत् १८७१ हैं परन्तु लिपि संवत् का कहीं कोई उल्लेख नहीं है। टीकाकार का परिचय अन्त में अवश्य दिया गया है।[1] टीकाकार भूधरमिश्र ने जैनधर्म तथा विशेषतः

---

१. दोहरा – नगर आगरे के निकट शाहगंज सुखवास,
जैनधाम अभिराम सों सोहे धर्म्मनिवास ॥ १ ॥
चारों वर्ण प्रजा बसै सुखी भाग अनुसार,
भट्टलोकपण्डित तहां विद्या-धन भण्डार ॥ २ ॥
मूरिख पंडित होत है जिनकी संगति पाइ,
जैसे पारस को परस लोह कनक हो जाइ ॥ ३ ॥
रंगनाथ तिनमैं निपुण, सुजन सराहत जाहि,
सदा शास्त्र विद्या विमल दई विधाता ताहि ॥ ४ ॥
तिनसौ भाग संजोग करि भयौ संग सुखकार।
तिन पै जैन पुराण हम देखे मति अनुसार ॥ ५ ॥
चौपाई – ऐसे पठन करत बहु भाय, श्री पुरुषारथ सिद्ध-उपाय।
अमृतचन्द्रकृतग्रन्थ अनूप, देखो धर्मरसायनिकूप ॥ ६ ॥
हिंसाभेद बहुत या मांहि, ऐसे और ग्रन्थ में नांहि।
गम्भीर – ऊण्डो अर्थ न समझ्यो जाइ, तब मैं रंगनाथ पे आइ ॥ ७ ॥

श्रीसास्त्रपुरवासनसिधिउपास श्रीभोपालके मंदीरमेपधारेश्रीज्ञानचंद्रपरकारकंदुरी
मुरीएउनवांजलगोतनसभातबैसचंद्र तस्यउत्रनाथूरामतस्यभातगोवेंदासतस्यभात
छोटेलालसुखदासजीकेसाथेग्रजमानवासीभेलसाकेश्रीपालके मंदीरमेपधारा का
मितिसाउनवदि २ चंद्रवार संवत् १९ २९ ६ शनिवार चौवेचंदेरीवारेक

(वि. अं. वसी जैन भोपाल की हस्तलिखित-सूचना पत्रों का अंतिम पन्ना का पिछला पृष्ठ)

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का मर्म तत्कालीन विद्वान पण्डित रंगनाथ से समझा था। पण्डित गिरधर मिश्र का यश भी अमृतचन्द्र कृत समयसार कलशों का अमृतमयी अर्थ बखान करने के कारण फैला था। टीकाकार अन्त में लिखते हैं कि इस दुखमा पंचमकाल रूप ग्रीष्म ऋतु से संतप्त, जगत् जंजाल में पड़े भव्य-जीवों को शीतलता प्रदान करने वाली उपदेशामृत की वर्षा करने वाले आचार्य अमृतचन्द्र यतिवर मेघ समान धन्य हैं। टीकाकार भूधरमिश्र की टीका की अंतिम प्रशस्ति अत्यंत महत्वपूर्ण है। वह ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा ग्रन्थकार आचार्य अमृतचन्द्र पर बहुमूल्य प्रकाश डालती है। साथ ही टीकाकार के समकाल तथा पूर्वकाल में भी उक्त कृति के व्यापक प्रचार-प्रसार को प्रभावित करती है।

कठिन अर्थ अवधारन कियो, भाषा वचनरूप लिखि लियो।
ऐसी भांति वचनिका भई, स्वपर हेत हितकारण ठई ॥ ८ ॥

छप्पय – अमृतचन्द्रकृत काव्य कलश तहां अर्थ सुधारस।
गिरधर मिश्र सठीक ठान मुखरूप लियो जस ॥
बुधिबलवंत उदार तास रस को आस्वादहि।
हमसे अपढ़ अजान हीनबल कैसे लाधहि ॥
दूजे रंगनाथ पंडित प्रचुर, स्वपर शास्त्र मर्मज्ञ नर।
तिनके सहाय सत्संग हुव अर्थलाभ उपगारवर ॥ ९ ॥

सोरठा – श्रुत समुद्र बहुमान, तहां कौन भूलें नहिं।
ऐसे कहत महान, और दीन किस पंक्ति में ॥ १० ॥

दोहा – भूधर की यह बीनती, सुनियो सज्जन लोय।
गुन के गाहक हूजियो, दोस न लीजो कोय ॥ ११ ॥
गुन ग्राही शिशु थन लगै, रुधिर छोड़ि पय लेत।
यह बालक सों सीखिये, जो सिर आये सेत ॥ १२ ॥

अडिल्ल – सब सो मैत्री भाव हरष गुन पै करो।
दुखित भुखित को देखि दया चित्त में धरो ॥
तहां रहो मध्यस्थ जहां विपरीत है।
चार भावना रूप जैन की रीति है ॥ १३ ॥

दोहरा – चार भावना चित्त धरो यथाशक्ति अनुठान्।
जिनपूजो श्रुत सांभलो, सीख समापित जान ॥ १४ ॥

गीतिका – संवत् अठारह सै इकोत्तर मास भादौ वर तीया।
शुभ शुक्ल पक्ष सुगन्ध दशमी ग्रन्थ लिखि पूरण किया ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की तरह पण्डित टोडरमलजी तथा पण्डित भूधरमिश्र की टीकाओं से भी पहले एक टीका संस्कृत भाषा में भी लिखी जा चुकी थी, जिसकी प्रतियां अभी भी जयपुर के श्री दिगम्बर जैन बधीचन्द जी[1] तथा श्री दिगम्बर जैन मन्दिर ठोलियों का (जयपुर)[2] में उपलब्ध हैं। बधीचन्द मन्दिर की प्रति में टीका का नाम त्रिपाठी टीका दिया है। दिगम्बर जैन मन्दिर पाटोदी जयपुर में उक्त संस्कृत टीका की एक प्रतिलिपि सम्वत् १७०७ (ईस्वी १६५०) की विद्यमान है। आचार्य कनककीर्ति के शिष्य सदाराम ने फागुईपुर में प्रतिलिपि की थी।[3] संस्कृत टीका की एक प्रति श्री दिगम्बर जैन तेरहपंथी बड़ा

धनि अमृतचन्द्र जतीश जलधर दुखमग्रीषम काल में।
उपदेस बरषा करी शीतल भविक जन बनजाल में॥ १५॥

सवैया – साधरमी लोगनि पौर मोहि दिढ़ कीनों।
मैं भी मन फेरि बुद्धि लिखवे में धरी है॥
रंगनाथ पंडित ने अरथ पढाइ दीनौं।
यामैं कहो कौन कवि रीति उपचरी है॥
व्याकरन-कोश-कला विद्या में निपुन भला।
बंसीधर मित्र तिन सोधि शुद्धि करी है॥
एते उपगारी मिलि कीना उपगार नीका।
तब यह बालबोध टीका विसतरी है॥ १६॥

छप्पय – पनविविविवि चरनारविन्द असुरासुर केरे।
करै दास अरदास आस हर साहिब मेरे॥
यह संसार असार खार सागर है सोई।
तुम बिन तारन तहां तिहुँकाल न कोई॥
अब हरहु दीन की मलिन मति, भर हौं आस अशरन शरन।
नित करहु क्षेम चहुसंग में, शांतिदेव सब सुख करन॥ इति
(श्री पुरुषार्थसिद्ध्युपाय अपरनाम जिनप्रवच रहस्य कोश की भाषा टीका सपूर्ण)
(देखिये पृष्ठ १२१, १२२ जबलपुर की पाण्डुलिपि)

---

१. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की सूची, भाग ३, पृष्ठ ३२
२. वही, पृष्ठ १८५
३. वही, भाग ४, पृष्ठ ६८

मन्दिर जयपुर में भी उपलब्ध है।[1] उक्त टीका की प्रति रायल एसियाटिक सोसाइटी बम्बई में भी है।[2]

इसी तरह पं. टोडरमलजी तथा भूधरमिश्र की रचना के पूर्व पं. भूधरदास ने भी एक टीका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पर सम्वत् १८०१ में लिखी थी, जिसकी प्रतिलिपि (सम्वत् १९५२ की) दिगम्बर जैन तेरहपंथी बड़ामन्दिर जयपुर में उपलब्ध है। यह टीका हिन्दी में है।[3] इसके अतिरिक्त पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की उपर्युक्त टीकाकारों की विभिन्न सम्वत्सरों की हस्तलिखित अनेक प्रतियाँ विभिन्न स्थानों पर विद्यमान है। उनमें अजमेर, अलवर, दौसा, बयाना, नागदी (बून्दी), टोंक, इन्दरगढ़ (कोटा), महावीरजी णियारो, भरतपुर, कामा, डीग, करौली, बून्दी तथा जयपुर के जैन मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की प्रतियाँ उपलब्ध हैं।[4]

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की हस्तलिखित ताड़पत्रीय प्रतियाँ भी अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है। भट्टारक लक्ष्मीसेन जैन सिद्धांत श्रुत भण्डार कोल्हापुर (महाराष्ट्र) में एक ताड़पत्रीय प्रति उपलब्ध है, जिसकी आकृति ७$\frac{3}{4}$ × १$\frac{3}{4}$ इंच है। इसमें लिपि कन्नड़ भाषा की है, परन्तु आचार्य अमृतचन्द्र के मूल संस्कृत पद्य हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की मुद्रित प्रतियों में सर्वाधिक प्राचीन प्रकाशन सन् १९९७ ईस्वी का उपलब्ध हुआ है। इसके मराठी टीकाकार रा. रा. कृष्णाजी नारायण जोशी है। इसका प्रकाशन बेलगांव (महाराष्ट्र) से हुआ है। इस प्रकाशन की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं –

१. इस कृति के मराठी अनुवाद का आधार दो प्रतियाँ रही है। एक प्रति द्रविड़ी लिपि में ब्रह्मसूरी शास्त्री के पास से जयराव नैनार द्वारा की गई लिपि हैं तथा दूसरी प्रति जयपुर के मठ की है।[5]

---

१. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की सूची, भाग ४, पृष्ठ ६८

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, प्र. पृष्ठ ५ (सन् १९०४ का संस्करण) संपादक पण्डित नाथूराम प्रेमी।

३. राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की सूची, भाग ४, पृष्ठ ६९

४. वही, भाग ५, पृष्ठ १३४-१३५

५. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, प्र. पृष्ठ प्रथम (रा. रा. कृष्णाजी नारायण जोशी कृत मराठी टीका)

२. इस प्रकाशन में पद्य क्रमांक ७० को छोड़ दिया गया है[1] तथा पद्य नं. २२७ नं. नवीन मिला दिया गया है। इसमें मिलाये गये श्लोक पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि उक्त श्लोक मराठी टीकाकार ने या तो स्वयं ग्रन्थान्त में प्रयुक्त शब्दों को लेकर रच लिया अथवा भ्रम से उसे श्लोक समझ कर उसे श्लोक क्रमांक दे दिया है। प्रक्षिप्त श्लोक इस प्रकार है –

पीयूषचन्द्रसूरेः कृतिरिति पुरुषार्थसिद्ध्युपायोयं।
नाम जिनप्रवचनरहस्य कोशः समाप्तिमति ॥

उक्त पद्य में अमृतचन्द्र की जगह पीयूषचन्द्र पद बदलकर रख दिया है। पं. नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी में रूपांतरित पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ग्रन्थ के अन्त में यह गद्यांश दिया है – 'इति श्रीमदमृतचन्द्र-सूरीणां कृतिः पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयं नाम जिनप्रवचनरहस्यकोषः समाप्तः।"[2]

३. इस प्रकाशन में पश्चात् के प्रकाशनों से पाठ भेद भी पाया जाता है जो महत्त्वपूर्ण है। पाठांतर सूची यहां प्रस्तुत की जा रही है –

बेलगांव (मराठी) प्रति		सोनगढ़ प्रति
पद्य १४	अयमेव हि	एवमयं
पद्य २५	कर्त्तव्या	करणीया
पद्य ३४	प्रकाशयोरिह	प्रकाशयोरिव
पद्य ४६	व्युथ्थानावस्थायां प्रवृत्तानाम्	व्युत्थानावस्थायां प्रवृत्तायाम्
पद्य ५९	जगति	झटिति
पद्य ६१	तत्कालं	प्रथममेव
पद्य ६६-६७	निगोद	निगोत
पद्य ६८	×	वा

---

१. छोड़ा गया पद्य इस प्रकार है –

स्वयमेव विगलितं यो गृहणीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रय प्राणिनां घातात् ॥७०॥

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पं. नाथूराम, रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला बम्बई से १९०४ ईस्वी में प्रकाशित, अन्तिम पृष्ठ ११५

पद्य	६६ संपूर्णपद्य	×
पद्य	६६ मोक्तव्यं शुद्धबुद्धिभिः सततम्"	मधुकरहिंसात्मकं भवति लोके"
	"वस्तुनि मधुयति हिंसा तदाश्रय प्राणिनां घातात्	"भवति मधु मूढधीको यः स भवति हिंसकोऽत्यंतम् ।"
पद्य	७४ निश्चित्य	परिवर्ज्य
पद्य	७४ औत्सर्गिको	उत्सर्गिकी
पद्य	८५ शीघ्रं च	त्वचिरेण
पद्य	१०६ यद्यपि	तदपि
पद्य	१५५ प्रोथ्थाय	प्रोथ्थाय
	शुद्धां	कल्पम्
	उक्तां	उक्तं
पद्य	२२० यत्रास्रवित पुण्यं	आस्रवतियत्तु पुण्यं
पद्य	२२१ मितः	मिति

४. उक्त प्रकाशन में पद्य संख्या में क्रम भंग हैं। पद्य क्रमांक ७०वां छूट जाने से शेष सभी में पद्य क्रम भंग है। सोनगढ़ प्रति का पद्य क्रमांक ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, बेलगांव प्रति के पद्य क्रमांक ७३, ७४, ७५, ७६, ७७ हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के शेष उपलब्ध प्रकाशनों में क्रमशः १६०४ ईस्वी का पं० नाथूराम द्वारा सम्पादित, १६०६ ईस्वी का सूरजभानु वकील देवबन्द का प्रकाशन, १६२६ ईस्वी का पं० पन्नालाल चौधरीकृत काशी का प्रकाशन, १६२७ ईस्वी का पं० मक्खनलाल शास्त्री मुरैना का बृहद् सस्करण, १६२८ ईस्वी का अज्ञात लेखक का मराठी संस्करण, १६२६ ईस्वी का शंकर पढरीनाथ रणदिवे सोलापूर का प्रकाशन, १६३६ ईस्वी का पं० सत्यंधर जयपुर का संस्करण, १६५८ ईस्वी का सागरचन्द्र बड़जात्या लश्कर का प्रकाशन, १६५६ ईस्वी का पण्डित सरनाराम बारूमल (सहारनपुर) का, १६७३ का प्रा. बी.डी. पाटिल कोल्हापुर का मराठी संस्करण, १६७४ ईस्वी का वैद्य गंभीरचंद जैन एटा का हिन्दी संस्करण, १६७६ ईस्वी का पं. विद्याकुमार सेठी कुचामन सिटी की बृहद् टीका, १६६६ की पं० मुन्नालाल रांधेलीय सागर तथा पण्डित मनोहर वर्णी की टीकायें इत्यादि के प्रकाशन उपलब्ध हुए हैं। इसके अतिरिक्त पुरुषार्थसिद्ध्यपाय का अंग्रेजी में १६३३ ईस्वी में

जे० एल० जैनी का तथा गुजराती भाषा में सन् १९६६ ईस्वी में "सोनगढ़" (सौराष्ट्र) से प्रकाशित संस्करण भी देखने में आये। इन सभी प्रकाशनों के मूल पाठ में विशेष अंतर दिखाई नहीं दिया। मूलपाठ का संशोधित, सर्वाधिक शुद्ध व प्रामाणिक संस्करण सन् १९७४ में सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ है जिसमें पं० टोडरमलजी कृत टीका का हिन्दी रूपांतर है।

उपरोक्त में १९२९ सन् में शंकर पढरोनाथ रणदिवे सोलापुर का पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का मराठी प्रकाशन का वैशिष्ट्य यह है कि इसमें ग्रन्थ का अपरनाम श्रावकाचार दिया है। इसके अतिरिक्त कुल १९६ पद्य तक ही टीका की गई है। उक्त प्रकाशन में १९७ से लेकर २२६ के पद्य जिसमें सकल चारित्र का निरूपण है, छोड़ दिये गये हैं।

परम्परा –

संपूर्ण जैनागम को निरूपण की दृष्टि से चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है। वे अनुयोग हैं – प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग। प्रथमानुयोग में पुराण-पुरुषों का चरित्र निरूपित किया गया है। करणानुयोग में लोक-अलोक तथा चारों गतियों का और युग परिवर्तन आदि का निरूपण है। चरणानुयोग में गृहस्थ तथा मुनियों के चारित्र (आचरण) की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के सम्बन्ध में वर्णन है। द्रव्यानुयोग में जीव अजीवादि तत्वों, पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष का स्वरूप दर्शाया गया है।[1] उक्त पुरुषार्थसिद्ध्युपाय चरणानुयोग की परम्परा का ग्रन्थ है। इसमें गृहस्थाचार का विशद् तथा मुनि-आचार का संक्षिप्त निरूपण है। चरणानुयोग की परम्परा पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार तथा अष्टपाहुड में आचरण सम्बन्धी सर्वप्रथम निरूपण किया है, परन्तु उक्त निरूपण में मुनि-आचार का ही प्रमुखतः वर्णन है। श्रावकाचार का सर्वप्रथम, सुव्यवस्थित, सविस्तार विवेचन रत्नकरण्डश्रावकाचार नामक ग्रन्थ के प्रणयन द्वारा आचार्य समंतभद्र स्वामी ने ईस्वी की दूसरी सदी में किया। तत्पश्चात् भगवज्जिनसेनाचार्य ने महापुराण में (ईस्वी ८०० से ८४८ के बीच) श्रावकों की क्रियाओं का उल्लेख किया। किंतु महापुराण में वर्णित क्रियाएं पूर्वाचार्य वर्णित रत्नकरण्डश्रावकाचार की परम्परा से बिल्कुल भिन्न हैं। उन्हें समय या युग की मांग का प्रतिबिम्ब कहा जा

---

१. रत्नकरण्डश्रावकाचार, पद्य क्रमांक ४३ से ४६ तक।

सकता है । पूर्वाचार्यवर्णित चरणानुयोग विषयक मूलपरम्परा का पुनरुद्धार संवर्द्धन, संरक्षण तथा प्रचार-प्रसार अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की रचना करके किया । उन्होंने आचार्य जिनसेन की परम्परा को नहीं अपनाया । प्राचीन मूल परम्परा में भी उन्होंने श्रावक की ११ प्रतिमाओं की अपेक्षा, श्रावक के १२ व्रतों पर विशेष जोर दिया; जबकि १२ व्रतों का निरूपण दो तिहाई भाग में (१५६ पद्यों में) किया है।[1] साथ ही १२ तप[2], षट्आवश्यक[3], पांच समिति[4] तथा दशधर्मों[5] के एकदेश पालन पर भी जोर दिया है। उनका पुरुषार्थसिद्ध्युपाय वास्तव में चरणानुयोग की परम्परा का संरक्षक है। उनके बाद कई श्रावकाचार ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, परन्तु अधिकांश प्रणेताओं ने आचार्य अमृतचन्द्र का होनाधिक रूप में अनुकरण अवश्य किया है। पश्चाद्वर्ती मुनि व श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में सोमदेवसूरि (ईस्वी ९४३ से ९६८) का यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन, अमितगति आचार्य (ईस्वी ९९३ से १०२१) का अमितगति श्रावकाचार, चामुण्डराय (ग्यारहवीं सदी ईस्वी) का चारित्रसार गत श्रावकाचार, स्वामीकार्तिकेय (ईस्वी १००८ से आगे) का कार्तिकेयानुप्रेक्षागत श्रावकाचार, वसुनंदि (१०४३ ईस्वी) का वसुनंदि श्रावकाचार, देवसेन (ईस्वी दसवीं सदी) का सावयधम्म दोहा, पण्डित आशाधर (ईस्वी बारहवीं सदी) का सागार धर्मामृत तथा अनगार धर्मामृत इत्यादि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं। पं. आशाधर ने सागारधर्मामृत में पूर्णतः भट्टारकीय पद्धति का अनुकरण किया है। साथ ही पंचामृताभिषेक[6] जिनेन्द्रपूजा हेतु बगीचा-बावड़ी आदि बनवाना[7], कन्यादान को पुण्य बन्ध का कारण लिखना[8], शिथिलाचार का पोषण[9] इत्यादि आगम विरुद्ध बातों का समावेश सागार धर्मामृत में किया है। पं आशाधर ने तो युगानुरूप ग्रन्थों की रचना की। वे स्वयं लिखते हैं

---

१. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य ३७ से १९६ तक।
२. वही, पद्य क्रमांक १९७ से २०० तक। ३. वही, पद्य क्रमांक २०१
४. वही, पद्य क्रमांक २०३ ५. वही, पद्य क्रमांक २०४-२०५
६. सागारधर्मामृत, अध्याय ६, पद्य २२
७. वही, अध्याय २, पद्य ४०
८. वही, अध्याय २ पृष्ठ ५७, ५८, ५९
९. वही, अध्याय २, पद्य ६४

"ग्रन्थः कृतस्नेन युगानुरूपः"।[1] यहां यह भी उल्लेख्य है कि पं. आशाधर ने जहां सागार धर्मामृत में अमृतचन्द्र का अनुसरण नहीं किया, वहीं उन्होंने अपने अनगारधर्मामृत में उनका पूरा-पूरा अनुकरण किया है। अनगारधर्मामृत में उन्होंने आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों के अनेक पद्य प्रमाण रूप में उपस्थित किये हैं।

प्रणाली –

श्रावकाचार तथा मुनि-आचार विषयक ग्रन्थों की रचना सीधी निरूपण शैली में की जाती थी जिसे हम परिभाषा शैली कह सकते हैं, इस शैली का प्रयोग सर्वप्रथम रत्नकरण्डश्रावकाचार में मिलता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में परिभाषा शैली के साथ ही साथ आध्यात्मिक एवं तार्किक शैली का भी प्रयोग किया है। जहां एक ओर उन्होंने नयात्मक कथन शैली पर जोर दिया, वहीं दूसरी ओर नयपक्ष से सावधान रहने का भी उपदेश दिया है। उदाहरणार्थ एक ओर तो वे मात्र व्यवहार के जानने वालों को व्यवहार जिनदेशना का निषेध करते हैं[2] तो दूसरी ओर वे निश्चय को यथार्थ में न जानकर, निश्चय का ही आश्रय लेकर अपने परिणामों और आचरण को नहीं सुधारने वालों की भर्त्सना भी करते हैं।[3] इस प्रकार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में उन्होंने बड़ी सावधानी पूर्वक निश्चय-व्यवहार नय की योग्य संधि सहित विवेचना की है। अहिंसा के सिद्धांत की व्यापकता एवं सूक्ष्मता पर बल देकर उसे ही प्रमुख सिद्धांत अथवा जिनागम के साररूप में निरूपित करने में उन्होंने बड़ी कुशलता प्रदर्शित की है। तात्त्विक, सैद्धांतिक तथा दार्शनिक विवेचना का पर्याप्त पुट उनकी शैली में पाया जाता है।

ग्रंथ वैशिष्ट्य –

उक्त ग्रन्थ अनेक विशेषताओं से विभूषित हैं उनमें कुछ इस प्रकार हैं –

१. "अनेकांत" की सर्वाधिक महत्ता प्रदर्शित की गई है।

---

१. जैननिबन्धरत्नावलि, पृष्ठ २४४

२. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, पद्य नं. ६

३. वही, पद्य नं. ५०

२. नयों का सामंजस्यपूर्ण, संतुलित विवेचन हुआ है।
३. सम्यग्दर्शन की महत्ता तथा समस्त प्रकार से उसकी आराधना पर बल दिया है।
४. "अहिंसा" का विशद्, सूक्ष्म तथा अद्वितीय निरूपण हुआ है।
५. प्रेरणास्पद सैद्धांतिक वृत्तियों का प्रयोग हुआ है।
६. अध्यात्मरसिकता का पुट दिया गया है।

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के विभिन्न प्रकाशन व संस्करण –

१. टीकाकार अज्ञात, प्रकाशक रा. ए. सो., बम्बई, तिथि ईस्वी १७४४ से पहले, भाषा-संस्कृत, विशेष-"त्रिपाठी टीका"
२. टीकाकार रा. रा. कृष्णाजी नारायण जोशी, पूना, प्रकाशक-बालचंद कस्तूरचंद धाराशिवकर, बेलगांव, तिथि-ईस्वी १८९७ भाषा-मराठीगद्य
३. टीकाकार-नाथूराम "प्रेमी", देवरी (सागर), प्रकाशक-रा. ग्र. प. प्र. मंडल, बम्बई, तिथि-ईस्वी १९०४, भाषा-हिन्दी गद्य/१०००
४. टीकाकार-बाबू सूरजभानु वकील, प्रकाशक-देवबन्द (सहारनपुर), तिथि-ईस्वी १९०९, भाषा-हिन्दी गद्य
५. टीकाकार-पण्डित त्रिलोकचन्द पाटनी, प्रकाशक-इन्द्रलाल शास्त्री, जयपुर, तिथि-ईस्वी १९१८, भाषा-हिन्दी गद्य
६. सम्पादक-पन्नालाल चौधरी, प्रकाशक-पन्नालाल चौधरी, बनारस, तिथि-ईस्वी १९२६, भाषा-संस्कृत पद्य, विशेष-मूलपाठ
७. टीकाकार-पण्डित मक्खनलाल शास्त्री, मुरैना, प्रकाशक-स. जै. ग्र. माला भा. जै. सि. प्र. स., कलकत्ता, तिथि-ईस्वी १९२७, भाषा-हिन्दी गद्य
८. टीकाकार-अज्ञात, प्रकाशक-जै. बा. कु. माला, मोतीलाल हीराचंद गांधी, उस्मानाबाद, तिथि-ईस्वी १९२८, भाषा-मराठी गद्य-पद्य
९. अनुवादक-शंकर पंढरीनाथ रणदिवे, सोलपुर, प्रकाशक-हीराचन्द नेमचन्द दोशी, सोलापूर, तिथि-ईस्वी १९२९, भाषा-मराठी गद्य विशेष-"श्रावकाचार"
१०. अनुवादक-अजितप्रसाद जैन, हाईकोर्ट जज बीकानेर, प्रकाशक-जे. एल. जैनी. स्मृति ग्र. मा. दी. से. जै. प. हा., लखनऊ, तिथि-१९३३, भाषा-अंग्रेजी गद्य

११. सम्पादक- सत्यंधर जैन, जयपूर, प्रकाशक-मुन्शी मोतीलाल शाह, जयपूर, तिथि-ईस्वी १९३९, भाषा-हिन्दी गद्य

१२. अनुवादक-सागरचन्द बड़जात्या, लश्कर (मध्य प्रदेश), प्रकाशक-ब्र० मूलशंकर देशाई, आगरा, तिथि-ईस्वी १९५२, भाषा-हिन्दी पद्य/३०००

१३. टीकाकार-नाथूराम "प्रेमी", प्रकाशक-रा. ग्र. प. प्र. मंडल, बम्बई, तिथि-ईस्वी १९५३, भाषा-हिन्दी गद्य, विशेष-चतुर्थावृत्ति

१४. टीकाकार-पण्डित सखाराम जैन, प्रकाशक-सखराम जैन, बारूमल सहारनपुर, तिथि-ईस्वी १९५९, भाषा-हिन्दी गद्य, विशेष-"मोक्ष-मार्ग प्रकाशिका टीका"

१५. अनुवादक-ब्रजलाल गिरधरलाल शाह, बढवाणशहर प्रकाशक-दि.जै. स्वा. मं. ट्रस्ट, सोनगढ़ (सोराष्ट्र), तिथि-ईस्वी १९६६, भाषा-गुजराती गद्य/४१००

१६. टीकाकार-पण्डित मुन्नालाल [illegible], सागर, [illegible] दि. जै. मा., सागर, तिथि-ईस्वी १९६९, भाषा-हिन्दी पद्य-गद्य/१०००, विशेष-भावप्रकाशिनी टीका

१७. टीकाकार-मनोहरलाल वर्णी, मेरठ, प्रकाशक-स. शा. माला, मेरठ, तिथि-ईस्वी १९६८, भाषा-हिन्दी गद्य/१०००

१८. टीकाकार-ब्र. सुमतिबाई शहा तथा सुमेरचंद्र के. जैन, प्रकाशक-स.ज्ञा.प्र. मण्डल, सोलापूर, तिथि-ईस्वी १९७१, भाषा-मराठी गद्य

१९. अनुवादक-बी. डी. पाटिल, कोल्हापूर, प्रकाशक-ल. दि. जै. ग्र. कोल्हापूर, तिथि-ईस्वी १९७३, भाषा-मराठी गद्य/१०००

२०. अनुवादक-गम्भीरचंद बंद्य, एटा, प्रकाशक-दि. जै. स्वा. मं. ट्र., सोनगढ़ (सौराष्ट्र), तिथि-ईस्वी १९७४, भाषा-हिन्दी गद्य/२२००

२१. अनुवादक-विद्याधर सेठी, कुचामनसिटी, प्रकाशक-दि. जै. समाज, कुचामनसिटी, तिथि-ईस्वी १९७६, भाषा-हिन्दी गद्य/१०००

卐

आत्मख्याति टीका

परिचय –

द्वितीय विभाग में टीकाओं के अंतर्गत सर्वप्रथम आलोच्य कृति आत्मख्याति संस्कृत गद्य टीका है। यह आचार्य श्रेष्ठ कुन्दकुन्दस्वामी द्वारा प्रणीत परमाध्यात्मिक "समयपाहुड" (समयप्राभृत) नामक रचना की मर्मस्पर्शी, रहस्योद्घाटक टीका है। यह परमानन्दरस से परिपूरित, अनुभव-लहरी से उद्वेलित तथा ज्ञानसमुद्रभगवान आत्मा के अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द से परिपूर्ण कृति है। आत्मख्याति जैसी परमआध्यात्मिक, अलौकिक टीका अभी तक भी कोई दूसरे जैनग्रन्थ की नहीं लिखी गई है। यद्यपि अमृतचन्द्र ने अन्य टीकायें तथा,मौलिक रचनायें भी की हैं, तथापि उनकी यह एक आत्मख्याति टीका ही पढ़ने वालों को अमृतचन्द्र की अध्यात्मरसिकता, आत्मानुभूति, प्रखरविद्वत्ता, वस्तुस्वरूप को न्याय व युक्तियों से सिद्ध करने की असाधारण शक्ति तथा उत्तम काव्य-शक्ति का पूरा ज्ञान हो जाता है। अति संक्षेप में गंभीर रहस्यों को अभिव्यक्त करने की उनकी अनोखी क्षमता विद्वानों को आश्चर्यचकित करती है। यह टीका ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा के शांत रस का रसास्वादन कराने वाली तथा आलोक-लोकपर्यंत उछलते हुए शांत रस के समुद्र में मग्न हो जाने की प्रेरणा प्रदान करने वाली है।[1]

जिस प्रकार मूल शास्त्र-कर्ता ने अपने समस्त निज वैभव से ग्रन्थ की रचना की है उसी प्रकार इसके समर्थ टीकाकार ने भी अतिनिस्तुष-निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से, आत्मस्वरूप में निमग्न परापर गुरुओं की कृपा से, स्यात्पदमुद्रित शब्दब्रह्म-श्रुतागम की उपासना से तथा प्रचुरस्वसंवेदन से उत्पन्न से निजवैभव से ग्रन्थ की टीका रची है।[2] उन्होंने आत्मख्याति टीका द्वारा भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य के हृद्गत मर्म को गणधर के समान सफलतापूर्वक उद्घाटित किया है। यह कृति जैन

---

१. मज्जन्तु निर्भरममी समयेव लोका, आलोकमुच्छलति शांतरसे समस्ताः।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण, प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः॥
समयसार कलश, ३२

२. समयसार गाथा ५ की टीका – समस्त विपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबन-जन्मा, निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासन जन्मा – स्वसंवेदन जन्मा.....।"

अध्यात्म का मुकुटमणि ग्रन्थ है। जिस प्रकार टीकाकार मल्लिनाथ के बिना कालिदास को समझना कठिन है, उसी प्रकार टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका बिना आचार्य कुन्दकुन्द के आध्यात्मिक रहस्यों को समझना कठिन है।

"समयपाहुड़" की प्रकृत टीका आत्मख्याति का उनकी समवर्ती तथा परवर्ती अध्यात्मधारा पर व्यापक प्रभाव पड़ा। अमृतचन्द्र की उक्त टीका से प्रभावित ग्रन्थकारों ने अध्यात्मपरक तथा आत्मख्याति टीका की विशेषताओं से अनुप्राणित रचनायें की हैं जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। आचार्य अमृतचन्द्र की उक्त कृति प्रौढ़ तथा प्रांजल गद्य शैली का उत्कृष्ट नमूना है। उक्त कृति से एक ओर जैनतत्त्वज्ञान की समृद्धि हुई है वहीं दूसरी ओर संस्कृत वाङ्मय की साहित्यश्री विशेष रूपेण अलंकृत एवं चमत्कृत हुई है। टीकाकार ने इसे नाटकीय शैली में प्रस्तुत किया है। इस टीका में बीच-बीच में पद्यरूप काव्यों का भी समावेश हुआ है जो कलश नाम से विश्रुत हैं। वे कलश अमृतचन्द्र की उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा के प्रतीक हैं। कालांतर में उक्त कलशों को संकलित कर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की तरह "समयसार कलश" नाम से प्रकाशन किया जाने लगा। उक्त टीका एवं कलश अध्यात्म रस से परिपूर्ण तथा नाटकीय रंग में अनुरंजित हैं। अमृतचन्द्र की उक्त टीका ऐसा नाटक प्रस्तुत करती है कि जिसको देखकर या सुनकर श्रोताओं के हृदय के फाटक (ज्ञाननेत्र) खुल जाते हैं।[1] इस टीका के विभिन्न भाषाओं में विभिन्न स्थानों से अनेक संस्करण तथा प्रकाशन हुये हैं। इसकी प्रतियां भी समग्र भारत वर्ष के जिनमंदिरों तथा शास्त्र भण्डारों में विद्यमान हैं।

नामकरण –

"समयपाहुड़" की उक्त टीका का नामोल्लेख, स्वयं टीकाकार ने "आत्मख्याति" नाम से अनेक बार किया है। आत्मख्याति नामकरण तथा उसकी सार्थकता के कुछ आधार इस प्रकार हैं –

---

१. उक्त टीका के रसिक पं० बनारसीदासजी ने अपने "समयसार नाटक" नामक ग्रन्थ में लिखा है –

याही के जो पक्षी उड़त ज्ञान गगन मांहि, याही के विपक्षी जगजाल में रुलत हैं।
हाटक सो विमल विराटक सो विस्तार, नाटक सुनत हिये फाटक खुलत हैं॥

उत्थानिका, पद्य नं. १५

१. उक्त टीका के प्रत्येक अधिकार के अंत में "आत्मख्याति" नाम ही प्रयुक्त है – "इति श्री समयसार व्याख्यात्मख्यातौ पूर्वरंगः समाप्तः" इत्यादि।

२. मंगलाचरण में टीकाकार ने ऐसे आत्मा को नमस्कार किया है जो स्वानुभव में प्रकाशित या ख्यात होता है।[1] साथ ही टीका का प्रयोजन भी आत्मा की अनुभूति (ख्याति) करना होने से[2] "आत्मख्याति" नामकरण सार्थक प्रतीत होता है।

३. टीकाकार ने आगे "आत्मानुभूति" का लक्षण "आत्मख्याति" करते हुये लिखा है कि शुद्धनय से स्थापित आत्मा का लक्षण आत्मख्याति ही है, उससे आत्मा की प्राप्ति होती है।[3] वह आत्मा की प्राप्ति या अनुभूति ही आत्मख्याति है तथा आत्मख्याति ही सम्यग्दर्शन है।[4] इस तरह स्पष्ट है कि समग्र टीका का उद्देश्य एवं प्रतिपाद्य शुद्धात्मा की अनुभूति (ख्याति) करना तथा उस अनुभूति का उपाय दिखाकर, उसकी प्राप्ति की प्रेरणा करना है अतः आत्मा की अनुभूति, सम्यग्दर्शन या आत्मख्याति एकार्थवाची होने से टीका का "आत्मख्याति" नामकरण भी सहेतुक तथा सार्थ है।

४. अमृतचन्द्र के समवर्ती तथा परवर्ती जिन जिन लेखकों ने उक्त टीका का जहां कहीं भी उल्लेख किया, वहां उसे "आत्मख्याति" नाम से ही व्यवहृत किया है।

टीका-कर्तृत्व –

वैसे तो उक्त आत्मख्याति टीका के कर्तृत्व पर आज तक किसी भी विद्वान या लेखक को कभी भी विप्रतिपत्ति नहीं हुई है, तथापि यहां पर उक्त टीका के टीकाकार का नामोल्लेख उनकी टीका में कई बार हुआ है, उसकी जानकारी प्रस्तुत करना समयोचित है। टीका-कर्तृत्व के संबंध में कुछ उल्लेख इस प्रकार है –

---

१. "स्वानुभूत्या चकासते" (समयसार कलश प्रथम)

२. मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्र मूर्ते, भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः।
(वही, पद्य सं. ३)

३. शुद्धनयस्थेन व्यवस्थापितस्यात्मनोनुभूतेरात्मख्याति लक्षणायाः संपद्यमानत्वात्।
समयसार गाथा १३ की टीका

४. या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेव आत्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेव।(वही, टीका १३)

१. प्रत्येक अधिकार के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि का नाम उपलब्ध होता है। यथा – "इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ....." इत्यादि।

२. कहीं कहीं टीका में आचार्य अमृतचन्द्र का नामोल्लेख पाया जाता है जिससे उनका कर्तापना स्पष्ट होता है।[1]

३. सर्वाधिक ठोस तथा पुष्ट प्रमाण तो टीकाकार द्वारा प्रयुक्त अपना नाम है जो टीका के अंत में टीका के कर्तृत्व के विकल्प का निषेध करते समय प्रयोग किया गया है। उन्होंने लिखा है कि स्वरूप में गुप्त अमृतचन्द्र का टीका के निर्माण में कुछ भी कर्तृत्व नहीं है।[2]

४. उक्त टीका रचना के काल से लेकर आज तक समस्त विद्वानों व लेखकों ने उक्त टीका की सृष्टि आचार्य अमृतचन्द्रकृत ही मानी है।

प्रामाणिकता –

जैन अध्यात्म परम्परा में यदि सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिक किसी आचार्य को माना जाता है तो वे हैं आचार्य कुन्दकुन्द, जिसके संबंध में कविवर वृन्दावन की यह सूक्ति प्रसिद्ध है "हुए, न हैं, न होंहिगे, मुनीन्द्र कुन्दकुन्द से।"[3] प्रामाणिकता की दृष्टि से कुन्दकुन्द का प्रथम स्थान है। यद्यपि कुन्दकुन्द की अध्यात्मधारा के प्रसिद्ध तथा प्रामाणिक आचार्यों में पूज्यपाद (छठवीं ईस्वी सदी) तथा जोइंदु (योगीन्दु,छठवीं ईस्वी सदी) का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है तथापि कुन्दकुन्द के बाद द्वितीय स्थान प्रामाणिकता की दृष्टि से यदि किसी को मिला है तो वे हैं आचार्य अमृतचन्द्र। वे मूलग्रन्थ-प्रणेता की अपेक्षा द्वितीय स्थान पर आते है परन्तु टीकाकारों की इस परम्परा में तो वे अद्वितीय ही है। उनकी आत्मख्याति टीका "समयपाहुड" मूल ग्रन्थ से कम महत्व की नहीं है। जिस प्रकार तीर्थंकरों की वाणी के अर्थ प्रकाशनकर्ता गणधर होते हैं, उसी प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य की वाणी के मर्म प्रकाशनकर्ता आचार्य अमृतचन्द्र हैं। उन्हें कुन्दकुन्द का रहस्योद्घाटक गणधर कहें तो अत्युक्ति न होगी।

---

१. उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समंताज्ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावं।
समयसार कलश २७६

२. स्वरूप गुप्तस्य न किंचिदस्ति–कर्त्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरे (समयसार कलश २७८)

३. कुन्दकुन्द भारती, प्र., पृष्ठ २

आत्मख्याति की प्रामाणिकता इस कारण से और भी अधिक है कि उसमें "समयपाहुड" के मूलभावों का ही सुविशद, सुस्पष्ट व वैदुष्य-पूर्ण विवेचन है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि किसी महान् आचार्य की महान्कृति पर टीका लिखने मात्र से टीकाकार की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती, जब तक टीका में मूलग्रन्थकर्ता के मौलिक भावों को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त न किया गया हो। आचार्य अमृतचन्द्र की प्रामाणिकता का उपरोक्त कारण है। कुन्दकुन्द के ग्रन्थ अष्टपाहुड पर सोलहवीं सदी के भट्टारक श्रुतसागर ने टीका लिखी है। किन्तु उसमें उन्होंने मूलतथ्यों से विपरीत शासनदेवता आदि की पूजा का विधान भी लिखकर[1] टीका को प्रामाणिकता की कोटि से गिरा दिया है। आत्मख्याति टीका मूलानुगामी तो है ही, साथ ही प्रमेय की स्पष्ट प्रकाशक होने से पूर्णतः प्रामाणिक टीका है। उनकी मूलानुगामिता का एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। कुन्दकुन्द ने समयसार में आत्मा को परद्रव्य का अकर्ता निरूपित किया है।[2] उसी का अनुसरण करते हुए अमृतचन्द्र ने अपनी कृतियों में अपने कर्तृत्व के विकल्प का निषेध किया है।[3] शताधिक लेखकों ने अपनी कृतियों में प्रमाण के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका का उल्लेख किया है। अमृतचन्द्र से प्रभावित व्यक्तियों के प्रकरण में उक्त बात की चर्चा सप्रमाण की जा चुकी है।

विषयवस्तु–

मूलग्रन्थकार ने "समयपाहुड़" ग्रन्थ को स्पष्टतः ९ अधिकारों में विभाजित किया था, परन्तु आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त ग्रन्थ की आत्म-ख्याति टीका १२ अधिकारों में प्रस्तुत की है। कुन्दकुन्द के ९ अधिकार क्रमशः इस प्रकार हैं – (१) जीवाजीवाधिकार, (२) कर्तृ-कर्माधिकार, (३) पुण्य-पापाधिकार, (४) संवराधिकार, (५) आस्रवाधिकार, (६) निर्जराधिकार, (७) बंधाधिकार, (८) मोक्षाधिकार, (९) सर्व-विशुद्धज्ञानाधिकार। अमृतचन्द्र ने समयसार को नाटक का रूप दिया है अतः उपर्युक्त नौ अधिकारों को उन्होंने 'नौ' अंक लिखा है। प्रथम जीवाजीवाधिकार में कुल ६८ गाथायें है परन्तु उनमें प्रारम्भिक ३८

---

१. अष्टपाहुड़ (दर्शनपाहुड़), गाथा २ की टीका

२. समयसार, गाथा ९६, कर्ता-कर्म अधिकार।

३. समयसार कलश २७८

गाथाओं को उक्त "जीवाजीव प्ररूपक" प्रथम अंक लिखा। इसी तरह का सामञ्जस्य दिखाने हेतु अंत में स्याद्वाद तथा उपाय-उपेय अधिकार जोड़कर कुल १२ अधिकार कर दिये हैं। उक्त १२ अधिकार में निरूपित विषयवस्तु इस प्रकार है –

१. **पूर्वरंगाधिकार** – प्रारम्भ में समस्त सिद्धों को नमस्कार करके समयसार गुणों का परिभाषण करने की प्रतिज्ञा की गई है। समग्र टीका में अभिधेय समय (शुद्धात्मा) के स्वरूप का विश्लेषण किया है, जिसमें अनेक विपरीत मतों का निराकरण भी हो गया है। समय का अर्थ समस्त पदार्थ करते हुए उन्हें अपने-अपने अनंत धर्मों का स्पर्श करने वाला लिखा है तथा समय के एकत्व को ही सुन्दर कहा है। उस एकत्वविभक्त अर्थात् स्व से एकत्व तथा पर से विभक्त आत्मा को जगत् के जीवों ने कभी भी प्राप्त नहीं किया है। उसकी अप्राप्ति के कारण, कषायों के साथ एकता, अपने निजात्मा का अज्ञान तथा आत्मज्ञानी गुरुओं की संगति – सेवा आदि न करना, बताये हैं। पश्चात् उस एकत्वविभक्त आत्मा का दिग्दर्शन युक्ति, आगमपरम्परा तथा स्वानुभव रूप वैभव से कराया है। व्यवहारनय के कथन द्वारा उस आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि भेद किये जाते हैं परन्तु परमार्थ से तो वह अभेद एकमात्र ज्ञायक ही है। फिर भी व्यवहार कथन करने का प्रयोजन बताते हुये लिखा है कि जिस प्रकार अनार्य को अनार्यभाषा बिना नहीं समझाया जा सकता, उसी प्रकार जगज्जनों को व्यवहार की भाषा बिना परमार्थ स्वरूप समझाया जाना संभव नहीं है इसलिए व्यवहार नय का कथन किया है। यद्यपि व्यवहारनय का कथन वस्तु स्वरूप का प्रतिपादक न होने से वह अनुसरण करने योग्य नहीं है तथापि उक्त व्यवहार किसी-किसी को किसी काल में जानने में आता हुआ प्रयोजनवान् है। इस प्रकार तीर्थ तथा तीर्थफल की व्यवस्था है। आगे सम्यक्त्व का स्वरूप निर्देश करते हुये लिखा है भूतार्थ (निश्चय) नय से नवतत्त्वों का परिज्ञान सम्यक्त्व है। भूतार्थ नय से ज्ञान करने पर नवतत्त्वों में एकमात्र ज्ञायक आत्मा ही प्रकाशित होता है। उस ज्ञायक आत्मा की अनुभूति ही आत्मख्याति है।[1] आत्मा की अनुभूति ही एकमात्र भूतार्थ है, उस अनुभूति के उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप आदि अभूतार्थ हैं। आत्मा को अबद्धस्पष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा १ से १३ तक।

तथा प्रसंयुक्त ऐसे पांच भाव रूप अनुभव करना परमार्थ से समग्र जिन-शासन का अनुभव है। आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो, उस भाव से उसकी साधना करनी चाहिए।[1] जब तक आत्मा ज्ञानावरणादि द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म तथा नोकर्म से अपना एकत्व स्थापित करता है तब तक वह अज्ञानी बना रहता है। उस अज्ञानी को समझाने का प्रयास करते हुए आत्मा को उपयोग लक्षण वाला बताया तथा पुद्गल कर्म आदि से भिन्न समझाया है। अज्ञानी की शंकाओं का निराकरण भी किया गया है कि तीर्थंकर के शरीरादि की स्तुति व्यवहार मात्र है परमार्थ से वह तीर्थंकर की स्तुति नहीं है क्योंकि व्यवहारनय जीव और शरीर को एक रूप कथन करता है परन्तु निश्चय तो उन्हें यथार्थ भिन्न भिन्न ही मानता है। आगे निश्चय स्तुति का स्वरूप, ज्ञेय-ज्ञायक तथा भाव्य-भावक संकर दोष का खण्डन, जितेन्द्रिय, जितमोही तथा ज्ञान ही प्रत्याख्यान है इत्यादि निरूपण किया है। अन्त में मोहनिर्ममता, धर्म-अधर्म आकाश कालादि द्रव्यों से भेदज्ञान स्पष्ट करके उपसंहार रूप में ज्ञान प्रकाश होने पर आत्मा, अनादिमोह को नाशकर, सावधान होकर, मुट्ठी में बन्द सोने को भूलने तथा पुनः स्मरण करने वाले की भांति अपने अपने स्वरूप का अनुभव करता है कि मैं एक शुद्ध नित्य अरूपी ज्ञानदर्शन-मयी आत्मा हूँ, परद्रव्य लेशमात्र भी मेरा नहीं। यहां प्रथम प्रकरण 'रंगभूमि' समाप्त होता है।[2]

२. **जीवाजीवाधिकार** – यहां जीव-अजीव द्रव्य दोनों एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं। जीव व अजीव का संयोग अनादिकाल से है। यद्यपि आत्मा असाधारण उपयोग लक्षण वाला है तथापि लक्षण ज्ञान से रहित अज्ञानी जन आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की कल्पनाएं करते हैं।[3] अज्ञानियों की असत्कल्पनाओं का निराकरण करते हुए अध्यवसानादि विकारी भावों को जिनमत में जीव संज्ञा है, वह मात्र व्यवहार रूप कथन है इस प्रकार स्पष्ट किया है। वहां "राजा की सेना के गमन को राजा का गमन" का दृष्टांत देकर स्पष्टीकरण किया। जीव का यथार्थ स्वरूप दर्शाते हुए उसे रूप, रस गंध, व शब्द से रहित, इंद्रियों से अगोचर तथा अलिंगग्राह्य (किसी चिन्ह से ग्रहण में न आने वाला)

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा १४ से १८ तक।

२. वही, गाथा १९ से ३८ तक। ३. वही, गाथा ३९ से ४३ तक।

निरूपित किया गया है। यहाँ निश्चय तथा व्यवहार कथनों के रहस्य का उद्घाटन करते हुए, जीव तथा अजीव का स्पष्ट भेदज्ञान कराया गया है। जीव के एकेन्द्रियादि व पर्याप्तक अपर्याप्तक आदि भेद नामकर्म की प्रकृतियां हैं और पुद्गल की रचना है इत्यादि विवेचन किया गया तथा इस अधिकार का उपसंहार करते हुए लिखा है, कि मिथ्यात्वादि गुणस्थान पौद्गलिक कर्मोदय जन्य होने से अचेतन हैं, वे आत्मस्वरूप नहीं है। इस प्रकार ज्ञानाभ्यास से– भेदविज्ञान के बल से जीव अजीव का स्वरूप जाना जाता है। उन्हें जान लेने पर वे दोनों अपना एकत्व का स्वांग त्याग कर रंगभूमि से चले जाते हैं।[1]

३. कर्ता-कर्म अधिकार – इस अधिकार में जीव अजीव दोनों अपना वेष बदल कर कर्ता-कर्म के वेष में प्रवेश करते हैं। आत्मा जब तक आत्मा तथा आस्रवादि (क्रोधादि विकारी भावो) में अन्तर नहीं समझता है तब तक कर्ता-कर्म की मान्यता नहीं मिटती और तब तक बन्ध की प्रक्रिया भी चलती रहती है। आस्रवों का स्वरूप अपवित्र, स्वभाव के विपरीत, और दुःख के कारण रूप है परन्तु आत्मा का स्वरूप पवित्र, चैतन्य स्वभाव के अनुरूप तथा सुख और सुख के कारण रूप है ऐसा जानने पर आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है। आस्रवों से हटने की विधि इस प्रकार है कि आत्मा अपने स्वरूप को एक, शुद्ध ममत्वरहित तथा ज्ञान-दर्शन से परिपूर्ण अनुभव करता है, उस समय अध्रुव, अशरण, अस्थायी आस्रवभावों को दुःखरूप तथा दुःख के कारण जानकर आत्मा उनसे निवृत्त होता है।[2] आगे ज्ञानी आत्मा का लक्षण करते हुए लिखा है कि जो आत्मा कर्म तथा नोकर्म के परिणामों का कर्ता न होकर मात्र ज्ञाता होता है, वह आत्मा ज्ञानी है।[3] आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गलकर्मों का ज्ञाता है, उनकी पर्याय रूप से न तो परिणमित होता है, न उन्हें ग्रहण करता है और न ही उनरूप उत्पन्न ही होता है।[4] इसी तरह पुद्गलद्रव्य भी अपने परिणाम रूप ही प्ररिणमता है, जीव द्रव्य की पर्याय रूप न परिणमित होता है, न उसे ग्रहण करता है और न ही उस रूप उत्पन्न होता है। जीव तथा पुद्गल के परिणामों में परस्पर निमित्त-नैमित्तिकपना पाया जाता है, कर्ता-कर्मपना नहीं। लोकरूढ़ अनादि के

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा ४४ से ६८ तक।

२. वही, गाथा ६९ से ७४ तक। ३. वही, गाथा ७५

४. वही, गाथा ७६ से ७८ तक।

व्यवहार कथन में जीव एवं पुद्गल में कर्ता-कर्म का उपचार किया जाता है। यह लोकरूढ़ व्यवहार अनादि अज्ञान के कारण प्रसिद्ध है परन्तु वह दोष पूर्ण है, क्योंकि जगत् में प्रत्येक क्रिया परिणामी से भिन्न नहीं होती। अतः यदि आत्मा व्याप्य-व्यापक भाव से परभाव का कर्त्ता बने तो स्व तथा पर का विभाग अस्त हो जायेगा। स्व-पर विभाग के अस्त होने पर मिथ्यादृष्टिपना प्रगट होता है। ऐसा जीव जिनमत के बाहर है। साथ ही द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टि भी है। अज्ञान से कर्म बंधते हैं, ज्ञान से कर्त्तापना दूर होकर कर्मबन्धन नहीं होता;[1] आगे लिखा कि आत्मा व्याप्य-व्यापकभाव से तो पर का कर्त्ता नहीं, निमित्त-नैमित्तिक भाव से भी परद्रव्य का कर्त्ता नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से क्रमशः तन्मयपने तथा नित्यवस्तुत्व का प्रसंग उपस्थित होता है। ज्ञानी ज्ञानभाव का ही कर्त्ता होता है, परभाव का नहीं। अज्ञानी भी परभाव का कर्त्ता नहीं होता, क्योंकि परभाव को कोई भी करने में समर्थ नहीं है, इसलिए स्पष्ट है कि आत्मा पुद्गलकर्म का अकर्त्ता है "आत्मा को जहां भी परद्रव्य का कर्त्ता कहा है" वहां उपचार कथन किया है, परमार्थ नहीं। इसी तरह उसे परिणमनकर्त्ता, ग्रहणकर्त्ता उत्पादकर्त्ता, कर्त्ता, बधनकर्त्ता इत्यादि कहा जाता है, वह सभी उपचार ही है।[2] आगे पुद्गलद्रव्य का कर्त्ता पुद्गल को ही निरूपित किया तथा भेद करके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग इन चार को ही उसका कर्त्ता बताया। उन्हीं चार के प्रभेद करके मिथ्यात्वादि से लेकर सयोग-केवलि गुणस्थान तक तेरह को कर्त्ता निरूपित किया है, परंतु ये सभी पुद्गलमय होने से उनमें आत्मा का कुछ भी नहीं है।[3] उपयोग रूप आत्मा भिन्न है तथा क्रोधादि भाव उससे भिन्नस्वरूपी है। आत्मा चैतन्य स्वभावी है तथा क्रोधादि जड़-स्वभावी है। अतः दोनों में एकत्व नहीं है। यहां सांख्यमतानुयायी शिष्य की शंका निवारण हेतु पुद्गल द्रव्य के परिणाम स्वभाव को सिद्ध किया गया है।[4] यहां यह स्पष्ट किया है कि यदि पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप नहीं परिणमता हो तो अपरिणामी पुद्गल को आत्मा कैसे परिणमा सकता है और यदि पुद्गलद्रव्य स्वयं कर्मरूप परिणमन शक्ति वाला है

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा ७६ से ६८ तक।
२. वही, गाथा ६६ से १०८ तक।
३. वही, गाथा १०६ से ११२ तक
४. वही, गाथा ११३ से ११७ तक।

तो स्वयं परिणमते पुद्गल को जीव ने परिणमाया, यह कहना मिथ्या ठहरा। इस तरह सिद्ध है कि जिसमें स्वयं परिणमन शक्ति है ऐसे द्रव्य को परिणमन हेतु पर की अपेक्षा नहीं रहती, क्योंकि वस्तु की शक्तियाँ पर की अपेक्षा नहीं करतीं। इससे यह स्पष्ट हुआ कि आत्मा जिस भाव को करता है उसी का कर्त्ता होता है। ज्ञानी ज्ञान भाव का कर्त्ता होता है, अज्ञानी अज्ञान भाव का कर्त्ता होता है। जिस प्रकार स्वर्णमय भाव से स्वर्णमय कुण्डलादि भाव होते हैं तथा लोहमय भाव में लोहमय भाव होते हैं।[1] इसके बाद नयविभाग द्वारा आत्मा में कर्म बद्ध हैं या अबद्ध हैं? इस बात का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि कर्म से आत्मा बद्ध है – यह व्यवहारनय का पक्ष है तथा कर्म से आत्मा अबद्ध है – यह निश्चय नय का पक्ष है, किन्तु समयसार तो उक्त दोनों पक्षों से परे – पक्षातिक्रांत स्वरूप है। वह परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्याति-रूप अथवा अनुभूतिमात्र समयसार है। अन्त में उपसंहार रूप में पक्षातिक्रांत समयसार की प्राप्ति का क्रमिक उपाय निरूपित करते हुए लिखा है कि प्रथम श्रुतज्ञान के अवलंबन से ज्ञानस्वभावी आत्मा का निश्चय करके, आत्मा की प्रगटप्रसिद्धि के लिए, पर-प्रसिद्धि की कारणभूत इन्द्रियों व मन से उपयोग को समेटकर आत्मसन्मुख करके, नय-विकल्पों को छोड़कर निजरस से प्रगट आदि मध्य व अन्त रहित, एक, अनाकुल, अखण्ड-प्रतिभासमय, अनन्तविज्ञानघन, परमात्मा समयसार को प्राप्त करता है।[2] यहां उक्त अधिकार समाप्त होता है और कर्त्ता-कर्म रूप पात्र अपना स्वांग त्याग कर रंगभूमि से चले जाते हैं।

४. पुण्य-पाप अधिकार – इस प्रकरण में एक ही कर्म दो पात्रों (पुण्य-पाप) के वेष धारण कर रंगमंच पर आता है। शिष्य की मान्यता है कि शुभ और अशुभ अर्थात् पुण्य तथा पाप कर्म में कारण, स्वभाव तथा फल के स्वाद की अपेक्षा अन्तर होने से शुभ को सुशील तथा अशुभ को कुशील मानना चाहिये। उसके समाधान में कहा गया है कि जो कर्म संसार में प्रवेश (परिभ्रमण) करावे उसे सुशील कैसे कहा जा सकता है। जिस प्रकार स्वर्ण की बेड़ी तथा लोहे की बेड़ी दोनों बंधनकारक होने से बंधनापेक्षा समान हैं, उसी प्रकार शुभाशुभ कर्म भी आत्मा को बंधन में

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा ११८ से १४० तक।

२. वही, गाथा १४१ से १४४ तक।

डालते हैं अतः दोनों समान हैं। अतः दोनों कर्म निषेधयोग्य हैं।[1] आगम से इस बात की पुष्टि होती है कि रागी जीव कर्म बांधता है तथा विरागी जीव कर्म-बंधन से मुक्त होता है। वास्तव में ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत तप आदि कर्म-बंध के कारण हैं अतः उन्हें "बालव्रत" नाम दिया गया है। ज्ञान मोक्ष का तथा अज्ञान बंध का कारण है। यहां पुण्यकर्म के पक्षपाती को भी दूषण देते हुए लिखा है कि पुण्यकर्म के वांछक परमार्थ बाह्य हैं, मोक्ष के कारण को नहीं जानते तथा संसारपरिभ्रमण के ही हेतु पुण्यकर्म को चाहते हैं।[2] आत्मा-का श्रद्धान सम्यक्त्व है, आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा आत्मा द्वारा रागादि का त्याग ही सम्यक्चारित्र है, ये तीनों एकत्वरूप से मोक्ष का उपाय हैं। समस्त कर्म मोक्ष के कारणों के घातक हैं अतः निषेध योग्य हैं। वे कर्म स्वयं भी बंध स्वरूप हैं इसलिये हेय हैं।[3] इस तरह कर्म पुण्य-पाप दो पात्रों के रूप में था वह अपना स्वांग त्यागकर एक पात्र रूप होकर मंच से चला जाता है। इस तरह यह अंक भी समाप्त हो जाता है।

५. आस्रवाधिकार – यहां आस्रव रूप पात्र रंगभूमि में प्रवेश करता है। आत्मा में राग द्वेष तथा मोह रूप आस्रवभाव अपने ही परिणाम के कारण होते हैं अतः वे जड़ न होकर, चिदाभास रूप हैं। ज्ञानी के ज्ञानमय भावों से अज्ञानमय आस्रव भावों का निरोध होता है। रागादि से युक्त अज्ञानमय भाव बंध के कर्त्ता हैं तथा रागादि रहित ज्ञानमय भाव बंध के कर्त्ता नहीं है। ज्ञानी के द्रव्यास्रव नहीं होता। ज्ञानी निरास्रव होता है, क्योंकि उसके बुद्धि पूर्वक रागद्वेषमोहरूपी आस्रवभावों का अभाव है। जिस प्रकार बाल-स्त्री अनुपभोग्य होती है तथा वही यौवनावस्था को प्राप्त होने पर पुरुष को बंधन करती है, इसी प्रकार सत्ता स्थित कर्म अनुपभोग्य है, वे ही उदय को प्राप्त होकर बंधन के कारण होते हैं – भोग्य होते हैं। ज्ञानी के कर्मोदय तो होता है परन्तु राग-द्वेष-मोह भाव के अभाव में वह बंधन में नहीं पड़ता।[4] ज्ञानी जब शुद्धनय से च्यत होकर, रागादिभाव करता है तब उसके भी द्रव्यकर्म का बंध स्वयमेव होता है। जिस प्रकार भोजन उदर में स्वयमेव पहुँच कर

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा १४५ से १४७ तक।
२. वही, गाथा १४८ से १५४ तक। ३. वही, गाथा १५५ से १६३ तक।
४. वही, गाथा १६४ से १७८ तक।

विभिन्न रस रूप स्वयमेव परिणमता है उसी प्रकार राग के सद्भाव में द्रव्यकर्म स्वयमेव बंध को प्राप्त होता है। इस प्रकार आस्रवस्वरूप के निरूपण के साथ उक्त अधिकार समाप्त होता है।[1] आस्रव भी रंगभूमि से बाहर चला जाता है।

६. संवराधिकार – इस अधिकार में संवर रूप पात्र का प्रवेश होता है। आचार्य सकल कर्मों का संवर करने का उत्कृष्ट उपाय भेद-विज्ञान बताकर उसकी प्रशंसा करते हैं। उपयोग, उपयोग में है, उपयोग क्रोधादि में नहीं है। उपयोग क्रोधादि रूप नहीं है। भेद-विज्ञान से ही शुद्धात्मा की उपलब्धि होती है। जिस प्रकार अग्नि से तप्त स्वर्ण अपना स्वर्ण भाव का त्याग नहीं करता, उसी प्रकार कर्मोदय से तप्त ज्ञानी अपना ज्ञानस्वभाव नहीं छोड़ता। शुद्धात्मा की उपलब्धि से ही संवर होता है। संवर प्रकट करने का उपाय बताते हुए लिखा है कि राग-द्वेष मूलक शुभाशुभ योग में प्रवर्तमान आत्मा दृढ़तर भेद-विज्ञान के बल से आत्मा को, आत्मा के द्वारा रोककर शुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वरूप में स्थिर होता है तथा परद्रव्यों की इच्छा से रहित होकर, सर्वसंग से मुक्त होकर आत्मा को ध्याता हुआ, शीघ्र ही आत्मा प्राप्त करता है। संवर प्रगट होने का क्रम इस प्रकार है कि पहले जो भेद-विज्ञान के बल से निज-महिमा में लीन होते हैं, वे शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि करते हैं, शुद्धात्मा की उपलब्धि होने पर अक्षय, कर्ममोक्ष होता है।[2] इस प्रकार संवर भी अपना स्वरूप दिखाकर रंगभूमि से चला जाता है और यह अंक भी यहीं समाप्त होता है।

७. निर्जराधिकार – इस अधिकार में निर्जरा रूप पात्र का प्रवेश होता है। प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट किया है कि विरागी के उपभोग निर्जरा के ही कारण हैं, क्योंकि उसके रागादि का अभाव होता है। मिथ्यादृष्टि के रागादि भाव के सद्भाव के कारण, पूर्व कर्मोदय निर्जरा को प्राप्त होने पर भी नवीन भाव-बंध के कारण होते हैं, भाव-निर्जरा के कारण नहीं होते। ज्ञानी को वही कर्मोदय आगामी (नवीन) बंध किये बिना निर्जरित होते हैं, अतः उसे ही सच्ची निर्जरा कही है। आगे ज्ञान व वैराग्य की सामर्थ्य दिखाते हुए लिखा है कि जैसे वैद्य मरण के कारण

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा १७६ से १८० तक।

२. वही, गाथा १८१ से १९२ तक।

रूप विष को भोगता हुआ भी, अमोघ विद्याशक्ति सामर्थ्य से विष-शक्ति को अवरुद्ध करता हुआ, मरण को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) मिथ्यादृष्टि को नवीन बंध के कारण होने वाले पुद्गल-कर्मोदय को भोगता हुआ भी, अमोघ ज्ञान की सामर्थ्य द्वारा रागादिभावों का अभाव तथा कर्मोदय की शक्ति को अवरुद्ध करता हुआ, बंध को प्राप्त नहीं होता।[1] सम्यग्दृष्टि विशेष रूप से स्व व पर को जानता है। अतः वह ज्ञान एवं वैराग्य सम्पन्न होता है।[2] जिसके रागादि अज्ञानमय भावों का लेशमात्र भी सद्भाव होता है वह ज्ञानमय भावों के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता है इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है। भले ही वह श्रुतकेवली जैसा समस्त आगमों को पढ़ा हुआ हो। आगे परमार्थ पद वाले आत्मा का स्वरूप बताते हुये उसे ज्ञानमय ही बताया है। उस ज्ञानमय पद के अवलंबन से निजपद की प्राप्ति, भ्रांति का नाश, आत्मा का लाभ, अनात्मा का परिहार होता है तथा रागद्वेषमोहादि की उत्पत्ति, नवीनकर्मास्रव, व नवीन कर्मबंध नहीं होता, पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है।[3] ज्ञानी पर-द्रव्य को ग्रहण नहीं करता क्योंकि जो जिसका स्वभाव है वह उसका "स्व" है और वह उस "स्व" भाव का स्वामी है ऐसी तीक्ष्णदृष्टि से ज्ञानी पर-द्रव्य का परिग्रहण नहीं करता, अतः मैं भी पर-द्रव्य का ग्रहण नहीं करूंगा, उसका कुछ भी हो। जिसके इच्छा है उसके परिग्रह है, जिसके इच्छा नहीं उसके परिग्रह नहीं है। ज्ञानी के धर्म, अधर्म आदि का परिग्रह नहीं है। ज्ञानी आहार व पान का ज्ञाता है, ग्राहक नहीं। इस तरह ज्ञानी के सर्व पर-द्रव्यों का परिग्रह नहो, उनका ज्ञातापना है। ज्ञानी तीनों काल में कर्मोदय का भोक्ता नहीं है। वह तो ज्ञायकस्वभावरूप, नित्य टंकोत्कीर्ण तथा ध्रुव है, तथा समस्त वेद्य-वेदक भाव, विकारी, अनित्य, चलायमान तथा अध्रुव हैं इसलिए ज्ञानी उन सभी भावों की कांक्षा नहीं करता।[4] वह सप्तभयों से रहित निःशंक होता है। उसे इस-लोक, पर-लोक, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण तथा अकस्मात् भय नहीं होते। उसके शंका, कांक्षा,

---

१. आत्मख्याति टीका गाथा १९३ से १९८ तक।
२. वही, गाथा १९९-२०० तक।
३. वही, गाथा २०१ से २०६ तक।
४. वही, गाथा २०७ से २२७ तक।

विचिकित्सा (ग्लानि), मूढ़दृष्टि जीवशक्ति की दुर्बलता (अनूपगूहन), मार्गच्युत, अप्रीति (अवात्सल्य), तथा ज्ञानप्रभावना के अप्रकर्ष आदि अष्ट-दोष-जन्य बंध नहीं होता है, क्योंकि वह निःशंकित, निकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना इन अष्टगुणों से सम्पन्न होता है। अतः उसके निर्जरा ही होती है, बंध नहीं। इस प्रकार के निरूपण के साथ यह पात्र ("निर्जरा") भी रंगभूमि से चला जाता है, और यहां यह अधिकार समाप्त होता है।[1]

८. बन्धाधिकार – यहां रंगमंच पर बंधरूप स्वांग का प्रवेश होता है। बंध के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लेखक कहते हैं कि रागद्वेषमोह ही बंध के कारण हैं। जिस प्रकार शरीर में तेल मर्दन करके कोई व्यक्ति कई प्रकार के वृक्षादि छिन्न-भिन्न करे, उससे रजकण उड़कर उस व्यक्ति के शरीर से चिपकेंगे, जिसका कारण चिकनाई ही होगा। इसी प्रकार रागादि परिणाम स्निग्ध रूप हैं तथा मन, वचन व काय के योग, क्रिया रूप हैं, योगों के कंपन से कर्मास्रव होता है परन्तु रागादि की स्निग्धता से वे कर्म बंध को प्राप्त होते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी उपयोग और रागादि का भेद जानकर रागादि का स्वामी नहीं होता, इसलिये उसे बन्ध नहीं होता।[2] आचार्य आगे अज्ञान को ही बंध का कारण निरूपित करते हुये लिखते हैं कि जो यह मानता है कि वह पर जीव को मार या बचा सकता है – यह मान्यता अज्ञानमय है। इन अध्यवसानों को अज्ञानरूप इसलिये कहा है कि किसी भी प्राणी का आयु क्षय हुये बिना मरण सम्भव नहीं है, आयु शेष बिना जिलाना संभव नहीं तथा आयु का लेना या देना या हीनाधिक करना किसी के हाथ की बात नहीं, अतः मारने का भाव-मात्र करना अज्ञान है। इसी प्रकार पर को दुखी करना या सुखी करना भी किसी दूसरे के आधीन नहीं है अतः सुखी दुखी करने की मान्यता भी अज्ञान ही है। अमृतचन्द्र उस अज्ञानी के लिए मिथ्यादृष्टि, आत्मघाती आदि संज्ञाओं का प्रयोग करते हैं।[3] यहां यह भी स्पष्ट किया गया है कि अध्यवसान ही बंध का कारण होने से हिंसा आदि का अध्यवसाय हिंसा है। अध्यवसाय ही पुण्य तथा पाप बंध के कारण हैं। इसी प्रकार

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा २२८ से २३६ तक।

२. वही, गाथा २३७ से २४६ तक।

३. वही, गाथा २४६ से २६१ तक।

असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह भी अध्यवसाय ही हैं, व पापबंध के कारण हैं। बाह्य वस्तुएँ बंध की कारण नहीं हैं। अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया करने में असमर्थ होने से मिथ्या हैं। अध्यवसान रहित मुनिराज को मात्र क्रिया से बंध नहीं होता। बुद्धि व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव तथा परिणाम ये सभी समानार्थी हैं।[1] आगे नयों के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। वहां निश्चय-नय को आत्माश्रित तथा व्यवहार-नय को पराश्रित कहा गया है तथा दोनों में निश्चय को प्रतिषेधक तथा व्यवहार को प्रतिषेध्य निरूपित किया गया है। व्रत, शील, संयमादि का सेवन करता हुआ भी अभव्यजीव अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि है। व्यवहार-नय से आचारांगादि को शास्त्रज्ञान, जीवादि तत्त्व को दर्शन, तथा षट्काय के जीवों की दया पालन को चारित्र कहा है, परन्तु परमार्थ-नय (निश्चय-नय) से ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र आदि सभी आत्मा ही हैं। आत्मा में रागादि निजस्वभाव के अवलम्बन से कभी नहीं होते, अपितु उनके उत्पन्न होने में परसंयोग ही निमित्त बनता है।[2] अन्त में आत्मा को रागादि का अकारक सिद्ध करते हुए लिखा है कि यदि ऐसा न हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान की द्विविधता नहीं बन सकेगी। अर्थात् द्रव्य अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान का निमित्तपना और भाव अप्रतिक्रमण तथा अप्रत्याख्यान का नैमित्तिक-पना सुघटित है।[3] इस प्रकार बंध भी रंगभूमि से चला जाता है।

६. मोक्षाधिकार – इस अधिकार के प्रारंभ में मोक्ष रूप स्वांग का प्रवेश होता है। आत्मा तथा बंध को पृथक् कर देना मोक्ष है। कुछ लोगों की मान्यता है कि बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मुक्ति का कारण है, इस मान्यता का खण्डन करते हुये लिखा है कि जिस प्रकार बेड़ी से बंधे हुये जीव को बंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र बंधन से मुक्ति का कारण नहीं होता उसी प्रकार कर्म से बंधे हुए जीव को भी कर्मबंध के स्वरूप का ज्ञानमात्र कर्मबंधन से मुक्त होने का कारण नहीं है। बंध का विचार करते रहने से भी बंध नहीं कटता क्योंकि उक्त विचार तो शुभध्यान मात्र है तथा शुभपरिणाम से कदापि मोक्ष नहीं होता। मोक्ष का कारण एक मात्र बंध का नाश करना ही है। प्रज्ञारूपी छैनी से आत्मा तथा

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा २६२ से २७१ तक।

२. वही, गाथा २७२ से २८२ तक।

३. वही, गाथा २८३ से २८७ तक।

बंध को अलग किया जाता है। इस प्रकार आत्मा तथा बंध को स्वलक्षणों से पृथक् करके, समस्तरागादिरूप बंध को छोड़ना चाहिये तथा शुद्धात्मा को ही ग्रहण करना चाहिये। वास्तव में आत्मा और बंध का पृथक्करण तथा शुद्धात्मा का ग्रहण – इन दोनों का कारण एक ज्ञान ही है।[1] प्रथम चेतकपने के षट्कारकों के विकल्पों की स्थापना करके, पश्चात् षट्कारकविकल्पों को भी त्याग करके एक शुद्ध चैतन्यभाव मात्र का ही अनुभव करना चाहिए। इसी प्रकार दृष्टापने के षट्कारकों की एवं ज्ञातापने के षट्कारकों की भेदरूप स्थापना करके, पश्चात् षट्कारक-विकल्पों को भी त्याग कर ज्यों का त्यों एक शुद्ध दृष्टा एवं ज्ञाता मात्र भाव का अनुभव करना चाहिए। आगे अपराधी को बंधन की शंका रहती है और वह बंधन में भी पड़ता है। परंतु निरपराधी को बंधन की चिंता नहीं होती और वह बंधन में भी नहीं पड़ता। अपराध का स्वरूप दर्शाते हुए लिखा है कि परद्रव्य का परिहार करके निजद्रव्य शुद्धात्मा की सिद्धि को राध कहते हैं तथा राधरहित आत्मा को अपराध कहते हैं। अंत में उपसंहार करते हुए प्रथम तो अज्ञानीजनों के अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिंदा, अगर्हा और अशुद्धि इन आठों को विषकुम्भ कहा, तथा व्यवहार कथन द्वारा द्रव्य रूप प्रतिक्रमणादि[2] आठों को अमृतकुम्भ कहा है। परन्तु अप्रतिक्रमणादि तथा प्रतिक्रमणादि से विलक्षण अप्रतिक्रमणादि रूप तृतीय भूमिका को न देखने वाले पुरुषों को द्रव्य-प्रतिक्रमणादि भी विषकुम्भ ही निरूपित किए हैं, क्योंकि वे अपना मुक्ति का कार्य करने में असमर्थ हैं। तृतीय भूमिका शुद्धात्मा की सिद्धिरूप साक्षात् अमृतकुम्भ है। उसकी प्राप्ति होने पर द्वितीय भूमिका के प्रतिक्रमणादि में व्यवहार कथन से अमृतकुम्भपना आरोपित किया जाता है। इस तरह मोक्ष भी वहां से चला जाता है।[3]

---

१. आत्मख्याति टीका गाथा २८८ से २९६ तक।

२. प्रतिक्रमण – कृतदोषों का निराकरण। प्रतिसरण – सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा। परिहार – मिथ्यात्वादि का निवारण। धारणा – पंचनमस्कारादि के आलंबन से चित्त स्थिर करना। निवृत्ति – बाह्यविषयकषाय आदि से चित्त को हटाना। निंदा – आत्मसाक्षात्पूर्वक दोषों को प्रगट करना। गर्हा – गुरुसाक्षीपूर्वक दोषों को प्रगट करना। शुद्धि – दोषों के दूर करने हेतु प्रायश्चित्तादि लेना।

३. आत्मख्याति टीका, गाथा २९७ से ३०७ तक।

१०. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार – इस अधिकार में सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। उक्त ज्ञान की महिमा आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रत्येक अधिकार के प्रारम्भ में गाई है। वह ज्ञान जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष रूप आठों स्वांगों को जानने वाला है, एकाकार तथा सर्वविशुद्ध है। यहां आत्मा के अकर्तापने की सयुक्तिक, सोदाहरण सिद्धि की गई है। अकर्त्ता आत्मा को कर्त्ता मानना अज्ञान का माहात्म्य है। आगे कहा है कि जब तक आत्मा कर्म प्रकृति के निमित्त से उपजना, विनशना न छोड़े तब तक वह अज्ञानी है, मिथ्यादृष्टि और असंयमी है। जब आत्मा कर्म प्रकृति के निमित्त से उपजना विनशना छोड़ देता है, तब वह ज्ञायक है, दर्शक है, मुनि है तथा बन्ध से रहित है। जिस प्रकार जगत् में सर्प विषभाव को अपने आप नहीं छोड़ता और न ही मिश्रीयुक्त दुग्धपान से ही विषभाव का त्याग करता है, उसी प्रकार अभव्य जीव प्रकृतिस्वभाव को अपने आप नहीं छोड़ता और न ही प्रकृतिस्वभाव को छुड़ाने में समर्थ द्रव्यश्रुतज्ञान के अभ्यास से भी प्रकृतिभाव (मिथ्यात्वादि) को छोड़ता है।[1] ज्ञानी तो कर्मफल का अवेदक ही होता है। वह अनेक प्रकार के कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता नहीं होता। जैसे नेत्र अनेक पदार्थों के परिणमन को देखते हैं परन्तु वे उनके कर्त्ता या भोक्ता नहीं हैं उसी तरह ज्ञान भी समस्त कर्मों को जानता हुआ उनका अवेदक तथा अकर्त्ता ही है।[2] जिस तरह जगत् में लोकिक मत में सभी प्राणियों को विष्णु करता है, ऐसा माना जाता है, उसी प्रकार श्रमणों - मुनियों के अभिप्राय में आत्मा छहकाय के जीवों की दया करता है, ऐसी मान्यता में विष्णुमत के समान कर्त्तापना होने से श्रमणों को भी मोक्ष नहीं हो सकता।[3] आगे यह लिखा है कि परद्रव्य और आत्मतत्त्व में कोई संबंध नहीं है अतः उनमें कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं हैं। व्यवहार कथन में आत्मा का परद्रव्य से सम्बन्ध तथा कर्त्ता-कर्मपने का सम्बन्ध निरूपित किया जाता है, परन्तु परमार्थ से उक्त निरूपण वस्तुस्वरूप नहीं है। अज्ञानी वस्तुस्वरूप का नियम नहीं जानते, इसलिये वे अज्ञान से भावकर्म के कर्त्ता होते हैं। कुछ

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा ३०८ से ३१७ तक।

२. वही, गाथा ३१८ से ३२० तक।

३. वही, गाथा ३२१ से ३२३ तक।

एकांतवादी अज्ञानी, आत्मा को सर्वथा अकर्ता मानते हैं। वे जिनवाणी की विराधना करते हैं क्योंकि वे यह नहीं जानते कि जिनवाणी में आत्मा को कथंचित् कर्त्ता भी कहा है। अतः जो सांख्यमतियों के समान "कर्म ही जगाते हैं, सुलाते हैं, सुखी दुखी करते हैं" – इत्यादि मानकर आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मानते हैं, वे अर्हंतमतानुयायी नहीं हैं। स्पष्ट है कि भेदज्ञान होने से पूर्व आत्मा को हमेशा कर्त्ता मानो तथा भेद-विज्ञान होने के बाद ज्ञानमंदिर में स्थित स्वयं प्रत्यक्ष आत्मदेव कर्तृत्व रहित, अचल, एक, परमज्ञाता होता है, ऐसा मानो।[1]

"जो कर्त्ता है, वही नहीं भोगता" ऐसी मान्यता भी अज्ञान है। "कोई करता है तथा कोई और भोगता है", ऐसी मान्यता भी मिथ्यात्व तथा अनार्हत है। इसे ही शुद्धनय का लोभ तथा ऋजुसूत्र नय का एकांत रूप मिथ्यात्व कहा है। व्यवहार दृष्टि में कर्त्ता-कर्म विभिन्न माने जाते हैं परन्तु निश्चय से कर्त्ता-कर्म सदा ही एक वस्तु में होते हैं।[2] जो जिसका होता है, वह वही होता है जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है। शुद्ध-नय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचार करने पर अन्य द्रव्य में अन्य द्रव्य का प्रवेश दिखाई नही देता। जैसे सेटिका (कलई) सेटिका की है, सेटिकामय है वह दीवाल की नहीं है, दीवालमय नहीं है। उसी प्रकार ज्ञायक ज्ञायक है, ज्ञायक अन्य का नहीं है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र अचेतन पदार्थों में किंचित् मात्र भी नहीं हैं, इसलिए पुद्गल का घात होने से दर्शन, ज्ञान, चारित्र का घात नहीं होता।[3]

यथार्थ में रागद्वेषादि चेतन के परिणाम हैं। रागद्वेषादि की उत्पत्ति के कारण अन्यद्रव्य कदापि नहीं हैं क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने-अपने स्वभाव से होती है। जो जीव रागोत्पत्ति में परद्रव्यों को ही दोष देते हैं, वे शुद्ध ज्ञान के बोध से रहित अन्धबुद्धि हैं, वे मोहरूपी नदी को पार नही कर सकते। पुद्गल द्रव्य अनेक प्रकार से निन्दा-स्तुति वचन रूप परिणमित होता है। अज्ञानी मानता है कि मेरी निन्दा या स्तुति की गई है अतः वह उनको सुनकर रोष (क्रोध) तथा तोष (संतोष) करता है। भविष्यत् काल का जो शुभाशुभ कर्म जिस भाव

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा ३२४ से ३४४ तक।

२. वही, गाथा ३४५ से ३४८ तक।

३. वही, गाथा ३४९ से ३७१ तक।

में बंधता है उस भाव से निवृत्त होने वाला आत्मा अप्रतिक्रमण है; वर्तमान काल में उदयागत शुभाशुभ कर्मरूप दोष को जो आत्मा जानता है वह आलोचना है तथा पूर्वकृत (भूतकाल में किए हुए) शुभ-अशुभकर्मों से जो आत्मा अपने को अलग रखता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।[1]

अपने उपयोग को अज्ञानरूप (कर्मरूप व कर्मफलरूप) करना, उसी का अनुभव करना, वह अज्ञान चेतना है। उससे कर्म का बंध होता है तथा शुद्धज्ञान अवरुद्ध होता है। अज्ञान चेतना संसार का बीज रूप है। मोक्षार्थी को अज्ञान चेतना का नाश करने के लिए सकलकर्मों के सन्यास की भावना नचाकर, स्वभावभूत भगवती ज्ञान चेतना को ही सदा नचाना चाहिए। आगे प्रतिक्रमण आलोचना तथा प्रत्याख्यान कल्पों के ४९ प्रकार के भंगों द्वारा सन्यास भावना को नचाया गया है। पश्चात् आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों के फलभोग की भावना का खण्डन किया गया है। एक मात्र चैतन्य आत्मा के अनुभव की ही बात की गई है। यहां नाटकीय शैली में प्रशांतरस का उत्कर्ष भी दिखाया है।[2] आगे शास्त्र, शब्द, रूप, वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, कर्म, धर्म, अधर्म, काल, आकाश, अध्यवसान आदि से ज्ञान को भिन्न दर्शाया गया है। ज्ञान के देह नहीं है और कर्म तथा नोकर्म का आहार भी नहीं है। ज्ञान परद्रव्य को किंचित् मात्र भी न तो ग्रहण करता है और न ही छोड़ता है। जब ज्ञान के देह है ही नहीं, तब देहाश्रित मुनि-लिंग या गृहस्थी-लिंग में मोक्षमार्ग की कल्पना करना भी अज्ञान है। वास्तव में लिंग मुक्ति का मार्ग नहीं है। अर्हंत जिनेन्द्र भी देह में निर्मम होते हैं तथा निरन्तर लिंग को छोड़कर दर्शन-ज्ञान तथा चारित्र का ही सेवन करते रहते हैं। ऐसे ही मोक्षमार्ग में लग जाने की प्रेरणा आचार्य ने दी है। उसे जिनवाणी की आज्ञा कहा है।[3] अन्त में मोक्षमार्ग में आत्मा को स्थापित करने, उसी का ध्यान करने तथा उसी का अनुभव करने का उपदेश देते हुए लिखा है कि जो मुनि-लिंग या गृहस्थी-लिंग आदि द्रव्यलिंगों में ममता करते हैं वे समयसार को नहीं जानते। यद्यपि व्यवहार-नय, उक्त दो प्रकार के लिंगों का, मोक्षमार्गी के निषेध करता है, परन्तु निश्चय-नय सर्वलिंगों का निषेध करता है। वह लिंग को मोक्षमार्ग नहीं मानता।[4] उपसंहार के

---

१. आत्मख्याति टीका, गाथा ३७२ से ३८६ तक।
२. वही, गाथा ३८७ से ३८९ तक।
३. वही, गाथा ३९० से ४११ तक। ४. वही, गाथा ४१२ से ४१४ तक।

रूप में मूलग्रन्थकार ने समयप्राभृत पढ़ने तथा अर्थ अवधारण करने वाले को उत्तम सुख (मोक्ष सुख) होना लिखा है, तथा टीकाकार ने लिखा है कि समस्त विकल्पों तथा जल्पों से बस होओ, उन्हें बन्द करो तथा एकमात्र परमार्थ स्वरूप आत्मा ही का अनुभव करो, क्योंकि समयसार से अधिक श्रेष्ठ जगत् में अन्य कुछ भी नहीं है। इस तरह उक्त अङ्क समाप्त होता है, परन्तु सर्वविशुद्धज्ञान रूप पात्र का निष्क्रमण नहीं होता, क्योंकि अन्य जीव-अजीवादि तत्त्व तो स्वांग थे अतः उनका निष्क्रमण दिखाया गया, परन्तु सर्वविशुद्धज्ञान, वह तो आत्मा का यथार्थ स्वरूप है, अविनाशी, टंकोत्कीर्ण, अचलस्वभाव है अतः उसका आगमन (प्रवेश या उदय) तो दिखाया, किन्तु उसका अन्त होना नहीं बताया। वह तो सदाकाल प्रकाशमान रहने वाला तत्त्व है।[1]

११. स्याद्वाद अधिकार – इस अधिकार को टीकाकार ने ग्रन्थ की गम्भीर, प्रौढ़ तथा मार्मिक टीका समाप्त करने के बाद रचा है जिसका उद्देश्य वस्तुतत्त्व की व्यवस्था तथा उपाय-उपेय भाव पर पुनर्विचार करना है। स्याद्वाद को टीकाकार ने समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला, अर्हंत, सर्वज्ञ का अस्खलित शासन निरूपित किया है। अनेकांत की परिभाषा करते हुए लिखा है कि एक वस्तु में वस्तुत्व की सिद्धि करने वाली परस्पर दो शक्तियों के प्रकाशन को अनेकांत कहते हैं। उसके तत्-अतत्, एकत्व-अनेकत्व, सत्त्व-असत्त्व, नित्यत्व-अनित्यत्व आदि विरोधी युगलों का भी स्पष्टीकरण किया है। स्वचतुष्टय-पर-चतुष्टय का भी उल्लेख किया है। अनेकांत को जिनदेव का अलंघ्य शासन लिखते हुए, अनेकांत द्वारा आत्मा को ज्ञानमात्र ही प्रसिद्ध किया है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है। लक्षण की प्रसिद्धि से लक्ष्य की भी प्रसिद्धि होती है। अन्त में इस अधिकार के अन्तर्गत अत्यंत अनोखा, एवं दुर्लभ ४७ शक्तियों का निरूपण किया है। उपसंहार में लिखा है कि एकांतवादियों के मन में वस्तुस्वरूप की व्यवस्था सम्भव नहीं है, अनेकांत मन द्वारा ही उसकी सिद्धि सम्भव है।[2]

१२. उपाय-उपेयाधिकार – यहां स्पष्ट किया है कि आत्मा को ज्ञानमात्र कहने पर भी उसमें उपाय-उपेय भाव घटित होते हैं। जो साधकरूप है वह उपाय है और जो सिद्धरूप है वह उपेय है। जो भव्य

---

१. समयसार, गाथा ४१५ टीका २. समयसार कलश २६५ तक।

स्वयमेव काललब्धिपाकर अथवा गुरु के उपदेश से अपने ज्ञानतत्त्व को पा लेते हैं वे संसार परिभ्रमण से छूट जाते हैं तथा ज्ञानतत्त्व को न पाने वाले संसार परिभ्रमण करते रहते हैं। ज्ञान-नय तथा क्रिया-नय में परस्पर मित्रता भी दिखाई गई है। अन्त में टीकाकार कहते हैं कि आत्मा अनेक शक्तियों का समूह है, परन्तु नयों की दृष्टि से वह खण्डित किया जाता है और नय विकल्पों का निराकरण करके एक, अखण्ड, एकांत, शांत तथा अचल चैतन्यमात्र तेज स्वरूप है। उपसंहारात्मक रूप में टीकाकार ने लिखा है कि वस्तुस्वरूप को दर्शाने की शक्ति शब्दों में है उससे समयसार की व्याख्या की गई है, उसमें स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है। इस प्रकार सम्पूर्ण कृति समाप्त होती है। समग्र कृति आद्यन्त अनुभव लहरी से मण्डित है एवं आचार्य अमृतचन्द्र के अमृतमयी व्यक्तित्व का अद्वितीय निष्यद और अमर स्मारक है।

पाठानुसंधान –

आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाकृतियों में आध्यात्मिक दृष्टि से समयसार की "आत्मख्याति" टीका का स्थान सर्वोपरि है। अध्यात्मपरक तथा अध्यात्मामृत रस से आप्लावित "आत्मख्याति" के समान अन्य कोई टीका नहीं है। इसकी हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ भारत के कोने-कोने में विद्यमान जिनमंदिरों, शास्त्र भण्डारों तथा ग्रन्थालयों में उपलब्ध हैं। सार्वजनिक शोध संस्थानों तथा व्यक्तिगत ग्रन्थ संग्रहालयों में भी इसकी अनेक प्रतियां प्राप्त होती हैं। वर्तमान में परम आध्यात्मिक सन्त कानजी स्वामी, सोनगढ़(सौराष्ट्र)के व्यापक आध्यात्मिक प्रभाव के कारण "आत्मख्याति" टीका समग्र भारत के दिगम्बर जैन अध्यात्म-रसिकों के घर-घर पहुंच चुकी है। महाराष्ट्र प्रदेश के कोल्हापुर जिले के "बाहुबलि कुम्भोज" नामक दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र के सरस्वती ग्रन्थ भण्डार में इसकी कन्नड़लिपि में ताड़पत्रीय प्रति भी उपलब्ध है। इसकी सर्वाधिक प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपि ईस्वी १३८३ में तैयार की गई थी जो उत्तरप्रदेश के अलवर जिले के बसवा (तहसील) नामक स्थान में लिखी गई थी।[1] इसके अनेक स्थानों से विभिन्न सम्पादकों, टीकाकारों तथा अनुवादकों के विभिन्न संस्करण निकल चुके हैं। वे संस्करण ढूंढ़ारी हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी इत्यादि

---

१. Jainism in Rajasthan, Page 196.

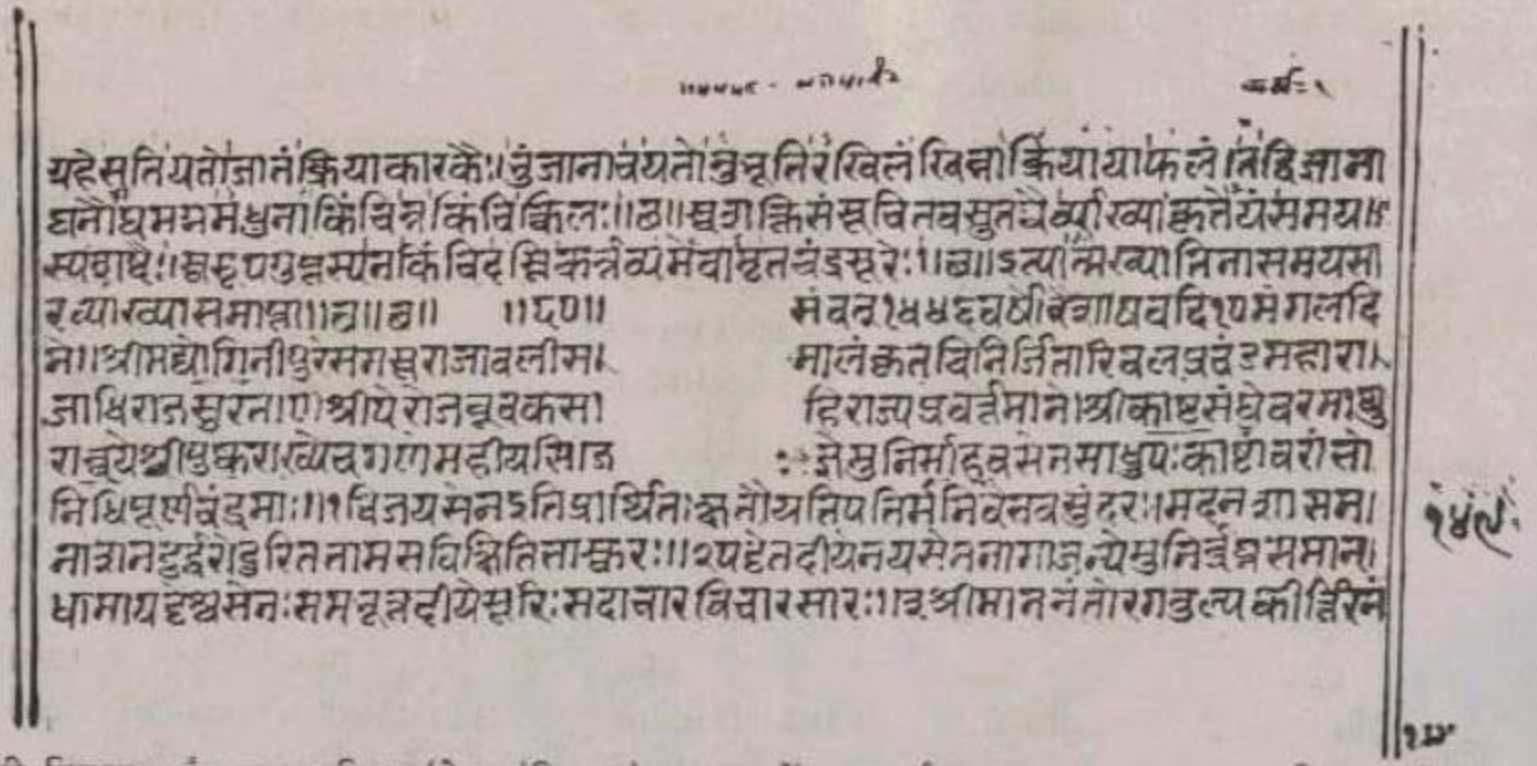
भाषाओं में हैं। इसकी हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि हस्तलिखित प्रतियों में मुद्रित प्रतियों की अपेक्षा लिपिकार कृत अनेक त्रुटियां हैं। यद्यपि मुद्रित प्रतियों में काफी मात्रा में अशुद्धियों का शोधन हुआ है तथापि उनमें भी किसी संस्करण में मुद्रण विषयक अशुद्धियां अधिक हैं तथा किसी में कम। यहां मुद्रित प्रतियों के विभिन्न पांच संस्करणों का तुलनात्मक उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है। ये पांचों संस्करण क्रमशः ईस्वी १९१४ में काशी, ईस्वी १९६० में फलटण, ईस्वी १९६४ में सोनगढ़, ईस्वी १९७० में कारंजा तथा ईस्वी १९७७ में मुजफ्फरनगर से प्रकाशित हैं। इनका तुलनात्मक पाठभेद अगले पृष्ठ पर दी गई तालिका में दिया गया है, जिससे स्पष्ट है कि काशीप्रति में कई अशुद्धियां हैं। उसमें एक बड़ा शुद्धिपत्रक भी लगाया गया है। फलटण की प्रति में भी प्रायः वे ही अशुद्धियां हैं जो काशी की प्रति में हैं। सोनगढ़ से मुद्रित प्रति में बड़ी सावधानी रखी गई है तथा पूर्व के संस्करणों में उपलब्ध सूक्ष्म व्याकरणात्मक अशुद्धियों को परिमार्जित किया गया है। कारंजा तथा मुजफ्फरनगर के संस्करणों में भी प्रायः सोनगढ़ प्रति के पाठ का ही अनुकरण किया गया है। इस तरह शुद्ध पाठ की दृष्टि से सोनगढ़ की प्रति अत्यधिक महत्त्वपूर्ण और यथार्थ है।

परम्परा –

आत्मख्याति टीका द्रव्यानुयोग विषयक ग्रन्थ है। इसमें शुद्धात्मा का परिचय, अनुभव तथा पूर्णोपलब्धि का उपाय निरूपित है। द्रव्यानुयोग सम्बन्धी लिखित श्रुतनिरूपण परम्परा के आद्य प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द ही थे। उनके पश्चात् पूज्यपाद, गुणभद्राचार्य, योगीन्दुदेव, देवसेन आदि आचार्यों ने उक्त परम्परा का सम्पोषण किया परन्तु आचार्य अमृतचन्द्र ने जिस प्रकार व्यापकता, स्पष्टता, पटुता तथा प्रौढ़ता के साथ उक्त परम्परा की उन्नति की, वैसी उन्नति अन्य किसी आचार्य द्वारा सम्भव नहीं हो सकी। उनकी आत्मख्याति जैन अध्यात्म का सर्वोत्कृष्ट रूप है। उक्त टीका द्वारा आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा उद्घाटित अध्यात्म का पुनः विशदीकरण, स्पष्टीकरण, प्रचार एवं प्रसार सम्भव हुआ है। उक्त अध्यात्मप्रवाह अमृतचन्द्र के बाद एक हजार वर्ष तक अद्यावधि निर्बाध रूप से प्रवहमान है। उनके पश्चाद्वर्ती अधिकांश टीकाकारों, लेखकों आदि ने "आत्मख्याति" टीका को सर्वाधिक श्रेष्ठ तथा प्रामाणिक मानकर प्रमाण रूपेण अपने ग्रन्थों में उदाहृत किया है।

काशी, फलटण, सोनगढ़, कारन्जा एवं मुजफ्फरनगर की मुद्रित प्रतियों में विद्यमान पाठभेद की तुलनात्मक तालिका

काशी प्रति	फलटण प्रति	सोनगढ़ प्रति	कारंजा प्रति	मुजफ्फरनगर प्रति
गाथा २–सत्तयानुस्यूतः मोहानुवृत्तितया वर्तत	सत्यानुस्यूमः मोहानुवृत्तितया वर्तत	सत्तयानुस्यूतः मोहानुवृत्तितंत्रतया वर्तते	सत्तयानुस्यूतः मोहानुवृत्ति वर्तते	सत्तायानुस्यूतः मोहानुवृत्ति वर्तते
गाथा ३–टंकोत्कीर्ण दोषापत्तेः विसंपादत्वावतिः समयोत्पादित	टंकोत्कीर्ण दोषापत्तः विसंवादत्वापति समयोत्पादित	टंकोत्कीर्णा दोषापत्तेः विसंवादापतिः समयत्वोत्पादित	टंकोत्कीर्णा दोषापत्तेः विसंवादापतिः समयत्वोत्पादित	टंकोत्कीर्णा दोषापत्तेः विसंवादापतिः समयत्वोत्पादित
गाथा ४–परावर्त्तेः एकत्रीकृत अत एकत्वस्य	परावर्त्तेः एकत्रीकृत अतः एकत्वस्य	परावर्तेः एकच्छत्रीकृत अत एकत्वस्य	परावर्तेः एकच्छत्रीकृत अत एकत्वस्य	परावर्तेः एकच्छत्रीकृत अत एकत्वस्य
गाथा ५–जागरूकैः	जागरूकैः	जागरूकेः	जागरूकैः	जागरूकैः
गाथा ७–धर्मिणि निष्णात	धर्मिणीनिष्णात	धर्मिण्यनिष्णात	धर्मिण्यनिष्णात	धर्मिण्यनिष्णात
गाथा ८–समुदाय	समुदीर्य	समुदाय	समुपादाय	समुपादाय
गाथा ९-१० श्रुतकेवलीति प्रतिपद्यते	श्रुतकेवलीति प्रतिपद्यते	श्रुतकेवलीति तु प्रतिपाद्यते	श्रुतकेवलीति तु प्रतिपाद्यते	श्रुतकेवलीति तु प्रतिपाद्यते



श्री दिगम्बर जैन बड़ा मन्दिर (तेरहपंथियान) जयपुर में आचार्य अमृतचन्द्र कृत आत्मख्यातिकलशटीका (मूलगाथा सहित) ग्रन्थ मौजूद है। लिपि संवत् १४४६। स्थान-योगिनीपुर (दिल्ली)।
उक्त ग्रन्थ के अंतिम पृष्ठ की प्रतिलिपि।

प्रणाली –

आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने अनोखी अस्ति-नास्ति निरूपणपरक अनेकान्तात्मक शैली का प्रयोग किया है। विभिन्न नयों के निरूपण विषयक विरोध का विनाश करने के लिए स्यात् पद मुद्रित "स्याद्वादकथनशैली" को आद्यन्त अपनाया है। उक्त स्याद्वादमयी निरूपण शैली ही मोह का वमन कराने तथा परमज्योति स्वरूप शुद्धात्मा को प्राप्त कराने में समर्थ है।[1] इन्होंने निरूपण में उन्होंने आगम, युक्ति, गुरु-परम्परा तथा स्वानुभव को अवश्य गर्भित किया है।

ग्रन्थ वैशिष्ट्य –

उक्त ग्रन्थ के कुछ वैशिष्ट्य इस प्रकार हैं –

१. समग्र टीका नाटकीय शैली में रची हुई है।
२. उच्चकोटि की प्रौढ़, साहित्यिक तथा गम्भीर अर्थवाही भाषा का प्रयोग हुआ है।
३. गद्यपद्य मयी चम्पू शैली का प्रयोग भी अध्यात्मनिरूपण में प्रथम बार हुआ है।
४. अन्यमतों का दार्शनिक, तार्किक एवं न्यायशैली में निराकरण हुआ है।
५. सैद्धांतिक तथा दार्शनिक विवेचना भी प्रचुर मात्रा में हुई है।
६. सर्वत्र आत्मानुभूति तथा अध्यात्म की अनुपम छटा विकीर्ण हुई है।

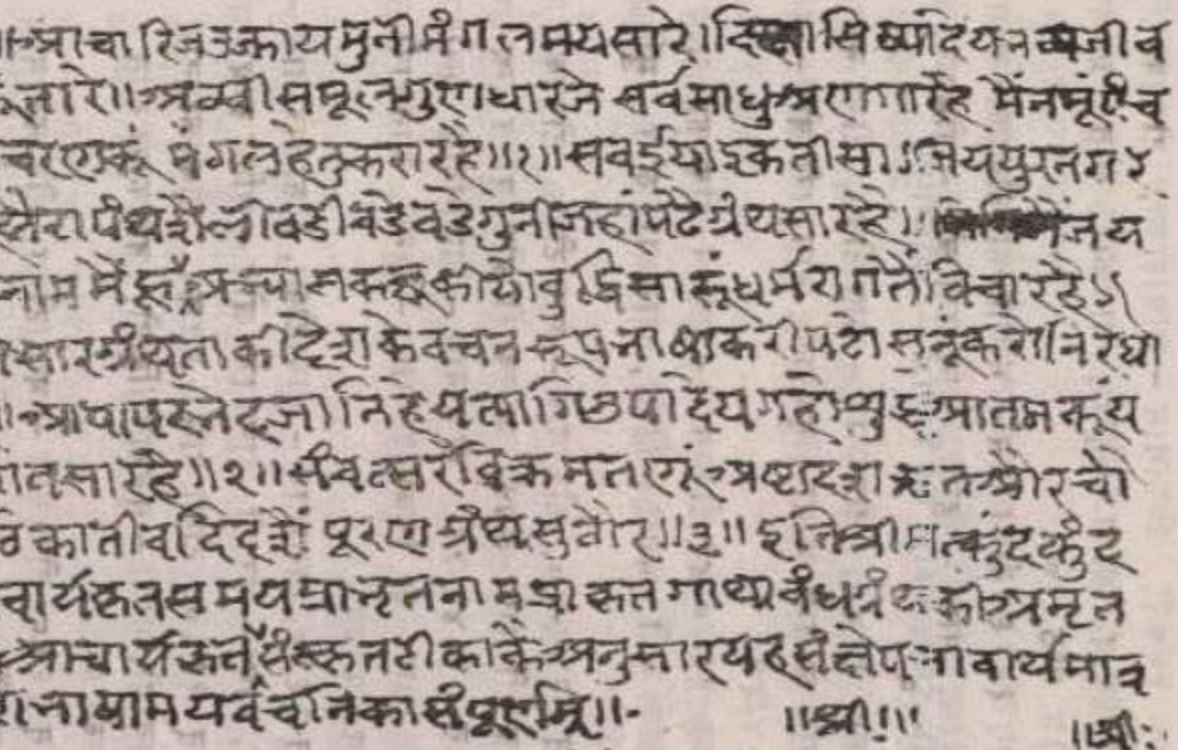
आत्मख्याति टीका तथा उससे अनुप्राणित टीकाएं व टीकाकार

१. ईस्वी सन् ९१५-९९५, टीकानाम – आत्मख्याति, टीकाकार नाम – आचार्य अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध
२. ईस्वी सन् ९८०-१०६५, टीकानाम – समयसारवृत्ति, टीकाकार-नाम– आचार्य प्रभाचंद्र, भाषा – संस्कृत, जानकारी स्रोत – जै सा.बृ. इति. ४/१५३
३. ईस्वी सन् १०४३-१०७३, टीकानाम – भाषा टीका, टीकाकार-नाम – आचार्य मल्लिषेण प्रथम, भाषा – तमिल, जानकारी स्रोत – समयसार(चक्रवर्ती)प्र. पृष्ठ १
४. ईस्वी सन् १२-१३वीं शती, टीकानाम – भाषा टीका, टीकाकार-नाम – बालचन्द्र देव, भाषा – कन्नड़, जानकारी स्रोत – भा.सं. में जै. यो. पृष्ठ ८५।

---

१. समयसार कलश, ४

५. ईस्वी सन् १२९२-१३२३, टीकानाम – तात्पर्यवृत्ति, टीकाकार-नाम – आचार्य जयसेन, भाषा – संस्कृत, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध।
६. ईस्वी सन् १२९२-१३२३, टीकानाम – अज्ञात, टीकाकार नाम – कविवर ब्रह्मदेव, भाषा – कन्नड़, जानकारी स्रोत – क. प्रा. ता. प. ग्र. सू. पृष्ठ २०।
७. ईस्वी सन् अज्ञात, टीकानाम – अज्ञात, टीकाकार नाम – विलासकीर्ति, भाषा – अज्ञात, जानकारी स्रोत – जै० सा० वृ० इति० ४/१५३
८. ईस्वी सन् अज्ञात, टीकानाम – अज्ञात, टीकाकारनाम – जितमुनि, भाषा – अज्ञात, जानकारी स्रोत – जै. सा. वृ. इति. ४/१५३
९. ईस्वी सन् अज्ञात, टीकानाम – अज्ञात, टीकाकार नाम – अज्ञात, भाषा – संस्कृत, जानकारी स्रोत-जै० सा० वृ० इति० ४/१५३
१०. ईस्वी सन् १५८७, टीकानाम – अज्ञात, टीकाकार नाम – श्वे. मुनि जेसा, भाषा – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भं. सू. ४२२
११. ईस्वी सन् १६२३, टीकानाम – भाषाटीका, टीकाकार नाम – जिनोदय सूरि, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. म. सू. ५/२२३
१२. ईस्वी सन् १६५०-५५, टीकानाम – भाषा टीका, टीकाकारनाम – पं. हेमराज, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत–प्रवचनसार परमागम प्र. पृष्ठ १।
१३. ईस्वी सन् १६६४, टीकानाम – तत्त्वबोधिनी टीका, टीकाकार-नाम – भ. देवेन्द्रकीर्ति, भाषा – संस्कृत, जानकारी स्रोत – रा.जै. शा. भ. सू. ३/४४
१४. ईस्वी सन् १७३१, टीकानाम – भाषा टीका, टीकाकार नाम – भ. देवेन्द्रकीर्ति, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ५/२२५-२६
१५. ईस्वी सन् १७३५, टीकानाम – समयसार बालावबोध, टीकाकार नाम – पं. रूपचंद. भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – अनेकांत दिसम्बर ५३, पृष्ठ-२३१-३२
१६. ईस्वी सन् १८०७, टीकानाम – भाषा वचनिका, टीकाकार नाम – पं. जयचंद, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध (प्रतिलिपि संलग्न)



जोर॥ आचारिज उज्झाय मुनी में गलित मयसारे। दिक्षा सिक्षा दय न अजीव
निकसारे॥ अब्बी सब्बू मुणधारजे सर्व साधु प्रणमारेह मैं नमूंए व
गुरु चरणकं मंगल हेतु करारेह॥१॥ सवईया इकतीसा॥ जिय युत नग्र
नाहिलोरा पैथ शैलो वडी वेडवेडगुन जहां पेटे ग्रेथसारेह॥ लिखिलेंय
लिखिमें× चैत्र नाम में हूं अज्ञान कछू कीयो बुद्धि सार धर्म राग तें विचारेह॥
समैसार ग्रेथता की देश के वचन रूपना आकरीयो टीका सनूक रोनि रधा
रेह॥ आपा पर ने दजानि हेय लागिछो दय गहो पुरुषार्थ तन कूंय
हेतु सारेह॥२॥ संवत्सर विक्रम तणं प्रहारशा रु तमोर चो
सठि कातीवदि दशें पूरण ग्रेथ सुभोर॥३॥ इति श्री मत्कुंदकुंद
आचार्य कृत समयसार नाम शास्त्र गाथा बंधयें कलश अमृत
आत्मख्या चैंद्र आचार्य कृत संस्कृत टीका के अनुसार यह संक्षेप नाम वार्थ मात्र
विनाम× देश भाषामय वचनिका संपूर्णम्॥ ॥श्री॥ ॥श्री:

आत्मख्याति की पण्डित जयचन्द छाबड़ा कृत देशभाषामय वचनिका की
हस्तलिखित प्रति का अन्तिम पृष्ठ।

१७. ईस्वी सन् १९१२, टीकानाम – बालबोधभाषाटीका, टीकाकार-नाम – पं. जयचन्द्र, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध।

१८. ईस्वी सन् १९८१, टीकानाम – भाषाटीका, टीकाकार नाम– ब्र. शीतलप्रसाद भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – प्रवचनसार (फडेगां) प्र. पृष्ठ २०

१९. ईस्वी सन् १९१९, टीका नाम – भाषाटीका, टीकाकार नाम – पं. मनोहरलाल, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – तीर्थंकर, अगस्त ७९, पृष्ठ २८।

२०. ईस्वी सन् १९४०, टीकानाम – भाषाटीका, टीका नाम – पं. हिम्मतलाल जे.शाह, भाषा – गुजराती, जानकारी स्रोत – जैन सा. वृ. इति. ४/१५१

२१. ईस्वी सन् १९४०-४५ टीकानाम – प्रवचन, टीकाकार नाम – क्षु. गणेशप्रसाद वर्णी, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध।

२२. ईस्वी सन् १९४५-५०, टीकानाम – भाषाटीका, टीकाकारनाम – प्रो.ए. चक्रवर्ती भाषा–अंग्रेजी, जानकारी स्रोत–मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध

२३. ईस्वी सन् १९४५-५१, टीकानाम – निजानंदीय श्लोकटीका, टीकाकार नाम – क्षु. निजानंद, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – मुद्रितग्रन्थ उपलब्ध।

२४. ईस्वी सन् १९६०, टीकानाम – भाषाटीका, टीकाकार नाम – मुनि देशभूषण, भाषा – मराठी, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध

२५. ईस्वी सन् १९६०, टीका नाम – प्रवचन, टीकाकारनाम – संत कानजी स्वामी, भाषा – गुजराती/हिन्दी, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रंथ उपलब्ध।

२६. ईस्वी सन् १९६८, टीकानाम – भाषाटीका, टीकाकारनाम – पं. धन्यकुमार भौरे, भाषा – मराठी, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध।

२७. ईस्वी सन् १९५९, टीकानाम – प्रवचन (१ खण्ड), टीकाकारनाम– पं. मोतीलाल कोठारी, भाषा– मराठी, जानकारी स्रोत – तीर्थंकर अगस्त ७९ पृष्ठ २८।

२८. ईस्वी सन् १९७९, टीकानाम – समयसार वैभव, टीकाकारनाम – पं. नाथूरामडोंगरीय, भाषा – हिन्दी पद्य, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध।

२९. ईस्वी सन् १९७०-७१, टीका नाम – समयसार प्रवचन (१ से १५ भाग), टीकाकारनाम – क्षु० सहजानंद वर्णी, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध ।

३०. ईस्वी सन् अज्ञात, टीकानाम – समयसार भाष्यपीठिका, टीकाकार नाम – क्षु. सहजानंद वर्णी, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध ।

३१. ईस्वी सन् अज्ञात, टीका नाम – समयसार दृष्टांत मर्म, टीकाकार नाम – क्षु. सहजानंद वर्णी, भाषा–हिन्दी, जानकारी स्रोत – मुद्रित ग्रन्थ उपलब्ध ।

३२. ईस्वी सन् अज्ञात, टीकानाम – समयसार महिमा, टीकाकारनाम – क्षु. सहजानंद वर्णी, भाषा – हिन्दी जानकारी स्रोत – समयसार स. द. टीका पृष्ठ ४ ।

३३. ईस्वी सन् अज्ञात, टीकानाम – समयसार पुण्यपापोद्घोषक, टीकाकार नाम –क्षु. सहजानंद वर्णी, भाषा – अंग्रेजी, जानकारी स्रोत – समयसार स. द. टी. पृष्ठ ४ ।

३४. ईस्वी सन् अज्ञात, टीकानाम – समयसार सप्तदशांगी टीका, टीकाकारनाम – क्षु. सहजानंद वर्णी, भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – समयसार स. द. टीका पृष्ठ ४ ।

३५. ईस्वी सन् २० वीं शती उत्तरार्ध, टीका नाम – भाषा टीका, टीकाकारनाम – पं. कल्लप्पा भरमप्पा निटवे, भाषा – मराठी, जानकारी स्रोत – पु. सि. अज्ञात ।

३६. ईस्वी सन् अज्ञात, टीकानाम – टीका टीकाकारनाम – यशोविजय भाषा – हिन्दी, जानकारी स्रोत – जि. प्र. र. को. १३४/१३५

आत्मख्याति टीका तथा तदनुसारी टीकाओं की पाण्डुलिपियां

अ:— ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियां –

१. टीकाकार – कवि ब्रह्मदेवकृत, लिपि – कन्नड़, जानकारी स्रोत – क. प्रा. ता. ग्र. सू. पृष्ठ २० ।

२. टीकाकार – बालचन्द्र, लिपि – कन्नड़ (मूलविद्री में), जानकारी स्रोत – क. प्रा. ता. ग्र. सू. पृष्ठ २०४ ।

३. टीकाकार – आचार्य अमृतचन्द्र, लिपि – कन्नड़ (कारकल में), जानकारी स्रोत – क. प्रा. ता. ग्र. सू. पृष्ठ २८४ ।

४. टीकाकार – आचार्य अमृतचन्द्र, लिपि – कन्नड़, जानकारी स्रोत – क. प्रा. ता. ग्र. सू. पृष्ठ २८ ।

ब. कागज पर लिखित पाण्डुलिपियाँ —

१. लि.-१२८३, टीका – आचार्य अमृतचन्द्र, लिपि – बसवा(अलवर), जानकारी स्रोत – जै. इन राजस्थान १९६।

२. लि. १३८९, टीका – आचार्य अमृतचन्द्र, लिपि – योगिनीपुर (दिल्ली), जानकारी स्रोत – तेरहपंथी मंदिर जयपुर में उपलब्ध वे. नं. १६६०।

३. लि. १४०६, टीका – आचार्य अमृतचन्द्र, लिपि – अजमेर, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू.।

४. लि. १४४५, टीका – टा. प्रभाचन्द्र, लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. शा. भ. सू. ५/२१४-२५

५. लि. १५३७, टीका – अमृतचन्द्र, लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ४/११८।

६. लि. १५४४, टीका – आचार्य अमृतचन्द्र, लिपि – अजमेर, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ५/२२१।

७. लि. १५७५, टीका – आचार्य जयसेन, लिपि – अर्गलपूर(म. प्रदेश) जानकारी स्रोत – तेरहपंथी मंदिर जयपुर में उपलब्ध वे.नं. १८६१

८. लि. १५७७, टीका – आचार्य अमृतचन्द्र, लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ५/२२१

९. लि. १५८७, टीका – आचार्य अमृतचन्द्र, लि. श्वे. मुनि जैसा, लिपि – मालपुरा, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू.४/२२४।

१०. लि. १६०३, टीका – आचार्य जयसेन, लिपि – नया मंदिर, दिल्ली, जानकारी स्रोत – अनेकांत जून ४१, पृष्ठ ३४६-५४।

११. लि. १६६४, टीका – भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति, लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ३/४४।

१२. लि. १६६५, टीका – आचार्य अमृतचन्द्र, लि – संग्रामपुर, जानकारी स्रोत – तेरहपंथी मंदिर जयपुर में उपलब्ध वे. नं. १८५०।

१३. लि. १७२२, टीका – भ. देवेन्द्रकीर्ति, लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ३/४४।

१४. लि. १७३१, टीका – भ. देवेन्द्रकीर्ति, लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ३/४३।

१५. लि. १७४७, टीका – भ. देवेन्द्रकीर्ति, लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ५/२२५-२६।

१६. लि. १७७६, टीका – आचार्य अमृतचन्द्र, लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ४/१२१

१७. लि. १८०५, टीका – आचार्य अमृतचन्द्र, लिपि – नया मन्दिर, दिल्ली, जानकारी स्रोत – अनेकांत जून ४१ पृष्ठ ३४६-३५५।

१८. लि. १८०७, टीका – पं. जयचंद छाबड़ा, लि. – पं जयचंद्र छाबड़ा, लिपि – जयपुर (मूलप्रति), जानकारी स्रोत – तेरहपंथी मन्दिर जयपुर में वे. नं. १८५६।

१९. लि. १८०९, टीका – भ. देवेन्द्रकीर्ति, लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भसू. ३/४४।

२०. लि. १८५२, टीका – पं. जयचन्द छाबड़ा, लिपि – नया मन्दिर, दिल्ली, जानकारी स्रोत – अनेकांत जून ४१ पृ. ३४६-३३५।

२१. लि.१८८१, टीका – पं.जयचंद छाबड़ा, लिपि – जयपुर, जानकारी स्रोत – तेरहपंथी मंदिर जयपुर में उपलब्ध वे. नं. १८८८।

२२. लि. १८९६, टीकाकार नाम – आ. अमृतचन्द्र, लिपि – जयपुर, जानकारी स्रोत – तेरहपंथी मंदिर जयपुर में उपलब्ध ते नं.१८८८।

२३. लि. १८९९, टीकाकारनाम – पं. जयचन्द छाबड़ा, लिपि – जयपुर, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भसू. ३/४५।

२४. लि. अज्ञात, टीकाकार नाम – जिनोदयसूरि लिपि – अज्ञात, जा. स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ५/२३३।

२५. लि. अज्ञात टीकाकार नाम – पं. रूपचन्द (र. काल १६४२) लिपि – अज्ञात, जानकारी स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. ५/२२८।

स. संगमर्मर पर उत्कीर्ण लिपि :

१. १९७०-७५, आ. अमृतचन्द्र, संस्कृत,

आत्मख्याति टीका एवं तदनुसारी टीकाओं के उपलब्ध प्रकाशन/संस्करण

१. ग्रन्थ – समयसार भाषाटीका, टीकाकार – जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक – रा. जै. शा. मा.बम्बई, तिथि – ईस्वी १९०४, भाषा – हिन्दी।

२. ग्रन्थ – समयसार भाषाटीका, टीकाकार – जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक – रा. जै. मा., कलकत्ता, तिथि – ई. १९०५, भाषा – हिन्दी, प्रतियां –

३. ग्रन्थ – समयसार भाषाटीका, टीकाकार – पण्डित जयचन्द छाबड़ा, संम्पादक – पं० मनोहरलाल, प्रकाशक – रा. जै. शा. मा. बंबई, तिथि – ईस्वी १९०७, भाषा – हिन्दी।

४. ग्रन्थ – समयप्राभृतम्, टीकाकार – अमृतचन्द्र + जयसेन, सम्पादक – पं० गजाधरलाल, प्रकाशक – स. जै. ग्र. मा. बनारस, तिथि – ईस्वी १९१४, भाषा – संस्कृत।

५. ग्रंथ – समयसार आत्मख्याति, टीकाकार – गोपालशाह, प्रकाशक – जै. ग्र. उ. का. बंबई, तिथि – १९१८ भाषा – हिन्दी।

६. ग्रन्थ – समयसार टीका, टीकाकार – ब्र. शीतलप्रसाद, प्रकाशक – दि. जै. पु. सूरत, तिथि – ईस्वी १९१८, भाषा – हिन्दी।

७. ग्रन्थ – समयसार आत्मख्याति टीका, टीकाकार – पं मनोहर लाल, प्रकाशक – रा. च. ज. ग्र. मा. बम्बई, तिथि – ईस्वी १९१९, भाषा – हिन्दी।

८. ग्रन्थ – समयसारप्राभृत टीका, टीकाकार – अमृतचन्द्र, प्रकाशक – दि. जै. ग्र. मा. बनारस, तिथि – १९२५, भाषा – हिन्दी।

९. ग्रन्थ – समयसार (दी. सोल एसेंस), अनुवादक – जे. एल. जैनी, प्रकाशक – दी. से. जैन प. हा., लखनऊ, तिथि – ईस्वी १९३०, भाषा – अंग्रेजी।

१०. ग्रन्थ – समयसार आत्मख्याति टीका, टीकाकार – पण्डित जयचंद छाबड़ा, सं. – पं. मनोहरलाल, प्र. रोहतक, तिथि – ईस्वी १९४२, भाषा – हिन्दी।

११. श्री समयप्राभृत आत्मख्याति, टीकाकार – पं. जयचन्द्र कृत, प्रकाशक – ने. म. प्र. पा., कलकत्ता, तिथि – ईस्वी १९४२, हिन्दी/१०००।

१२. ग्रन्थ – समयसार (अभयटीका), टीकाकार – आचार्य अमृतचन्द्र + जयसेन, प्रकाशक – स. जै. ग्र. मा., बनारस, तिथि – १९४४, भाषा – संस्कृत।

१३. ग्रन्थ – समयसार (दी नेचर ऑफ दो सेल्फ), टीकाकार – आचार्य अमृतचन्द्र, अनुवादक – ए० चक्रवर्ती, प्रकाशक – भा० ज्ञा० पी० काशी/बनारस, तिथि – ईस्वी १९५०, भाषा – अंग्रेजी।

१४. ग्रन्थ – समयसार (निजानन्दीय श्लोक सहित), टीकाकार – स्वामी निजानन्द क्षुल्लक, प्रकाशक – नि. जै. ग्र. मा., सहारनपूर, तिथि – १९५१ भाषा – हिन्दी/१०००।

१५. ग्रन्थ – समयसार आत्मख्याति, टीकाकार – आचार्य अमृतचन्द्र, सम्पादक – हिम्मतलाल जे० शाह, प्रकाशक – पा० दि० जे० ग्र० मा० मारोठ, तिथि – ईस्वी १९५३, भाषा – गुजराती/१०००।

१६. ग्रन्थ – समयसार आत्मख्याति, टीकाकार – जयचन्द छाबड़ा, प्रकाशक – श्रु. भा. ग्र. प्र. स. फलटण, तिथि – ईस्वी १९५९, भाषा – हिन्दी।

१७. ग्रन्थ – समयसार टीका, टीकाकार – मोतीचन्द कोठारी, फलटण तिथि – ईस्वी १९५९, भाषा – मराठी।

१८. समयसार, सम्पादक – राजकृष्ण जैन, प्रकाशक – अ. म. दिल्ली, तिथि – १९५९, भाषा – हिन्दी।

१९. ग्रन्थ – समयसार प्रवचन संग्रह, टीकाकार – देशभूषण मुनि, संग्राहक – मुकदेव जोति कुलकर्णी, प्रकाशक – एस. एम. पाटिल, कोल्हापूर, तिथि – ईस्वी १९६०, भाषा – हिन्दी।

२०. ग्रन्थ – समयसार आत्मख्याति (जयचन्द्रीय), अनुवादक – पण्डित परमेष्ठीदास, प्रकाशक – दि. जै. मु. मं. बम्बई, तिथि – ईस्वी १९६३, भाषा – हिन्दी/१५००।

२१. ग्रन्थ – समयसार आत्मख्याति, अनुवादक – पण्डित परमेष्ठीदास, प्रकाशक – दि. जै. स्वा. मं. ट्र. सोनगढ़, तिथि – ईस्वी १९६४, भाषा – हिन्दी/२२००।

२२. ग्रन्थ – समयसार आत्मख्याति, सम्पादक – पण्डित मनोहरलाल, प्रकाशक – जं. ग्र. माला, दिल्ली, तिथि – १९६७, भाषा – हिन्दी।

२३. ग्रन्थ – समयसार आत्मख्याति, टीकाकार – पं. धन्यकुमार भोरे, प्रकाशक – म. ज्ञा. सं. कारंजा, तिथि – १९६८, भाषा – मराठी।

२४. ग्रन्थ – समयसार प्रवचन, टीकाकार – पण्डित गणेश प्रसाद वर्णी, प्रकाशक – वर्णी ग्र. मा. बनारस, तिथि – ईस्वी १९६९, भाषा – हिन्दी।

२५. समयसार वैभव, टीकाकार – पं० नाथूराम डोंगरीय, प्रकाशक – जै. ध. प्र. का. इन्दौर, तिथि – ईस्वी १९७०, भाषा – हिन्दी।

२६. ग्रन्थ – समयसार (दी नेचर ऑफ दी सेल्फ), टीकाकार – ए० चक्रवर्ती, प्रकाशक – भा० ज्ञा० पी० बनारस, तिथि – ईस्वी १९७१, भाषा – अंग्रेजी।

२७. ग्रन्थ -- समयसार वैभव, टीकाकार – पण्डित नाथूराम डोंगरीय, प्रकाशक -- जै० ब० प्र० का० इन्दौर, तिथि -- ईस्वी १९७१, भाषा -- हिन्दी ।

२८. ग्रन्थ -- समयसार आत्मख्याति, टीकाकार – पण्डित मनोहर लाल, प्रकाशक -- सा. वि. दि. जै. सं. महावीरजी, तिथि – ईस्वी १९७६, भाषा – हिन्दी/१००० ।

२९. ग्रन्थ -- समयसार, टीकाकार -- पं. पन्नालाल, प्रकाशक..... तिथि -- ईस्वी १९७४, भाषा -- हिन्दी ।

३०. ग्रन्थ -- समयसार टीका (सप्तदशांगी टीका), टीकाकार – सहजानन्द वर्णी, प्रकाशक -- भा. ब. त. जै. सं. मं. मुजफ्फरनगर, तिथि -- ईस्वी १९७७, भाषा -- हिन्दी/११००

तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति

परिचय –

टीकाओं के अन्तर्गत आचार्य अमृतचन्द्र कृत द्वितीय आलोच्य कृति "तत्त्व प्रदीपिका वृत्ति"[1] नामक संस्कृत गद्य टीका है। यह भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत "पवयणसारु" (प्रवचनसार) नामक प्रौढ़, दार्शनिक तथा सैद्धांतिक रचना की अतिगहन, अतिप्रौढ़ तथा उच्च-कोटि की गद्यकाव्य शैली में रचित अद्वितीय टीका है। इसका बहु-प्रचलित नाम तत्त्वप्रदीपिका[2] भी है। दोनों शब्दों में मात्र इतना अंतर है कि दीपिका का अर्थ है प्रकाशक और प्रदीपिका का अर्थ है उत्कृष्ट रूप

नोट:-जैन लिटरेचर सोसाइटी, लंदन द्वारा आत्मख्याति का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित होगा। (देखो, जैन हितैषी, संपादक नाथूराम, अंक १०, वी० नि० सं० २४३८, पृष्ठ ४७८)

१. प्रवचनसार, अमृतचन्द्राचार्य कृत टीका – प्रकाशन १९६४ ई०, सोनगढ़ तथा प्रवचनसार का अंग्रेजी अनुवाद, अनुवादक – प्रो. ए.एन. उपाध्ये, प्रकाशन – १९६४ ई०, बागास।

२. **(अ)** प्रवचनसार – अमृतचन्द्र-जयसेनीटीका द्वयोपेतः – संपादक पण्डित अजितप्रसाद, ब्र० रतनचंद (वी० नि० सं० २४९५) पृष्ठ ६५१। **(ब)** तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा-भाग २, पृष्ठ ४१६। **(स)** प्रवचनसार अंग्रेजी अनुवाद तत्त्वप्रदीपिका सहित, अनुवादक – प्रो० बारेन्ड फहेगां – प्रकाशन केम्ब्रिज विश्वविद्यालय लंदन, १९३५ ईस्वी, मुख पृष्ठ।

से प्रकाशक। प्रवचनसार की टीका की प्रौढ़ता, प्रांजलता तथा निरूपण शैली देखकर "दीपिका" के स्थान पर प्रदीपिका शब्द का प्रयोग अधिक सार्थक, स्वाभाविक तथा समुचित प्रतीत होता है। टीकाकार ने मंगलाचरण में "प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्ति[1] लिखा है तथा टीका के अन्त में "इतिगदितमनीचैस्तत्त्वं"[2] अर्थात् इस प्रकार अमंदतया-प्रकर्षरूप से तत्त्व निरूपित किया है – इत्यादि उल्लेखों से भी तत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः शब्द की सार्थकता स्पष्ट होती है। दूसरे – मूलग्रन्थ के नाम में "प्र" उपसर्ग प्रयुक्त होकर प्रवचनसार पद का प्रयोग हुआ हैं, तदनुरूप टीका भी "प्र" उपसर्ग युक्त "दीपिका" होना अर्थात् "प्रदीपिका" पद उपयुक्त प्रतीत होता है। पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री ने प्रवचनसार की टीका का नाम "तत्त्वदीपिका" तथा पंचास्तिकाय की टीका का नाम "तत्त्वप्रदीपिका" लिखा है।[3] उक्त उल्लेख विचारणीय है।

प्रवचनसार में उसके नामानुसार प्रवचन का सार अर्थात् जिनेन्द्र की दिव्यध्वनि का सार संगृहीत है। समयसार में शुद्धात्मदर्शन प्रधान निरूपण है तथा प्रवचनसार में ज्ञान प्रधान कथन है। इस टीका में अमृतचन्द्र की दार्शनिक प्रौढ़ता, सैद्धांतिक विद्वत्ता, विलक्षण तर्क शक्ति, गम्भीर तत्त्वज्ञान तथा अध्यात्म रसिकता के दर्शन होते हैं। समग्र टीका में अमृतचन्द्र के प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा समासबहुल प्रौढ़, गम्भीर व ललित गद्य शैली की अनुपम छटा के दर्शन होते हैं। टीकाकार ने अपनी कृति का लक्ष्य स्पष्टतः घोषित करते हुये लिखा है कि परमानंद रूपी सुधारस के पिपासु भव्यजनों के कल्याणार्थ, तत्त्व को प्रकट करने वाली टीका रची जा रही है।[4] टीकाकार ने निर्वाण प्राप्ति का साक्षात् कारणरूप वीतराग चारित्र की प्राप्ति की भावना प्रगट की है। समग्र कृति अमृतचन्द्र के ज्ञान वैभव से अनुप्राणित तथा नय, प्रमाण, अकाट्य युक्तियों तथा अनुभूत उदाहरणों से सुसज्जित है। यद्यपि संपूर्ण टीका सालंकृत संस्कृत गद्य शैली में है तथापि कहीं-कहीं अमृतचन्द्र का कवित्व

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति, पद्य नं० ३

२. वही, पद्य नं० २१

३. जैन साहित्य का इतिहास, भाग द्वितीय, पृष्ठ १७३।

४. परमानंदसुधारस पिपासितानां हिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥(प्रवचनसार टीका, पद्य ३)

रूप सहज ही प्रस्फुटित हो उठा है, इसलिए समस्त कृति में २१ पद यथास्थान, स्वाभाविक रूप से प्रादुर्भूत हुये हैं। प्रवचनसार मूल तथा उसकी उक्त वृत्ति के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि मूलगाथाओं से उनकी टीका कहीं अधिक क्लिष्ट प्रतीत होती है, किन्तु मूलगाथाओं में निहित भावों की गम्भीरता तथा विशदता का जैसा ज्ञान तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति में उपलब्ध है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

उक्त ग्रन्थ पर हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, मराठी, संस्कृत, कन्नड़, तमिल आदि भाषाओं में गद्य तथा पद्य में अनेक टीकाएं, अनुवाद तथा प्रकाशन निकल चुके हैं। सम्पूर्ण भारतवर्ष के कोने-कोने में, जिन-मंदिर तथा शास्त्रभण्डारों में इसकी प्रतियां उपलब्ध होती हैं। पाकिस्तान के मुलतान शहर से इस ग्रन्थ की कई हस्तलिखित प्रतिलिपियां जयपुर लाई गयीं थीं। अफ्रीका, लंदन, अमेरिका आदि विदेशों तक में उक्त कृति का समादर एवं प्रचार हुआ है। केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बारेण्ड फहेगां ने प्रवचनसार तथा उसकी तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति का अंग्रेजी भाषान्तरण करके केम्ब्रिज विश्वविद्यालय प्रेस, लंदन से एक संस्करण प्रकाशित कराया था। डॉ. ए. एन. उपाध्ये द्वारा लिखित प्रवचनसार की विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना का विभिन्न विश्वविद्यालयों में सम्मान किया गया था। बम्बई विश्वविद्यालय में एम० ए० के पाठ्यक्रम में उक्त ग्रन्थ को निर्धारित किया गया था। आज भी उक्त ग्रन्थ की हस्तलिखित, ताड़पत्रीय तथा मुद्रित तीनों प्रकार की प्रतियां उपलब्ध हैं।

नामकरण –

"तत्त्वप्रदीपिकावृति" के नामकरण के संबंध में कुछ प्रकाश ऊपर डाला जा चुका है। अमृतचन्द्र के पश्चात्वर्ती आचार्य पद्मप्रभमलधारीदेव ने उक्त टीका का उल्लेख "प्रवचनसारव्याख्या"[१] नाम से किया है। टीकाकार ने स्वयं प्रारम्भ में "प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारवृत्तिः" लिखा है, संभवतः इन्हीं शब्दों पर से उक्त टीका का नाम तत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः अथवा तत्त्वदीपिका नाम चल पड़ा है। प्रोफेसर बारेण्ड फडेगां ने इसे "लेम्प ऑफ ट्रुथ" या "तत्त्वप्रदीपिका" या "इल्युमीनेटर ऑफ ट्रुथ"[२]

---

१. नियमसार, तात्पर्यवृत्तिः, गाथा १०३ की टीका – "तथा चोक्तं प्रवचनसार-व्याख्यायाम्"।

२. Pravachanasara of Kundakunda with the commentary "Tattva Dipika"— B. Foddegon. P.P. 11 (Lamp of Truth or Tattva Dipika or Illuminator of Truth).

शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार का नामकरण समग्र कृति का सार, स्थितिप्रकाशक, सार्थक एवं समुचित है। उभय नामों – "तत्त्व-दीपिका" तथा तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति" का प्रयोग प्रारम्भ से होता रहा है फिर भी तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति नाम अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

टीका कर्तृत्व –

आत्मख्याति की भांति तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति के रचयिता के सम्बन्ध आज तक किसी भी विद्वान् को विप्रतिपत्ति नहीं हुई। सभी ने एकमतेन उक्त टीका को अमृतचन्द्र कृत ही निरूपित किया है।

इस टीका के अन्त में भी टीकाकार प्रवचनसार की टीका का कर्तृत्व स्वयं स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि कर्तृत्व का विकल्प भी मोह भाव होने से परमार्थ से उक्त विकल्प हितकारी नहीं है। वे लिखते हैं कि उक्त टीका के कर्त्ता अमृतचन्द्र नहीं हैं, अमृतचन्द्र को उसका कर्त्ता (व्याख्याता) मानकर मोह से मत नाचो। विशुद्धज्ञान की कला तथा स्याद्वादविद्या के बल से एक, सकल, शाश्वत, आकुलतारहित निजात्मा को ही प्राप्तकर आत्मानन्द में नाचो।[1]

प्रत्येक अध्याय के अन्त में "इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापनो नाम प्रथमः श्रुतस्कंधः समाप्तः" इत्यादि उल्लेख मिलता है।

इस तरह उक्त टीका भी आचार्य अमृतचन्द्र की ही रचना प्रमाणित है।

प्रामाणिकता –

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में निहित तत्त्वों तथा भावों को आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मसात् करके ही उन पर टीकाओं की रचना की है अतः उन टीकाओं की प्रामाणिकता मूलग्रन्थ से किसी प्रकार कम नहीं है। यदि आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी में दिव्यध्वनि का सार निहित है तो आचार्य कुन्दकुन्द के टीकाकार अमृतचन्द्र की टीकाओं में कुन्दकुन्द के ग्रंथगतसार का ही विस्तार है, अतः उनकी कृतियों की प्रामाणिकता

---

१. व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहितं व्याख्या तु गुम्फे गिरां।
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्,
लब्ध्वैकं सकलात्मशाश्वतमिदं स्वं तत्त्वमव्याकुलः॥
(तत्त्वप्रदीपिकावृत्तिः पद्य नं० २०)

निर्विवाद है। जैनतत्त्वज्ञान की परम्परा में यद्यपि अनेक प्रामाणिक आचार्य हुये हैं तथापि अमृतचन्द्राचार्य उनके टीकाकारों में अग्रणी हैं। तत्त्वप्रदीपिका टीका प्रवचनसार पर सर्वोत्कृष्ट तथा सर्वाधिक प्रामाणिक टीका है। प्रवचनसार पर शताधिक आचार्यों एवं विद्वानों ने टीकायें रचीं परन्तु वे सभी टीकायें तत्त्वप्रदीपिका के बाद ही परिगणित होती हैं। वे सभी टीकायें किसी न किसी रूप में आचार्य अमृतचन्द्र की टीका से प्रभावित तथा अनुप्राणित अवश्य हैं। जैनतत्त्वज्ञान तथा सिद्धांतों के पूर्ण अधिकारी एवं गम्भीर ज्ञाता होने से आचार्य अमृतचन्द्र परम-प्रामाणिक आचार्यों में से हैं, अतः उनकी टीकाओं की प्रामाणिकता भी सहज सिद्ध है। परवर्ती विद्वानों ने अपनी कृतियों में अमृतचन्द्र की तत्त्व-प्रदीपिका के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं।

विषय वस्तु –

सम्पूर्ण ग्रंथ मुख्यतः तीन विभागों में विभाजित है। प्रथम में ज्ञान-तत्त्व, द्वितीय में ज्ञेयतत्त्व तथा तृतीय में चरणानुयोग सूचक चूलिका का प्रज्ञापन किया गया है। ये तीनों विभाग अपने आप में उपशीर्षकों में भी विभाजित हैं, जो इस प्रकार हैं।

प्रथम विभाग ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन, शुद्धोपयोग, ज्ञान, सुख तथा शुभपरिणाम नामक चार उपशीर्षकों में विभाजित है।

द्वितीय विभाग ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन, द्रव्यसामान्य, द्रव्यविशेष तथा ज्ञानज्ञेय प्रकरणों में विभक्त है। तृतीय विभाग चरणानुयोगसूचक चूलिका के अंतर्गत आचरण प्रज्ञापन, मोक्षमार्ग-प्रज्ञापन, शुभोपयोग-प्रज्ञापन तथा पंचरत्न-प्रज्ञापन – ये चार प्रकरण हैं। अंत में एक परिशिष्ट द्वारा ४७ नयों के माध्यम से आत्मद्रव्य का कथन किया है। यहाँ प्रत्येक विभाग में वर्णित विषयवस्तु का संक्षेप में परिचय कराया गया है।

१. ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन –

उक्त विभाग का आरम्भ मंगलाचरण पूर्वक किया गया है। इसमें ज्ञानानंदमयी परमात्मा को नमस्कार करके, अनेकांतमय ज्ञान की स्तुति की तथा ग्रन्थ की टीका करने का प्रयोजन परमानंद सुधारस के पिपासु भव्यजनों का कल्याण करना बताया है। प्रथम वीतराग चारित्र को उपादेय तथा सराग चारित्र को हेय सिद्ध किया। चारित्र का स्वरूप, आत्मा और चारित्र की एकता तथा आत्मा के शुभ-अशभ तथा शुद्ध परिणामों

का उल्लेख तथा फल निरूपण किया।[1] इतना कथन पीठिका रूप में किया। पश्चात् उपशीर्षक के रूप में अधिकारों में प्रथम शुद्धोपयोग अधिकार प्रारम्भ किया है।

इसमें शुद्धोपयोग के फल की प्रशंसा, शुद्धोपयोग परिणत आत्मा का स्वरूप तथा उससे होने वाली भावशुद्धि की प्रशंसा का निरूपण किया गया है। पश्चात् शुद्धोपयोग से शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति बताकर "स्वयंभू" भगवान बनने हेतु अन्य कारकांतरों की अपेक्षा का निषेध किया है। षट्कारक एक निजात्मा में ही घटित होते हैं। यथार्थ में पर-द्रव्यों के साथ आत्मा का कारक सम्बन्ध नहीं है। इसलिए शुद्धात्म-स्वभाव की प्राप्ति के लिये आत्मा को सामग्री (बाह्यसाधन-बाह्यनिमित्त) खोजने में परतंत्र होने की आवश्यकता नहीं है।[2] आगे शुद्धात्मस्वभाव सम्पन्न स्वयंभू के अविनाशीपने तथा कथंचित् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने को सिद्ध किया है। आत्मा को इन्द्रियों के बिना भी ज्ञान और आनन्द होता है। यह आनन्द अतीन्द्रिय होता है। उसमें शारीरिक सुख दुखादि नहीं होते।[3] यहां शुद्धोपयोगाधिकार समाप्त होता है।

इसके बाद ज्ञानाधिकार प्रारंभ होता है, जिसमें क्रमशः अतीन्द्रिय ज्ञानरूप परिणत केवली भगवान को सर्वद्रव्यक्षेत्रादि प्रत्यक्ष हैं, कुछ भी परोक्ष नहीं है, ऐसा निरूपण किया गया है। आत्मा को ज्ञानप्रमाण तथा ज्ञान को ज्ञेयप्रमाण कहा गया है। ज्ञेय में लोकालोक गर्भित है अतः ज्ञान सर्वगत-सर्वव्यापक है। आत्मा को ज्ञान प्रमाण न मानने वालों के मत में दूषण बताते हुए लिखा है कि आत्मा को ज्ञानप्रमाण न मानने से आत्मा को ज्ञानहीन मानना पड़ेगा तथा ज्ञान को अचेतन मानना होगा और यदि आत्मा ज्ञान से अधिक माना जायेगा तो वह ज्ञान के बिना कैसे जानेगा? इस प्रकार आत्मा का ज्ञान की भांति सर्वगतत्व न्याय से सिद्ध होता है। आत्मा और ज्ञान में समवाय सम्बन्ध स्वभाव सिद्ध है, अतः दोनों में एकत्व है परन्तु ज्ञान की भांति आत्मा में अनन्त गुण हैं, वे परस्पर भिन्न लक्षण वाले हैं, अतः आत्मा और ज्ञान में कथंचित् अन्यत्व भी है। ज्ञान और ज्ञेय एक दूसरे में प्रविष्ट नहीं होते। जिस प्रकार चक्षु रूप को जानता है परन्तु रूप में प्रविष्ट नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञान

---

१. प्रवचनसार, गाथा १ से ११ तक टीका।
२. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, गाथा १२ से १६ तक।
३. वही, गाथा १७ से २० तक।

ज्ञेयों को जानता है, उनमें प्रविष्ट नहीं होता। ज्ञान पदार्थ में प्रवृत्त होता है तथा पदार्थ ज्ञान में वर्तते हैं। यह प्रवृत्ति होने पर भी आत्मा परद्रव्य का ग्रहण त्याग नहीं करता।[1] जो वास्तव में श्रुतज्ञान के द्वारा ज्ञायक-स्वभावी आत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली कहलाता है। ज्ञान और श्रुत में अभेदपना है। आत्मा ज्ञानक्रिया का कर्त्ता तथा ज्ञान उसका करण है। आगे ज्ञान तथा ज्ञेय का स्वरूप दिखलाते हुए द्रव्यों की अतीत, अनागत पर्यायें भी तात्कालिक पर्यायों की भांति पृथक, रूप से ज्ञान में वर्तती हैं[2] इसकी सिद्धि की है। आगे अविद्यमान पर्यायों का कथंचित् विद्यमानपना तथा अविद्यमान पर्यायों की ज्ञानप्रत्यक्षता सिद्ध की गई है। इन्द्रिय ज्ञान में ही [illegible] ज्ञानपना संभव नहीं है। ज्ञेयार्थ परिणमनरूप क्रिया ज्ञान में से नहीं होती। वह क्रिया कर्मोदय के काल में अज्ञानी द्वारा स्वयं ही मोह राग द्वेषादि रूप परिणमित होने से, अज्ञानी के होती है, वह उस क्रियाफल का भोक्ता भी है। आगे दृष्टांत पूर्वक लिखते हैं कि जिस प्रकार योग्यता का सद्भाव होने पर स्त्रियों में अनायास मायाचार युक्त प्रवृत्ति देखी जाती है, उसी प्रकार केवली भगवान के बिना प्रयास ही खड़े रहना, बैठना, विहार आदि क्रियायें स्वयमेव होती हैं, वे क्रियायें बन्ध साधक नहीं होती।[3] यहां यह भी स्पष्ट कहा है कि केवली भगवान की तरह समस्त संसारी जीवों के स्वभाव घात का अभाव नहीं है अपितु संसारी जीवों में कथंचित् स्वभाव का विघात विद्यमान है। अर्हंतों का पुण्योदय स्वभाव घात नहीं करता अतः अकिंचित्कर है। इसीलिए उदयापेक्षा उनकी क्रियायें औदयिकी कही जाती हैं परन्तु मोहादिरहित होने से क्षायिकी भी कहलाती हैं। अतीन्द्रिय ज्ञान सबको जानता है। जो सबको नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता। जो एक को नहीं जानता, वह सबको नहीं जानता। साथ ही क्रम से प्रवर्तमान ज्ञान सर्वगत सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिए युगपत् प्रवृत्ति मानने पर ही ज्ञान का सर्वगतत्व सिद्ध होता है। अन्त में केवलज्ञानी के ज्ञप्तिक्रिया का सद्भाव होने पर भी बंधक्रिया का अभाव सिद्ध किया गया है।[4]

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, गाथा २१ से ३२ तक
२. वही, गाथा ३३ से ३७ तक।
३. वही, गाथा ३८ से ४४ तक।
४. वही, गाथा ४५ से ५२ तक।

यहां से सुख अधिकार प्रारंभ होता है। इसमें आरंभ में ज्ञान और सुख की अभिन्नता, अतीन्द्रिय ज्ञान की प्रधानता व उपादेयता और इंद्रियज्ञान की पराधीनता व हेयपना दिखलाया है। अतीन्द्रिय सुख का साधनभूत ज्ञान उपादेय है, तथा इन्द्रियज्ञान इन्द्रियसुख का साधक होने से हेय तथा निन्दनीय है। इन्द्रिय ज्ञान विषयों में युगपत् नहीं प्रवर्तता, वह प्रत्यक्ष भी नहीं होता, परोक्ष होता है। इन्द्रियाँ स्वयं पर हैं, उनके आश्रय से होने वाला ज्ञान परोक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान आत्माश्रित तथा सुख रूप है। केवलज्ञान को एकांततः सुखरूप न मानने का खण्डन तथा उसकी सुखस्वरूपता का मण्डन करते हुए केवलियों के ही परमार्थ सुख होता है इसका श्रद्धान कराया है।[1] आगे इन्द्रिय सुख को दुखरूप तथा आत्मसुख के लिए शरीर सुख का खण्डन किया है। वैक्रियक शरीर भी सुख का कारण नहीं है। आत्मा स्वयं सुख शक्ति संपन्न है अतः उसे विषय सुख अकार्यकारी है। अन्त में आत्मा का सुखस्वभाव दृष्टांतों द्वारा दृढ़ किया गया है।[2]

प्रथम विभाग का अन्तिम अधिकार शुभ परिणाम अधिकार है। इसमें इन्द्रियसुख के साधनों का विचार किया है। सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की पूजा, दान, शील तथा उपवासादि में प्रवृत्त आत्मा शुभोपयोगी है। शुभोपयोगी आत्मा इन्द्रिय सुख को प्राप्त करता है। वास्तव में इन्द्रिय सुख दुःखरूप ही है। इन्द्रिय सुख भृगुप्रपातउच्चपर्वतशिखर से पतित होने के समान है। इन्द्रिय सुख का जनक पुण्य है और उस पुण्य का साधक शुभोपयोग है, वह देवादिक की विभूति का कारण है तथा अशुभोपयोग नरकादि गतियों के दुःख का कारण है, परन्तु दोनो में आत्मीक सुख का अभाव होने के कारण दोनों समान हैं। दोनों में अन्तर नहीं है। शुभोपयोग जन्य पुण्य भी आगामी दुःखों का बीज होने से हेय है। पुण्योदय में तृष्णाबीज दुःखवृक्षरूप में वृद्धि को ही प्राप्त होता है। पुण्य भी सुखाभास रूप दुःख का ही साधन है। इन्द्रिय सुख पराधीन, बाधा-सहित, विनाशीक तथा बन्ध का कारण व विषम है अतः दुःख ही है। इसलिए जो जीव पुण्य तथा पाप में अन्तर मानते हैं वे घोर अपार संसार में ही परिभ्रमण करते हैं।[3] अतः शुभ और अशुभ उपयोग में विशेषता

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, गाथा ५३ से ६३ तक।
२. वही, गाथा ६४ से ६८ तक।
३. वही, गाथा ६९ से ७७ तक।

न मानकर दुःखक्षय के कारणभूत शुद्धोपयोग ही शरणभूत मानना चाहिए। मोह सेना को जीतने का उपाय बताते हुए लिखा है कि जो अर्हन्त को द्रव्य गुण तथा पर्याय से जानता है वह अपने आत्मा को भी जानता है, उसका मोह क्षय को प्राप्त होता है। आगे कहा कि शुद्धात्मानुभूति रूप चिंतामणि रत्न को पाकर उसे, प्रमादरूप चोर से बचाने हेतु जागृत रहना चाहिए। यही समस्त अर्हंतों द्वारा अपनाया गया विधान है जिससे कर्मक्षय किया जाता है, सभी अर्हंतो ने उससे कर्मक्षय किया है अतः अन्य को भी उसका उपदेश दिया गया है। शुद्धात्मस्वभाव का लुटेरा मोह तीन प्रकार का है – मोह, राग तथा द्वेषरूप। उसको भलीभांति जानकर नाश करना चाहिए।[1] मोहनाश के उपायों में सबसे पहले आगम का सम्यक् प्रकार अभ्यास करना चाहिए। जिनेन्द्र के शब्द-ब्रह्म में द्रव्य, गुण तथा उनकी पर्यायों को "अर्थ" कहा गया है। आत्मा भी गुण – पर्यायों रूप द्रव्य है। इस प्रकार जिनेन्द्रदेव का उपदेश प्राप्त होने पर ही पुरुषार्थ कार्यकारी होता है। आगे, मोहक्षय का मुख्य कारण स्वपरविवेक (भेदविज्ञान) की प्राप्ति है अतः उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करने का उपदेश दिया गया है। उक्त स्वपरविवेक की सिद्धि आगम के अनुसार करना चाहिए। क्योंकि जिनेन्द्रोक्त अर्थों के श्रद्धान बिना धर्मलाभ नहीं हो सकता। अन्त में आगमकुशल, निहतमोहदृष्टि तथा वीतराग चारित्र में आरूढ़ महात्मा श्रमण ही साक्षात् धर्म है इस प्रकार उक्त अधिकार समाप्त होता है।[2] साथ ही प्रथम विभाग जिसे प्रथम श्रुतस्कंध कहा है, वह भी समाप्त होता है।

२. ज्ञेपतत्त्वप्रज्ञापन –

इसमें प्रथम द्रव्यसामान्य अधिकार है जिसमें प्रारंभ में पदार्थों का सम्यक् स्वरूप द्रव्य-गुण-पर्याय का निरूपण किया गया है। इसके अंतर्गत विस्तार सामान्य समुदाय[3] एवं आयत सामान्यसमुदाय[4],

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति गाथा ७८ से ८५ तक।

२. वही, गाथा ८६ से १२ तक।

३. विस्तार अर्थात् चौड़ाई। यहाँ सर्वगुणों में व्याप्त द्रव्य को विस्तार सामान्य कहा है।

४. आयत अर्थात् लम्बाई। यहां कालापेक्षित क्रमभावी पर्यायों में व्याप्त द्रव्य को आयत सामान्य कहा है।

विस्तार विशेष[1] व आयत विशेष[2] का स्वरूप स्पष्ट किया है। पर्याय के द्रव्यपर्याय तथा गुणपर्याय दो भेद किये हैं। द्रव्यपर्याय भी दो प्रकार की कही गई है; प्रथम समानजातीय, जैसे पुद्गलस्कंध और द्वितीय असमानजातीय, जैसे मनुष्य देवादिपर्याय। गुणपर्याय भी दो प्रकार कही है; स्वभावरूप तथा विभावरूप। यहां प्रसंगोपात्त स्वसमय व परसमय की व्यवस्था भी दर्शाई है। पश्चात् क्रमशः द्रव्य का लक्षण तथा उसके सामान्य विशेषगुणों का उल्लेख, स्वरूप था सादृश्य दो प्रकार का अस्तित्व स्वरूप, द्रव्यों से द्रव्यांतर सथा सत्ता का अर्थान्तरत्व होने का खण्डन, उत्पाद व्यय-ध्रौव्य रूप सत् द्रव्य का लक्षण, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का कथंचित् अविनाभावीपना इत्यादि का अत्यंत गंभीर दार्शनिक सतर्क व सोदाहरण, स्वरूपस्पष्टोकरण किया है।[3] आगे उत्पादादि द्रव्य से भिन्न नहीं है, वे तीनों द्रव्यरूप है, उनका क्षणभेद ग्राह्य नहीं है इत्यादि का निरूपण है। द्रव्य के उत्पाद-व्यय ध्रौव्य का अनेक तथा एक द्रव्यपर्याय के द्वारा विचार किया गया है। सत्ता और द्रव्य में द्रव्यांतर नहीं है, पृथक्त्व तथा अन्यत्व का स्वरूप स्पष्टोकरण, अतद्भाव का स्वरूप, अतद्भाव का अर्थ सर्वथा अभाव नहीं है, सत्ता और द्रव्य में गुण गुणी भाव की सिद्धि, गुण गुणी में अनेकत्व का खण्डन, द्रव्य के सत् उत्पाद तथा पर्याय के असत् उत्पाद होने की सिद्धि. सत् का उत्पाद अन्यत्व द्वारा सिद्ध किया जाना, असत् का उत्पाद अन्यत्व द्वारा सिद्ध किया जाना, एक ही द्रव्य के अन्यत्व सथा अनन्यत्व में भासित विरोध का परिहार किया जाना इत्यादि प्रकरणों पर गंभीरता-पूर्वक विवेचन किया है।[4] तत्पश्चात् समस्त विरोधों को दूर करने वाली सप्तभंगी का स्वरूप दर्शाया गया है। सप्तभंगी के सात भग है। वे क्रमशः इस प्रकार है – स्यात् अस्ति, स्थात् नास्ति, स्यात् रवक्तव्य, स्यात् अस्तिनास्ति, स्यात् अस्ति अवक्तव्य, स्यात् नास्ति अवक्तव्य तथा स्यात् अस्ति अवक्तव्य। आगे मनुष्यादि पर्यायों को जीव की मोहयुक्त क्रिया के फल निरूपित किया गया है। मनुष्यादि पर्यायों में जीव के स्वभाव का कारण स्पष्ट करते हुए जावद्रव्य का द्रव्यापेक्षा अवस्थिति तथा पर्यायापेक्षा

---

१. यहां द्रव्य में सहभावी रूप से रहने वाले गुण को विस्तार विशेष कहा है।

२. यहां कालापेक्षित क्रमभावी द्रव्य से अभेद पर्याय को आयत विशेष कहा है।

३. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, गाथा ९३ से १०० तक।

४. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति गाथा १०१ से ११४ तक।

अनवस्थिति बतलाई गई है। जीव को अनवस्थितपने का कारण बतलाया है तथा संसार में बंध होने का कारण आदि भी स्पष्ट किया है। परमार्थ से आत्मा के द्रव्यकर्म का अकर्तापना है। आत्मा जिस स्वरूप परिणमित होता है वह चेतना ही है जो तीन प्रकार की है ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफल चेतना। उक्त तीनों चेतनाओं का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है। अंत में ज्ञेयतत्व रूप – उक्त ज्ञेयत्व को प्राप्त आत्मा की शुद्धता के निश्चय से ज्ञानतत्व की सिद्धि होती है – उससे आत्मोपलब्धि होती है, उसका अभिनंदन करते हुए उक्त अधिकार समाप्त किया है।[1]

इसी विभाग का द्वितीय अधिकार द्रव्यविशेष अधिकार है। इसमें द्रव्य के जीव तथा अजीवपने का निश्चय किया है। चेतना-उपयोग-मय को जीव तथा पुद्गल द्रव्यादि अचेतन द्रव्यों को अजीव कहा है। द्रव्य के लोक-अलोक का अंतर, क्रिया तथा मानवरूप से द्रव्य में विशेषता इत्यादि बातों पर विचार किया है। परिणाममात्र लक्षणवाला भाव है तथा परिस्पंदलक्षणवाली क्रिया है। जीव तथा पुद्गल में भाववती तथा क्रियावती शक्ति दोनों पाई जाती हैं। शेष द्रव्यों में केवल भाववती शक्ति होती है। गुणभेद के कारण द्रव्यभेद भी किया जाता है। मूर्त अमूर्त का लक्षण करते हुए इन्द्रियगाह्य को मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यों के गुण अमूर्त होते हैं - इस तरह निरूपण किया है। पुद्गलद्रव्य मूर्त है उसके गुण स्पर्श, रस, गंध तथा वर्ण है। विविध प्रकार के शब्द भी पुद्गल की ही पर्यायें हैं। पर्याय का लक्षण अनित्यत्व है तथा गुण का लक्षण नित्यत्व है। अमूर्त द्रव्यों के गुणों का भी सविस्तार वर्णन किया है।[2] आगे द्रव्य का प्रदेशवत्व रूप भेद भी दिखावा है। प्रदेशी-अप्रदेशी द्रव्यों का निवासी तथा अप्रदेशवत्व तथा प्रदेशवत्व-अप्रदेशवत्व का स्वरूप दर्शाया है। कालद्रव्य को अप्रदेशी (एक प्रदेशी) कहा है। कालद्रव्य के द्रव्य तथा पर्याय को स्पष्ट किया है। आकाश के प्रदेश का लक्षण लिखकर तिर्यक् प्रचय तथा उर्ध्वप्रचय का स्वरूप भी निरूपित किया है। कालद्रव्य में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपने की सिद्धि, उसके प्रदेशमात्रपना और अस्तित्व इत्यादि की सिद्धि करते हुए इस अधिकार का उपसंहार किया है।[3]

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, गाथा ११५ से १२६ तक।
२. वही, गाथा १२७ से १३४ तक।
३. वही, गाथा १३५ से १४४ तक,

उक्त विभाग का तृतीय अधिकार ज्ञान-ज्ञेयविभाग अधिकार है। इसमें ज्ञान तथा ज्ञेय में विशेष बताकर आत्मा का निश्चय व्यवहार तथा व्यवहार जीवत्व के हेतु का भी विचार किया है। जीव के इन्द्रिय, बल, आयु तथा शसोच्छ्वास ये प्राण है। ये प्राण पुद्गलमय हैं। पौद्गलिक कर्मफलों को जीव प्राणों से ही भोगता हैं। प्राण पुद्गलमय पुद्गलकर्मो के कारण भी है। पुद्गलप्राणों की प्रवाहपरंपरा का हेतु शारीरिक विषयों में ममत्व होता है। इस प्रवाहपरंपरा से निवृत्ति का का कारण उपयोगमयी आत्मा का ध्यान करना है। यहाँ पर्यायों के भेद को स्पष्ट किया है। आत्मा को अत्यंत विभक्त करने के लिए परद्रव्य के संयोग का कारण शुभ-अशुभ रूप अशुद्धोपयोग बताया है, शुभ तथा अशुभोपयोग का स्वरूप भी लिखा है। उभयप्रकार के अशुद्धोपयोग को नाश करने हेतु अन्य द्रव्यों में मध्यस्थ होने का अभ्यास करना चाहिये। शरीर, मन तथा वाणी, रूप मैं नहीं हूं,उनका कारण, कर्ता या कारयिता भी नहीं हूं अतः उनके प्रति भी मध्यस्थ होने का अभ्यास करना चाहिए। शरीर. मन तथा वाणी ये परद्रव्य ही हैं तथा आत्मा में परद्रव्या का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तापना भी नहीं होता।[1] आगे परमाणु रूप परिणति कैसे होती है? इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्निग्धत्व तथा रूक्षत्व को उसका कारण बतलाया। साथ ही यह भी नियम बताया कि समान से दो अंश अधिक वाले परमाणुओं में ही बंध होता है। जघन्य (एक) अंश में बंध नहीं होता। स्निग्ध अथवा रूक्ष परमाणुओं में दो और चार तीन और पांच अंशवाले परमाणु ही बंधन को प्राप्त होते हैं। आत्मा के पुद्गल पिण्डों का कर्तापना नहीं है। वह पुद्गलपिण्डों को लाने वाला भी नहीं है। वह उन्हें कर्मरूप भी नहीं करता। आत्मा शरीर की क्रियाओं का भी कर्ता नहीं है। आत्मा के शरीरत्व का अभाव ही है। पांचों प्रकार के शरीर पुद्गलमय ही हैं। आगे जीव का असाधारण लक्षण चेतनागुण बताते हुए उसे रस, रूप, गंध, व्यक्ति, शब्द तथा लिंगग्राह्यता आदि से रहित हो बताया है।[2] आत्मा के स्निग्ध रूक्षपने के अभाव में उसका बंध किस प्रकार संभव है? इस कठिन बात को दृष्टांत द्वारा इतना सुगम बनाकर समझाया गया हैं कि आबालगोपाल भी उसे समझ सकता है। यहां भाव बंध

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति, गाथा १४५ से १६४ तक,

२. वही, गाथा १६५ से १७२ तक।

का स्वरूप तथा उसके निमित्त हेतुरूप द्रव्यबंध को भी समझाया है। उनमें परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव दर्शाया है। यह भी कहा है कि रागी ही कर्मबंध करता है, रागरहित आत्मा कर्मों से मुक्त होता है। परिणामों के दो प्रकार हैं; परद्रव्य के प्रति प्रवर्तमान परिणाम तथा स्वद्रव्य में प्रवर्तमान परिणाम। प्रथम दुख के कारण है, दूसरे दुःख क्षय (सुख) के कारण हैं। अतः स्व में प्रवृत्ति तथा पर से निवृत्ति के लिए स्व पर का भेद समझाया है। स्व-पर का भेदज्ञान ही स्व-प्रवृत्ति का निमत्ति है तथा उसका अज्ञान ही पर-प्रवृत्ति का कारण है।[1] आगे आत्मा को अपने स्वभाव भावों का कर्ता तथा पुद्गलद्रव्यमय सर्व परभावों का अकर्त्ता लिखा है। परभावों का कर्त्ता आत्मा इसलिए नहीं है क्योंकि उसके परद्रव्य का ग्रहणत्याग नहीं होता। संसारावस्था में पुद्गल परिणामों को निमित्तमात्र करके आत्मा को अशुद्ध परिणाम का कर्ता कहा। कर्मों में ज्ञानावरणादि रूप विचित्र परिणमन स्वयमेव अपनी अपनी योग्यता से होता है, जिस प्रकार नवीन मेघजल का भूमि से संयोग होने पर हरियाली, कुकरमुत्ता (छत्ता) और इन्द्रगोप (लाल कीड़े) स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं, उनका कोई कर्ता नहीं है। अकेला आत्मा ही रागदि मुक्त होकर कर्मरज से सम्बद्ध होता हुआ बंध कहलाता हैं।[2] आगे निश्चय-व्यवहार में अविरोध दर्शाते हुए। शुद्धद्रव्य निरूपक निश्चयनय साधकतम होने से ग्राह्य या उपादेय बताया है तथा व्यवहारनय हेय बताया है। अशुद्धनय से अशुद्धात्मा तथा शुद्धनय से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है। ध्रुव होने के कारण शुद्धात्मा ही प्राप्त करने योग्य है। अध्रुव होने से आत्मा के सिवा अन्य समस्त पर पदार्थ प्राप्त करने योग्य नहीं है। शुद्धात्मा की प्राप्ति से मोहग्रन्थि का नाश होता है। मोहग्रन्थि के नाश होने से रागद्वेष का क्षय, श्रमणता की प्राप्ति तथा अनंत-अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। मोह के नाश से, सहजचैतन्य स्वभाव का ध्यान होता है जो आत्मा में अशुद्धता को आने से रोकता है। मोहक्षय हो जाने के कारण केवलज्ञानी आत्मा समस्तज्ञेयों का ज्ञायक होता है परन्तु उनके किसी प्रकार की अभिलाषा-जिज्ञासा नहीं होती। वह केवलज्ञानी आत्मा निरंतर परमसुख का ही ध्यान

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति, गाथा १७३ से १८३ तक।

२. वही, गाथा १८४ से १८८ तक।

करता है।[1] शुद्धात्मा की उपलब्धि स्वरूप ही मोक्षमार्ग है, उसका स्वरूप दिखाया है। अंत में उपसंहार करते हुए आचार्य स्वयं साम्य नामक परमश्रमणता को प्राप्त करते हैं। टीकाकार ने यह सूचना भी दी है कि चरण (चारित्र) द्रव्यानुसार होता है तथा द्रव्य चरणानुसार होता है। दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। इसलिए किसी का भी आश्रय लेकर मुमुक्षुओं को मोक्षमार्ग में आरोहण करना चाहिए।[2] इस प्रकार ज्ञान-ज्ञेयविभाग अधिकार तथा द्वितीय श्रुतस्कंध रूप द्वितीय विभाग भी समाप्त होता है।

३. चरणानुयोग चूलिका –

अब अन्तिम विभाग प्रारंभ होता है जिसका नाम चरणानुयोग सूचक चूलिका है। इसमें प्रथम आचरण अधिकार पर प्रकाश डाला गया है। टीकाकार आरम्भ में लिखते हैं कि द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है। अतः ऐसा जानकर कर्मों से विरत दूसरों को भी द्रव्य के अनुकुल चारित्र धारण करना चाहिए। प्रथम जिनवरवृषभों (अर्हंतों) को नमस्कार तथा श्रमणों को प्रणाम करके श्रमण होने के लिए विधान निरूपित किया है। श्रमण बनने का इच्छुक पहले बंधुवर्ग, माता-पिता, स्त्री, पुत्रादि से अपने को छुड़ाता है। सभी की सम्मति लेने का अर्थ यह है कि यदि अन्य भव्य जीव अल्पसंसारी हो तो वह भी वैराग्य को प्राप्त करें। पश्चात् ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वर्याचार इन पांचों को अंगीकार करके दीक्षागुरु के समक्ष प्रणत तथा अनुगृहीत होता है। फिर वह यथाजातरूप धारी - नग्नावस्था को प्राप्त होता है। २८ मूलगुणों का धारी होता है। इसे प्रमत्त दशा वाला श्रमण कहते हैं।[3] वह छेदोपस्थापक भी कहलाता है। आगे प्रवज्यादायक गुरु वनिर्यापक गुरु आदि का लक्षण समझाया है। आगे संयमछेद के आयतनों का परिहार करने का उपदेश दिया है। छेद का स्वरूप स्पष्ट किया है। छेद के विभिन्न प्रकार भी दर्शाये हैं। आगे उत्सर्ग को ही वस्तुधर्म बताया है, अपवाद को नहीं। अपवाद के भेदों को समझाते हुए यह भी लिखा है कि

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति. गाथा १८६ से १६८ तक।

३. वही, गाथा १६६ से २०० तक।

२. वही, गाथा २०१ से २०६ तक।

मुनियों के समस्त प्रकार के लोकव्यवहार नहीं होते।[1] अन्त में युक्ताहार-विहार का सविस्तार निरूपण किया है। उत्सर्ग तथा अपवाद मार्ग की मैत्री संस्थापित करके आचरण को सुस्थित बनाना चाहिए। उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद मार्ग होता है। उपसंहार करते हुए टीकाकार ने सर्वप्रकार से निजद्रव्य में ही स्थिति करने की प्रेरणा की है।

अंतिम विभाग का द्वितीय अधिकार मोक्षप्रज्ञापन है, उसका प्रतिपाद्य इस प्रकार है। श्रमण का प्रमुख कार्य आगमाभ्यास-आगमज्ञान है। आगमज्ञान बिना श्रमण मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता। मोक्ष-मार्ग में चलने वाले के लिए आगम ही एकमात्र चक्षु है। मुनि को आगम चक्षु (आगम की आज्ञा का ज्ञाता) होना चाहिए। समस्त जगत के प्राणी इन्द्रिय चक्षु वाले होते हैं। देव अवधिचक्षु वाले तथा अर्हंत-सिद्ध सर्वतः चक्षु वाले होते हैं। आगम चक्षुओं का ऐसा माहात्म्य है कि उनसे सब कुछ दिखाई देता है। आगम चक्षुओं को कुछ भी अज्ञात नहीं रहता।[2] आगे कहा है कि आगमज्ञान, तत्पूर्वक तत्त्वार्थ श्रद्धान तथा उन दोनों पूर्वक संयम इन तीनों का युगपत् होना ही मोक्षमार्ग है। आगम-ज्ञान बिना तत्त्व-श्रद्धान तथा श्रद्धान बिना संयम मोक्षमार्ग का विधायक नहीं होता। अज्ञानी लाखों करोड़ों भवों तक जो कर्म खपाता है, वह कर्म ज्ञानी त्रिगुप्ति द्वारा उच्छ्वासमात्र में खपा देता है। यहां आत्म-ज्ञान की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करते हुए टीकाकार ने स्पष्ट लिखा है कि आत्मज्ञान शून्यसाधक के सर्व आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयम की युगपतता भी अकिंचित्कर है। वे कुछ भी नहीं, कर सकते। अतः उक्त तीनों के साथ आत्मज्ञान का समवेतपना आवश्यक है।[3] उपरोक्त आत्म-ज्ञान सहित आगमज्ञान, तत्त्वश्रद्धान व संयम धारी की प्रवृत्ति शत्रु-मित्र, सुख-दुख, प्रशंसा-निंदा, सोना-मिट्टी तथा जीवन-मरण में समभावरूप होती है। ऐसा श्रमणपना ही मोक्ष का मार्ग है। जो मुनि एकमात्र आत्मा को प्रमुख करके एकाग्र नहीं होता तथा अन्य द्रव्यों का आश्रय करके अनेकाग्र होता है, वह आत्मज्ञान भ्रष्ट होने से मुक्ति को नहीं पाता। इसलिए आत्मा की एकाग्रता ही मोक्षमार्ग है।[4]

---

१. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, गाथा २१० से २२६ तक।
२. वही, गाथा २२७ से २३५ तक।
३. वही, गाथा २३६ से २४० तक। ४. वही, गाथा २४२ से २४४ तक।

अब उक्त विभाग का तृतीय प्रकरण शुभोपयोग प्रज्ञापन अधिकार प्रारंभ होता है। यहां प्रथम ही शुभोपयोगी मुनियों को अप्रधान – गौण सिद्ध किया है। कारण कि शुभोपयोगी आस्रववान है तथा शुद्धोपयोगी निरास्रव है। शुभोपयोगी श्रमणों की प्रवृत्ति, तत्त्वोपदेश, शिष्यग्रहण तथा उनके पोषण रूप और जिनेन्द्रपूजा की उपदेशक होती है। यद्यपि शुभोपयोगी की प्रवृत्ति लेप (कर्मबन्ध) का कारण होती है, तथापि अनेकांत से पवित्र हृदय वाले शुद्ध जैनों के प्रति तथा शुद्धात्मा के ज्ञान-दर्शन में प्रवर्तमान आत्माओं के प्रति शुद्धात्मा के सिवा अन्य समस्त बातों की अपेक्षा किये बिना अनुकम्पा आदि शुभप्रवृत्ति करने का निषेध नहीं है। उक्त भूमिका में तथोक्त प्रवृत्ति बिना स्व-पर की शुद्धात्म परणति की रक्षा संभव नहीं है। शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति के लिए काल का नियम भी दिखाया गया है। शुभोपयोग युक्त लौकिक जनों से बातचीत कब करना चाहिए, कब नहीं ? इसका भी नियम दर्शाया है।[1] शुभोपयोग के कारण-विपरीतता होने से फलविपरीतता भी सिद्ध की गई है। शुभोपयोग शुभबंध का कारण है मोक्ष का कारण नहीं है। शुभोपयोग युक्त विषय-कषायासक्त जनों की सेवा, उपकार या दान करने वाले जीवों को जो पुण्य की प्राप्ति होती है, उसका फल कुदेव तथा कुमानुष होता है।[2] कारण की विपरीतता से फल की अविपरीतता सिद्ध नहीं होती। अविपरीत फल का कारण अविपरीत कारणपना है। अतः ऐसे अविपरीत कारणों में ही प्रवृत्ति करना चाहिए। श्रमणों को अपने से अधिक गुणी श्रमणों के प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, अंजलीकरण तथा प्रणामादि का निषेध नहीं है। आगे श्रमणाभास का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आगमज्ञानी, संयमी, तपस्वी होने पर भी जिनोक्त विश्व के तत्त्वों का जो ज्ञाता नहीं होता तथा आत्मप्रधान पदार्थश्रद्धान नहीं करता, वह मुनि श्रमणाभास है। यहां यह भी कहा है कि जो जिनोक्त शासन में लीन यथार्थ श्रमण को देखकर द्वेष करता है वह चारित्र को नष्ट करता है। जो श्रमण हीन गुण वाला होकर भी "मैं श्रमण हूं" ऐसे अभिमानवश अधिक गुणी श्रमण से अपनी विनय कराना चाहता है, ऐसे दोनों प्रकार के श्रमण विनाश को प्राप्त होते हैं, वे

---

१. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति गाथा २४५ से २५४ तक।

२. वही, गाथा २५५ से २५७ तक।

अनंत संसारी भी है।[1] अब बतलाते हैं कि जो मुनि सूत्रज्ञाता, शांत परिणामी तथा तपस्वी भी है परन्तु वह यदि लौकिक जनों का संपर्क नहीं छोड़ता तो वह संयमी नहीं है। लौकिक का लक्षण स्पष्ट करते हुए बताया है कि जो निर्ग्रन्थ दीक्षाधारी, संयमी, तपस्वी भी है परन्तु वह लौकिक कार्यों सहित प्रवर्तता है, वह मुनि भी लौकिक ही है।[2] इस तरह यह अधिकार भी समाप्त हुआ।

आगे उक्त विभाग के चतुर्थ प्रकरण पंचरत्न प्रज्ञापन अधिकार को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम संसारतत्त्व का उद्घाटन किया है। वहाँ कहा है कि जो भले ही द्रव्यलिंग से नग्नरूपधारी हो परन्तु "वस्तुस्वरूप ऐसा ही है" ऐसा अस्खलित श्रद्धानी नहीं है, वह संसारतत्त्व है, वह आगामी पंचपरावर्तनों में परिभ्रमण करेगा। पुनः मोक्षतत्त्व का उद्घाटन करते हुए लिखा है कि जो यथार्थ तत्त्वश्रद्धानी होने से प्रशांतात्मा है, विपरीत आचरण से रहित है, ऐसा श्रमण संसार में अधिक काल तक नहीं रहता अर्थात् शीघ्र मोक्ष को पाता है। अब मोक्ष तत्त्व के साधनतत्त्व का भी अभिनंदन करते हैं कि शुद्धोपयोगी के ही श्रमणपना, दर्शन-ज्ञान तथा निर्वाण होता है। उसी के सिद्धदशा प्रगटती है अतः शुद्धोपयोगी साधनतत्त्व है। अंत में शिष्य जन को शास्त्र के फल में लगाते हुए लिखा है कि जो साकार अनाकार चर्या से युक्त वर्तता हुआ प्रवचनसार के उपदेश को जानता है, वह अल्पकाल में ही प्रवचन के सारभूत भगवान् आत्मा को प्राप्त करता है।[3] यहाँ तृतीय श्रुतस्कंध चरणानुयोग सूचित चूलिका समाप्त होती है।

इस ग्रन्थ की टीका का वैशिष्ट्य यह भी है कि उक्त ग्रन्थ की टीका समाप्ति के पश्चात् टीकाकार ने एक परिशिष्ट जोड़ा है जिसमें "आत्मा कौन है?" और "उसे कैसे प्राप्त किया जाता है? इन दोनों का उत्तर सार रूपेण पुनः देते हुए लिखा है कि आत्मा वास्तव में चैतन्य सामान्य से व्याप्त अनंतधर्मों का अधिष्ठाता है, एक द्रव्य रूप है। अनंतधर्मों में व्याप्त अनंत नयात्मक भी है, तथापि वे अनंत धर्म एक श्रुतज्ञान से

---

१. वही, गाथा २५८ से २६७ तक।

२. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका गाथा २६८ से २७० तक।

३. वही, गाथा २७१ से २७५ तक।

अभिव्याप्त है, अतः वह श्रुतज्ञान प्रमाण रूप है तथा स्वानुभव द्वारा प्रमेय है। उसे ४७ नयों द्वारा निरूपित किया है। उस आत्मा को स्यात्कार मुद्रा वाले जिनेन्द्र के शासन द्वारा प्राप्त करते हैं। उपसंहार में टीकाकार ने ग्रंथ की व्याख्या करने का निषेध करते हुए लिखा है कि प्रवचनसार की इस व्याख्या का व्याख्याता अमृतचन्द्रसूरि को बताकर जगज्जनों मोह में मत नाचो। स्याद्वाद विद्या बल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा एक शाश्वत-समस्त स्वतत्त्व को प्राप्त करके आनंदरूप से नाचो। टीकाकार लिखते हैं कि चैतन्य स्वभाव की ऐसी महिमा है कि उसके समक्ष सारा वर्णन तुच्छता को प्राप्त होता है क्योंकि इस जगत् में एकमात्र चैतन्यतत्त्व ही परम श्रेष्ठ तत्त्व है, अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार सम्पूर्ण तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति का प्रतिपाद्य है। उक्त विषय को परम गंभीर, दार्शनिक [illegible] से परिपूर्ण तथा अमृतचन्द्र की विलक्षण युक्तियों, तर्कों, न्यायों, दृष्टान्तों, प्रौढ़गद्यकाव्य शैलियों से मंडित है और अमृतचन्द्राचार्य के उच्चकोटि के दार्शनिक ज्ञान व व्यक्तित्व की परिचायक है।

पाठानुसंधान :-

"तत्त्वप्रदीपिका टीका भी तात्त्विक, दार्शनिक तथा गंभीरनिरूपण की दृष्टि में सर्वोपरि एवं अप्रतिम है। "आत्मख्याति" टीका की भांति इसकी भी ताड़पत्रीय, हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ बड़ी संख्या में उपलब्ध होती हैं। भारत के कोने-कोने में विद्यमान जैन शास्त्रभण्डारों में इसकी प्रतियाँ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। इसके भी देश तथा विदेश से कई प्रकाशन एवं संस्करण निकल चुके हैं। वे संस्करण हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी आदि विभिन्न भाषाओं में हैं। इसकी ताड़पत्रीय एक प्रतिलिपि कन्नड़ भाषा में महाराष्ट्र के कोल्हापूर जिले के बाहुबलि कुम्भोज नामक स्थान में सरस्वती भण्डार में उपलब्ध है। इसकी कई मुद्रित प्रतियों के पाठों को तुलनात्मक दृष्टि से अवलोकन करने पर पाठभेद तथा मुद्रण विषयक त्रुटियाँ मिलती हैं। यहाँ मुद्रित प्रतियों में तुलना की जाती है। ये प्रतियाँ १९६४ ई. अगास (गुजरात), १९६४ ई. सोनगढ़ (सौराष्ट्र), १९७० ई. महावीरजी (राजस्थान) तथा १९७५ ई भावनगर से प्रकाशित हैं। इनके संपादक क्रमशः प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, पं. हिम्मतलाल जे. शाह, पं. अजितकुमार शास्त्री व रतनचन्द्र मुख्तार तथा पं. हिम्मतलाल जे. शाह हैं। तुलनात्मक पाठभेद के उदाहरण इस प्रकार है -

आ. कं.	अगास प्रति	सोनगढ़ प्रति,	महावीरजी प्रति,	भावनगर प्रति
२	एष	एष	एषः	एष
३	तीर्थनायकैः	तीर्थनायकैः	तीथनायकैः	तीर्थनायकैः
९	टीका है	टीका है	टीका मुद्रित नहीं	टीका है
१०	मविरोधाच्च	मविरोधोच्च	मविरोधाच्च	मविरोधाच्च
१३	प्रार्थनीयम्	प्रार्थनीयम्	प्राथनीयम्	प्रार्थनीयम्
१५	विजृम्भित	विजृम्भित	विज्जम्भित	विजृम्भित
२२	क्षयक्षण एव	क्षयक्षण एव	क्षयक्षणे एव	क्षयक्षण एव
२२	वलाधान	वलाधान	वलाधान	वलाधान

इसप्रकार तुलनात्मक विवरण से स्पष्ट होता है कि अगास, सोनगढ़ तथा भावनगर की प्रतियों के पाठ शुद्धरूप से मुद्रित हैं तथा महावीरजी की प्रति का पाठ शुद्धरूप से मुद्रित नहीं है।

परम्परा :-

तत्त्वप्रदीपिका टीका में द्रव्यानुयोग विषयक गम्भीर सैद्धांतिक निरूपण है। इसमें ज्ञानतत्त्व ज्ञेयतत्त्व तथा चरणानुयोग का मार्मिक स्पष्टीकरण हुआ है तथा स्वात्मोपलब्धि का श्रेष्ठ मार्ग प्रदर्शित किया गया है। इसमें भी पूर्वाचार्य परम्परा में निरूपित सिद्धांतों का सम्पोषण एवं व्यापक स्पष्टीकरण हुआ है। दार्शनिकता का उत्कर्ष, प्रौढ़ता का परिपाक तथा पाण्डित्य का प्रदर्शन, तीनों युगपत् प्रकट हुए हैं। तत्त्वप्रदीपिका का व्यापक प्रचार प्रसार तथा उसके आधार पर अनेक अन्य टीकाओं, भाष्यों आदि की विपुलमात्रा में रचना एवं प्रकाशन आचार्य अमृतचन्द्र की कृति की महानता के द्योतक हैं। आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक सिद्धान्तों की परम्परा का पूर्णतः निर्वाह हुआ है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने पूर्व की हजार वर्षीय परम्परा को प्रदीप्त कर अपने पश्चात्वर्ती लेखकों एवं तत्त्वरसिकों की आगामी हजारों वर्षों की परम्परा को प्रकाशित किया है।

निरूपण प्रणाली :-

तत्त्वप्रदीपिका में आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रौढ़, दार्शनिक एवं तार्किक प्रणाली को अपनाया है। समस्त निरूपण युक्ति, तर्क, आगमप्रमाण तथा दृष्टांतों से मंडित है। न्यायशैली में अनुमान के अंग, प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन का विशेष प्रयोग किया है। सिद्धान्तों की सिद्धि, सयुक्तिक परमत खण्डन तथा स्वमत मण्डन के साथ की है। इस टीका में

अमृतचन्द्र ने साहित्यिक निरूपण शैलियों के प्रौढ़तम प्रयोग किये हैं। अंत में स्वरूप मग्नता के साथ ही टीका की समाप्ति की है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी अन्य टीकाकृतियों की भांति इस टीका में भी अंत में टीका के कर्तापने का निषेध किया है एवं स्वरूप मग्न होने की घोषणा की है। यह विशेषता अमृतचन्द्र की प्रायः सभी कृतियों में पाई जाती है। इसप्रकार इस कृति में भी आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी विशेष निरूपण प्रणाली की छाप छोड़ी है।

ग्रन्थ वैशिष्ट्य :-

उक्त ग्रन्थ के कुछ वैशिष्ट्य इसप्रकार हैं -

१. अनेक लौकिक-अलौकिक निरूपण शैलियों का प्रयोग है।
२. भाषा प्रौढ़, क्लिष्ट तथा दुर्गम है।
३. सैंतालीस नयों द्वारा आत्मा के अनेकांत स्वरूप की सिद्धि करना अमृतचन्द्र की एक अपनी ही विशेषता है। ऐसा निरूपण अन्यत्र दुर्लभ है।
४. सर्वत्र समासबहुल, प्रवाह प्रचुर तथा विस्मयोत्पादक विचारधारा प्रवाहित हुई है।
५. सिद्धांत-निरूपण में निर्भीकता एवं दृढ़ता का परिचय प्राप्त होता है। चारित्र के सम्बन्ध में वे स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सरागचारित्र अनिष्ट फलवाला, पुण्यबंध प्राप्ति का हेतु, देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभवरूप क्लेश तथा बंध का कारण है, अतः हेय है और वीतराग चारित्र इष्टफलवाला, मोक्षप्राप्ति का हेतु, सर्वक्लेशरहित मोक्ष का कारण है, अतः उपादेय है।[1] यह अमृतचन्द्र की सैद्धांतिक दृढ़ता तथा निर्भीक घोषणा है, जो अपने आप में एक विशेषता है।
६. इसीप्रकार शुभोपयोग को विरोधी शक्ति सहित, स्वकार्य करने में असमर्थ तथा गरम घी की भांति जलन पैदा करनेवाला होने से हेय कहा और शुद्धोपयोग को विरोधी शक्ति रहित, स्वकार्य करने में समर्थ, निराकुल सुख पैदा करनेवाला होने से उपादेय बताया। उन्होंने अशुभोपयोग को अत्यन्त हेय, शुभोपयोग को हेय तथा शुद्धोपयोग को एक मात्र उपादेय सिद्ध किया है।[2]

---

१. प्रवचनसार, गाथा ५-६ की टीका।
२. वही, गाथा ११-१२।

तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा उससे अनुप्राणित टीकाएँ एवं टीकाकार

१. ई. ९५०, टीका नाम–तत्त्वप्रदीपिका, टीकाकार नाम–आ. अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जानकारी, स्रोत – उपलब्ध ।

२. ई. ९८० – १०६५, टी. प्रवचनसार सरोज-भास्कर, टी. ना. – आ. प्रभाचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – प्र. क. मार्तण्ड – ६७, जै. प्रा. इति. भाग २, पृ. २८४ ।

३. ई. ११२८, टी. – भाषाटीका, टी. ना. – आ. मल्लिषेण, भाषा – तमिल, जा. स्रो. – जै. सि. को. ३/३००, जै. सा. वृ. इ. ४/१५० ।

४. ई. १२ – १३ शती, टी. – भाषा टीका, टी. ना. – मु. बालचन्द्र, भाषा – कन्नड़, जा. स्रो. – जै. सा. वृ. इ. ४/१५० ।

५. ई. १२४३ – १३२३ टी. तात्पर्यवृत्ति, टी. ना. – आ. जयसेन, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – उपलब्ध ।

६. ई. १५२०, टी. – प्रवचनसार प्राभृतवृत्ति, टी. ना. – ब्र. रत्नदेव, भाषा – कन्नड़, जा. स्रो. – जै. सा. वृ. इ. ४/२८८ ।

७. ई. १५९४ टी. – प्रवचनसार टो. टीना. – पद्मंदिरगजी, भाषा– हिन्दी, जा. स्रो. – जै. सा. वृ. ई. ४/१५० ।

८. ई. १६५२, टी. – प्रवचनसार भाषाटीका, टी. ना. – पं. हेमराज भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – जै. सि. को. ४/५४४, जै. सा. वृ. इ. ४/१५०, प्र. परमागम प्र. पृ. ।

९. ई. १६७० टी. प्रवचनसार टीका, टी. ना. – अज्ञात, भाषा – जा. स्रो. – जै. सा. वृ. इ. ४/२८८ ।

१०. ई. १६७२, टी. प्रवचनसार भाषा टीका, टी. ना. – पं. जोधराज गोदीका, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – जै. सि. को २/३४५ ।

११. ई. १७५५ – ६७ टी. प्रवचनसार छंद, टी. ना. – कविदेवीदयाल, भाषा हिन्दी-पद्य, जा. स्रो. – जै. सि. को ३/१४९ ।

१२. ई. १७७१ टी. प्रवचनसार, टी. ना. – पं. देवीदास गोधा, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – जै. इ. राज. पृ. १५९ ।

१३. ई. १७९१ – १८४८, टी. प्रवचनसार परमागम, टीका ना. – कवि वृन्दावन, भाषा – हिन्दी-पद्य जा. स्रो. – उपलब्ध है ।

१४. ई. १९३५ टी. प्रवचनसार, टी. ना – प्रो. ए. एन. उपाध्ये भाषा – अंग्रेजी, जा. स्रो. – उपलब्ध ।

१५. ई. १९७८, टी. – प्रवचनसार, टी. ना. – पं. धन्यकुमार भोरे, भाषा – मराठी, जा. स्रो. – उपलब्ध ।
१६. ई. १९४० टी. – प्रवचनसार, टी. ना. – पं. हिम्मतलाल जे. शाह, भाषा – गुजराती, जा. स्रो. – उपलब्ध ।
१७. ई. १९२५ टी. – श्री प्रवचनसार टीका, टी. ना. – ब्र. शीतलप्रसाद भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – उपलब्ध ।

तत्त्वप्रदीपिका टीका तथा तदनुसारी टीकाओं की पाण्डुलिपियां

अ :– ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियाँ –

१. लिपि – १५४३, टी. बालचंद्र, लि. वर्धमान सेट्टि, भाषा – कन्नड़, जा. स्रो. – क. प्रा. ता. ग्र. सू. पृ. २०४ ।
२. लिपि – १८७६, टी. – आ. अमृतचन्द्र, लि. – बघ, भाषा – कन्नड़, जा. स्रो – बाहुबलि कुंभोज में ।
३. लिपि – टी.·····आ. अमृतनंदि भाषा – कन्नड़, जा. स्रो. – क. प्रा. ता. ग्र. सू. पृ. १५ ।
४. लिपि·····टी. – पद्मनंदि, भाषा – कन्नड़, जा. स्रो. – क. प्रा. सा. ग्र. सू. पृ. १५ ।

ब :– कागज पर पाण्डुलिपियां –

१. लिपि – १४०७, टी. – आ. अमृतचंद्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – रा. जै. शा. भ. सू. ५/२१० ।
२. लिपि – १४३९, टी. – आ. जयसेन, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – जै. इ. राज. पृ. १९७ ।
३. लिपि – १५२०, टी. – ब्र. रत्नदेव, भाषा – कन्नड़, जा. स्रो. – जै. सा. वृ. इ. ४/२८८ ।
४. लिपि – १५२०, टी. – ब्र. रत्नदेव, भाषा – कन्नड़, जा. स्रो. – जै. इ. राज. पृ. ७९ ।
५. लिपि – १५४८, टी. – पं. प्रभाचन्द्र, भाषा – कन्नड़ जा. स्रो. – रा. जै. शा. भ. सू. ५/२१० ।
६. लिपि – १६५०, टी. – आ. अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – अने. जून ४१, पृ. ३४५ – ३५५ ।
७. लिपि – १६७०, टी. – अज्ञात, भाषा – जै. सा. वृ. इ. ४/२८८ ।
८. लिपि – १६७२, टी. – जोधराज गोदीका, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – ते. जै. मं. जयपुर, गु. नं. ११९४ ।

९. लिपि – १६८३, टी. – पं. धोधराज जोदीका, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – रा. जै. शा. भ. सू. ४/४१४।
१०. लिपि – १७२४, टी. पं. जोधराज गोदीका, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – अने. जून ४१, पृ. ३४६ – ३५५।
११. लिपि – १७३६, टी. – आ. अमृतचंद्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – ते. जै. में. जयपुर, वे नं. ११८३।
१२. लिपि – ९७३८ टी. – आ. अमृतचंद्र भाषा – संस्कृत जा स्रो. – रा जै शा भ सू. ४/११३।
१३. लिपि – १७४७, टी. – आ जयसेन, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो – अने. जून ४१ पृ. ३४६ – ३५५।
१४. लिपि – १७७१ टी. पं. देवीदास, भाषा – हिन्दी, जा स्रो. – ते जै. मं. जयपुर वे. नं. ११९५।
१५. लिपि – १७७८, टी. पं. हेमराज, भाषा – हिन्दी, जा स्रो. – अने. जून ४१ पृ. ३४६ – ३५५।
१६. लिपि – १७८९, टी. – पं. जोधराज, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – जै. सा वृ. इ. ४/२३७।
१७. लिपि – १८७०, टी. – पं वृन्दावन, भाषा – हिन्दी, पद्य जा. स्रो.– रा. जै. शा. भ. सू. ३/४२।
१८. लिपि – १८७६, टी. पं. वृंदावन, भाषा – हिन्दी, पद्य, जा. स्रो. – जै शा. भ. सू. ४/११४।
१९. लिपि – १८९५ टी. – पं. हेमराज, भाषा – हिन्दीगद्य, जा स्रो – रा जै. रा. शा. भ. सू. ३/१९३।
२०. लिपि – १९०२ टी – बालचंद कन्नड़, लि. – भुजवलि अनंतप्पा शास्त्री, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – प्रवचनसार प्र. पृ १०३ उपाध्ये।
२१. लिपि – टी. पं हेमराज (१६५२), हिन्दी – भाषा, जा. स्रो. – रा. जै शा. भ. सू ३/१९३।
२२. लिपि·····टी. पं. हेमराज, भाषा – हिन्दी, जा स्रो – रा. जै. शा भ. सू. ३/४२।
२३. लिपि·····टी. आ. अमृतचंद्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – रा. जै शा. भ. सू. ३/१९३।
२४. लिपि·····टी. – आ अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जा स्रो. – रा. जै. शा. भ. सू. ४/१४२।

स :- संगमर्मर पर उत्कीर्ण लिपि :

१. लिपि – १९७० – ७५, टी. आ. अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – परमागम मंदिर सोनगढ़ ।

तत्वप्रदीपिका एवं तदनुसारी टीकाओं के उपलब्ध प्रकाशन संस्करण :-

१. ग्रं. – श्री प्रवचनसार परमागम, टीकाकार – वृन्दावन, सं. नाथूराम, प्र. – जै. हि. का. बम्बई, ई – १९०८, भाषा – हिन्दी पद्य, प्रथम ।

२. ग्रं. – प्रवचनसार टीकात्रय, सं. मनोहरलाल, प्र. – रा. जै. शा. मा. अगास, ई. – १९११ भाषा·····प्रा. सं. हि. प्रतियाँ – १००० ।

३. ग्रं. –प्रवचनसार, टी. – पं. मनोहरलाल, प्र. –रा. जै. शा. मा. बंबई, ई. २८१२ ।

४. ग्रं.–प्रवचनसार टीकात्रय सं. – मनोहरलाल, प्र. – रा. जै. शा. मा. बम्बई ई. १९१५ भाषा·····प्रा. सं. हि. प्रतियाँ – १००० ।

५. ग्रं. – श्री प्रवचनसार, टीका····· टी. – ब्र. शीतलप्रसाद, प्र. – मू. कि. का. सूरत ई. १९२६, भाषा – हिन्दी, प्रति. – १३०० ।

६. ग्रं. – प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, टी. – प्रो. ए. एन. उपाध्ये, प्र. – रा. जै. शा. मा अगास, ई. १९३५, भाषा – अंग्रेजी, प्रतियाँ····· सं. द्वितीय ।

७. ग्रं. – प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, टी. – प्रो वारेण्ड फड़ेगां प्र. – के. यूनि. प्रेस. लंदन, ई. १९३५, भाषा – अंग्रेजी ।

८. प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका टी. – पं. हिम्मतलाल जे. शाह, प्र. – दि. जै. स्वा. मं. ट्र. सोनगढ़, ई. – १९४०, भाषा – गुजराती ।

९. ग्रं. – प्रवचनसार, टी. – पं. हिम्मतलाल जे. शाह, प्र. – दि. जै स्वा. मं. ट्र. सोनगढ़, ई. १९४८, भाषा – गुजराती ।

१०. ग्रं–प्रवचनसार, टी····· ····· , प्र. – पा. दि. जै. ग्र. मा. मारोठ, ई. १९४९ भाषा····· ।

११. ग्रं – पंचरत्नसार, टी. – ब्र. मूलशंकर देसाई, प्र. – जै. ग्र. मं. मुरादाबाद ई १९६३, भाषा – हिन्दी ।

१२. ग्रं – प्रवचनसार त. दी., टी. – प्र. दि. जै. स्वा. मं. ट्र., सोनगढ़, भाषा – हिन्दी ।

१३. ग्रं. – प्रवचनसार तत्त्वप्रदीपिका, टी. – प्रो. ए. एन. उपाध्ये, प्र. – रा जै. शा. मा. अगास ई. १९६४, भाषा – अंग्रेजी, प्रतियाँ····· सं. तृतीय ।

१४. ग्रं.–प्रवचनसार, टीकाद्वय टी. – पं. अजित कु. ब्र. रतनचन्द्र, प्र – महावीरजी, ई. १९६९, भाषा – हिन्दी।

१५. ग्रं. – श्री प्रवचनसार परमागम, टी. – पं. वृंदावन, प्र. – ब्र. दु. जै. ग्र. मा. सोनगढ़, ई. १९७४, भाषा – हिन्दी पद्य।

१६. ग्रं – प्रवचनसार टीका – टी. – अमृतचन्द्र, जयसेन, प्र. – वी. स. प्र. ट्र, भावनगर ई. १९७५, भाषा – हिन्दी।

समय व्याख्या

परिचय :-

टीकाओं के अन्तर्गत आचार्य अमृतचन्द्र की तृतीय कृति "समय-व्याख्या" नामक संस्कृत गद्य टीका है। यह टीका भी कुन्कुन्दाचार्य की प्राकृत रचना पंचत्थिकाय (पंचास्तिकाय) पर प्रौढ़, दार्शनिक-सैद्धान्तिक, मार्मिक टीका है। इसका अपरनाम तत्त्वप्रदीपिका नाम भी उपलब्ध हुआ है, जिसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। उक्त ग्रन्थ पंचस्थिकाय द्वितीय श्रुतस्कंध के सर्वोत्कृष्ट आगम में परिगणित है। इसके कर्ता अलौकिक महापुरुष हैं, तो इसके टीकाकार भी तदनुरूप महासमर्थ आचार्य हैं। अमृतचन्द्र की टीकाएँ दैवीय तथा श्रुतकेवली के वचन समान महत्त्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत टीका में टीकाकार ने कुशलतम संस्कृत गद्यकाव्य-शिल्पी के रूप में सुन्दर शैलियों तथा प्रौढ़ गद्यभाषा में जैनदर्शन एवं न्याय को प्रदर्शित किया है। इस टीका की रचना का उद्देश्य टीकाकार द्वारा स्पष्ट घोषित किया गया है कि यह सम्यग्ज्ञानरूप ज्योति को जागृत करनेवाली, द्विनयाश्रित समय व्याख्या नामक टीका संक्षेप में कही जाती है। यह टीका तत्त्वों का परिज्ञान करानेवाली तथा त्रयात्मक (सम्यग्दर्शन-ज्ञानाचारित्ररूप) मार्ग द्वारा कल्याण स्वरूप मोक्ष प्राप्ति का कारण है।[1] इस टीका में ६ द्रव्य, पंचास्ति-काय का सविस्तार, सतर्क, सुस्पष्ट प्रतिपादन है। साथ ही नव पदार्थों का विशेषकर मोक्षमार्ग का परम आध्यात्मिक विवेचन है। टीकाकार के असाधारण व्यक्तित्व के कारण यह टीका उच्चकोटि के गद्यकाव्य की विशेषताओं से चमत्कृत है। सिद्धांत तथा अध्यात्म दोनों के रसिकजनों को यह टीका परमप्रिय है। आचार्य अमृतचन्द्र की इस समय व्याख्या टीका के

---

१. समय व्याख्या टीका, मंगलाचरण पद्य ३ तथा ४।

बाद इस ग्रन्थ की अनेक टीकाएँ रची गईं, परन्तु वे सभी टीकाएँ समय-व्याख्या टीका की ऋणी हैं, उससे अनुप्राणित हैं। यह टीका समस्त टीकाओं में (सिरमौर) मुकुटमणि समान है। यह उपन्यास शैली में लिखित, सभी अनुमानादि से तथा शुद्धात्मरस से आप्लावित टीका है।[1]

इसकी अनेक टीकाएँ, अनेक संस्करण, विभिन्न भाषाओं में तथा देश विदेश में विभिन्न स्थानों से प्रकाशित हुए हैं, भारतवर्ष के अनेक शास्त्र-भण्डारों में इसकी ताड़पत्रीय तथा हस्तलिखित पुस्तिकाएँ भी मौजूद हैं। इसके हिन्दी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी, कन्नड़, रोमन आदि कई भाषाओं में अनुवादित तथा सम्पादित प्रकाशन निकल चुके हैं। इसका एक संस्करण इटालिन सम्पादक द्वारा सूचनात्मक भूमिका के साथ रोमन लिपि में फिरेंज – इटली से भी प्रकाशित हुआ है।[2]

नामकरण :-

"समय व्याख्या" टीका के नामकरण का सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण टीकाकार कृत मंगलपद्य है, जिसमें सूचना दी गई है कि "समय व्याख्या" नामक टीका संक्षेप में कही जाती है।[3] टीकाकार ने यह भी लिखा है कि "समय" की व्याख्या में पंचास्तिकाय, षड्द्रव्य, नवपदार्थ आदि तत्त्वों को समाहित किया जा रहा है।[4] अतः सम्पूर्ण टीका में वर्णित विषय एक समय शब्द में समाहित होने कारण इस रची गई व्याख्या को "समय-व्याख्या" नाम देना सार्थक तथा उपयुक्त है। तीसरे टीकाकार ने टीकान्त में "व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः"[5] लिखकर "समयस्य व्याख्या" या

---

१. उपन्यास विधि टीका कीनी, सब अनुमान शुद्धरस भीनी।
शब्द महोर अर्थ करि गहरी, कुंदकुंद अनुभव रस लहरी ॥२८॥
कुंदकुंद का अनुभौ सारा, दिया दिखाय प्रगट सुखधारा।
तातैं इहु पंचासतिकाया प्रगट भया अनुभव सुख पाया ॥३१॥
[पंचास्तिकाय (पद्य) पं. हीरानंद कृत, पृ ११० (हस्तलिखित) लिपि संवत् १८९६।]

२. Pancastikayasara by Prof. A. Chakravartinaynar – Preface Page 7. Edition II, 1975।

३. "समयव्याख्या" टीका मंगलाचरण पद्य क्र. ३।

४. वही, पद्य क्र. ४–५।

५. वही, पद्य क्र. ८।

समयव्याख्या नाम की सूचना दी है। इस आधार से भी उक्त नामकरण की सार्थकता व्यक्त होती है। इस टीका के दो नामों का उल्लेख और भी मिलता है जो "तत्त्वदीपिका"[1] तथा "तत्त्वप्रदीपिका"[2] हैं। श्रीमद् राजचंद्रशास्त्रमाला के एक अन्य संस्करण में मुखपृष्ठ पर तत्त्वदीपिका तथा प्रकाशकीय निवेदन में समय व्याख्या और तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति इन तीनों नामों का उल्लेख है।[3] यद्यपि उपरोक्त तीनों नामों में कोई विशेष विप्रतिपत्ति प्रतीत नहीं होती, तथापि उक्त तत्त्वदीपिका तथा तत्त्वप्रदीपिका दोनों नाम प्रवचनसार की टीका के लिए निर्विवाद रूप से व्यवहृत है तथा टीकाकार द्वारा भी "समयव्याख्या" शब्द का ही प्रयोग होने से इस टीका का उक्त नाम अधिक सार्थक एवं उचित है।

टीकाकर्तृत्व :-

समयसार की आत्मख्याति तथा प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति की तरह टीकाकार ने परमार्थदृष्टि से समयव्याख्या टीका का कर्तृत्व वस्तुतत्त्व को सूचित करने की सामर्थ्ययुक्त शब्दों को ही बताकर, निज के कर्तृत्व के विकल्प का निषेध किया तथा अपने आपको स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्रसूरि कहा। उक्त कथन से ही, व्यवहारिक दृष्टि से विचार करने पर, उक्त टीका के रचयिता भी आचार्य अमृतचन्द्र ही निस्संदेह रूप से प्रमाणित होते हैं।

दूसरे, उक्त टीका के प्रत्येक अधिकार के अंत में आचार्य अमृतचन्द्र का नामोल्लेख हुआ है तथा "इति समयव्याख्यायां श्रीमदमृतचन्द्रसूरि विरचितायामंतर्नीत..... प्रथम श्रुतस्कंधः समाप्तः।"

तीसरे, टीकाकार के पश्चाद्वर्ती सभी आचार्यों, विद्वानों तथा लेखकों ने उक्त टीका को एकमतेन आचार्य अमृतचन्द्र की ही माना, उल्लेख किया तथा प्रमाण रूप में प्रस्तुत किया है। इसप्रकार समयव्याख्या टीका भी आचार्य अमृतचन्द्र की ही कृति है।

---

१. (अ) तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग २ पृ. ४१७.
(ब) पंचास्तिकाय : तत्त्वदीपिका (राजचंद्र ग्रन्थमाला–प्रथम संस्करण १९६१, द्वितीय १९७२ मुखपृष्ठ)।

२. (अ) जैन साहित्य का इतिहास–भाग २, पृ. १७३,
(ब) Pancastikayasara–Prof. A. Chakravurtinayanar, Edn. II, 1975.

३. पंचास्तिकाय, तत्त्वदीपिका (राजचंद्र ग्रंथमाला, तृतीय संस्करण १९७९.)

प्रामाणिकता :-

"समयव्याख्या" टीका महाश्रमण-सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्र की वाणी से निःसृत प्रथम श्रुतस्कंध तथा द्वितीय श्रुतस्कंध के ही तात्पर्य की प्रकाशक है, अतः मूलग्रन्थ के समान ही प्रमाणता को प्राप्त है। कुंदकुंदाचार्य के गाथासूत्रों के मर्म का सूत्रतात्पर्य दर्शाकर टीकाकार ने उक्त कृति को सर्वाधिक प्रामाणिक बना दिया है। निश्चय-व्यवहार नयाश्रित, स्याद्वाद शैली में निरूपित, सम्यग्ज्ञानरूप निर्मल ज्योति की जननीरूप इस टीका की प्रामाणिकता सर्वोच्च है। अमृतचन्द्र के परवर्ती लेखकों ने मुक्त कंठ से उक्त टीका की प्रशंसा की है। उन्होंने इसे कुंदकुंदाचार्य की वाणी की ज्यों का त्यों भावप्रकाशिनी टीका लिखा है। साथ ही अमृतचन्द्र को सप्तम, अष्टम गुणस्थानवाला उच्चकोटि का आचार्य लिखा है। उदाहरण के लिए यहाँ पंचास्तिकाय ग्रन्थ की हिन्दी पद्यानुवादरूपरूप टीका के कुछ अवतरण प्रस्तुत हैं, जिसके रचयिता पं. हीरानंदजी हैं। वे लिखते हैं—

तब इक अमृतचन्द मुनिराजा, उपज्या जनु निज अमृत समाजा।
यथाजानपदवी निरबाही, सप्तम अष्टम गुन अवगाही ॥४१५॥
स्याद्वादवादी अति नीका, ताकौ देखि आनमत फीका।
तिनने कुंदकुंदमुनिवानी, देखी स्वपर विवेक निशानी ॥४१७॥
कुंदकुंद मुनिराज कै, वचन आप रस लीन।
जैसे के तैसे कहे, अमृतचन्द परवीन ॥४२०॥[1]

विषयवस्तु :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने संपूर्ण ग्रंथ को प्रमुख दो श्रुतस्कंधों में विभाजित किया है। गाथा १ से १०४ तक प्रथम श्रुतस्कंध है, जिसमें षड्द्रव्य तथा पंचास्किाय का निरुपण है। द्वितीय श्रुतस्कंध १०५ से १७३ गा. तक चलता है। इसमें नवपदार्थों तथा मोक्षमार्ग का सविस्तार स्वरूप निरूपित है। प्रथम तथा द्वितीय श्रुतस्कंध में कुछ अंतराधिकार हैं, जो निम्नानुसार हैं :-

प्रथम श्रुतस्कंध में प्रथम पीठबंध अधिकार है। इसमें पंचास्तिकाय तथा षड्द्रव्यों का सामान्य व्याख्यान है। शास्त्रारंभ में जिनेन्द्रों को भावनमस्कार किया है, जिसके कुछ हेतु प्रस्तुत किये हैं। प्रथम तो जिनेन्द्रों को शत इन्द्रों द्वारा वंदनीक कहा और उनका देवाधिदेवपना सिद्ध किया

---

१. पंचास्किाय, समयव्याख्या,- पद्य क्र. ४१६, ४१७ तथा ४२०, (वि. सं. १७००)

है। दूसरे उनकी वाणी को जीव समूह के लिए निर्बाध-विशुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि का उपाय कहनेवाली हितकारी वाणी कहा है। तीसरे परमार्थ रसिकजनों के मन को हरण करनेवाली मधुर तथा विशद वाणी के उपदेष्टा जिनेन्द्रों का बहुमान किया है। उपदेश की प्रामाणिकता तथा उद्देश्य को बताते हुए समय शब्द का अर्थ "आगम" बताया है। पंचास्तिकाय को ही लोकस्वरूप निरूपित किया है। समय शब्द के शब्द, ज्ञान तथा अर्थसमय ये तीन प्रकार कहे हैं। वहां पंचास्तिकाय के कथन या शास्त्रारूढ़ निरूपण को शब्दसमय, मिथ्यात्व के उदय के नाश होनेपर पंचास्तिकाय के सम्यक्ज्ञान को ज्ञानसमय तथा कथन के निमित्त से ज्ञान में ज्ञात पदार्थों को अर्थसमय कहा है। अर्थसमय के लोक तथा अलोक रूप दो भेद किये हैं। पंचास्तिकाय की विशेष संज्ञा, सामान्य विशेषरूप अस्तित्व तथा कायत्व का विवेचन किया है।[1] प्रसंगोपात्त जिनेन्द्र कथित द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दो प्रकार के नयों का सापेक्ष उल्लेख किया तथा पर्यायार्थिकनयापेक्षा जिसे कथंचित् अन्यमय कहा, द्रव्यार्थिक नयापेक्षा उसे ही अनन्यमय कहा है। कायपने की सिद्धि हेतु उनमें अणुमहान-पना सिद्ध किया। कालाणु के अस्तित्व है, परन्तु कायत्व नहीं है, इसको तथा शेष द्रव्यों के अस्तित्व व कायत्व को युक्तियों द्वारा सिद्ध किया है। उक्त ५ अस्तिकाय तथा शेष द्रव्यों के अस्तित्व व कायत्व को भी युक्तियों द्वारा सिद्ध किया है। अस्तित्व का स्वरूप कथन करके सत्ता और द्रव्य को अर्थांतरपना मानने का खण्डन किया है। उक्त निरूपण में सूक्ष्म तथा तीक्ष्ण तर्कों का प्रयोग किया है। द्रव्य के तीन लक्षणों का स्पष्टीकरण किया, जिसमें, द्रव्य का लक्षण "सत्", "उत्पादव्ययध्रौव्य" तथा "गुणपर्याय रूप इन तीन लक्षणों का विवेचन किया है। आगे नय दृष्टि से द्रव्य का स्वरूप दर्शाया तथा द्रव्यार्थिकनयापेक्षा द्रव्य को ध्रुव तथा उत्पाद-व्यय रहित लिखा और पर्यायार्थिकनयापेक्षा द्रव्य को उत्पाद व्यय वाला ही कहा है, ध्रुव नहीं कहा है।[2] द्रव्य से पर्याय का कथंचित् अभेदपना और द्रव्य एवं गुणों में भी कथंचित् अभेदपना दर्शाया है। यहाँ द्रव्यादेशवशात् सप्तभंगी न्याय का कथन करते हुए उसे सर्वथापने का निषेधक, अनेकांत का द्योतक तथा स्यात् पद को कथंचित् अर्थवाची अव्ययरूप से प्रयुक्त लिखा है। आगे

---

१. समयव्याख्या टीका – गा. १ से ३ तक।

२. वही गा. ४ से ११ तक।

उत्पाद में असत् का प्रादुर्भाव तथा विनाश में सत् के विनाश का निषेध किया है। द्रव्य (भाव), गुण तथा पर्याय के निरूपण में छह द्रव्यों को भाव कहा तथा उनके गुणों व पर्यायों की चर्चा की। प्रसंगवशात् चेतना के प्रकार भी लिखे।[1] वहाँ ज्ञानानुभूतिरूप शुद्धचेतना, कार्यानुभूतिरूप तथा कर्मफलानुभूति रूप अशुद्धचेतना बतलाई। चैतन्य का अनुसरण करनेवाला उपयोग है। उसके सविकल्प तथा निर्विकल्प दो भेद बताये। पश्चात् भाव का नाश तथा अभाव का उत्पाद होने का निषेध किया। द्रव्य के कथंचित् व्यय व नाशपने को बताकर उसके सदैव अविनष्टपने और अनुत्पन्नपने की सिद्धि की। ध्रुवता के पक्ष से सत् का अविनाश और असत् का अनुत्पाद निरूपित किया। सिद्धत्व पर्याय की उत्पत्ति, असत् की उत्पत्ति नहीं है, यह भी स्पष्ट किया। यहाँ आप्त, आगम, सम्यक् अनुमान तथा स्वानुभव इन चार प्रकार के प्रमाणों का निर्देश किया है। मुख्यगौण की व्यवस्था द्वारा वस्तु स्वरूप की व्याख्या की जाती है, वहाँ विरोध में भी विरोध न होना अनेकांत का प्रसाद है – ऐसा घोषित किया है। इसप्रकार छह द्रव्यों की सामान्य विवेचना की।[2] तत्पश्चात् छह द्रव्यों में पाँच के अस्तिकायपना तथा काल द्रव्य के अस्तिकाय न होने पर भी अर्थपना सिद्ध किया। आगे निश्चय व्यवहार काल का स्वरूप निर्देश किया तथा व्यवहार काल का कथंचित् पराश्रयपना और उसका अस्तित्व अतितीक्ष्ण दृष्टिग्राह्य लिखा।[3] यहाँ प्रथम पीठिका बंधाधिकार समाप्त हुआ।

पश्चात् द्वितीय अधिकार में जीवास्तिकाय का विशेष व्याख्यान करते हुए आत्मा को निश्चय-व्यवहार दृष्टि से जीव, चेतयिता, उपयोगमयी, प्रभु, कर्ता, भोक्ता बताया, उसके देहप्रमाण, अमूर्त और कर्म संयुक्तपने का विवेचन किया। वहाँ प्रथम मुक्तावस्थारूप आत्मा का निरुपाधि स्वरूप दर्शाकर उसके निरुपाधि ज्ञान, दर्शन और सुख का समर्थन किया। साथ ही अनेक युक्तियों से सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध की है, किन्तु अध्यात्म-शास्त्र होने से उक्त प्रकरण का विशेष विस्तार नहीं किया है। दूसरे संसारी जीवों के भावप्राण तथा द्रव्यप्राणों का वर्णन किया है। आत्मा का देहप्रमाणपना दृष्टांत द्वारा सिद्ध किया है। आत्मा का देह से देहान्तर होने

---

१. समयव्याख्या, टीका गा. १२ से १६ तक।
२ समयव्याख्या, गा १७ से २१ तक।
३. वही, गा. १८ से २६ तक।

पर भी उसका अस्तित्व, देह से भिन्नत्व और देहान्तर गमन का कारण स्पष्ट किया है। यहाँ बौद्धमत सम्मत अनित्यपना और पंचभूतमयता के सिद्धान्त का खण्डन किया गया है। सिद्धों के जीवत्व और देहमात्रत्वपने की सिद्धि की गई है। सिद्धों में कार्यकारणपने का निराकरण करके, जीव अभाव-रूप मुक्ति मानने का भी खण्डन किया गया है। चेतयिता गुण की व्याख्या करके उपयोग गुण के अंतर्गत दर्शन तथा ज्ञान भेद किये हैं। सामान्यग्राही दर्शन तथा विशेषग्राही ज्ञान का कथन करके ज्ञानोपयोग के ८ भेद गिनाये हैं।[1] आगे क्रमशः दर्शनोपयोग के ४ भेद, उनके लक्षण बताकर, आत्मा के अनेक ज्ञानात्मकपने का, द्रव्य व गुणों में परस्पर भिन्नपना मानने में दोष का, द्रव्य और गुण के अनन्यपने का, षट्कारक भेद व्यवहार से भी द्रव्य में व गुणों में अन्यपना नहीं हो जाता – इत्यादि का सयुक्तिक निरूपण किया है। वस्तु का स्वरूप भेदाभेदरूप दर्शाया है। पुनः द्रव्य और गुण के अर्थान्तरपने में दोष दिखाते हुए युतसिद्ध तथा अयुतसिद्ध की भी चर्चा की है। ज्ञान तथा ज्ञानी में समवाय संबंध मानने का खण्डन करते हुए, "द्रव्य का गुणों के साथ अथवा गुणों का द्रव्य के साथ अनादि अनंत सहवर्तीपना होना यही जैनों का समवाय है", ऐसा घोषित किया है। अंत में द्रव्य तथा गुणों के अभिन्न पदार्थपने के व्याख्यान का उपसंहार करते हुए उपयोग गुण का व्याख्यान पूर्ण किया है।[2]

आगे, अपने भावों को करते हुए जीव अनादि अनंत है ? सादि सांत है ? सादि अनंत है ? तदाकार रूप परिणत है ? या तदाकार रूप अपरिणत है ? इत्यादि शंकाओं का समाधान करते हुए जीव में अनादि अनंत तथा सादि सांतपने विरोध दिखाई देने का निराकरण किया है। जीव के सद्भाव के उच्छेद और असद्भाव के उत्पाद में निमित्तभूत नर-नारकादिरूप नामकर्म की प्रकृतियों का उदय है। जीव के ५ भावों की सूचना देते हुए लिखा है कि कर्मों के फलदानसमर्थपने रूप में उद्भव को उदय, अनुद्भव को उपशम, उद्भव व अनुद्भव को क्षयोपशम, अत्यन्त विश्लेषण को क्षय, द्रव्य के ही आत्मलाभ के हेतु को परिणाम कहते हैं। यहाँ उदय से युक्त को औदयिक, उपशम से युक्त को औपशमिक, क्षयोपशम से युक्त को क्षायोपशमिक, क्षय से युक्त को क्षायिक और परिणाम से युक्त को पारणामिक

---

१. समयव्याख्या गा. २७ से ४१ तक।

२. समयव्याख्या गा. टी. ४२ से ५२ तक।

भाव कहते हैं।[1] इनके कर्तृत्व की चर्चा करते हुए यह स्पष्ट किया है कि निमित्तापेक्षा द्रव्यकर्म को औदयिक भावों का कर्ता कहा गया है। इसी-प्रकार जीवभावों को द्रव्यकर्म का कर्ता कहा गया है, यह सब व्यवहार कथन है। निश्चय से जीव जीवभावों के तथा कर्म कर्मपरिणामों के अपने-अपने परिणाम के कर्ता हैं। अतः इसतरह से जीव कर्म का अकर्ता है। वास्तव में षट्कारकरूप व्यवस्था प्रत्येक द्रव्य में अपनी-अपनी (विद्यमान) होने से उन्हें कारकान्तरों की अपेक्षा ही नहीं है। अतः यह निश्चय करना चाहिए कि न जीव कर्म का कर्ता है और न कर्म जीव का कर्ता है। यहाँ यह शंका भी निर्मूल है कि अन्य का दिया हुआ फल, कोई अन्य भोगता है। सिद्धांततः आत्मा स्वयं मोह रागद्वेषादि करता है तथा उस काल में वहाँ अवस्थित कर्म स्वयं ही कर्मभावरूप परिणमन करते हैं तथा एक क्षेत्रावगाह सम्बन्धरूप होते हैं।[2] इस कथन की पुष्टि हेतु उदाहरण भी दिया है कि जिसप्रकार अपने योग्य चन्द्र सूर्य के प्रकाश की प्राप्ति होने पर संध्या, बादल, इन्द्रधनुष-प्रभामण्डल आदिरूप स्वयमेव अन्यकर्ता की अपेक्षा बिना पुद्गल स्कंध विभिन्न परिणामों को करते हैं, उसीप्रकार योग्य जीवपरिणामों को प्राप्त कर पुद्गलवर्गणाएँ कर्मरूप परिणामों को करती हैं। व्यवहार कथन में जो परस्पर कर्ता भोक्ता आदि कहा जाता है, उससे वस्तुस्वरूप में अंतर नहीं पड़ता एवं विरोध पैदा नहीं होता।[3] इस प्रकार कर्तृत्व व भोक्तत्व गुण का उपसंहार करते हुए प्रभुत्व गुण का कथन प्रारम्भ किया। वहाँ लिखा है कि इस प्रकार प्रगट प्रभुत्व शक्ति से जिसने कर्तृत्व व भोक्तत्व के व्यवहार का अधिकार ग्रहण किया है, ऐसा आत्मा मोहाच्छादित तथा विपरीत अभिप्राय वाला होने से संसार में ही परिभ्रमण करता है। वही आत्मा जिनोपदेश द्वारा मार्ग को प्राप्तकर उपशांत तथा क्षीणमोही होता है, वह ज्ञानानुमार्गचारी होकर निर्वाणपुर को प्राप्त होता है। अंत में जीवद्रव्यास्तिकाय का व्याख्यान समाप्त करते हुए लिखा है कि जीव के एक, दो से लेकर दस तक भेद किये हैं। इनमें कर्मबद्ध संसारी जीवों का छह दिशाओं में गमन होता है तथा मुक्त जीवों

---

१. समयव्याख्या, गा. ५३ से ५६ तक।
२. वही, गा. ५७ से ६५ तक।
३. वही, गा. ६६ से ६८ तक।

का स्वाभाविक-ऊर्ध्वगमन होता है।[1]

तृतीयाधिकार में पुद्गलद्रव्यास्तिकाय का वर्णन किया है। आरम्भ में पुद्गलद्रव्य के चार भेद गिनाये जो क्रमशः स्कंधपर्याय, स्कंधदेशपर्याय, स्कंधप्रदेशपर्याय तथा परमाणु हैं। इनके लक्षण लिखकर स्कंधों में पुद्गल संज्ञा सिद्ध की है। पुनः स्कंधों के ६ प्रकार कहे हैं जो क्रमशः बादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म और सूक्ष्मसूक्ष्म हैं। इनके उदाहरण क्रमशः काष्ठ-पाषाणादि, दूध-घी-तेलादि, छाया-धूपादि, स्पर्श-रस-गंध व शब्दादि, कर्मवर्गणादि तथा दो अणु वाले तक स्कंध हैं। परमाणु को अविभागी, एक प्रदेशी, मूर्तद्रव्यरूप से अविनाशी होने से नित्य कहा है। मूर्तत्व के कारणरूप, स्पर्श, रस, गंधादि द्वारा आदेश मात्र से परमाणु में भेद किया जाता है। आगे शब्द को पुद्गल द्रव्य की स्कंध पर्याय कहा है तथा महास्कंधों के परस्पर टकराने से ही शब्दोत्पत्ति कही है। आगे परमाणु के एकप्रदेशीपने तथा गुणपर्यायमय वर्तने का कथन किया है। अंत में सर्व पुद्गल भेदों का उपसंहार करते हुए अध्याय समाप्त किया है।[2]

चतुर्थ अधिकार में धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य का स्वरूप निरूपण किया है। धर्मास्तिकाय को अमूर्त (अर्थात् स्पर्श-रस-गंध-वर्णादि व शब्द से रहित), समस्त लोकाकाशव्यापी, अखंड, विशाल एवं असंख्यात प्रदेशी कहा है। उसका विशेष कथन करते हुए उसके गति हेतुपने को दृष्टांत से स्पष्ट किया है।[3] आगे अधर्मद्रव्य को भी धर्मद्रव्य की तरह गुणोंवाला कहा, परन्तु गति हेतुपने की जगह इसमें स्थिति हेतुपने का धर्म होता है। लोक-अलोक के विभाग का ज्ञान धर्म तथा अधर्म द्रव्यों से ही होता है। उक्त दोनों द्रव्यों के अस्तित्व की सिद्धि करते हुए लिखा कि यदि इन्हें न माना जाय तो जीव पुद्गल के निरंकुश गति तथा स्थिति परिणाम को रोका नहीं जा सकता। द्रव्यों की गति व स्थिति आदि अलोक में भी सम्भव होगी, साथ ही लोकालोक का विभाग भी समाप्त होगा। यथार्थ में धर्मद्रव्य न तो स्वयं गमन करता है और न ही अन्य द्रव्यों को गमन कराता है, अपितु गतिशील द्रव्यों का उदासीन कारण (निमित्त) है। इसीप्रकार अधर्मद्रव्य भी किसी को रोकता नहीं, अपितु रुकते हुए द्रव्य को उदासीन हेतु है।

---

१. समयव्याख्या, गा. ६६ से ७३ तक।
२. वही, गा. ७४ से ८२ तक।
३. वही, गा. ८३ से ८५ तक।

उक्त अधिकार को समाप्त करते हुए लिखा है कि समस्त द्रव्य (जीव व पुद्गल) अपने ही परिणाम से गति तथा अपने ही परिणाम से स्थिति करते हैं। धर्म अधर्म, गतिस्थिति के मुख्य हेतु नहीं हैं, मात्र उदासीन हेतु हैं।[1]

पंचम अधिकार में आकाश द्रव्यास्तिकाय का वर्णन है। समस्त द्रव्यों के लिए अवकाशदान में निमित्तहेतु आकाश है। वह लोक मर्यादा से बाहर अलोक में भी अमर्यादित रूप से है। जो आकाश को गति का हेतु मानते हैं, उनकी मान्यता का खंडन करते हुए लिखा है कि यदि आकाश को गतिहेतु माना जावे तो अलोक की हानि तथा लोक की वृद्धि का प्रसंग आता है। साथ ही सिद्ध जीवों की स्थिति लोकांत में ही होती है, इससे भी सिद्ध है कि आकाश में गतिहेतुपना नहीं है। इसप्रकार पुनः पूर्वोक्त सिद्धांत को दुहराते हुए अधिकार समाप्त किया है।[2]

षष्ठ अधिकार को चूलिका नाम दिया है। इसमें द्रव्यों को मूर्त-अमूर्त दो भेदों में विभाजित करते हुए स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के सद्भाववाले द्रव्यों को मूर्त तथा उनके अभाववाले द्रव्यों को अमूर्त कहा है। वहाँ पुद्गल द्रव्य मूर्त तथा शेष पाँच जीव-धर्म-अधर्म-आकाश तथा काल अमूर्त हैं। आगे द्रव्यों में सक्रिय व निष्क्रियपने का भेद किया है। प्रदेशांतर प्राप्ति के कारणरूप परिस्पंदन को क्रिया कहा है। पुद्गल तथा जीव दो द्रव्य सक्रिय तथा शेष चार द्रव्य निष्क्रिय हैं। पुनः इंद्रियग्राह्य को मूर्त तथा उसके विपरीत को अमूर्त कहा है। इस तरह चूलिका समाप्त हुई।[3]

सप्तम अधिकार है कालद्रव्याधिकार। इसमें काल के निश्चय-व्यवहार दो भेद किये। वहाँ समय नामक क्रमिक पर्याय को व्यवहारकाल तथा उसके आधारभूत द्रव्य को निश्चय काल कहा है। काल के लिए नित्य तथा क्षणिक दो विभागों द्वारा समझाया है। निश्चय काल को द्रव्यरूप तथा व्यवहारकाल को पर्यायरूप कहा है। कालादि छहों पदार्थ द्रव्यसंज्ञा को धारण करते हैं, परन्तु कालद्रव्य अस्तिकाय संज्ञा धारण नहीं करता। इस तरह निरूपण करके काल द्रव्य का कथन समाप्त किया।[4] तत्पश्चात् प्रथमश्रुतस्कंध का उपसंहार करने के लिए १०३ तथा १०४ अंतिम दो

---

१. समयव्याख्या, गा. ८६ से ८९ तक।
2. वही, गा. ९० से ९६ तक।
३. वही, गा. ९७ से ९९ तक।
४. वही, गा. १०० से १०२ तक।

गाथाओं में पंचास्तिकाय के अवबोध का फल दुःखों से सर्वथा मुक्ति होना लिखा है। समस्त प्रवचन को काल सहित पंचास्तिकाय का प्रतिपादक बताया है, अतः उसे प्रवचन का सार कहा है। अंत में लिखा कि जो जीव पंचास्तिकाय शास्त्र के अर्थभूत शुद्धचैतन्यवाले निज आत्मा को जानता है, और उसी के अनुसरण का प्रयास करता है, वह दृष्टिमोह को क्षय करता हुआ सम्यग्ज्ञान ज्योति प्रगटाता है। उसके राग-द्वेष प्रशमित होते हैं। वह पूर्वापर बंध का नाश करता है और स्वस्वरूपस्थ होकर प्रतापवत वर्तता है।

अब पंचास्तिकाय ग्रंथ का द्वितीय श्रुतस्कंध महाधिकार प्रारम्भ होता है। इसमें मोक्षमार्ग का सविस्तार वर्णन है। इसके भी भूमिका सहित नव अंतराधिकार हैं, जो क्रमशः इसप्रकार विषय वस्तु के प्रतिपादक हैं।

भूमिका तथा जीवपदार्थ व्याख्यान अधिकार :

प्रथम ही टीकाकार लिखते हैं कि इस शास्त्र के प्रथम श्रुतस्कंध में बुद्धिमानजनों को द्रव्यस्वरूप के प्रतिपादन द्वारा शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश दिया गया है। अब इस द्वितीय श्रुतस्कंध में पदार्थ भेद द्वारा उपोद्घात पूर्वक उसके मार्ग का वर्णन किया जाता है। वहाँ आप्त की स्तुतिपूर्वक प्रतिज्ञा की है तथा मोक्षमार्ग की सूचना की है। वह मोक्षमार्ग सम्यक्त्व व ज्ञान युक्त ही है, उनसे रहित नहीं है, चारित्र सहित ही होता है चारित्र रहित नहीं, राग-द्वेष रहित ही है, उस सहित नहीं है, मोक्ष का ही मार्ग है बंध का नहीं है, मार्ग है, अमार्ग नहीं है, भव्यों को ही है, अभव्यों को नहीं है, लब्धबुद्धियों को ही होता है, अलब्धबुद्धियों को नहीं तथा क्षीणकषायपने में ही होता है, कषाय सहितपने में नहीं। इसप्रकार इन ८ नियमों युक्त ही मोक्षमार्ग है। पदार्थों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन, उनका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और समभाव वह चारित्र है। मूलपदार्थ जीव तथा अजीव हैं, उनके ही भेद पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष हैं। इस प्रकार कुल ९ पदार्थ हैं।[1] इनमें जीव दो प्रकार के हैं – संसारी और सिद्ध। संसारी जीवों में पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक ये एकेन्द्रिय जीव हैं। अंडे में वृद्धि पानेवाले एवं गर्भ में रहनेवाले प्राणियों और मूर्च्छा प्राप्त मनुष्यों की भाँति, एकेन्द्रिय जीव

---

१. समयव्याख्या: गा. १०५ से १०८ तक।

हैं, वे बुद्धिव्यापार रहित हैं ।[1] स्पर्शन एवं रसना इंद्रियवाले शंख, सीप, केंचुआ आदि दो इंद्रिय जीव हैं। उक्त दो के अतिरिक्त घ्राणेन्द्रिय सहित इंद्रियवाले बिच्छू, खटमल, जूँ, चींटी आदि तीन इंद्रिय जीव हैं। उक्त तीन के साथ चक्षु इंद्रिय युक्त मच्छर, मक्खी, भौरा, पतंगे आदि चार इंद्रिय जीव हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पांच सहित देव, नारकी, मनुष्य व तिर्यंच जो कि जलचारी, थलचारी तथा नभचारी होते हैं, वे बलवान पंचेन्द्रिय जीव हैं। पंचेन्द्रियों में कुछ जीव मन सहित तथा कुछ मन रहित होते हैं। एकेन्द्रिय से चार इंद्रिय तक मन रहित ही होते हैं। देवों के चार निकाय, मनुष्यों के भोगभूमिज व कर्मभूमिज दो भेद, तिर्यंचों के अनेक प्रकार तथा नारकियों के पृथ्वियों के भेदानुसार भेद होते हैं। गति तथा आयुनामकर्म के उदय से प्राप्त देव मनुष्य तिर्यंच तथा नरक पर्यायें आत्मस्वभावभूत नहीं हैं, अनात्मस्वभावभूत हैं। इसप्रकार उपरोक्त भेदवाले शरीर में प्रवर्तने वाले देह सहित संसारी जीव हैं और देह रहित सिद्ध जीव हैं। संसारी जीवों में भव्य तथा अभव्य ऐसे दो भेद भी होते हैं।[2] अपाच्य मूँग की भांति शुद्धात्मस्वरूप की उपलब्धि की शक्ति रहित अभव्यजीव हैं। आगे यह स्पष्ट किया है कि उपरोक्त भेदों द्वारा इंद्रियादि की अपेक्षा जीव संज्ञा कही, उसे व्यवहार कथन जानना, उसे परमार्थ से जीव न मानना। परमार्थ से जीव तो चैतन्यस्वभाव लक्षणवाले ही होते हैं, इंद्रियादि तो जड़ हैं। जीवद्रव्य को छोड़कर शेष पांच द्रव्यों में न पाई जानेवाली, चैतन्य के विवर्तरूप संकल्प की उत्पत्ति के कारण सुख की अभिलाषारूप क्रिया, दुःखरूप उद्वेग की क्रिया, हित-अहित की रचनारूप क्रिया, इत्यादि क्रियाओं का कर्ता जीव ही है। आगे जीवव्याख्यान का उपसंहार तथा अजीवव्याख्यान के आरम्भ की सूचना देते हुए लिखा है कि इस तरह विभिन्न भेदों द्वारा जीव को जानकर अचैतन्यलक्षणवाले अजीव को भी भेदविज्ञान की प्रसिद्धि के लिए जानना चाहिये।[3]

तत्पश्चात् अजीव द्रव्य का व्याख्यान नामक अधिकार में आकाश, काल, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म को जीव के गुणों से भिन्न होने से अचेतनपना कहा है। अचेतनपने का एक हेतु यह भी बताया है कि आकाशादि को

---

१. समयव्याख्या, गा. १०८ से ११३ तक।
२. वही, गा. ११४ से १२० तक।
३. वही, गा. १२१ से १२३ तक।

सुख-दुःखादि का ज्ञान, हित का प्रयास तथा अहित का भय आदि चैतन्य-परिणामों की अशुद्धि है। जीव पुद्गल के संयोग में भी भेदस्वरूप का कथन किया है। यह जीव-अजीव का वास्तविक भेद सम्यग्ज्ञानियों के मार्ग की प्रसिद्धि के लिए प्रतिपादित किया गया है।[1] यहाँ अजीव द्रव्याधिकार भी समाप्त होता है।

आगे सात विशेषरूप पदार्थों के कथन के पूर्व उपोद्घात द्वारा दो मूलपदार्थों के संयोगी भावों से निष्पन्न होनेवाले जीवकर्म तथा पुद्गल कर्म चक्र का वर्णन किया है। उक्त चक्र में संसारी जीव के अनादि कर्मबंध की उपाधि के निमित्त से स्निग्ध परिणाम होता है, उस परिणाम के निमित्त से पुद्गलरूप द्रव्यकर्म, उनके निमित्त से नर-नारकादि पर्यायों में गमन, उक्त गतियों की प्राप्ति से देह, देह से इंद्रियाँ, इंद्रियों से विषयग्रहण, विषयग्रहण से राग-द्वेष, राग-द्वेष से स्निग्ध परिणाम होता है तथा उपरोक्त चक्र चलता रहता है।[2]

आगे पुण्य-पापाधिकार का निरूपण किया है। इसमें पुण्य-पाप के योग्य भावों का स्वरूप कथन किया है। वहाँ प्रशस्त राग तथा चित्तप्रसाद को शुभपरिणाम और अप्रशस्त राग तथा मोह-द्वेषादि को अशुभपरिणाम बताया है। शुभपरिणाम पुण्य है और अशुभपरिणाम पाप है। कर्म के फल सुख-दुःख के कारणभूत मूर्तविषय हैं, वे विषय नियम से मूर्त इंद्रियों द्वारा जीव भोगता है, इसलिए कर्म के मूर्तपने का अनुमान होता है। जिसप्रकार चूहे का विष मूर्त है, उसका फल सूजन-बुखारादि भी मूर्त है; उसी प्रकार कर्म भी मूर्त हैं, उनके फल भी मूर्त हैं। आगे मूर्तकर्मों का मूर्त से तथा जीव और कर्मों का मूर्त-अमूर्त रूप से बंध का प्रकार समझाया है।[3]

इसके बाद आस्रवपदार्थ अधिकार प्रारम्भ होता है। प्रथम ही पुण्यास्रव का स्वरूप लिखते हुए प्रशस्तराग, अनुकम्पापरिणति और चित्त की अकलुषता से जीव को द्रव्य पुण्यास्रव होता है। यहाँ प्रत्येक का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अर्हंत, सिद्ध तथा साधुओं में भक्ति, व्यवहार धर्म क्रियाओं के अनुष्ठान में भावनाप्रधान चेष्टा और गुरुओं का रसिकरूप से अनुगमन करना प्रशस्त राग है; क्योंकि उसका विषय प्रशस्त होता है।

---

१. समयव्याख्या, गा. १२४ से १२७ तक।
२. वही, गा. १२८।
३. वही, गा. १२९ से १३४ तक।

ऐसा प्रशस्त राग स्थूललक्षवाले अज्ञानियों में होता है तथा उच्चभूमिका में अवस्थित न हो पाने से तथा अस्थान का राग रोकने के लिए अथवा तीव्ररागज्वर मिटाने के लिए कदाचित् ज्ञानियों के भी उक्त प्रशस्त राग होता है।[1] भूख-प्यास से दुखी व्यक्ति को देखकर दयार्द्र-करुणा भाव होना अनुकम्पा है। क्रोधादि चार कषायों के निमित्त से मन में क्षोभ पैदा होना कलुषता है। आठों पापास्रव के कारणों में बहुत प्रमाद युक्त चर्या कलुष-परिणाम, विषयलोलुपता, पर को संतापित करना और पर के अपवाद करने को प्रमुखरूप से गिनाया है।[2] पापास्रव के भावों का सविस्तार कथन करते हुए लिखा है कि आहार, भय, मैथुन व परिग्रह ये चार संज्ञाएँ, कृष्ण, नील व कापोत ये तीन लेश्याएँ, राग-द्वेष के प्रकर्ष के कारण इंद्रिया-धीनपना, चार प्रकार का आर्तध्यान (इष्ट वियोगज, अनिष्ट संयोगज, वेदनज व निदानज आर्तध्यान), चार प्रकार का रौद्रध्यान (हिंसानंद, मृषानंद, चौर्यानन्द व विषयसंरक्षणानन्द रौद्रध्यान), व्यर्थ के कार्यों में लगा हुआ ज्ञान और मोहरूप परिणाम ये सभी भाव पापास्रव हैं, जो द्रव्य-पापास्रव के निमित्त हैं।[3] इसप्रकार आस्रवपदार्थ का व्याख्यान समाप्त होता है।

अब संवर पदार्थ व्याख्यान अधिकार में पाप के संवर का कथन करते हुए लिखा है कि भली-भाँति मार्ग में रहकर इंद्रिय, कषाय और संज्ञाओं का जितना निग्रह होता है, उतना पापास्रव रुकता है। सामान्यतः संवर का स्वरूप लिखते हुए बताया है कि जिसे परद्रव्यों के प्रति मोह-राग-द्वेषरूप भाव नहीं है, तथा मध्यस्थ या समभाव है; उसे शुभ-अशुभ कर्म का आस्रव नहीं होता। यहाँ शुभाशुभ परिणाम को रोकना ही भाव व द्रव्यरूप पुण्य तथा पाप संवर का प्रमुख हेतु है ऐसा स्पष्ट किया है। उक्त विवेचन के साथ संवरपदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।[4]

आगे निर्जरापदार्थ के व्याख्यान में निर्जरा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शुभाशुभ परिणाम के निरोधरूप संवर द्वारा और शुद्धोपयोग द्वारा अपने को परिणमाता हुआ अथवा इन दोनों से युक्त होता

---

१. समयव्याख्या, गा. १३५।
२. वही, गा. १३६ से १३९ तक।
३. वही, गा. १४०।
४. वही, गा. १४१ से १४३ तक।

हुआ, बारह प्रकार के अनशन आदि तपों को करनेवाला अनेक कर्मों की निर्जरा करता है। परमार्थ से निर्जरा का प्रमुख हेतु ध्यान है। उस ध्यान का स्वरूप इसप्रकार है कि निज शुद्धात्मस्वरूप में अपनी चैतन्यपरणति को स्थिर करना वह यथार्थ ध्यान है। ऐसा ध्यान ही श्रेष्ठ पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है। ऐसा ध्यान आज भी इस पंचमकाल में होता है। उसे ध्याकर आज भी त्रिरत्न से शुद्धजीवआत्मध्यान करके इन्द्र तथा लौकान्तिक देवपना पाते हैं। वहाँ से चयकर मनुष्य होकर निर्वाण को पाते हैं। इस तरह निर्जरा पदार्थ का व्याख्यान समाप्त हुआ।[1]

अब बंध पदार्थ का निरूपण प्रारम्भ करते हुए बंध का स्वरूप लिखते हैं। यदि आत्मा विकारी परिणाम करता है तथा उदयागत शुभाशुभ भाव करता है, तब वह आत्मा उन भावों द्वारा विविध पुद्गलकर्मों से बद्ध होता है। बंध के कारण को बताते हुए लिखा है कि योग के निमित्त से ग्रहण होता है। ग्रहण अर्थात् कर्मों का जीवप्रदेशों से क्षेत्रावगाही होना। वहाँ योग को मन, वचन तथा काय इन तीन रूप कहा है। आगे यह भी कहा है कि बंध का निमित्त भाव है तथा भाव राग-द्वेषादि युक्त परिणाम है।[2]

अंत में मिथ्यात्व, असंयम, कषाय तथा योग इन चार प्रकार के द्रव्यहेतुओं को आठ प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्मों के बंध का बहिरंग कारण निरूपित किया है। यहाँ रागादि परिणाम का सद्भाव बंध का अंतरंग हेतु बताया है। इसप्रकार बंध पदार्थ का निरूपण भी समाप्त हुआ।[3]

अब मोक्षपदार्थ का व्याख्यान करते हुए भावमोक्ष का स्वरूप कथन किया। आस्रव का हेतु जीव का मोह-रागादि भाव है। ज्ञानी को उसका अभाव है, अतः आस्रवभाव का भी अभाव है। आस्रव के अभाव होने से कर्म का अभाव है तथा कर्माभाव होने से सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता, अव्याबाध-इंद्रियातीत अनंत सुख होता है, यही जीवन्मुक्ति नामक भावमोक्ष है। यह भावमोक्ष द्रव्यकर्ममोक्ष का हेतुभूत परमसंवर का प्रकार है। आगे द्रव्य-कर्ममोक्ष की हेतुभूत परमनिर्जरा का कारणरूप ध्यान कहते हैं। स्वभाव सहितसाधु को दर्शन-ज्ञान से सम्पूर्ण और अन्यद्रव्य से असंयुक्त ध्यान निर्जरा का हेतु है। अंत में द्रव्यमोक्ष का स्वरूप कथनकर प्रकरण को समाप्त किया

---

१. समयव्याख्या, गा. १४४ से १४६ तक।
२. वही, गा. १४७ से १४८ तक।
३. वही, गा. १४९।

है। सर्वकर्मों से छुटकारा होना द्रव्यमोक्ष है।[1]

इसके बाद मोक्षमार्ग प्रपंच सूचिका चूलिका अधिकार प्रारम्भ होता है। वहाँ प्रथम ही मोक्षमार्ग के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि ज्ञान-दर्शनरूप जीवस्वभाव है, उसमें नियतरूप चारित्र मोक्षमार्ग है। संसारियों का चारित्र दो प्रकार होता है – स्वसमयवर्ती तथा परसमयवर्ती। स्वसमय-वर्ती चारित्र मोक्ष का मार्ग है। परसमयवर्ती चारित्र आस्रवबंध का कारण है। स्वसमयवर्ती चारित्र शुद्धोपयोगरूप है तथा परसमयवर्ती चारित्र शुभोपयोगरूप है। इसका विशेष कथन करते हुए निश्चय से साध्य-साधन भाव एक ही द्रव्य में तथा व्यवहार में भिन्न द्रव्यों में निरूपित किया है। वहाँ प्ररूपणा अपेक्षा चारित्र दो प्रकार का कहा। ऐसी व्यवहारप्ररूपणा से विरोध उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तना उभयनयाधीन है। आगे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का कथन निश्चय तथा व्यवहार दोनों अपेक्षाओं से किया है। निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग में साध्य-साधनपने का व्यवहार भी उपचरित होता है।[2] जो आत्मा को आत्मा मे आचरता है, जानता है तथा देखता है; वह आत्मा ही चारित्र है, ज्ञान है तथा दर्शन है। यथार्थ वस्तुस्वरूप तथा मोक्षमार्ग की श्रद्धा करने-वाला भव्यजीव मोक्षमार्ग के योग्य है, परन्तु अभव्य उसमें श्रद्धा नहीं करता हुआ उसके अयोग्य है। आगे कहा कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र यदि अल्प भी परसमयरूप प्रवृत्तियुक्त होते हैं, तो वे बंध के हेतु कहे गये हैं। तात्पर्य यह कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ विद्यमान परसमयरूप प्रवृत्ति या शुभराग ही बंध का कारण है, यथार्थतः दर्शन-ज्ञान-चारित्र बंध के कारण नहीं हैं, मोक्ष के ही कारण हैं।[3] आगे लिखा कि भक्ति को मुक्ति का कारण मानना अज्ञान है। अर्हन्तादि की भक्ति से पुण्य बंध होता है, कर्म का क्षय नहीं होता है। अतः जिनेन्द्रभक्तिविषयक रागकण भी हेय ही है, बंध का ही कारण है। उक्त राग त्यागने योग्य है, क्योंकि अर्हन्तादि की भक्ति राग बिना नहीं होती, राग से बुद्धि का प्रसार होता है, बुद्धिप्रसार होने से शुभाशुभ कर्म का निरोध नहीं होता है; इसलिए यह सूक्ष्मप्रशस्त राग भी अनर्थसंतति का मूल रागरूप क्लेश का ही विलास है। अतः समस्त

---

१. समयव्याख्याः गा. १५० से १५३ तक।
२. वही. गा. १५४ से १६१ तक।
३. वही, गा. १६२ से १६४ तक।

प्रकार का राग व रागांश नाश करने लायक है। यद्यपि अर्हंतादि की भक्ति रूप रागप्रवृत्ति में साक्षात् मोक्ष हेतुपने का अभाव है, तथापि उसे परम्परा से मोक्ष हेतुपने का सद्भाव कहा गया है।[1] आगे अर्हन्तभक्ति को साक्षात् मोक्ष का अंतरायस्वरूप भी लिखा है, क्योंकि संयमप्रधान तपस्वी भी शेष रागरूप क्लेश से दूषित अंतःकरण होता हुआ विषयविषवृक्ष के आमोद से जहाँ अंतःकरण मोहित होता है – ऐसे स्वर्गलोक को प्राप्तकर लम्बे समय तक साक्षात् मोक्ष के अंतरायरूप स्वर्ग में रहता हुआ रागरूपी अंगारों में जलता व दुःखी होता रहता है। अतः समस्त शास्त्र का तात्पर्य यह है कि सर्व ही राग त्याज्य है। अर्हन्तादि का राग भी चन्दन की अग्नि समान अंतर्दाह ही का कारण समझकर साक्षात् मोक्ष के अभिलाषी महाजनों को सब की तरफ का राग छोड़कर, परम वीतरागी होकर, दुःखरूप संसार सागर को पारकर, शुद्धस्वरूप परमामृतसमुद्र में अवगाहन करके, शीघ्र निर्वाण को पाना चाहिए। समस्त ग्रंथ का सार यही है। बहुत विस्तार निष्प्रयोजन है। इसप्रकार तात्पर्य दो प्रकार है – शास्त्रतात्पर्य तथा सूत्रतात्पर्य उनमें शास्त्र तात्पर्य तो वीतरागता है तथा सूत्रतात्पर्य प्रत्येक सूत्र में प्रतिपादित है। अंत में शास्त्रतात्पर्य का सविस्तार स्पष्टीकरण किया है। वहाँ श्रद्धेय-अश्रद्धेय, श्रद्धा करनेवाले तथा श्रद्धान के ज्ञेय, अज्ञेय, ज्ञाता व ज्ञान के, आचरणीय, अनाचरणीय, आचरण करनेवाले एवं आचरण के और कर्तव्य, अकर्तव्य, कर्ता तथा कर्म के भेदों को समझकर मोहमल्ल को क्रमशः उखाड़कर जीव निर्वाण को प्राप्त होता है।[2] उपसंहार रूप में केवल व्यवहारावलंबी जीव की त्रुटियों का तथा केवल निश्चयावलंबी जीव की त्रुटियों का दिग्दर्शन कराकर निश्चय-व्यवहार का सम्यक् समन्वित स्वरूप निरूपित करके यथार्थ मार्ग का दर्शन कराया है, जो टीकाकार का निजी वैशिष्ट्य है। शास्त्रसमाप्ति तथा शास्त्रकर्ता की प्रतिज्ञापूर्ति की सूचना देते हुए कहा कि जिनमार्ग की प्रभावना हेतु भक्ति से प्रेरित होकर पंचास्तिकाय ग्रन्थ की रचना की गई है। पंचास्तिकाय शास्त्र अतिसंक्षेप में समस्त वस्तुतत्त्व प्रतिपादक होने पर भी, अतिविस्तृत प्रवचन का सार है। टीकाकार ने अन्य टीकाओं की तरह अंत में टीका के कर्तृत्व का निषेध किया तथा स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र को समयव्याख्या टीका का अकर्ता ही घोषित किया है।[3]

---

१. समयव्याख्या: गा. १६५ से १७० तक।
२. वही, गा. १७१ से १७२ तक।
३. वही, गा. १७३ तथा अन्तिम कलश।

पाठानुसंधान :-

समयव्याख्या टीका अत्यन्त प्रौढ़, गम्भीर अर्थयुक्त तथा महान् दार्शनिक कृति है। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वप्रथम टीका आत्मख्याति, पश्चात् तत्त्वप्रदीपिका और तत्पश्चात् समयव्याख्या नामक टीका की रचना हुई है। समयव्याख्या टीका प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका की सारभूत कृति है।[1] आत्मख्याति तथा तत्त्वप्रदीपिका टीकाओं की भाँति समयव्याख्या टीका का भी व्यापकरूप में प्रचार एवं प्रसार हुआ है। समयव्याख्या की अनुसारी टीकाएँ, उनकी पाण्डुलिपियों तथा विभिन्न प्रकाशनों की तालिका से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि इसका भी प्रचार-प्रसार क्षेत्र व्यापी एवं कालव्यापी दोनों प्रकार से हुआ है। इसकी उपलब्ध कुछ मुद्रित प्रतियों के मूलपाठों के तुलनात्मक अनुशीलन से ज्ञात हुआ कि उनमें विशेषतः पाठभेद नहीं है। तुलनात्मक प्रतियों में प्रथम प्रति पं. पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा सम्पादित १९१५ ई. में बम्बई से प्रकाशित है। द्वितीय प्रति पं. मनोहरलाल द्वारा संशोधित १९५९ ई. में अगास से प्रकाशित है। तृतीय प्रति पं. हिम्मतलाल जे. शाह द्वारा अनुवादित १९६५ ई. में सोनगढ़ से प्रकाशित है तथा चतुर्थ प्रति प्रो. ए. चक्रवर्ती द्वारा अनुवादित १९७५ में दिल्ली से प्रकाशित है। इनमें प्रथम प्रति का अविकल अनुकरण द्वितीय प्रति में हुआ है। तृतीय प्रति का अनुकरण चतुर्थ प्रति में यथावत् पाया जाता है। प्रथम तथा तृतीय प्रति में विशेषता मात्र इतनी है कि गा. १११ की टीका के रूप में "पृथ्विकायिकादीनां पंचानामेकेन्द्रियत्वनियमोऽयम्।" इन शब्दों का प्रयोग पाया जाता है, जबकि तृतीय प्रति में १११वीं गाथा की टीका के रूप में एक भी शब्द नहीं पाया जाता है। दूसरे, प्रथम प्रति में १७३ गाथा की टीका के अंत में "स्वशक्ति संसूचित..... ....." इत्यादि अंतिम पद्य देकर "इति समयव्याख्यां नवपदार्थ पुरस्सर मोक्षमार्ग प्रपञ्चवर्णनो द्वितीयः श्रु तस्कंधः समाप्तः" इन शब्दों के साथ टीका समाप्त होती है, जबकि तृतीय प्रति में १७३वीं गाथा की टीका के अंत में "इति.....श्रुतस्कंधः .....समाप्तः" इस सूचना के पश्चात् "स्वशक्तिसंसूचित....."

---

१. पंचास्तिकाय, गा. १७३ की समयव्याख्या टीका।
"प्रवचनसारस्य सारभूत पंचास्तिकायसंग्रहाभिधानं भगवत्सर्वज्ञोपज्ञत्वात् सूत्रमिदमिहितं मयेति।"

इत्यादि पद्य दिया है तथा पद्य के पश्चात् "इति पञ्चास्तिकायसंग्रहाभिधानस्य समयस्य व्याख्या समाप्ता" इन शब्दों के साथ टीका समाप्त होती है। यद्यपि सामान्यतः चारों प्रतियों में मूलपाठ के मुद्रण में कोई प्रकार की त्रुटि नहीं आई है। तथापि तृतीय प्रति में श्रुतस्कंधवर्णन समाप्ति के पश्चात् अंतिम पद्य तथा टीका समाप्ति की सूचना अधिक उचित प्रतीत होती है।

परम्परा :

समयव्याख्या टीका में भी सिद्धांत विषयक गंभीर निरूपण हुआ है। दार्शनिक तथ्यों का तार्किक स्पष्टीकरण तथा षड्द्रव्य, पंचास्तिकाय एवं सात तत्त्वों के स्वरूप का निदर्शन भी इस कृति में पाया जाता है। द्रव्यानुयोगपरक न्यायशैली में निरूपण की पूर्वाचार्योक्त परम्परा का इस टीका में आद्यन्त निर्वाह हुआ है। यह टीका आचार्य कुन्दकुन्द की दार्शनिक मान्यताओं का विशदीकरण एवं स्पष्टीकरण करने में पूर्णतः सफल सिद्ध हुई है। साथ ही सर्वत्र नयात्मक निरूपण द्वारा शास्त्रतात्पर्य एवं सूत्रतात्पर्य दोनों अभिव्यक्त हुए हैं। इसप्रकार इस टीका द्वारा कुन्दकुन्दाचार्य की दार्शनिक-सैद्धान्तिक परम्परा भलीप्रकार पुष्ट हुई है।

प्रणाली :

समयव्याख्या टीका में आ. अमृतचन्द्र ने सर्वत्र न्यायशैली तथा नयात्मक निरूपण शैली को अपनाया है। नयों का यथोचित सामञ्जस्य तथा नयाभास का पर्दाफाश एक साथ हुआ है। प्रौढ़तम अर्थप्रगल्भा भाषा, श्रेष्ठ साहित्यिक शैलियों की योजना तथा सम्यग्ज्ञान ज्योति को जागृत करनेवाली पदयोजना का प्रयोग अपने आप में अनूठा है।

ग्रन्थवैशिष्ट्य :

इस कृति की कुछ विशेषताएँ इसप्रकार हैं; इसमें

१. विभिन्न साहित्यिक शलियों के प्रयोग पाये जाते हैं।
२. स्याद्वाद तथा अनेकांत का यथोचित दिग्दर्शन कराया गया है।
३. षड्द्रव्य, पंचास्तिकाय के निरूपण में परमत की मान्यताओं का तथा सप्ततत्त्व निरूपण में नयाभासियों की मान्यताओं का निराकरण पाया जाता है।
४. प्रौढ़, परिष्कृत, चमत्कारोत्पादक भाषा; गंभीर, उदार, हितकारक भावों का सम्मिलन सर्वत्र दर्शनीय है।

समय व्याख्या टीका तथा उससे अनुप्राणित टीकाएँ एवं टीकाकार :

१. ई. ९५०, टी. – समयव्याख्या, टी. ना. – आ. अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत जानकारी स्रोत – उपलब्ध ।

२. ई. ९८० – १०६५, टी. पंचास्तिकाय टीका, टी. ना. आ. पभाचन्द्रषष्ठ, भा. – संस्कृत, जा. स्रो. – जै. सि. का. ३/१४० ।

३. ई. ११२८, टी. पंचास्तिकाय टीका, टी. ना. – आ. मल्लिषेण, भा. – तमिल्, जा. स्रो. – जै. सि. को, ३/३०० ।

४. ई. ११४०–८५, पंचास्तिकाय टीका, टी. ना. – मलधारी पद्मप्रभ, भाषा – कन्नड़, जा. स्रोत – क. प्रा. ता. ग्र. सू. /१६ ।

५. ई. १२९२ – १३२३ टी. – पंचास्तिकाय टीका, टी. ना. – ब्रह्मदेव, भाषा – संस्कृत जा. स्रो. – जै. सा. बृ. इ. ४/१५८ ।

६. ई. १३५० लि – पंचास्तिकाय टीका, टी. ना. – बालचन्द्र मुनि, भाषा – कन्नड़, जा. स्रो – जै. सि. को. ३/९४ ।

७. ई. १३१२ – १३८०, टी – तात्पर्यवृत्ति, टी. ना. – आ. जयसेन, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो – जै. सि. को. २/३२० ।

८. ई. १४७७ –९९, टी. ...., टी. ना. – भ. ज्ञानभूषण, भाषा – ....., जा. स्रो – जै. सि को. २/२७०, सं. सा इ. (गरोला) ३६१ रा. जै. सं. व्य. क. १५४ ।

९. १६३३ – ५६ टी. ...., टी. ना. – नरेन्द्रकीर्ति, भाषा – हिन्दी, रा. जै. सं. व्य. क. १९६८ ।

१०. ई. १६४३ – ७० टी. बालावबोध, टी. ना. – पं. हेमराज, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो – जै. सि. को. ३/२, जै. सि. को ४/५४४ ।

११. १६५९, टी. ....., टी. ना. – पं. राजमल्ल, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो – जै. सि. को. ३/४१४, पंचा.. प्र. पृ. । (१९१५) ।

१२. ई. १६६१, टी. – पंचास्तिकाय-समयसार, टी. ना. – कवि हीरानंद, भाषा – हिन्दीपद्य, जा. स्र – उपलब्ध ।

१३. ई. १७१८, टी. ....., टी. ना. भट्टारकज्ञानचंद, भाषा – हिन्दी-पद्य, जा. स्रो. – जै. सि. को. २/२७० ।

१४. १७६४, टी. ....., टी. ना. – कवि विधिचन्द्र, भाषा – हिन्दी-पद्य, जा स्रो – पंचा, प्र. पृ. ।

१५. ई. ....., टी. ....., टी. पं. नाथूराम, भाषा – हिन्दी-पद्य, जा. स्रो – पंचा. प्र. पृ. ।

१६. ई. ....., टी. ....., टी. ना. – पं. हेमचन्द्र प्रध्यापक, भाषा – हिन्दी-पद्य, जा. स्रो. – पंचा. प्र. पृ. ।

१७. ई. ....., टी. ....., टी. ना – देवजित आचार्य, भाषा....., जा. स्रो – जै. सि. को २/४४८ ।

१८. ई. – १८३४, टी. ....., टी. ना – पं. बुधजन, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – जै. सि. को ३/२ ।

१९. ई. १८८४, टी. ....., टी. ना. – दोसी वेलसी वीरचंद वीरभगांव, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो – पंचा प्र. पृ. ।

२०. ई.....टी. ....., टी. ना. ....., भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – जि. र को. वि । पृ. २३७ ।

२१. ई. १८७८ – १९४८, टी. ....., टी. ना. – ब्र. शीतलप्रसाद, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – सहज सुख साधन मु. पृ. आगम पथ, नवम्बर ७८ पृ. ७४, शीतल ज. श. विशेषांक ।

समयव्याख्या टीका तथा तदनुसारी टीकाओं की पाण्डुलिपियाँ :

अ. ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियाँ :

१. लिपि – १३५० ई., टीकाकार – मुनि बालचन्द, लिपि – कन्नड़, (मूलबिद्री में) जानकारी स्रोत – क. प्रा ता. ग्र. सू. २०४ ।

२. लि. – १८७६ ई., टी. – सवाईजयपुरम्, लिपि – कन्नड़ (कुम्भोज) जा. स्रो. – बाहुबलि कुम्भोज में उपलब्ध ।

३. लि. – अज्ञात, टी. – मलधारी पद्मप्रभ, लिपि – कन्नड़, (कुम्भोज) जा. स्रो – क. प्रा. ता. ग्र. सू. /१६ ।

ब. कागज पर पाण्डुलिपियाँ :

१. लिपि – १४३०, टीकाकार आ. अमृतचन्द्र, लिपि – संस्कृत, जा. स्रो. – रा. जै. शा. भा. सू. ४/४१ ।

२. लिपि – १४७६, टीका – आ. अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो – रा. जै. शा भा. सू. ५/७२ ।

३. लिपि – १४८४, टीका – आ. अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – रा. जै. शा. भा. सू. ४/४१ ।

४. लिपि – १५१६, टीका – आ. अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – रा. जै. शा. भा. सू. ५/७२ ।

५. लिपि – १५८०, टीका – आ. अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – जै. सा. वृ. इ. ४/२८८ ।

६. लिपि – १६६२, टीका – पं. हेमराज, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – रा. जै. शा. भा. सू. ३/१८१ ।
७. लिपि – १६६६, टीका – पं. हेमराज, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो – जै. स्रा. वृ. इ. ४/२८८ ।
८. लिपि – , टीका – पं. बुधजन, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – रा. जै. शा. मा. सू. ४/४१ ।
९. लिपि – १८३९, टीका – पं. हीरानन्द, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. आदर्शनगर, जयपुर ।
१०. लिपि – १८६४, टीका – पं. हेमराज, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – आदर्शनगर, जयपुर ।
११. लिपि – १८७३, टीका – पं. हेमराज, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – आदर्शनगर, जयपुर ।
१२. लिपि – १८८१, टीका – [illegible], भाषा – संस्कृत, जा. स्रो. – रा. जै शा- भ. सू. ४/४१ ।

स. संगमर्मर पर उत्कीर्ण :

१. लिपि – १९७० – ७५, टीका – अमृतचन्द्र, भाषा – संस्कृत, जा. स्रो – परमागम मंदिर, सोनगढ़ ।

समयव्याख्या एवं तदनुसारी टीकाओं के प्रकाशन तथा संस्करण :

१. ग्रन्थ – पंचास्तिकाय गाथा (फाईव मेमनीट्यूड्स), सम्पादक – पी ई. पेमोलिनी, प्रकाशक – ग्रियरनले डेला सो , इटली ई. १९०१, भाषा – फ्रेंच, प्रतियाँ···· ।
२. ग्रं. – पंचास्तिकाया, बालावबोध, सं. – पं. हेमराज, प्र. – रा. च. जै. ग्र. मा बम्बई, ई. १९०४, भाषा – हिन्दी ।
३. पंचास्तिकाया टीका, सं. – पन्नालाल बाकलीवाल, प्र – रा च. जै ग्र. मा बम्बई १९०६, भाषा – हिन्दी ।
४. ग्रं – पंचास्तिकायाटीकात्रय, अनु – पन्नालाल बाकलीवाल, सं. – पं. मनोहरलाल, प्र – रा. च. जै. ग्र. मा., बम्बई, ई १९१५, भाषा – हिन्दी ।
५. पंचास्तिकाया टीका, सं. – उदयलाल काशलीवाल, प्र. – रा. च. जै. ग्र. मा बम्बई, ई १९१६, भाषा – हिन्दी ।
६. पंचास्तिकायसार, सं. – ए. चक्रवर्ती, प्र. – दी. से. जै. प. हा. आरा, ई. १९२०, भाषा – अंग्रेजी ।

७. ग्र. – पंचास्तिकाय (सटीक) अनु. – हिम्मतलाल जे. शाह. प्र – दि. जै. स्वा. मं ट्र. सोनगढ़, ई. १९५७, भाषा – गुजराती।
८. ग्रं. – पंचास्तिकायसार, टीका – ए चक्रवर्ती, प्र. – भा. ज्ञा. पी. दिल्ली, ई. १९७५, भाषा – अंग्रेजी।
९. ग्रं. – पंचास्तिकाय, टीका – पं कल्लापा भरमाप्पा निटवे, प्र.····· फलटण, ई. १९२८, भाषा – मराठी।
१०. ग्रं. – पंचास्तिकाया, टीका – पं. हिम्मतलाल जे. शाह, अनु. – पं. परमेष्ठी दास, प्र. – दि. जै. स्वा. मं. द. सोनगढ़, ई. १९६५, भाषा – हिन्दी।
११. पंचाचास्तिकाय, टीका – अज्ञात, प्र. – रा च. जै. ग्र. मा. अगास, ई. १९६९, भाषा – हिन्दी।

समयसार कलश

द्वितीय विभाग में आचार्य अमृतचन्द्रकृत तीन गद्यटीकाओं पर प्रकाश डाला जा चुका है। "समयसारकलश" लेखक की स्वतन्त्र व मौलिक रचना नहीं है, अपितु आत्मख्याति गद्यटीका में बीच-बीच में आगत पद्यों का संग्रह है। मौलिक कृति न होने पर भी आचार्य अमृतचन्द्र के असाधारण व्यक्तित्व एवं कवित्व शक्ति से अनुप्राणित होने के कारण इसका मौलिक रचना की भांति समादर है। आचार्य कुन्दकुन्द के समयप्राभृत की गाथाओं के भावों की ही क्रमबद्ध प्रकाशक होने के कारण इसे पद्यटीका के रूप में व्यवहृत किया है। इन पद्यों में मूलगाथाओं तथा टीकाओं का सार समाहित है। कलश आत्मानुभवरूप अमृतरस से परिपूर्ण तथा जैन-अध्यात्म के नवनीत के घट स्वरूप हैं। इनमें अलंकारों की अद्भुत छटा, छंदों का रसानुकूलप्रयोग, प्रसाद-माधुर्य आदि गुणों का प्रस्फुटन तथा अंतर्मुखकवीन्द्र की असाधारण काव्यप्रतिभा की अभिव्यक्ति हुई है। इनके रसास्वाद से भव्य सहृदय रसिकों को परमानन्द की अनुभूति प्राप्त होती है। वास्तव में इन्हें जैनअध्यात्म और लेखक की अलौकिक विद्वता का निस्यंद कहना उचित है। जिसप्रकार मंदिर की शोभा तथा महिमा शिखरस्थ स्वर्णकलशों से विशेषतः वृद्धिगत हुई है। इन पद्यों की प्रसिद्धि अध्यात्म के अध्येताओं के बीच अमृतकलशों के रूप में है। टीकाकार ने अध्यात्मरूप श्रुतसागर का स्याद्वादनयरूप मथानी से मंथन करके जो नवनीत प्राप्त किया, उसे ही इन काव्यकलशों द्वारा अभिव्यक्त किया है। इस रचना में आचार्य के सिद्धान्तपारंगत्व के दर्शन होते हैं। न्याय, तर्क, व्याकरण, साहित्यिक प्रखर

विद्वत्ता आदि के दर्शन भी पद-पद पर होते हैं। संस्कृत भाषा का साधारण पाठक भी इन कलशों में निहित आनंद व शांतरस का रसास्वादन कर सकता है। इस पर रचित विभिन्न टीकाओं तथा भाष्यों के नाम मात्र इसकी महिमा के उद्घोषक है। परमाध्यात्मतरंगिणी टीका, अध्यात्म अमृतकलश टीका, अमृतज्योति टीका, कलशागीत या निजामृतपान (पद्यानुवाद)..... इत्यादि इसके उदाहरण हैं। समयसारकलश पर अभी तक अनेक भाषाओं में, गद्य तथा पद्य में, विभिन्न विद्वानों की टीकाओं का प्रकाशन हो चुका है। इसकी अतिप्राचीन हस्तलिखित प्रतियां भी भारत के अनेकों स्थानों के जिनमन्दिरों तथा शास्त्रभण्डारों में विद्यमान हैं। ताड़पत्रीय तथा कपड़े पर भी कलापूर्ण ढंग से समयसारकलशों को लिखकर सुरक्षित रखा जाना उक्त ग्रंथ की महिमा का प्रमाण है।

अमृतचन्द्र के परवर्ती अनेक आचार्यों, विद्वानों तथा लेखकों ने अपनी कृतियों, टीकाओं आदि में, सर्वश्रेष्ठ प्रमाण के रूप में, इन कलशों को उद्धृत किया है। उक्त समयसारकलश रचना के परिचय में विद्वानों ने मुक्तकंठ प्रशंसा की है तथा सगर्व गौरवगाथा गाई है। पं. गजाधरलाल का अनुभव है कि आत्मख्याति टीका की शोभा इस ग्रन्थ बिना नहीं हो सकती। समयसार व उसकी टीका पढ़ने पर भी जबतक समयसारकलशों को नहीं पढ़ा जाता है, तब तक पूर्णरूप से आत्मा का अनुपम आनन्द नहीं आता है।[1] पं. फूलचन्द शास्त्री के शब्द भी तथ्य प्रकाशक हैं। वे लिखते हैं - कलशकाव्यों की रचना आसन्नभव्यजीवों के हृदयरूपी कुमुद को विकसित करनेवाली चंद्रिका के समान उनकी मनोहारिणी शैली का सुपरिणाम है। यह अमृत का निर्झर है और इसे निर्झरित करनेवाले चन्द्रोपम आचार्य अमृतचन्द्र हैं।[2]

नामकरण :-

ग्रन्थ के उक्त नामकरण के सम्बन्ध में लेखक की ओर से कहीं कोई संकेत नहीं मिलता, इससे स्पष्ट है कि उक्त पद्यों का संकलन एवं उनका "समयसारकलश" नाम पश्चाद्वर्ती लेखकों द्वारा प्रदत्त है। यहाँ "नामकरण" का कर्ता कौन है ? कब नामकरण हुआ है ? इन प्रश्नों की अपेक्षा नामकरण कितना सार्थक है ? यह अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, अतः

---

१. परमाध्यात्मतरंगिणी – प्र. पृ. प्रथम।

२. समयसारकलश – प्रस्तावना पृ. ६।

नामकरण की सार्थकता पर विचार किया जाता है। प्रथम तो जिसप्रकार मंदिर की शोभा कलशों से विशेष होती है, उसी प्रकार समयसाररूप मंदिर की शोभा अमृतचन्द्राचार्य कृत पद्यों से विशेष है, अतः उक्त पदों की कलश संज्ञा सार्थक है। दूसरे जिसप्रकार कलशों (घड़ों) में जल आदि भरकर रखा जाता है तथा उनके जल से पिपासुजनों की प्यास मिटती है। उसीप्रकार टीकाकारकृत पद्यों में समयसार की गाथाओं का तथ्यामृत भरा है; जिससे संसारताप से संतप्त, अतीन्द्रियअध्यात्मरस के प्यासे भव्यजीवों को उक्त पद्यों में परमानन्दरूप अमृतरस की प्राप्ति होती है; और वे आत्मीय आनन्द और निराकुल शांति का अनुभव करते हैं, अतः उक्तपद्यों की कलश संज्ञा उचित प्रतीत होती है। तीसरे – पाण्डे राजमल्ल द्वारा लिखित टीका का नाम भी "समयसारकलश बालबोध टीका" है। यह टीका "कलश" पद का उल्लेख करनेवाली टीकाओं में सर्वाधिक प्राचीन है। पश्चात् पं० बनारसीदास ने भी उक्त कृति को "समयसारकलश" नाम से उल्लिखित किया है।[1] इसप्रकार प्रकृत नाम "समयसारकलश" उक्त रचना का सार्थक एवं चिरप्रचलित नाम है।

कर्तृत्व :-

"समयसारकलश" टीका के कर्ता आचार्य अमृतचन्द्र ही है। इसमें विप्रतिपत्ति के लिए जरा भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि प्रथम तो वे पद्य आत्मख्याति टीका में बीच-बीच में टीकांश के सार को पुनः प्रदर्शित करते हैं। दूसरे उक्त पद्यों में आचार्य अमृतचन्द्र का नाम दो बार प्रयुक्त हुआ है। यथा "उदित अमृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्तात्"[2]। तथा "स्वरूपगुप्तस्य न किंचिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचंद्रसूरेः"[3] इन दोनों पद्यों में अमृचन्द्र का नाम आया है, अतः उक्त टीका के कर्ता प्रकृत आचार्य ही है, यह समस्त लेखकों, विद्वानों, पाठकों आदि द्वारा एकमतेन सर्वमान्य तथ्य है। अस्तु।

प्रामाणिकता :-

समयसारकलश की प्रामाणिकता सर्वोच्च तथा सर्वमान्य है। यह बात हम आत्मख्याति टीका की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में प्रकाश डालते

---

१. समयसारकलश" अति नीका, राजमल्लि सुगम यह टीका ॥२॥
(समयसार नाटक-ईडर की प्रति का अंतिम अंश)।

२. समयसारकलश क्र. २७६।

३. वही, कलश क्र. २७८।

समय स्पष्ट कर चुके हैं। समयसारकलश का प्रत्येक पद्य अनेकांत तथा स्याद्वाद शैली का प्रकाशक, जैनसिद्धांत व अध्यात्म का मर्मोद्घाटक है। उनकी समग्र कृति श्रुतकेवलिवाणी तुल्य प्रमाणता को प्राप्त है। इसे जैनों की अध्यात्मगीता कहना उचित है। कुन्दकुन्द की गाथाओं के मूलभावों का दोहन करके ही टीकाकार ने ज्यों का त्यों अथ कलशरूप काव्यों के माध्यम से पुनः अभिव्यक्त किया है; अतः उनकी प्रामाणिकता निस्संदेह है। उनके परवर्ती समस्त विद्वानों, आचार्यों ने अमृतचन्द्र के उक्त कलशों को प्रमाणरूप में प्रस्तुत करने में गौरव का अनुभव किया है। इन कलशों का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार, प्रकाशन व लेखन आदि से भी इस कृति की लोकप्रियता तथा प्रामाणिकता सिद्ध होती है।

विषयवस्तु :-

आत्मख्याति टीका की तरह इसे भी १२ अधिकारों में बांटा गया है, जो क्रमशः जीव, अजीव, कर्ताकर्म, पुण्यपाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष, सर्वविशुद्धज्ञान, स्याद्वाद तथा साध्यसाधक अधिकार हैं। कुल पद्य संख्या २७८ है। इन अधिकारों से प्रतिपाद्य विषयवस्तु संक्षेप में इसप्रकार है।

१. जीवाधिकार :-

प्रथम ही मंगलाचरण में स्वानुभूति में प्रकट होनेवाले शुद्धात्मा को नमस्कार करके अनंतधर्मात्मक तत्त्वों को प्रत्यक्ष करनेवाली अनेकांतस्वरूप मूर्ति-जिनवाणी के जयवंत प्रवर्तने की भावना व्यक्त की। ग्रन्थ रचना का फल निरूपित करते हुए लिखा है कि समयसार व्याख्या द्वारा शुद्धपरणति की प्राप्ति हो। उक्त प्राप्ति उन्हे ही होती है, जो निश्चय-व्यवहार नयों के विरोध को मिटाकर स्यात्पद अंकित जिन वचनों में रमण करते हैं। आगे व्यवहारनय की कथंचित् उपयोगिता बताते हुए उसे प्रथम अवस्था में स्थित जनों को हस्तावलंबन समान कहा है, परन्तु चैतन्यचमत्कार मात्र पदार्थ को देखनेवालों के लिए व्यवहारनय कुछ भी उपयोगी नहीं है। नवतत्त्वों में व्याप्त एक पूर्णज्ञानघनस्वरूप आत्मा का स्वरूपदर्शन ही सम्यग्दर्शन है। शुद्धनय से देखने पर वह आत्मा एक चैतन्यज्योति स्वरूप ही प्रकाशित होता है। प्रतिक्षण उस आत्मज्योति को देखने से आत्मदर्शन होता है। आत्मदर्शन या आत्मानुभव के काल में नय, प्रमाण, निक्षेप आदि के समस्त विकल्प समाप्त हो जाते हैं। एक मात्र आत्मा अद्वैतरूप से भासित होता है। आत्मा का स्वभाव परद्रव्य तथा उनके भावों से भिन्न है,

परिपूर्ण है, आदि अंत से रहित है, एक है, संकल्प-विकल्प-समूह से रहित है। ऐसा स्वभाव शुद्धनय के द्वारा प्रकाशित होता है। अतः मोह को छोड़कर आत्मानुभव करने की प्रेरणा की है। बार-बार उस स्वरूपानुभव के अभ्यास से स्वयं, शाश्वतदेव आत्मा अनुभव में आता है। आत्मानुभूति शुद्धनयरूप है। उसे ही ज्ञानानुभूति कहते हैं। ऐसी ज्ञानानुभूति की प्राप्ति की प्रेरणा टीकाकार ने दी है। आत्मा उसीप्रकार चैतन्य से परिपूर्ण है, जिसप्रकार नमक की डली सर्वांग क्षारपने से परिपूर्ण है। ऐसा आत्मा साध्य व साधक दो रूप होने पर भी एक ही उपासनीय है। आत्मा की द्विविधता बतलाते हुए लिखते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनरूप होने से आत्मा मेचक है और स्वरूप की एकता के कारण अमेचक है। वह अमेचक अर्थात् अभेद तथा मेचक अर्थात् भेद अन्य रूप है। अतः त्रिरूपता को धारण करनेवाली तथा अपनी एकता को न छोड़नेवाली आत्मज्योति का अनुभव ही साध्य की सिद्धि का उपाय है, अन्य नहीं है।[1] उक्त प्रकार से आत्मा की अनुभूति करनेवाले निर्विकारी बनते हैं। अनादिकालीन मोह को छोड़कर जगज्जन भी आत्मरस के रसिकों को प्रिय ऐसे भेदविज्ञान को चखें। उस भेदविज्ञान की प्राप्ति के लिए किसी भी प्रकार से, यहाँ तक कि मरकरके भी तत्त्व का कौतुहली होकर मूर्तिक शरीरादि को पड़ोसी की भाँति अनुभव करें तो मोह भी आत्मा को स्वयं ही शीघ्र छोड़ देगा। यहाँ अज्ञानी प्रश्न करता है कि आत्मा और शरीर एक ही है, क्योंकि तीर्थंकरों व आचार्यों की स्तुति शरीराश्रित होती है, अतः वह मिथ्या सिद्ध होगी? आचार्य कहते हैं तू नयविभाग को नहीं जानता है। जिनेन्द्र का रूप स्वाभाविक, लावण्यमयी इत्यादि है, इसमें अधिष्ठाता आत्मा का कुछ भी गुणगान नहीं हुआ है, जिसप्रकार नगर के वर्णन से राजा का गुणवर्णन नहीं होता है। यह व्यवहार स्तुति मात्र है, निश्चय स्तुति में तो चैतन्य आत्मा के गुणों का स्तवन ही चैतन्य का स्तवन है।[2] इसप्रकार नयविभाग की युक्ति द्वारा आत्मा और शरीर के एकत्व को जड़मूल से उखाड़नेवाले का ज्ञान तत्काल यथार्थपने को प्राप्त होता है। आगे कहा कि परभाव के त्याग की दृष्टि आते ही स्वानुभूति प्रकट होती है। उस अनुभूति में आत्मा चैतन्यरस से भरे अपने आत्मस्वभाव को ही अनुभव करता है तथा अनुभव

---

१. समयसारकलश – १ से २० तक।

२. समयसारकलश, २१ से २७ तक।

में मोह से भिन्न शुद्ध चैतन्यनिधि आत्मा ही आता है। इसप्रकार के विचारों से प्रवृत्ति स्वात्मनिष्ठ होती है। अंत में भगवान आत्मा को ज्ञानसिंधु स्वरूप में मग्न होने की प्रेरणा देते हुए उक्त अधिकार समाप्त होता है।[1]

२. अजीवाधिकार :-

इस अधिकार में जीव तथा अजीव का एक वेश में प्रवेश तथा ज्ञान द्वारा उन्हें यथार्थ जान लेने पर वेश त्यागकर चले जाने की सूचना प्रारम्भ में दी है। आगे पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि का विरोध करनेवालों को टीकाकार आचार्य शांतिपूर्वक उपदेश देते हुए लिखते हैं कि हे भव्य, व्यर्थ के कोलाहल को बन्द करो, उससे कुछ भी लाभ नहीं है। एक चैतन्यमात्र वस्तु को स्वयं निश्चल होकर देखो, ऐसा छह माह तक अभ्यास करो तो तुम्हें स्वयं ज्ञात होगा कि तुम्हारे ही हृदय सरोवर में पुद्गल से भिन्न आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं? आगे सब परपदार्थों को छोड़कर एक चैतन्यमात्र को ग्रहण करने की प्रेरणा की है। चैतन्यमात्र के सिवा शेष समस्त भाव पौद्गलिक हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्णादि तथा राग-द्वेष-मोहादि सभी आत्मा से भिन्न पदार्थ हैं। जिसप्रकार स्वर्णनिर्मित म्यान स्वर्णमय होती है, उसीप्रकार वर्णादि, एकेन्द्रियादि, जीवसमासादि सभी पुद्गलमय हैं, आत्मामय नहीं हैं। घी का घड़ा कहने पर भी घड़ा घी का कभी नहीं होता, इसीप्रकार वर्णादि रूप जीव है, ऐसा कहने पर जीव वर्णरूप कदापि नहीं होता। जीव तो अनादि अनंत चैतन्यरूप प्रकाशमान है। जीव का लक्षण अमूर्तत्व भी नहीं है, क्योंकि वह लक्षण धर्म, अधर्म आदि अचेतन द्रव्यों में पाया जाता है। चैतन्य ही सर्वथा जीव का निर्दोष लक्षण है। उस असाधारण चैतन्यभाव को ही सम्यग्दृष्टि अनुभव करता है। सम्यग्दृष्टि मानता है कि अनादि के अविवेकमयी नृत्य में पुद्गल ही नाचनेवाला है, जीव नहीं, जीव तो चैतन्य धातु से बना हुआ है है। इसप्रकार अजीवाधिकार समाप्त होता है।[2]

३. कर्ताकर्माधिकार :-

इस अधिकार में अज्ञानी जीव क्रोधादि भावों का कर्ता आत्मा को मानते हैं। उनकी उक्त मान्यता को ज्ञानज्योति दूर करती है। ज्ञानी को पौद्गलिक कर्मबंधन नहीं होता है। द्रव्यकर्म तथा भावकर्म के कर्तापन का

---

१. समयसारकलश, २८ से ३२ तक।

२. वही, कलश ३३ से ४५ तक।

त्याग करने वाला आत्मा ही ज्ञानी है। व्याप्य-व्यापक भाव के बिना कर्ता-कर्म की सिद्धि नहीं होती, अतः जीव कर्म का कर्ता नहीं है। ज्ञानी रागादि का भी कर्ता नहीं होता, ज्ञाता ही होता है। अज्ञानी जीवों में उक्त परद्रव्य व परभाव के साथ कर्ताकर्म की बुद्धि तब तक बनी रहती है, जब तक उन्हें भेदविज्ञान नहीं हो जाता।[1] आगे कर्ता, कर्म तथा क्रिया का लक्षण लिखा है कि जो परिणमन करे वह कर्ता है, जो परिणाम हो, वह कर्म है तथा जो परिणति हो, वह क्रिया है-ये तीनों वास्तव में वस्तु स्वरूप से भिन्न नहीं हैं। एक वस्तु ही परिणमित होकर एक परिणाम को करती है, एक ही परिणति होती है, क्योंकि अनेकरूप होने पर भी वस्तु एक ही है। दो द्रव्य एक होकर परिणमित नहीं होते, दो द्रव्यों का एक परिणाम नहीं होता, दो द्रव्यों की एक परिणति क्रिया नहीं होती, क्योंकि अनेक द्रव्य सदा अनेक ही रहते हैं, वे एक नहीं होते। एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते, एक द्रव्य की दो क्रियाएँ नहीं होती, क्योंकि एक द्रव्य अनेक नहीं होता। तथापि अनादि काल से अज्ञानी पर का कर्ता अपने को मानकर चारों ओर दौड़ लगाता है। शुद्धात्मा के आश्रय से यदि आत्मा एक बार भी ज्ञानी हो जाता है तो फिर उसे बंधन नहीं होता। सारांश यह है कि आत्मा आत्मभाव का तथा पर परभावों का कर्ता है।[2] घासमिश्रित अच्छा भोजन खाने वाले पशु की तरह अज्ञानी को पुद्गल मिश्रित अपने आत्मा की भिन्नता भासित नहीं होती। मृगतृष्णा की तरह अथवा रस्सी में सर्पाभास के कारण भागने वालों की भांति अज्ञानी कर्तृत्व के अहंकार में व्यर्थ आकुलित होते हैं। ज्ञानी पर को जानता है। ज्ञान की महिमा ही ऐसी है कि उससे अग्नि की उष्णता, पानी की शीतलता, चैतन्यधातु तथा क्रोध का भेद जाना जाता है। आत्मा अपने ही भाव का कर्ता है, अज्ञानी आत्मा भी परभाव का कर्ता नहीं है। आत्मा ज्ञान है, ज्ञानमय है, ज्ञान के सिवा कुछ कर भी नहीं सकता। परभावों का कर्ता मानना व्यवहारी- संसारी जनों का मोह - अज्ञान मात्र है। पुनः अज्ञानी की शंका है कि जीव यदि कर्म को नहीं करता तो कौन करता है ? उत्तर में लिखा है कि पुद्गलद्रव्य में अपनी स्वयं की परिणमन शक्ति है, अतः वह अपने ही भाव को कर्ता है। इसीप्रकार जीव की भी अपनी स्वयं की परिणमन शक्ति है, अतः वह अपने

---

१. समयसार कलश, ४५ से ५० तक।

२ वही, कलश ५१ से ५३ तक।

ही भाव हो करते हैं, ज्ञानी के आश्रय तथा अज्ञानी के अज्ञानमय भाव होते हैं; क्योंकि ज्ञानी के भाव ज्ञान रचित होते हैं, अज्ञानी के अज्ञान रचित होते हैं।[1] अज्ञानी के भाव द्रव्यकर्म के बंध में निमित्त होते हैं। अतः जो नयपक्षपात से मुक्त होकर स्वरूप में मुप्त(लीन) होते हैं; वे विकल्प जाल से रहित होकर साक्षात् अमृत का पान करते हैं। आगे नय विकल्पों का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि बद्ध, मूढ, रक्त, दुष्ट, कर्ता, भोक्ता, जीव, सूक्ष्म, हेतु, कार्य, भाव, एक, सांत, नित्य, वाच्य, नाना, चेत्य, दृश्य, वेद्य, भात (प्रकाशमान) इत्यादि व्यवहारनय के विकल्प हैं तथा अबद्ध, अमूढ आदि निश्चयनय के विकल्प है; परन्तु जो तत्त्वज्ञानी है, वह पक्षपात रहित होकर आत्मा को चित्स्वरूप अनुभवता है।[2] चैतन्यमात्र तेजपुंज आत्मा के अनुभव से समस्त विकल्प उड़ जाते हैं। अतः यह स्पष्ट हुआ कि पक्षातिक्रांत ही समयसार है। ऐसे समयसार के दर्शन को ही सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सविकल्प का कर्ताकर्मपना कभी नष्ट नहीं होता। जो करता होता है, वह ज्ञाता नहीं होता; जो ज्ञाता होता है, वह करता नहीं होता। 'करोति क्रिया' में 'ज्ञप्तिक्रिया' भासित नहीं होती तथा 'ज्ञप्तिक्रिया' में 'करोति क्रिया' भासित नहीं होती। निश्चय से न तो कर्ता कर्म में है और न कर्म कर्ता में ही है। ज्ञाता ज्ञाता में है, कर्म सदा कर्म में ही है–ऐसी वस्तु स्थिति है; तथापि नेपथ्य में मोह वेग पूर्वक नाचता है तो नाचे। अब कर्म कर्मरूप रहता है, ज्ञान ज्ञानरूप। ऐसा गम्भीर–ज्ञानज्योति का महत्त्व है।[3] यहाँ उक्त अधिकार समाप्त होता है।

४ पुण्यपाप अधिकार :–

इस अधिकार में शुभ-अशुभ (पुण्य-पाप) कर्म दो पात्ररूप वेश धारण करके आते हैं। ज्ञान उन्हें जान लेता है कि वे दो नहीं, यथार्थ में एक कर्मरूप ही हैं। जिसप्रकार किसी शूद्रा के दो पुत्र पैदा हुए हों, उनमें एक ब्राह्मण के यहाँ तथा एक शूद्रा के घर पर पला हो, इसलिए उनमें एक मदिरा पीता है, तथापि जाति अपेक्षा तो दोनों एक ही हैं। हेतु, स्वभाव, अनुभव तथा आश्रय इन चारों की सत्ता अभेद होने से कर्म में ही निश्चय से भेद नहीं है। समस्त कर्मों को जिनेन्द्र ने बंध का साधक कहा है, अतः सर्व ही

---

१ समयसार कलश, ५७ से ६७ तक।

२. वही, कलश ६८ से ८६ तक।

३. वही, कलश ९० से ९९ तक।

कर्मों का निषेध किया है, तथा ज्ञान को ही मोक्ष का कारण निरूपित किया है। यहाँ शंकाकार कहता है कि सभी शुभाशुभ कर्मों का निषेध करने पर निष्कर्म अवस्थावाले मुनि क्या अशरण होते हैं? उत्तर में कहा है कि उस समय ज्ञान में ही आचरण करते हुए उन मुनियों को ज्ञान ही शरण होता है। ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा ही मोक्ष का कारण तथा मोक्षस्वरूप होता है। एकद्रव्यस्वभावी होने से ज्ञान के स्वभाव से सदा ज्ञानभवन बनता है, अन्यद्रव्यस्वभावी होने से कर्म के स्वभाव से ज्ञान भवन नहीं बनता; अतः कर्म मोक्ष का कारण नहीं है, अपितु मोक्षकारणों का तिरोधानकर्ता है, इसलिए निषेध योग्य है।[1] आगे कहा है कि मोक्षमार्गी को समस्तकर्मों का परित्याग करने का प्रयास करना चाहिए, क्योंकि जब तक कर्मों से विरति नहीं होती, तब तक कर्म और ज्ञान का एकत्रितपना होता है, यद्यपि उसके रहने में कोई विरोध नहीं, तथापि ऐसा जानना चाहिए कि अवशपने में जो कर्म प्रगट होता है, वह बंध का ही कारण है और एक परमज्ञान ही मोक्ष का कारण है। जो कर्मकाण्ड-शुभक्रियाएँ तो करते हैं, परन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा को नहीं जानते, वे अज्ञान में डूबे हुए हैं तथा जो ज्ञाननय के इच्छुक होकर प्रमादी एवं स्वच्छंदी हैं, वे भी प्रमाद में डूबे हैं; परन्तु वे जीव विश्व के ऊपर तैरते हैं, जो ज्ञानरूप होते हुए कर्म नहीं करते तथा प्रमाद के वशीभूत भी नहीं होते हैं। ऐसी ज्ञानकला प्रगट होते ही शुभाशुभकर्म अपना भेदरूप होकर नाचना बंद करके चले जाते हैं। ज्ञानकला क्रमशः केवलज्ञान ज्योतिरूप परिणत हो जाती है। यहाँ उक्त अधिकार समाप्त होता है।[2]

५. आस्रवाधिकार :-

इस अधिकार में मदोन्मत्त आस्रव का रंगभूमि में प्रवेश होता है, उसे ज्ञानरूप धनुर्धर जीत लेता है। वह ज्ञान उदार, गम्भीर तथा महानोदयवाला है। राग-द्वेष-मोह रहित ज्ञानमय भावों से भावास्रव का अभाव होता है। भावास्रवों के अभाववाला, द्रव्यास्रवों से स्वभावतः भिन्न ज्ञानी, निरास्रव ही है, मात्र ज्ञायक है। वह इसलिए भी निरास्रव कहलाता है, क्योंकि वह समस्त राग को हेय मानकर, बुद्धिपूर्वक का राग छोड़ता है और अबुद्धि-पूर्वक के राग को भी मिटाने का उद्यम करता है। यहाँ शंका उठाई है कि ज्ञानी के द्रव्यास्रव विद्यमान होते हैं फिर भी उसे निरास्रव क्यों कहा?

---

१. समयसार कलश, १०० से १०८ तक।

२. वही, कलश १०९ से ११२ तक।

उत्तर में कहा है कि यद्यपि पूर्वबद्ध द्रव्य कर्म सत्ता में रहते हैं, तथापि सर्व राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से उसे निरास्रव ही कहा है। इसप्रकार शुद्धनय में रहकर जो ज्ञानी सदा एकाग्रता का अभ्यास करते हैं, वे समयसार को देखते हैं। ज्ञानी भी शुद्धोपयोग से हटकर जब शुभोपयोगादि में प्रवर्तते हैं, तब रागानुसार बंध होता ही है, इसलिए ज्ञानी को निरंतर शुद्धोपयोग के अभ्यास में लगे रहने का उपदेश दिया है। सर्व कथन का तात्पर्य यह है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं हैं, क्योंकि उसके न त्यागने से कर्मबन्ध नहीं होता है। अंत में इस अधिकार का भी उपसंहार करते हुए ज्ञान की ही महिमा का वर्णन किया है।[1]

५. संवराधिकार :-

अब रंगभूमि में संवर का प्रवेश होता है। वहाँ सम्यग्ज्ञान की महिमा सूचक कथन किया है। चिद्रूप ज्ञान तथा जड़रूप राग में अत्यन्त भेद करके, भेदविज्ञान का प्रगट करके मुदित – प्रसन्न होने की प्रेरणा की है। यदि तीव्रपुरुषार्थ द्वारा धारावाही ज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव किया जावे तो परपरणति के निरोध से प्रगट आनंदमयी आत्मा ही प्राप्त होता है। निज आत्मा की महिमा में लीन जन ही कर्म से मुक्ति पाते हैं। संवर शुद्धात्मतत्त्व की प्राप्ति से होता है, शुद्धात्मा की प्राप्ति भेदविज्ञान से होती है। इसलिए भेदविज्ञान ही भाने योग्य है। भेदविज्ञान की भावना तब तक निरंतर करना चाहिए, जब तक ज्ञान पर से हटकर निज में प्रतिष्ठित न हो जावे। भेदविज्ञान की महिमा ऐसी है कि आज तक जितने भी आत्मा सिद्ध हुए हैं, वे सभी भेदविज्ञान से सिद्ध हुए हैं तथा जितने आत्मा अभी तक संसार में बद्ध हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव के कारण बद्ध है।[2] अंत में इस अधिकार का भी उपसंहार करते हुए ज्ञान की महिमा की है। इसप्रकार संवर भी रंगभूमि से चला जाता है।[3]

७. निर्जराधिकार :-

इस अधिकार में निर्जरा का प्रवेश तथा ज्ञान की महिमा का कथन किया है। आगे लिखा है कि यह ज्ञान तथा विराग की ही महिमा है, जो

---

१. समयसार कलश, ११३ से १२४ तक।
२. वही, कलश १२५ से १३१ तक।
३. वही, कलश १३२।

कर्मों को भोगते हुए भी ज्ञानी कर्मों से नहीं बंधता। ज्ञानी विषयादिक का सेवन करते हुए भी ज्ञानवैभव तथा विरागता की सामर्थ्य से उनके फल को नहीं भोगता। सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान तथा वैराग्य शक्ति होती है, इसीलिए वह स्वरूप का ग्रहण तथा पर का त्याग करता है। यहां ऐसे जीवों का भी उल्लेख किया है, जो सम्यग्दृष्टि तो हैं नहीं; परन्तु अपने को सम्यग्दृष्टि मानकर, "मैं बंध रहित हूँ" ऐसी कल्पना करके अभिमान एवं प्रसन्नता के साथ महाव्रतादि का आचरण, समितियों का पालन भले ही करें, परन्तु वे आत्मा व अनात्मा के विज्ञान से रहित होने से मिथ्यादृष्टि ही हैं।

अब अनादि काल से नशे में चूर तथा निद्रा से भरपूर को जगाते हुए लिखते हैं कि जिस पद में तू लीन है – सोया है, वह अपद है, तेरा पद नहीं है। तेरा पद तो यह शुद्ध, चैतन्यधातुरूप, स्वरस से परिपूर्ण तथा स्थायी है। एकमात्र ज्ञान ही आत्मा का स्वपद है, शेष सभी अपद हैं। एक मात्र ज्ञायकस्वभाव के अनुभवरूप महास्वाद को ही आत्मा प्राप्त करें ऐसा उपदेश है। समस्त पदार्थों को पी लेनेवाली निर्मल ज्ञानज्योति स्वयमेव उछलती है। वह भगवान आत्मा चैतन्यरत्नाकर तथा ज्ञानपर्यायरूप तरंगों से तरंगित है। अतः उस निरामय – स्वसंवेदन ग्राह्य भगवान आत्मा को छोड़कर महाव्रत, तप, त्याग आदि कितना ही करे; परन्तु निराकुल मोक्षपद कभी प्राप्त नहीं हो सकता। आचार्य मार्मिक सम्बोधन करते हुए लिखते हैं कि हे जगज्जनों वह ज्ञानरूप पद कर्मों से दुःसाध्य है, उसे तो निज ज्ञानकला के बल से ही प्राप्त करने का निरन्तर उपाय करो। उसकी प्राप्ति होने पर (अर्थात् सम्यग्दर्शन या आत्मानुभूति होने पर) आत्मतृप्ति-कारक, वचन अगोचर सुख प्राप्त होगा, फिर किसी से भी पूछने की जरूरत नहीं होगी, क्योंकि स्वयं वह चिन्मात्र चिंतामणि रत्न है, वह समस्त प्रयोजनों का साधक होने से ज्ञानी अन्य परिग्रह का क्या करेगा? अर्थात् ज्ञानी को अन्य परिग्रह की जरूरत नहीं होती।[1] इसप्रकार सामान्यतः परिग्रह को छोड़कर विशेषतः उसका त्याग ज्ञानी करता है। पूर्वबद्ध कर्मोदय के कारण यदि ज्ञानी उपभोग भी करता है, तो भी राग के वियोग के कारण उसको परिग्रहभाव नहीं होता। वेद्यभाव तथा वेदकभाव दोनों चलित होते हैं; इसलिए ज्ञानी कुछ भी नहीं चाहता, सभी के प्रति अत्यन्त

---

१. समयसार कलश, १३३ से १४४ तक।

उदासीन होता है। जिसप्रकार अकषायित वस्त्र से रंग का संयोग नहीं होता उसीप्रकार ज्ञानी राग से रहित होने के कारण परिग्रह को ग्रहण नहीं करता। वह तो निजरस से भरपूर राग के त्यागरूप स्वभाववाला है। वस्तु का जो स्वभाव होता है, वह उस वस्तु के ही आधीन होकर वर्तता है, ज्ञानी का ज्ञानस्वभाव होने से वह ज्ञानरूप ही वर्तता है, अज्ञानरूप नहीं। इसी लिए उसे पर के अपराध से उत्पन्न बंधन नहीं होता। ज्ञानी के लिए कर्म करना तो उचित है ही नहीं। उसे परद्रव्य समझकर भोगना भी अनुचित है; क्योंकि परद्रव्य का भोक्ता चोर होता है। अतः ज्ञानी के इच्छा ही नहीं होती। वहाँ इच्छा बिना परद्रव्य का उदयवशात् उपभोग करने से ज्ञानी को बंधन नहीं होता है। तीव्र कर्मोदय की परवशता में ज्ञानी कर्म करता है या नहीं ? इसे कौन जानता है ? इस शंका के समाधान में लिखा है कि सम्यग्दृष्टि को ही ऐसा साहस होता है कि भयंकर वज्रपात होने से सारा जगत् भयभीत होकर चलायमान हो जावे; परन्तु ज्ञानी निर्भय-निःशंक होता है, अपने को ज्ञानशरीरी जानता है; अतः ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं होता है। ज्ञानी को सात प्रकार के भय नहीं होते, इसलोक, परलोक, वेदना, अरक्षा, अगुप्ति, मरण तथा अकस्मात् ये ७ प्रकार के भय हैं, इनका स्पष्ट विवेचन किया गया है।[1] सम्यग्दृष्टि के पूर्वबद्ध भय आदि प्रकृतियों का उदय होता है, उन्हें भोगते हुए भी उसके निःशंकादि गुण विद्यमान होते हैं, उससे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही होती है। इसप्रकार ज्ञान नवीन बंध को रोकता हुआ ज्ञानरूप रस से व्याप्त होकर समस्त गगनमण्डल में व्यापक होकर नृत्य करता है। इसप्रकार उक्त प्रकरण पूर्ण होता है।

८ बंधाधिकार :-

यहाँ बंध तत्त्व का प्रवेश होता है तथा ज्ञान उसे दूर करके प्रगट होता है। कर्मबंध का कारण न पुद्गलकार्माणवर्गणा से भरा लोक है और न ही मन-वचन-कायरूप योग[2] चेतन-अचेतन का घात भी बंध का कारण नहीं है, उसका कारण तो एकमात्र रागादि से ऐक्य स्थापित करना है। ज्ञानी रागादि को उपयोगभूमि में नहीं लाता, इसलिए मात्र ज्ञानरूप

---

१. समयसार कलश, १४५ से १६० तक।

२. वही, कलश १६१ से १६६ तक।

परिणमित होता है और बंधन को प्राप्त नहीं होता। यहाँ सावधान भी किया गया है कि पर से बंध न होने पर भी ज्ञानी निरर्गल प्रवृत्ति कदापि नहीं करता। निरर्गल प्रवृत्ति तो बंध ही का कारण है। अतः प्रत्येक कथन नयविभागपूर्वक ही यथार्थ जानना चाहिये। जो जानता है, वह करता नहीं तथा करता है, वह जानता नहीं। करने का परिणाम राग है, अज्ञान भावरूप अध्यवसान है, बंध का कारण है। उक्त अध्यवसान मिथ्यादृष्टि के होता है। वास्तव में जीवों के सुख-दुःख आदि सभी कर्मोदयानुसार स्वयमेव होते हैं। कोई किसी का कर्ता धर्ता नहीं है, फिर भी अज्ञान के कारण जीव "मैं पर को सुखी करता हूँ" ऐसे अध्यवसान करता है। ऐसे अध्यवसान करनेवाले जीव अहंकार के रस से मत्त हैं, मिथ्यादृष्टि हैं व आत्मघाती हैं। उक्त अध्यवसान शुभाशुभरूप होने से शुभाशुभ बंध के कारण हैं। इसप्रकार मिथ्या अध्यवसानों के कारण आत्मा अपने को समस्त पदार्थों के स्वरूप से तन्मय करता हुआ चतुर्गति में परिभ्रमित होता है। अध्यवसान एकमात्र मोहकंद हैं, उनके कारण अज्ञानी अपने को विश्वरूप करता है। अतः जितने प्रकार के अध्यवसान भाव हैं, वे समस्त छोड़ने योग्य हैं – ऐसा जिनेन्द्रदेवों का उपदेश है। इसीलिए समस्त प्रकार का व्यवहार भी त्याज्य ही है। एकमात्र निज शुद्धज्ञानघन आत्मा की महिमा में सत्पुरुषों को स्थिर होना चाहिये।[1] शंकाकार की शंका है कि रागादि को बंध का कारण कहा तथा शुद्धचैतन्यमात्र ज्योति से भिन्न कहा, तब उस रागादि का निमित्त आत्मा है या अन्य है? इसके समाधान में कहा कि जिसप्रकार सूर्यकांत मणि के अग्निरूप परिणमन में सूर्य बिम्ब निमित्त है, उसीप्रकार रागादि के परिणाम में परद्रव्य का संग ही निमित्त है – ऐसा वस्तु का स्वभाव प्रकाशमान है। ऐसे वस्तुस्वभाव को अज्ञानी नहीं जानता, अतः रागादि का अकर्ता होता है। इस तरह भली-भांति जानकर निमित्त नैमित्तिक भाव को पहिचानकर समस्त रागादि भावों को जड़ से उखाड़ता हुआ भगवान आत्मा स्फुरायमान होता है। भेदज्ञानज्योति रागादि के उदय को विदारण करती हुई, रागादि के बंध को तत्काल दूर करते हुए प्रगट होती है, जिसे पुनः कोई आवृत्त नहीं कर सकता। इस तरह उक्त अधिकार भी समाप्त हुआ।[2]

---

१. समयसार कलश, १६७ से १७३ तक।

२. वही, कलश १७४ से १७६ तक।

९. मोक्षाधिकार :-

यहाँ मोक्षतत्त्व का प्रवेश तथा ज्ञान की महिमा को प्रकट करते हुए लिखा है कि प्रवीण पुरुषों द्वारा प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी सावधानीपूर्वक पटकने पर आत्मा और कर्मों को भिन्न किया जाता है। इस तरह स्वलक्षण के बल से शेष समस्त पर को भेदा जाता है तथा कारक, धर्म व गुणभेद होने पर भी विभुस्वरूप चैतन्यभाव तो अभेद ही है, अभेद ही प्रतीत होता है। यद्यपि चेतना एक ही है, तथापि दर्शन-ज्ञान अपेक्षा कथंचित् द्वित्व को भी धारण करती है। एक चिन्मय भाव ही ग्राह्य है अन्य सर्वभाव हेय हैं। उदात्त चित्तवाले मोक्षार्थियों को यह सिद्धांत सेवन योग्य है कि "मैं तो सदा शुद्धचैतन्यमय एक परमज्योति ही हूँ, अन्य सभी मेरे लिए परद्रव्य है।" आगे कहा कि जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, वह अपराधी है तथा बंध में पड़ता है; तथा जो स्वद्रव्य में संवृत्त है लीन है, वह निरपराधी है, वह बंधन में नहीं पड़ता है। अपने को अशुद्ध चितवन करनेवाला भी अपराधी है तथा अपने को शुद्ध चितवन करनेवाला ही निरपराध है। यहाँ सुख से बैठे हुए प्रमादियों को मोक्ष का अनाधिकारी कहा है। शुद्धात्मा की पूर्णोपलब्धि तक आत्मारूपी स्तंभ से ही चित्त को बांध कर रहना चाहिए।[1] जहाँ प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण आदि अमृत कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकते। अतः प्रमाद से नीचे-नीचे क्यों गिरते हो, सावधान होकर ऊपर-ऊपर क्यों नहीं चढ़ते। कषाय के भार से भारी होना प्रमाद है। प्रमादीपना अशुद्ध भाव है, अतः निजस्वभाव में स्थिरता करके ही मुनि मुक्ति प्राप्त करते हैं। चैतन्यामृत के प्रवाह की महिमा से शुद्ध होकर ही आत्मा मुक्त होता है। वहां ज्ञान परिपूर्ण, गम्भीर एवं धीर हो जाता है। इस तरह यह अधिकार भी समाप्त हुआ।[2]

१०. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार :-

यहाँ प्रथम ही सर्वविशुद्धज्ञान का प्रवेश होता है, जो टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावी, ज्ञानपुंज महिमावान् है। जिस तरह आत्मा में कर्तापने का स्वभाव नहीं है, उसीतरह भोक्तापने का भी स्वभाव नहीं है। अकर्ता आत्मा को कर्ता मानना यह अज्ञान की ही गम्भीर महिमा है। अज्ञान के अभाव होने पर स्वतः अभोक्ता स्वभाव प्रतीति में आ जाता है। अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव का वेदक है, ज्ञानी नहीं है। अतः निपुण पुरुषों को शीघ्र

---

१. समयसार कलश, १८० से १८८ तक।

२. वहीं, कलश १८९ से १९२ तक।

अज्ञानीपने का त्याग करना चाहिए तथा शुद्ध एक आत्मतेज में निश्चल होकर आत्मा का सेवन करना चाहिए। ज्ञानी कर्म का कर्ता तथा भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता है; अतः वह तो वास्तव में मुक्त ही है। जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे सामान्यजनों की भांति मुक्ति लाभ नहीं करते हैं। आत्मा का समस्त परद्रव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसमें कर्तृत्व व कर्मत्व का अभाव होने से परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता। एक वस्तु का अन्य समस्त के साथ सम्बन्ध का निषेध है, इसलिए वस्तुभेद होने पर कर्ता-कर्मपना भी घटित नहीं होता। जिन्हें उक्त वस्तुस्वभाव का नियम ज्ञात नहीं है, वे बेचारे अज्ञानी होते हुए स्वयं ही भावकर्म के कर्ता होते हैं। जो कार्य है, वह अकृत (कर्ता बिना को) नहीं है और दो द्रव्यों का किया हुआ भी नहीं है। यदि कर्मकृत माना जावे तो कर्मों के उनके भोक्तापने का भी प्रसंग आवेगा, अतः भावकर्म का कर्ता जीव है, कर्म नहीं।[1] कोई-कोई आत्मघाती, कर्म को ही कर्ता मानकर आत्मा के कर्तृत्व को सर्वथा उड़ाते हैं तथा आत्मा को कथंचित् कर्ता कहनेवाली श्रुति (जिनवाणी) को कोपित करते हैं। ऐसे मोह से मुद्रित ज्ञान नेत्र वालों को वस्तुस्थिति समझाई जाती है। अर्हत मतानुयायी को सांख्यमत की तरह आत्मा को सर्वथा अकर्ता नहीं मानना चाहिए, अपितु भेदज्ञान होने से पूर्व तक उसे कर्ता मानना चाहिए। कोई क्षणिकवादी (बौद्धमती) आत्मा को कल्पित क्षणिक मानकर कर्ता अन्य तथा भोक्ता अन्य बताते हैं, उनके मोह को भी चैतन्यचमत्कार अपने अमृत समूह से दूर करता है। पर्याय के नाश से द्रव्य का नाश नहीं होता, अतः कोई अन्य को कर्ता, कोई अन्य को भोक्ता भी मत मानो। ऋजुसूत्रनय का विषयमात्र वर्तमान पर्याय है, उस नय के ग्रहण मात्र से आत्मा को शुद्ध व क्षणिक मानना यथार्थ नहीं है। जिसप्रकार सूत्र में पिरोई मणिमाला भेदी नहीं जा सकती, उसीप्रकार आत्मा में पिरोई गई चैतन्यरूप चिंतामणि की माला भी कभी भेदी नहीं जा सकती। ऐसी चैतन्यमाला हमें प्राप्त होवे।[2] आगे कहा है – व्यवहारदृष्टि से कर्ता कर्म भिन्न कहे गये हैं, निश्चय से वस्तुस्वरूप विचारने पर वे अभेद ही हैं। वास्तव में परिणाम ही कर्म है और परिणाम परिणामी बिना नहीं होता, इसलिए प्रत्येक वस्तु अपने ही परिणाम की कर्ता है। अन्य वस्तुएँ तो बाहर ही लोटती रहती है। बाहर लोटने वाली वस्तु अन्य वस्तु का कुछ भी नहीं कर

---

१. समयसार कलश, १९३ से २०४ तक।

२. वही, कलश २०५ से २१९ तक।

सकती। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता है, यह व्यवहार से कहते हैं, परन्तु निश्चय से ऐसा है नहीं। जिसप्रकार पृथ्वी चाँदनी की नहीं हो जाती, फिर भी पृथ्वी को धवलित करती रहती है, उसीप्रकार ज्ञेय ज्ञान के नहीं हो जाते, तो भी वे ज्ञान में झलकते हैं। राग-द्वेष कोई पृथक सत्तावाले द्रव्य नहीं हैं, जीव के अज्ञान भाव हैं, तत्त्वदृष्टि से वे ही कुछ वस्तु नहीं हैं। तत्त्वदृष्टि से ही यह जाना जाता है कि रागद्वेष की उत्पत्ति के परद्रव्य किंचित् भी कारण नहीं हैं, क्योंकि सर्व द्रव्यों की उत्पत्ति अपने स्वभाव से ही होती है। राग तथा द्वेष की उत्पत्ति में परद्रव्य का किंचित् भी दोष नहीं है। परद्रव्य को दोष देनेवाले मोहरूपी नदी को पार नहीं करते क्योंकि वे शुद्धज्ञान से रहित अंध होते हैं।[1] आगे अज्ञानी को राग-द्वेषमय होनेवाला लिखा है तथा ज्ञानी को ज्ञानसंचेतना करनेवाला बताया है। ज्ञानसंचेतना से कर्मबंध नहीं होता, अज्ञानचेतना से कर्मबंध होता है। प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान कल्पों का स्वरूप संक्षेप में इसप्रकार कहा है – मोह-अज्ञान से भूतकाल में किये कर्मों से हटना चैतन्यस्वरूप आत्मा में लगना प्रतिक्रमण है, वर्तमानकालीन दोषों से हटना तथा आत्मा में लगना, वह आलोचना है तथा भविष्यत्कालीन विकल्पात्मक कर्मों से हटना तथा आत्मा में लगना, वह प्रत्याख्यान है। आगे सकलकर्म फल संन्यास भावना को नचाकर अनंतकाल तक आनंदामृत पीने की प्रेरणा दी है। साथ ही शुद्धज्ञानघन की महिमा के उदित होने की भी भावना भाई है।[2] समस्त शक्तियों को समेटकर आत्मा में स्थिर होना ही समस्त त्याज्य का त्याग है तथा समस्त ग्राह्य का ग्रहण है। ज्ञान के देह तथा कर्म-नोकर्मरूप आहार भी नहीं होता है। ज्ञाता के लिए लिंग मोक्ष का कारण नहीं है। मुमुक्षुओं को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप आत्मा ही सेवन योग्य है, वही मोक्षमार्ग है। मोक्षमार्ग एक ही है, अतः जो पुरुष उसी में स्थिति प्राप्त करता है, उसीका ध्यान करता है, अनुभव तथा स्पर्श करता है, उसीमें विहार करता है, वह समयसार (शुद्धात्मा के रूप) को प्राप्त करता है। जो द्रव्यलिंग में ममत्व करते हैं, वे समयसार को नहीं जानते। व्यवहार में मोहित बुद्धि जन परमार्थ को नहीं जानते हैं, जैसे तुष को ही जाननेवाला तंदुल को नहीं जानता है। अंत में टीकाकार लिखते हैं कि अधिक कथन करने से क्या

---

१. समयसार कलश, २१० से २२१ तक।

२. वही, कलश २२२ से २३५ तक।

प्रयोजन है ? एकमात्र परमार्थ का ही निरंतर अभ्यास करो, क्योंकि समयसार से उच्च अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है। समयसार ही जगत् को जाननेवाला एकमात्र नेत्र है – ऐसा नेत्र पूर्णता को प्राप्त हो। इसप्रकार उक्त अधिकार भी समाप्त हुआ।[1]

११: स्याद्वादाधिकार :–

इस अधिकार में वस्तुतत्त्व की व्यवस्था तथा उपाय-उपेय भाव को सुघटित करने हेतु पुनः विचार किया है। स्याद्वाद् को अर्हत् जिनेन्द्र का (अखण्डित) अस्खलित शासन कहा है। इसमें स्वरूप से तत्पना, पररूप से अतत्पना, ज्ञानापेक्षा एकपना, ज्ञेयाकार अपेक्षा अनेकपना, स्वद्रव्यापेक्षा सत्पना, परद्रव्यापेक्षा, असत्पना, स्वक्षेत्रापेक्षा अस्तित्वपना, परक्षेत्रापेक्षा नास्तित्वपना, स्वकाल अपेक्षा अस्तित्व, परकाल अपेक्षा नास्तित्व, स्वभाव से अस्ति, परभाव से नास्ति, द्रव्यापेक्षा नित्यत्व, पर्याय अपेक्षा अनित्यत्व इसप्रकार १४ भंगों द्वारा विशेष स्पष्टीकरण किया है। इस तरह अज्ञानी जनों को अनेकांत ज्ञानमात्र आत्म तत्त्व की प्रसिद्धि करता है। अनेकांत जिनेन्द्रदेव का अलंघ्य शासन है, स्वयं सिद्ध है।[2]

१२. साध्य-साधक अधिकार :–

इसमें आत्मा की अनेक शक्तियों सहित होने पर भी आत्मा ज्ञानमात्रमयता को नहीं छोड़नेवाला लिखा है। एकांत नहीं अर्थात् अनेकांत संगत वस्तु का स्वरूप है, उसकी सिद्धि स्याद्वाद द्वारा होती है। स्याद्वाद अलंघनीय जिन नीति है। यहाँ उपाय-उपेय भाव का चिंतन करते हुए कहा कि उक्त ज्ञानमात्र स्वरूप भूमिका को पाकर सिद्धदशा प्राप्त होती है, परन्तु अज्ञानी उस भूमिका को न पाकर संसार में ही भटकते हैं। इसतरह स्याद्वाद की प्रवीणता तथा सुनिश्चल संयम सहित अपनी भावना करनेवाला ज्ञाननय व क्रियानय की परस्पर तीव्र मैत्री का पात्र होकर ज्ञानमात्रमय निज भूमिका को पाता है।[3] अंत में उपसंहार करते हुए लिखा है कि चिच्चिण्ड (अनंतदर्शन), शुद्धप्रकाश (अनंतज्ञान), आनंदसुस्थित (अनंतसुख) तथा अचलाचि (अनंतवीर्य) को प्रगट करता हुआ आत्मा उदित होता है। उसके शुद्धप्रकाश के समक्ष बन्ध-मोक्ष सम्बन्धी अन्य भाव निष्प्रयोजन प्रतीत

---

१. समयसार कलश, २३६ से २४५ तक।
२. वही, कलश २४७ से २६३ तक।
३. वही, २६४ से २६७ तक।

होते हैं। अनेक शक्तियों का समूह यह आत्मा नयों की दृष्टि से खंड-खंड होता हुआ नाश को प्राप्त होता है। अतः अखंड, एक, शांत, एकांत और अचल स्वरूपी चैतन्यमात्र तेज आत्मा है। आत्मा मेचक-अमेचक आदि दिखाई देने पर भी ज्ञानी उसके यथार्थ निर्मल ज्ञान को नहीं भूलता। वह ज्ञान, ज्ञेय तथा ज्ञाता तीनों भावसंयुक्त सामान्यविशेष वस्तु है। आत्मा का अनेकांतस्वरूप वैभव अद्‌भुत है। विभिन्न दृष्टियों से वह एक-अनेक, नित्य-अनित्य, तत्-अतत् रूप दिखाई देता है। वह पर्याय दृष्टि से कषायों से मलिन, द्रव्य दृष्टि से शांति युक्त निर्मल, निश्चय से मुक्ति को स्पर्श करता हुआ तथा व्यवहार से सांसारिक पीड़ा युक्त दिखाई देता है। अतः एकमात्र चैतन्य चमत्कार मात्र होने पर भी आत्मा अनेक प्रकार दिखाई देता है। अचल चेतनारूप, मोह को नाश करनेवाली जो निर्मल पूर्ण ज्योति है – ऐसी "अमृतचन्द्रज्योति" मुझे प्रगट हो। इस तरह आत्मा मात्र ज्ञाता-दृष्टारूप ही बना रहता है। टीकाकार ने अंतिमपद्य में व्याख्या करने के कर्तृत्वरूप विकल्प का निषेध किया है तथा स्वरूप गुप्त अमृतचन्द्र को उसका अकर्ता बताया है।[1] उपरोक्त समस्त प्रतिपाद्य वस्तु प्रायः आत्म-ख्याति टीका के ही विस्तृत भावों को संक्षेप में समाहित किये हुए है।

पाठानुसंधान :–

"समयसारकलश" की टीकाएँ एवं पाण्डुलिपियाँ सैकड़ों की संख्या में विभिन्न ग्रन्थभण्डारों में विद्यमान हैं। इसके प्रकाशन एवं संस्करण भी अनेक प्रगट हो चुके हैं। यह बात आगत तालिकाओं से स्पष्ट होती है। आत्मख्याति टीका की अपेक्षा उसके पद्यरूप समयसार कलशों का प्रचार एवं प्रसार बहुत हुआ है। इसकी ताड़पत्रीय, हस्तलिखित कागज एवं कपड़े पर उपलब्ध मूल पाठ विभिन्न कालों के हैं, जिससे उक्त कृति के प्रचार की कालव्यापी एवं क्षेत्रव्यापी अविच्छिन्नधारा का ज्ञान होता है। दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों में यह कृति समानरूपेण समादृत रही है। विभिन्न स्थानों के शास्त्रभण्डारों की खोज से इसकी अत्यन्त प्राचीन पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हुई। इनमें सबसे प्राचीन पाण्डुलिपि ई. सन् १६११ की उपलब्ध हुई है। यह प्रति जयपुर के बड़े तेरहपंथी जैन मन्दिर में लगभग ९ इंच चौड़े तथा ११ फुट लम्बे कपड़े पर दोनों तरफ लिखित है। आरम्भिक कुछ ८–१० पद्य प्रति के आंशिक जीर्ण-शीर्ण हो जाने के कारण स्पष्ट एवं

---

१. समयसार कलश, पद्य २६८ से २७८ तक।

पूर्णतः पाठ्य नहीं है, शेष पद्य सुपाठ्य हैं। उक्त प्रति के मूल पाठ का कुछ मुद्रित प्रतियों के मूल पाठों से मिलान करने पर कुछ पाठान्तर एवं त्रुटियाँ सामने आई हैं। उक्त कपड़ेवाली प्रति के अतिरिक्त ई. सन् १९२५ में प्रकाशित प्रथम गुच्छक है, जो पं. पन्नालाल चौधरी द्वारा सम्पादित एवं काशी से प्रकाशित है। दूसरे सन् १९३१ में ब्र. शीतलप्रसाद द्वारा सम्पादित तथा सूरत से प्रकाशित ग्रन्थ है। तीसरे सन् १९६६ में पं. फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा सोनगढ़ से प्रकाशित कृति है तथा चौथे ई. १९७७ में पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा कटनी से प्रकाशित ग्रन्थ है। इन सभी का उपयोग पाठानुसंधान में हुआ है। यहां पाठान्तर की जानकारी हेतु तुलनात्मक तालिका उदाहृत है –

कलश क्र.	काशी १९२५	सूरत १९३१	सोनगढ़ १९६६	कटनी १९७७
२८	प्रस्फुरन्नेक	प्रस्फुरन्नेक	प्रस्फुटन्नेक	प्रस्फुटन्नेक
३२	प्रत्यावयत्	प्रत्यावयत्	प्रत्याययत्	प्रत्याययत्
३५	चिच्छक्ति –	चिच्छक्ति –	चिच्छक्ति –	चिच्छक्ति –
३६	सकलमपि –	सकलमपि –	सकलमपि –	सकलमपि –
४१	मिदंस्फुटम्	मबाधितम्	मबाधितम्	मबाधितम्
४३	बत्	वत	वत	वत

जयपुर की ई. १६११ की कपड़े पर लिखित प्रति में अनेक स्थलों पर शब्द, वाक्य एवं पंक्तियाँ तक छूटी हैं। कहीं पर पुनः लिखा गया है, अतः उक्त प्रति में अत्यधिक त्रुटियाँ होने के कारण पाठानुसंधान की दृष्टि से उसका महत्त्व विशेष नहीं है।

इसप्रकार तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट है कि हस्त लिखित प्रति में लिपिकार की लिपि विषयक त्रुटियाँ बहुत हैं; किन्तु मुद्रित प्रतियों में उन त्रुटियों का यथासम्भव परिमार्जन हुआ है। यह परिमार्जन उत्तरोत्तरवर्ती प्रतियों में अधिक होता गया है।

परम्परा :–

समयसार कलश में द्रव्यानुयोग तथा जैन-अध्यात्म का उत्कृष्ट रूपेण प्रस्फुटन हुआ है। आत्मख्याति टीका में वर्णित अध्यात्म परम्परा को ही समयसार कलशों में साररूपेण समाहित किया गया है। छंद विद्या की सरस व हृदयहारी परम्परा की झलक भी सर्वत्र प्रकट है। समयसार कलश

में दार्शनिकता, सैद्धान्तिकता, आध्यात्मिकता तथा काव्य रसिकता की धाराएँ एकमेक होकर तरंगित एवं प्रवाहित हुई है। महाकवित्व का उत्कृष्ट रूप भी उक्त कृति में अभिव्यक्त पाते हैं।

प्रणाली :-

समयसार कलश में आद्यन्त तत्त्व निरूपण प्रणाली का अनुसरण हुआ है। नयात्मक तथा स्याद्वादात्मक कथनशैली द्वारा अनेकांतात्मक ज्ञानस्वरूप आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निरूपण अथवा समयसार के दर्शन कराना ही अध्यात्म निरूपण का चरम ध्येय है, उसी ध्येय की प्राप्ति का प्रयास समग्र ग्रन्थ में सुष्ठुरूपेण हुआ है।

ग्रन्थ वैशिष्ट्य :-

"समयसार कलश" कृति में अनेक विशेषाताएँ है; उनमें कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं -

१. छंदविद्या का वैज्ञानिक प्रयोग अप्रतिम है।
२. भाषा का अर्थ गाम्भीर्य, माधुर्य तथा रसातिरेक असाधारण है।
३. भावों के उत्कर्ष-अपकर्ष की अनुगामिनी भाषा तरंगिणी की भाँति तरंगित हो उठी है।
४. अध्यात्म का अमृत समस्त कलशों में से छलक उठा है।
५. प्रौढ़ दार्शनिकता, उच्चकोटि की परिमार्जित भाषा, महाकवि की प्रतिभा इत्यादि वैशिष्ट्यों से उक्त कृति समलंकृत है।
६. इसके रसिक पाठक व अध्येता इसके प्रत्येक गुणों पर मोहित हो उठते हैं। मनमयूर आत्मानुभव के परमानंद में मस्त होकर नाच उठता है।

समसार कलश से अनुप्राणित टीकाएं एवं टीकाकार

१. ई. ९१५ - ९९५, टीकानाम - समयसारकलश, टीकाकार - आ. अमृतचन्द्र, भाषा - संस्कृत पद्य, जानकारी स्रोत - उपलब्ध।
२. ई. १५१६ टी. ना. - परमाध्यात्मतरंगिणी, टी. - भट्टारक शुभचन्द्र, भाषा - संस्कृतगद्य, जा. स्रो - उपलब्ध।
३. ई. १५८४, टी. ना. - समयसारकलशटीका, टी. - पाण्डे राजमल्ल, भाषा - ढूंढारी, हिन्दीगद्य, जा. स्रो - उपलब्ध।
४. ई. १६३६, टी. ना. - नाटक समयसार, टी. - पं. बनारसीदास, भाषा - हिन्दीपद्य, जा. स्रो - उपलब्ध।

५. ई. १६६०, टी. ना. – नाटक समयसार. टी. – सदारंग ऋषि श्वेताम्बर, भाषा – हिन्दीपद्य, जा. स्रो. – अर्धक. ६२ –६३ ।
६. ई. १८०७, टी. ना. – समयसारभाषावचनिका, टी. – पं. जयचंद छाबड़ा, भाषा – हिन्दी (ढूंढारी), जा. स्रो – अर्धक. ६३ – ६४ ।
७. ई. १७९३ – १८६३, टी. ना. – समयसारनाटकटीका, टी. – पं. सदासुखदास, भाषा – हिन्दीगद्य, जा. स्रो. – अर्धक. ६३ ।
८. ई. १८७६, नाटकसमयसारटीका, टी. – भीमसी माणिक श्वेतांबर, भाषा – गुजराती, जा. स्रो. – अर्धक. ६३ ।
९. ई. १९२३, टी. ना. – नाटकसमयसारकलश, टी. – ब्र. कंकुबाई, भाषा – मराठी, जा. स्रो. – पु. सि. अज्ञात ।
१०. ई. १९२९, टी. ना. – समयसारकलशटीका, टी. – ब्र. शीतलप्रसाद, भाषा – हिन्दी. जा. स्रो. – पु. सि. ।
११. ई. १८१२, टी. ना. नाटकसमयसार टीका, टी. – ऋषिजिनदत्त-श्वेतांबर, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – अर्धक. ६४ ।
१२. ई. १९२९, टी. ना. – नाटकसमयसार टीका, टी. – पं. बुद्धिलाल श्रावक, भाषा – हिन्दीगद्य, जा. स्रो. – अर्धक. ६४ ।
१३. ई. १८८२, टी. ना. – नाटकसमयसार टीका, टी. – गजसार मुनि श्वेताम्बर, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. – अर्धक. ६४ ।
१४. ई. १९४८, टी. ना. – निजानंदमार्तण्ड, टी. – मुनि सूर्यसागर, भाषा – हिन्दी पद्य-गद्य, जा. स्रो. – अर्धक. ६४ ।
१५. ई. १९६५, टी ना. – समयसारकलशः नाटकम्, टी. – क्षु. आदि-सागर, भाषा – मराठी, गद्य, जा. स्रो – अर्धक. ६४ ।
१६. ई. १९७५, टी. ना. – अध्यात्मअमृतकलश, टी. – पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो. अर्धक. ६४ ।
१७. ई. ....., टी. ना. स्व. नाना रामचन्द्र नाग, भाषा – हिन्दी, जा. स्रो – अर्धक. ६४ ।

समयसारकलश तथा तदनुसारी टीकाओं की पाण्डुलिपियां

अ :– ताड़पत्रीय पाण्डुलिपियां :–

१. लिपिकाल – १६८६ ई., लिपिकार – शुभचन्द्र, लिपि – संस्कृत-पद्य, जानकारी स्रोत – के. सं. प्रा. पा. लि. जेसलमेर ३०६ ।
२. लिपिकाल – १७७१ ई. लिपिकार – देवेन्द्रकीर्ति, लिपि – संस्कृत-पद्य, जानकारी स्रोत – के. सं. प्रा. पा. लि. जेसलमेर ३५३ ।

ब. कपड़े पर पाण्डुलिपि :-

१. लिपिकाल – १६११ ई., लिपिकार – अमृतचन्द्र, लिपि – संस्कृत-पद्य जानकारी स्रोत – ते. जै. मं., जयपुर।

स. कागज पर पाण्डुलिपियाँ :-

१. लिपिकाल – १४४३ ई., लिपिकार – अमृतचन्द्र, लिपि – संस्कृत-पद्य, जानकारी स्रोत – ते. जै. मं. जयपुर (वे. नं. १६४५)।

२. लि. – १५४५, लिपि. – अमृतचन्द्र, लिपि – संस्कृत-पद्य, जा. स्रो – रा. जै. शा. भ. सू. ३/४३।

३. लि. – १५९६, ई., टी. – पं. राजमल्ल, लि. – हिन्दी-गद्य, जा. स्रो – प्रशस्ति सं. पृ. ६५७।

४. लि. – १६६०, लिपि – सदारंग ऋषि श्वेताम्बर, लि. – हिन्दी (कलकत्ता म्युजियम) जा. स्रो – अर्धक. ६३ – ६४।

५. लि. – १६६२, टी. – अमृतचन्द्र. लि. – संस्कृत-पद्य (उज्जैन में), जा. स्रो – रा. जै. शा. भ. सू. ४/१२१।

६. ई. – १६७४, टी. – सदारंग ऋषि श्वेताम्बर, लि. – हिन्दी (फागुई में) , जा. स्रो – ते. जै. मं. जयपूर (वे. नं. १८५४)।

७. ई. – १८१२, टी. – ऋषि जिनदत्त श्वेताम्बर. भाषा – हिन्दी. रा. एस. सो. बंगाल, जा. स्रो – अर्ध क. – ६४।

८. ई. – १८७६. टी. – भीमसी माणिक श्वेताम्बर. लि. – हिन्दी, जा. स्रो – अर्धक. – ६३।

९. ई. – १८८२, टी. – गजसार मुनि श्वेताम्बर. लि. – हिन्दी, जा. स्रो. – अर्धक. – ६४

१०. ई. – १८८६, टी. – पं. राजमल्ल, लि.– हिन्दी, जा. स्रो. – रा. जै. शा. भ. सू. ३/४५।

११. ई. – १६८६, टी. – अमृतचन्द्र, लि. –सं. पद्य, जा. स्रो.– रा. जै शा. भ. सू. ४/१२०।

१२. ई. –१६९८, टी. – पं. राजमल्ल, लि. – हिन्दी (दिल्ली) जा. स्रो.– अनेकांत, जन. ४१ पृ. ३४६ – ३५५।

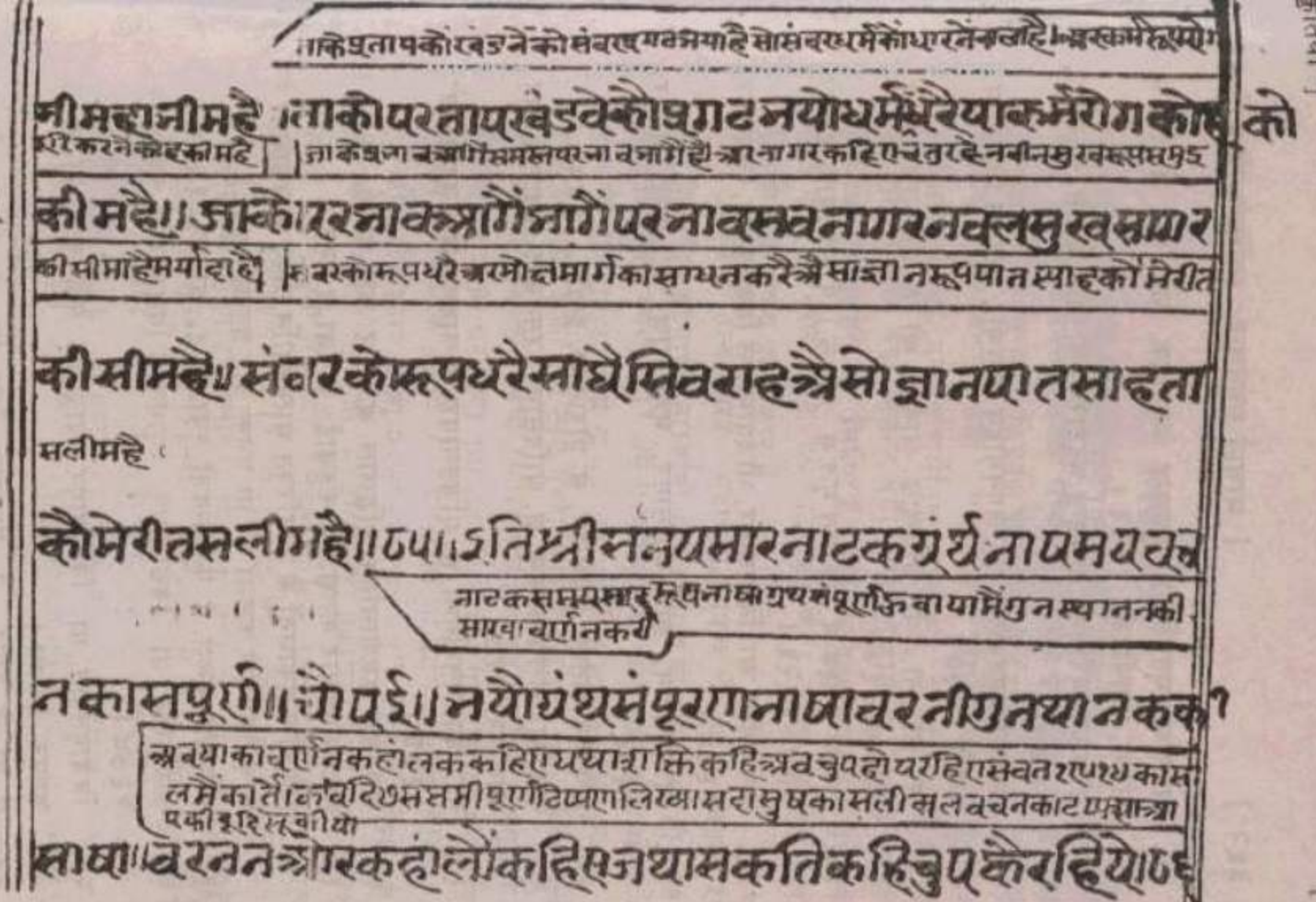
१३. ई. – १७०१, टी. – पं. राजमल्ल, लि. – हिन्दी, जा. स्रो. – रा. जै. शा. भ. सू. ३/४५।

१४. ई. – १७६३, टी. – पं. राजमल्ल, लि. – हिन्दी, जा. स्रो. – रा. जै. शा भ. सू. २/४५।

१५. ई. १८१५, टी. – अमृतचन्द्र, लि. – संस्कृत (दिल्ली), जा. स्रो. – अने., जून ४१ ३०६ – ३५५।
१६. ई.·····, टी. – नित्यविजय, लि. – संस्कृत, जा. स्रो. – रा. जै. शा. भ. सू. ५/२२२।
१७. ई. – १८०८, टी. – नाटकसमयसार, लि. – हिन्दी, (सागर में), जा स्रो. – स. सा. क. टी. पृ. २/१९५०।
१८. ई १७१८, टी. – नाटकसमयसार, लि. – हिन्दी, (अंकलेश्वर), जा. स्रो – स. सा. क. टी. पृ. २/१९५०।
१९. ई. – १६३६, टी. – समयसारनाटक लि. बनारसीदास, जा. स्रो – ते. जै. म., जयपुर वे. क्र. १८८४।
२०. ई. – १६५७, टी. – नाटकसमयसार, लि. बनारसीदास, जा. स्रो. – आदर्शनगर, जयपुर।
२१. ई. – १७३६, टी. – नाटकसमयसार, लि. बनारसीदास, जा. स्रो. – ते. जै. म., जयपुर वे. क्र. १८७६।
२२. ई. – १७६९, टी. – समयसारनाटकटीका, रूपचन्द, जा. स्रो. – ते. जै. म., जयपुर, वे. क्र. १८७९।
२३. ई. – १८५७, टी. – नाटकसमयसार, सदासुख, जा. स्रो. – ते. जै. मं., जयपुर, वे. क्र. १८९१। (फोटो कापी संलग्न)
२४. ई. – १८८०, टी. – स. सा. नाटक, बनारसी (दिल्ली), जा. स्रो – अनेकांत, जून ४१ पृ. ३४६ –३५५
२५. ई. – १८९३, टी. – स. सा. ना., टीका रूपचन्द, जा. स्रो – ते. पं. मं. जयपुर वे. नं. १८७०।

समयसारकलश के विभिन्न प्रकाशन व संस्करण

१. स. सा. ना., पं बनारसीदास, सं. ग्रं. मा. दिल्ली, १९५०।
२. स. सा. ना., पं. बुद्धिलाल श्रावक, वर्ध. पब्लिक लायब्रेरी, दिल्ली, १९६२।
३. स. सा. क., ब्र. शीतलप्रसाद, मूलचन्द किशनदास, सूरत, १९३१।
४. स. सा. क., पं. फूलचन्द जी, दि. जै. स्वा. मं. ट्रस्ट, सोनगढ़ १९६४।
५. स. सा. क., पं. फूलचन्द जी, दि. जै. स्वा. मं. ट्रस्ट सोनगढ़, १९६६।



नाटक समयसार (पं. बनारसीदास कृत) हिन्दी टीका पं. सदासुखदासकृत, लिपि – १९३३ या १९१४ संवत्, तेरहपंथी दि० जैन मन्दिर, जयपुर के एक पृष्ठ की फोटो।

६. परमाध्यात्मतरंगिणी, शुभचन्द्र भट्टारक, शा. बी. जै. सि. प्र. संस्था, महावीरजी, १९६३ ।
७. परमाध्यात्मरंगिणी, शुभचन्द्र भट्टारक, भारतीय जै. सि. प्र. संस्था, कलकत्ता ।
८. अध्यात्मअमृतकलश, पं. जगन्मोहन लालजी, चन्द्रप्रभ दि. जै. मं., कटनी १९७७ ।
९. स. सा. ना., पं. बुद्धिलाल श्रावक, श्री दि. जैन. स्वा. मं. ट्र. सोनगढ़, १९७० ।
१०. (प्रथम गुच्छक में संकलित मूल स. सा. क.), पं. पन्नालाल चौधरी, काशी, १९२५ ।
११. कलशगीत, आ. विद्यासागर, श्री श्यामलाल विजयवर्गीय, ग्वालियर, १९७८ ।
१२. निजामृतपान, आ. विद्यासागर, मंत्री राज. जै. सभा, जयपुर, १९७९ ।
१३. निजानंद मार्तण्ड, सूर्यसागर, से. हीरालाल, इन्दौर, १९४८ ।
१४. समयसार कलशनाटकम्, क्षु. आदिसागर, रतनचन्द सखाराम शाह, सोलापूर, १९७० ।
१५. परमाध्यात्मतरंगिणी, सं. अजितसागर, ब्र. लाडमल जैन, महावीरजी, १९७६ ।
१६. समयसार कलशासहित, बुद्धिलाल, जै. ग्र. र. का. बम्बई, १९२९ ।
१७ नाटकसमयसार कलश:, ब्र. कंकुबाई, कारंजा, १९२३ ।
(उपरोक्त प्रकाशनों के अतिरिक्त आत्मख्याति टीका के प्रकाशनों के साथ समयसार कलशों का भी अनेक बार प्रकाशन हुआ है ।)
१८ समयसार कलश, पं फूलचन्दजी, स्वा. मं. ट्र, सोनगढ़, १९७० ।
१९ कलशागीत, आ. विद्यासागर, श्यामलाल विजयवर्गीय, ग्वालियर, १९७८ ।
२०. निजामृतपान, आ. विद्यासागर, बाबूलाल सेठी मंत्री रा. जै स. जयपुर, १९७७ ।
२१. स सा क. टीका., ब्र नन्दलाल द्वारा दि. जै. ग्र. मा. भिण्ड, १९५० ।
२२ प्रवचनरत्नाकर भाग १, संत कानजी स्वामी, कु. कु. क. ट्र. बम्बई, १९८० ।

तत्त्वार्थसार

पद्य टीकाओं में आचार्य अमृतचन्द्र कृत "तत्त्वार्थसार" नामक कृति है। जिस प्रकार समयसार कलश अध्यात्म विषयक पद्य टीका है, उसी प्रकार तत्त्वार्थसार भी तत्त्वार्थ विषयक पद्य टीका है। इस कृति को कुछ विद्वान मौलिक तथा स्वतन्त्र कृति[1] मानते हैं। इसमें संदेह नहीं है कि परम आध्यात्मिक तथा गम्भीर दार्शनिक अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व से अनुप्राणित यह कृति मौलिक तथा स्वतन्त्र जैसी ही प्रतीत होती है। इसमें उनकी कुछ मौलिक विशेषताएँ भी निहित हैं। इसलिए कुछ विद्वानों ने इसे स्वतन्त्र कृति माना है, परन्तु हमने इसे पद्यटीका के अन्तर्गत समाहित किया है, जिसके कुछ कारण इस प्रकार हैं :-

प्रथम तो तत्त्वार्थसार पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की भांति स्वतन्त्र रचना नहीं है, अपितु आचार्य उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर ही पल्लवित तथा विकसित रचना है।[2] जैसे तत्त्वार्थसूत्र की अन्य गद्य टीकाओं के नाम तत्त्वार्थ राजवार्तिक तथा तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक एवं तत्त्वार्थ वृत्ति हैं, उसी तरह इस पद्य टीका का नाम तत्त्वार्थसार है। दूसरे, इसमें तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों को ही सविस्तार स्पष्ट किया गया है। कहीं-कहीं तो मूलसूत्र के गद्य को पद्य रूप प्रदान कर दिया गया है। तीसरे, अन्य गद्य टीकाओं सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थ राजवार्तिक आदि के गद्यांशों का भी प्रयोग पद्यरूप में किया गया है। चौथे, टीकाकार ने भी मंगलाचरण रूप पद्य में यह स्पष्ट लिखा है कि तत्त्वार्थसार नामक यह कृति मोक्षमार्ग को प्रकाशित करने वाले दीपक के समान है। इसमें मुमुक्षुओं के हित के लिए तत्त्वार्थ का ही सार अत्यन्त स्पष्ट रूप से कहा गया है।[3] इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र गत भावों का ही प्रमुख रूप से प्रतिपादक तथा सुविस्तारक होने से इसे स्वतन्त्र मौलिक रचनाओं के अन्तर्गत न गिनाकर, पद्य टीकाओं के अन्तर्गत गिनाया है। तत्त्वार्थसार यद्यपि तत्त्वार्थसूत्र तथा अन्य भाष्यों से अनुप्राणित है, तथापि उसके कुछ मौलिक वैशिष्ट्य भी हैं, जो ग्रन्थ की आंशिक मौलिकता की प्रतीति कराते हैं। यह कृति भी प्रकृत आचार्य की आध्यात्मिकता की छाप

---

१. तत्त्वार्थसार प्रस्तावना, पृ. १६, प. पन्नालाल साहित्याचार्य।

२. वही, प्र. पृ. २७।

३. अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैक दीपकः।
मुमुक्षूणां हितार्थाय प्रस्पष्टमित्यभिधीयते ॥२॥ तत्त्वार्थसार, पद्य क्र. २।

से अछूती नहीं है। जहाँ अकलंक देव ने सर्वार्थसिद्धि के अनुसार सात तत्त्व का विवेचन किया है, वहाँ अमृतचन्द्र ने आध्यात्मिक शैली में "हेय, ज्ञेय, उपादेय" के साथ तत्त्वों का परिचय कराया है। निश्चय व्यवहार का संतुलित कथन भी किया है। षट्कारकों को एक आत्मा में ही सुघटित करना उनकी अध्यात्म शैली के परिचायक है। यथार्थ में तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके वार्तिकों में तत्त्वज्ञान का अगाध रत्नाकर समाया हुआ है, उस रत्नाकर के ही मथितार्थ को एवं तत्त्व विषयक रत्नों को संगृहीत करके तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ की रचना की है, अतः उक्त रचना भी एक असाधारण कृति है। जहाँ समयसार का विवेचन सिद्धान्त की आत्मा का विवेचन है, वहीं तत्त्वार्थसूत्र का विवेचन उसके कलेवर का विवेचन है। इन दोनों "आत्मा तथा कलेवर" को सांगोपांग प्रगट करने में आचार्य अमृतचन्द्र ने अनुपम सफलता पाई है। उन्होंने एक ओर अध्यात्म गंगा बहाई तथा उसमें स्वयं को निमग्न किया है, तो दूसरी ओर तत्त्वार्थसार की रचना करके तत्त्वज्ञान के समुद्र में भी गोते लगाये हैं, इसीलिए उक्त कृति की विशेषता स्वयं ही बढ़ जाती है। इस ग्रंथ की महिमा ग्रंथकार के ही शब्दों में इस प्रकार है – जो पुरुष मध्यस्थ होकर इस तत्त्वार्थसार को जानकर निश्चल चित्त होता हुआ, मोक्षमार्ग का आश्रय लेता है, वह निर्मोही होकर संसार के बंधन को दूरकर चैतन्यस्वरूप अविनाशी मोक्षतत्त्व को प्राप्त करता है।[1]

नामकरण :–

"तत्त्वार्थसार" नाम का ग्रंथकार ने अपने ग्रंथ में अनेक बार स्पष्टतः उल्लेख किया है। इसका अन्य कोई नाम आज तक प्रकट नहीं हुआ, अतः उक्त नाम यथार्थ प्रचलित नाम है। जहाँ तक नामकरण के औचित्य का प्रश्न है, उसका बहुत कुछ स्पष्टीकरण ऊपर आ चुका है। संक्षेप में तत्त्वार्थसूत्र के भावों का सार दर्शाने वाला होने के कारण तथा तत्त्वार्थसूत्र के ही सूत्रों को मुख्यतः पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित करने वाला होने से भी इसका नाम तत्त्वार्थ सार सार्थक है। इसमें निरूपण भी सात तत्त्वों के अर्थों का हुआ है तथा पद्यात्मक निरूपण होने से संक्षिप्त अर्थात् सार रूप

---

(१) तत्त्वार्थसारमिति यः समधीर्विदित्वा, निर्वाणमार्गमधितिष्ठति निष्प्रकम्पः।
संसारबंधमवधूय स धूतमोहश्चैतन्यरूपमचलं शिवतत्त्वमेति। २२॥
तत्त्वार्थसार (उपसंहार)

हुआ है, इसलिए भी ग्रंथ का उक्त तत्त्वार्थसार नाम उचित है। साथ ही तत्त्वार्थ विषयक प्रमुख टीकाओं तथा रचनाओं का भी सार इस ग्रंथ में समाहित किया गया है। अतः सर्वप्रकार से ग्रंथ का उक्त नाम सार्थक तथा उचित है।

कर्तृत्व :-

"पुरुषार्थसिद्ध्युपाय" तथा अन्य टीकाओं की तरह तत्त्वार्थसार के अंत में परमार्थ दृष्टि से अमृतचन्द्र ने ग्रंथ के कर्तृत्व का विकल्प दूर करते हुए लिखा है कि अक्षर पदों के कर्ता हैं, पदसमूह वाक्यों के कर्ता हैं तथा वाक्य इस शास्त्र के कर्ता हैं; इस प्रकार अमृतचन्द्राचार्य इसके कर्ता नहीं हैं। उपर्युक्त शैली से उक्त वृत्ति स्वतः अमृतचन्द्रप्रणीत प्रमाणित होती है।

दूसरे अन्य टीकाकारों तथा लेखकों ने भी उक्त कृति को अमृतचन्द्र की ही उल्लिखित किया है। तीसरे मूल कृति में भी अंत में उपसंहारात्मक अध्याय जोड़कर निश्चय-व्यवहार कथन शैली का प्रदर्शन किया है तथा अपनी अध्यात्मशैली की भी छाप छोड़ रखी है। इस तरह उक्त ग्रंथ भी आचार्य अमृतचन्द्र की ही निर्विवाद रचना प्रमाणित है।

प्रामाणिकता :-

"तत्त्वार्थसार" तत्त्वार्थसूत्र की अनुगामिनी टीका होने से तथा राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, पंचसंग्रह आदि महान् रचनाओं से परिपुष्ट होने के कारण तत्त्वज्ञानविषयक सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथों में ही परिगणित है। आचार्य अमृतचन्द्र के असाधारण व्यक्तित्व से निर्मित होकर मूलसूत्र साहित्य की भाँति प्रमाणता को प्राप्त है। जिस तरह मूलग्रंथ प्रणेताओं में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी सर्वोपरि स्थान पर सुशोभित हैं, उसी तरह टीकाकारों तथा स्वतंत्र ग्रंथकारों में आचार्य अमृतचन्द्र अग्रणी मान्य आचार्य हैं, अतः उनकी उक्त रचना भी तत्त्वार्थ विषयक वाङ्मय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मान्य कृति है।

विषयवस्तु :-

तत्त्वार्थसार में निम्न आठ अधिकार हैं – सप्ततत्त्वपीठिका, जीवतत्त्व-वर्णन, अजीवतत्त्ववर्णन, आस्रवतत्त्व, बंधतत्त्व, संवरतत्त्व, निर्जरातत्त्व तथा मोक्षतत्त्व वर्णन अधिकार। अंत में उपसंहारात्मक २१ पद्य हैं।

प्रथमाधिकार में, प्रारम्भ में ही ग्रंथकार ने उक्त ग्रंथ को मोक्षमार्ग का प्रकाश करने वाला दीपक लिखा है। उसमें समस्त निरूपण युक्ति और

आगम द्वारा सुनिश्चित तथा सुस्पष्ट किया गया है। सम्यग्दर्शनादि का लक्षण निर्देश करते हुए तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यग्दर्शन, तत्त्वार्थबोध को सम्यग्ज्ञान तथा वस्तु स्वरूप को जानकर उसकी उपेक्षा करने को सम्यक्चारित्र लिखा है। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इनमें जीवतत्त्व उपादेय, अजीवतत्त्व हेय, हेयभूत अजीव (कर्म) के जीव में उपादान का कारण आस्रव, हेय के ग्रहण का नाम बंध, हेय की हानि के कारण संवर व निर्जरा, तथा हेय से परिपूर्ण छुटकारा वह मोक्षतत्त्व है। इस प्रकार आत्मा के प्रयोजन को ध्यान में रखकर उक्त सात तत्त्वों का स्वरूप अत्यन्त सुन्दर ढंग से निरूपित किया है। पश्चात् चार प्रकार के निक्षेपों का स्वरूप बताकर प्रमाण व नयों को भेद-प्रभेद सहित समझाया है। अंत में निर्देश आदि तथा सत् संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अंतर व अल्पबहुत्व द्वारा तत्त्व को जानने को कहा। इस तरह प्रथम पीठिका अधिकार समाप्त हुआ।

द्वितीय अधिकार में जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक इन पाँच स्वतत्त्वों का वर्णन किया है। जीव का लक्षण उपयोग बताते हुए उसके साकार तथा अनाकार दो भेद बताते हुए ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग का वर्णन किया है। पश्चात् जीव के संसारी और मुक्त दो भेदों तथा संसारी जीवों के वर्णन के लिए गुणस्थान आदि बीस प्ररूपणाओं का आश्रय लिया है। यद्यपि उपरोक्त निरूपण का आधार मुख्यतः तत्त्वार्थसूत्र ही है, तथापि प्राकृत पंचसंग्रह की गाथाओं के साथ तत्त्वार्थसार के कुछ पद्यों में भावसाम्य होने से उक्त ग्रंथ की भी सहायता ली गई प्रतीत होती है। जीवतत्त्व के निरूपण में ही जीवों के निवास क्षेत्र को बतलाने हेतु अधोलोक, मध्यलोक तथा उर्ध्वलोक का स्वरूप लिखा है। इस अधिकार में तत्त्वार्थसूत्र के द्वितीय व चतुर्थ अध्यायों का सार समझाया गया है।

तृतीयाधिकार में अजीवतत्त्व का वर्णन करते हुए छह द्रव्यों का स्वरूप, उनके प्रदेश, कार्य आदि का भी निरूपण किया है। पुद्गल के अणु व स्कंध ये दो भेद किये हैं। पुद्गल द्रव्य की पर्यायों तथा स्कंध निर्माण की प्रक्रिया पर भी स्पष्ट प्रकाश डाला गया है। इस निरूपण में तत्त्वार्थसूत्र का पाँचवा अध्याय आधारभूत रहा है। विस्तृत स्पष्टीकरण हेतु सर्वार्थसिद्धि टीका का सहारा लिया गया है।

चतुर्थ अधकार में आस्रवतत्त्व का वर्णन है जिसका आधार तत्त्वार्थसूत्र का षष्ठ व सप्तम अधिकार है। कर्मों के आगमन का कारण आस्रव कहलाता है। मन, वचन, काय रूप योगों को आस्रव कहा गया है। वह योग शुभ व अशुभ अथवा पुण्य व पाप रूप दो प्रकार का है। साम्परायिक तथा ईर्यापथ ये दो प्रकार का कर्मास्रव है। सकषाय कर्मबंधन साम्परायिक कर्म है, अकषाय योग के कारण कर्म आते हैं, परन्तु बंधते नहीं, उसे ईर्यापथ कर्म कहते हैं। पश्चात् ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव के कारणों का सविस्तार कथन किया है। व्रत से पुण्य का और अव्रत से पाप का आस्रव होता है। हिंसादि पाँच पापों के एकदेश त्याग का नाम देशव्रत और परिपूर्ण त्याग का नाम महाव्रत है। पूर्ण त्याग करने वाले साधु, एकदेश त्याग करने वाले श्रावक होते हैं। प्रत्येक व्रत की सम्पुष्टि हेतु पाँच-पाँच भावनाओं का निरूपण किया है। हिंसा, झूठ, चोरी कुशील व परिग्रह के त्याग रूप ५ व्रत तथा दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डव्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग संख्या और अतिथिसंविभाग ये ७ शीलव्रत मिलाकर श्रावक के कुल १२ व्रत होते हैं। अंत में सल्लेखना पूर्वक मरण का स्वरूप बताकर उनके अतिचारों के निरूपण के साथ अध्याय समाप्त किया है।

पंचमाधिकार में बंध तत्त्व का वर्णन है। इसका आधार तत्त्वार्थसूत्र का अष्टम अध्याय है। इसमें सर्वप्रथम मिथ्यात्व, असंयम, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँचों को बन्ध का कारण बताया है। उनके स्वरूप व भेदों का कथन किया है। जीव कर्मोदय में कषाय युक्त होकर योग के निमित्त से योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है, वह बंध है। बंध के प्रकृति, स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेश ये चार भेद किये हैं। इन चारों के निरूपण के साथ ज्ञानावरणादि कर्मों की ८ मूल तथा १४८ उत्तर प्रकृतियों का सविस्तार वर्णन किया है। उनकी कालमर्यादा आदि का विशद स्पष्टीकरण किया है।

षष्ठमाधिकार में संवरतत्त्व का प्रतिपादन है। इसका आधार तत्त्वार्थसूत्र का नवमा अधिकार है। इसमें गुप्ति, समिति, धर्म, परिषहजय, तप, अनुप्रेक्षा और चारित्र इन कारणों को आस्रव निरोध अर्थात् संवर का कारण लिखा है। इन कारणों की क्रमशः व्याख्या करते हुए अध्याय समाप्त किया है।

सप्तमाधिकार में निर्जरा तत्त्व का कथन किया है। इसका आधार तत्त्वार्थ सूत्र का नवमाध्याय है। पूर्वोपार्जित कर्मों का आत्मा से अलग

होना निर्जरा है। वह विपाकजा तथा अविपाकजा दो प्रकार की है। समय पर उदित होकर फल देकर कर्मों का झड़ जाना विपाकजा निर्जरा है तथा तपादि द्वारा उदय में न आये हुए कर्मों को उदयावलि में लाकर उन्हें झड़ाना अविपाकजा निर्जरा है। यह निर्जरा तपस्वियों के होती है। आगे क्रमशः अवमौदर्य, उपवास, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश और विविक्तशय्यासन ये ६ बाह्य तप तथा स्वाध्याय, प्रायश्चित्त, वैयावृत्त, व्युत्सर्ग, विनय और ध्यान ये ६ अंतरंग तप; इस प्रकार कुल १२ तपों का वर्णन करते हुए अधिकार समाप्त किया।

अष्टमाधिकार में मोक्षतत्त्व का स्पष्टीकरण है, जिसका आधार तत्त्वार्थसूत्र का दशम अधिकार है। विशद् स्पष्टीकरण हेतु राजवार्तिक को भी आधार बनाया गया है। बंध के कारणों के अभाव तथा पूर्वबद्ध समस्त कर्मों की निर्जरा को मोक्ष कहते हैं। केवली के दो भेद सयोग तथा अयोग रूप से किये हैं और सयोगी के एकमात्र सातावेदनीय का बन्ध होता है, परन्तु अयोग केवली के नहीं होता। आगे मुक्त जीवों के औपशमिकादि भावों का और भव्यत्व का भी अभाव होना वर्णित है। उनके उस समय सिद्धत्व, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन ये चार विद्यमान रहते हैं। यद्यपि कर्मबंध की परम्परा अनादि है, तथापि उसका विनाश सम्भव है। समस्त कर्मों के क्षय होने पर जीव स्वभावतः ऊर्ध्व गमन करके लोकांत में स्थित होता है। उससे आगे धर्मास्तिकाय रूप गति-निमित्तिक द्रव्य का अभाव होता है। अवगाहनशक्ति के कारण एक ही स्थान पर अनंत सिद्ध विराजमान हैं। इस तरह मोक्ष विषयक शंकाओं का समाधान करते हुए अधिकार समाप्त किया।

[अंत में उपसंहार रूप में कहा कि प्रमाण, नय, निक्षेपादि द्वारा सात तत्त्वों को जानकर मोक्षमार्ग का आश्रय लेना चाहिए। मोक्षमार्ग को निश्चय-व्यवहार रूप निरूपित करके उनमें कथंचित् साध्य-साधन भाव भी कहा है। निश्चय मोक्षमार्ग स्वाश्रित (आत्माश्रित) है। व्यवहार मोक्षमार्ग पराश्रित है। निश्चय से षट्कारकादि के विकल्प एक ही आत्मा में सुघटित हैं, अतः अंत में कहा कि जो सुबुद्धि इस तत्त्वार्थसार को जानकर मोक्षमार्ग में स्थिरता करता है, वह संसार बंधन से छूटकर निश्चय मोक्षतत्त्व को पाता है। अन्य ग्रंथों की भांति इसमें कर्तापने के विकल्प का निषेध किया है। इस तरह तत्त्वार्थसार लघुकाय ग्रंथ होने पर भी मोक्षमार्ग का सांगोपांग वर्णन करने वाला अद्वितीय ग्रंथ है। जो सामग्री तत्त्वार्थसूत्र में सविस्तार

नहीं आ सकी, उसे अमृतचन्द्र ने तत्त्वार्थसार में व्यक्त करके अपनी मौलिकता की छाप भी छोड़ी है।

पाठानुसंधान :-

तत्त्वार्थसार यद्यपि वर्ण्य विषय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्धांत निरूपक कृति है, तथापि इसका अमृतचन्द्र की अन्य कृतियों की भांति व्यापक प्रचार प्रसार नहीं हुआ। उक्त कृति की अनुसारी टीकाएँ भी कम है। इसकी हस्तलिखित लिपियाँ संख्या में नहीं है। प्रकाशन भी इसके बहुत थोड़े हुए हैं। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन १९१९ का है, जो पं. बंशीधर शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा कलकत्ता से प्रकाशित है। दूसरे १९२६ के प्रथम गुच्छक के अन्तर्गत काशी से प्रकाशित है तथा तीसरे १९७० में पं. पन्नालाल साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित एवं वर्णी ग्रंथमाला वाराणसी द्वारा प्रकाशित है। इसमें उपलब्ध पाठभेद निम्न तालिका से स्पष्ट होता है –

अध्यायपद्य	कलकत्ता प्रति १९१९	काशी प्रति १९२६	वाराणसी प्रति १९७०
१/२	तत्त्वार्थसारोयं	तत्त्वार्थसारोऽयं	तत्त्वार्थसारोऽयं
१/३	सुनिश्चितः	सुनिश्चितम्	सुनिश्चितः
१/४	सुनिश्चितम्	सुनिश्चितः	सुनिश्चितम्
१/९	तत्वार्थाः	तत्वार्था	तत्वार्थाः
१/९	न्यस्यमानानयादेशात्	न्यस्यमानतयादेशात्	न्यस्यमानतयादेशात्
१/१३	यद्येन	यत्नेन	यत्नेन
१/१५	पुनः	पुना	पुनः
१/२०	बुद्धिमेधादयो	बुद्धिर्मेधादयो	बुद्धिर्मेधादयो
१/२१	ततस्त्वीहा	तपस्त्वीहा	ततस्त्वीहा
१/२६	अनवस्थितः	अनवस्थितिः	अनवस्थितिः
१/२६	मनःस्वार्थ	मनःस्वार्थं	मनस्वार्थं
१/२८	ज्ञानमक्षानपेक्षया	ज्ञानमन्यानपेक्षया	ज्ञानमन्यानपेक्षया
१/३२	सोवधेः	सोऽवधिः	सोऽवधिः

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि कलकत्ता तथा काशी प्रतियों में त्रुटियाँ अधिक हैं। उनका यथासंभव परिमार्जन वाराणसी प्रति में हुआ है। यद्यपि वाराणसी प्रति में पाठशोधन तो अवश्य हुआ है; परन्तु मुद्रण विषयक त्रुटियाँ इसमें भी अनेक हैं।

परम्परा :-

तत्त्वार्थसार ग्रंथ में तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित सिद्धांतों का ही विशदीकरण एवं स्पष्टीकरण हुआ है। आचार्य उमास्वामी के अनुवर्ती अकलंकदेव, विद्यानंदि आदि भाष्यकारों की ही निरूपण परम्परा तत्त्वार्थसार में प्रवहमान पाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने सूत्रगत भावों को पद्य के रूप में प्रस्तुत करके सूत्रार्थ को जहां एक ओर स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर सूत्रार्थगत भावों की महिमा भी प्रदर्शित की है तथा अपनी कवित्व शक्ति द्वारा तत्त्व निरूपण में भी सरसता पैदा की है।

प्रणाली :-

जिनागम में तत्त्वनिरूपण की दो शैलियाँ हैं। प्रथम है प्राच्य शैली जो अनुयोग द्वार के माध्यम से तत्त्व निरूपण करती है तथा दूसरी है अध्यात्म शैली जो तत्त्व निरूपण सीधे-सरल तरीके से करती है तथा इस शैली में अध्यात्म का वर्णन प्रमुख होता है। तत्त्वार्थसार में आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य पुष्पदंत भूतबलि द्वारा प्रसारित प्राच्य शैली को अपनाया है। उन्होंने उमास्वामी की सूत्रशैली का भी अनुकरण किया है। इन दोनों शैलियों (प्राच्य तथा सूत्र शैली) को करणानुयोग प्रमुख शैलियाँ कह सकते हैं।

ग्रन्थ वैशिष्ट्य :-

इस ग्रन्थ के निम्नलिखित वैशिष्ट्य हैं :-

१. संक्षेप में कथन करके गहन भावों को स्पष्ट करना।
२. सिद्धांत का सर्वांगीण तत्त्व निरूपण किया जाना।

तत्त्वार्थसार की उपलब्ध पाण्डुलिपियाँ :-

१. ई. सन् १५२७, टीकाकार – अमृतचन्द्र, लिपि – संस्कृत जानकारी स्रोत – जिनरत्नकोश, वेलंकर पृ. १५३।
२. ई. स. – १५८२ टी. – अमृतचन्द्र, लिपि – संस्कृत, जा. स्रोत – रा. जै. शा. भ सू. भाग ५/पृ. ४३।
३. ई. ..... – टी अमृतचन्द्र लिपि – संस्कृत जा. स्रोत – रा. जै. शा. भ. सू. भाग ३/१७६।
४. ई. – .....टी. – अमृतचन्द्र लिपि – संस्कृत जा. स्रो – रा. जै. शा. भ. सू. भाग ४/२२।

तत्त्वार्थसार के विभिन्न प्रकाशन :-

१. ग्रं. – तत्त्वार्थसार, टीकाकार – सं. पं. बंशीधर शास्त्री, प्रकाशक – भा. जै. सि. प्र. संस्था कलकत्ता. सन् १९१९ भाषा – संस्कृत प्रतियाँ ७५०/१ उपलब्ध।

२. ग्र. – तत्त्वार्थसार (अध्याय चौथा) टी. – प्रस्ता. हिराचंद नेमचंद प्र. – सोलापुर सन् १९२० भाषा – संस्कृत।

३. ग्र. – तत्त्वार्थसार (प्रथम गुच्छक में) सं. – पन्नालाल चौधरी प्र. – पन्नालाल चौधरी काशी, सन् १९२५ भाषा – संस्कृत।

४. ग्र. – तत्त्वार्थसार सं. – पं पन्नालाल साहित्याचार्य, प्र. वर्णी ग्र. मा. वाराणसी, सन् १९७० भाषा – संस्कृत प्रतियाँ – १०००।

लघुतत्त्वस्फोट

इसका अपरनाम, शक्तिमणित् कोश, भी है, जिसका उल्लेख ग्रंथ के अंत में है। यह आचार्य अमृतचन्द्र कृत सर्वाधिक क्लिष्ट, प्रौढ़, दार्शनिक, स्वतन्त्र एवं मौलिक कृति है। अतः इसका परिचय प्रथम विभाग में कराया जा सकता था, परन्तु इसे तृतीय विभाग में अन्य कृतियों के अंतर्गत रखा गया है, क्योंकि पूर्वोक्त कृतियाँ ही अमृतचन्द्र की रचनाओं के रूप में पाठकों और विद्वज्जनों के बीच विश्रुत एवं मान्य रही हैं। यह एक नवोदित कृति है। अहमदाबाद के डेला भण्डार में मुनि श्री पुण्यविजयजी को इसकी ताड़पत्रीय पाण्डुलिपि प्रथमवार १९६८ ई. में उपलब्ध हुई है। इस अज्ञात कृति की प्राप्ति से समस्त अध्यात्म एवं तत्त्वप्रेमी विद्वानों को अत्यन्त हर्ष हुआ है। अभी इस रचना का एकमात्र अंग्रेजी संस्करण लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। उक्त संस्करण का सफल सम्पादन एवं अनुवाद डा. पद्मनाभ श्रीवर्मा जैनी – प्रोफेसर बौद्धदर्शन केलफोर्निया विश्वविद्यालय, बर्कली (यू. एस ए.) द्वारा हुआ है।

इसमें ६२५ श्लोक हैं। २५-२५ श्लोक वाले २५ अध्याय हैं। समस्त रचना में १३ प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। यह रचना अमृतचन्द्र की जैन तत्त्वज्ञान एवं सिद्धांत विषयक असाधारण प्रतिभा के चरमोत्कर्ष की द्योतक है। यह स्तुतिपरक रचना है। इसमें सर्वोत्कृष्ट स्तोत्रकाव्य की प्रौढ़ता प्रदर्शित की गई है। इसे हम अमृतचन्द्र के अमृतमयी आश्चर्यकारी तत्त्वज्ञान का परिपाक कह सकते हैं। अर्थ गाम्भीर्य तथा क्लिष्ट संस्कृत शब्दावली के प्रयोग से भाव प्रवाह की रसानुभिति में कठिनता प्रतीत होती है। प्रथम अध्याय २४ तीर्थंकरों के गुणस्मरण में समर्पित है। शेष अध्यायों में भी जिनेन्द्र स्तुति के नाम पर गहन सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है। स्तोत्र परम्परा में उक्त कृति का असाधारण व महत्त्वपूर्ण स्थान है।

कर्तृत्व :-

इसके रचयिता भी प्रकृत आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ही हैं। इस सम्बन्ध में निम्न आधार उपलब्ध हैं – प्रथम तो मूलपाठ में आचार्य अमृतचन्द्र का नाम दो बार प्रयुक्त हुआ है। एक बार प्रथम अध्याय के अंत में[1] तथा एक बार उपसंहारात्मक अंतिम श्लोक में[2] कवीन्द्र पद सहित अमृतचन्द्र का नामोल्लेख हुआ है।

दूसरे लघुतत्त्वस्फोट के कुछ पद्य समयसार कलश से साम्य रखते हैं। इसके ५०७ तथा ६२४ नं. के पद्य क्रमशः समयसारकलश के २७० और १४१ वें पद्य के समान हैं।

तीसरे इन दोनों रचनाओं में शैली और शब्दावलि दोनों में भी कई प्रकार के साम्य हैं।

चौथे आचार्य संमतभद्र के रत्नकरण्डश्रावकाचार का प्रभाव जिस तरह पुरुषार्थसिद्धयुपाय पर दिखाई देता है, उसी प्रकार समंतभद्रकृत ही बृहद्स्वयंभूस्तोत्र आदि स्तोत्रों की शैली का तथा तत्त्व निरूपण का प्रभाव अमृतचन्द्र कृत लघुतत्त्वस्फोट में दिखाई देता है। दोनों के प्रारम्भ में स्वयंभू शब्द का प्रयोग चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति, स्याद्वाद व निश्चयपरक विवेचन, सर्वज्ञता की सिद्धि, अनेकांत का विशेष स्पष्टीकरण, अन्यदर्शनों का निराकरण आदि साम्य इसके प्रमाण हैं।

पाँचवें – जिस प्रकार पुरुषार्थसिद्धयुपाय का अपरनाम "जिनप्रवचन-रहस्य कोश" है, उसी प्रकार लघुतत्त्वस्फोट का भी अपरनाम शक्तिमणित-कोश है।

छठवें ग्रन्थ के अंत में अंतिम दो पद्यों में स्तुति रूप रस के आस्वादी अमृतचन्द्र का उल्लेख हुआ है। साथ ही "इत्यमृतचन्द्रसूरिणां कृतिः शक्तिमणितकोशो नाम लघुतत्त्वस्फोटः समाप्तः" इन अंतिम शब्दों से उक्त कृति का प्रकृत आचार्य अमृतचन्द्र कृत होना भलीभांति प्रमाणित होता है।

नामकरण :-

इस कृति के उपरोक्त उभय नाम समुचित एवं सार्थक प्रतीत होते हैं। "शक्तिमणितकोश" नाम का उल्लेख अंतिम ६२६ वे पद्य में हुआ

---

१. लघुतत्त्वस्फोट – अध्याय १ पद्य २५।

२ वही, अध्याय २५ पद्य २६।

है।[1] तथा "लघुतत्त्वस्फोटः" यह नाम अंतिम वाक्यों में प्रयुक्त हुआ है। प्रथम नाम में "मणित्" पद की जगह "भणित" भी हो सकता है। "शक्तिमणितकोशः" का अर्थ है शक्ति रूप मणियों से भरा खजाना। "शक्तिभणितकोशः" पद का अर्थ है शक्तियों का कथन करने वाला खजाना। इसके अतिरिक्त "लघुतत्त्वस्फोटः" शब्द का अर्थ है तत्त्वों का संक्षिप्त प्रकाशन। उपरोक्त तीनों अर्थ उक्त रचना की सार्थकता के द्योतक हैं। वास्तव में अमृतचन्द्र ने समयसार तथा प्रवचनसार टीका के अंत में आत्मा की जिन शक्तियों का वर्णन किया है, उन्हीं का इस ग्रंथ में नये परिवेश में प्रतिपादन किया है। लघुतत्त्वस्फोट शीर्षक उसके अपरनाम की अपेक्षा अधिक आकर्षक प्रतीत होता है।

प्रामाणिकता :-

स्तोत्र काव्यों की परम्परा के सर्वाधिक प्रसिद्ध अग्रणी आचार्य स्वामी समंतभद्र के स्तोत्र काव्य अपनी पश्चात्वर्ती परम्परा के प्रमुख प्रेरणा स्रोत तथा आधारस्तम्भ हैं। उन्हीं की शैली का अनुकरण करते हुए जिनेन्द्रस्तुति के नाम पर अमृतचन्द्र ने उक्त रचना की है, जिसमें समंतभद्र की ही भांति गम्भीर दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन किया है। अतः अपने अन्य ग्रंथों व टीकाओं के समान अमृतचन्द्र ने इस ग्रंथ को भी महान् तथा प्रामाणिक बनाया है। उन्होंने पूर्वोक्त स्वतन्त्र ग्रंथों तथा टीकाओं में वर्णित तत्त्वों का स्तोत्र शैली में रसास्वादन कराया है, अतः उक्त रचना की प्रामाणिकता और भी अधिक बढ़ जाती है। स्वयं लेखक ने अंत में लिखा है कि स्याद्वाद के मार्ग में, निज व पर के श्रेष्ठ विचार में, ज्ञान तथा क्रिया के अतिशयपूर्ण वैभव की भावना में, शब्द और अर्थ की संघटन सम्बन्धी सीमा में तथा रस की अधिकता में व्युत्पत्तिविशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक अल्पज्ञ जनों को यह मेरी रचना दिशा प्रदर्शन करने वाली है।[2]

आधारस्रोत :-

आचार्य समंतभद्र का स्वयंभूस्तोत्र, सिद्धसेन दिवाकर का द्वात्रिंशतिका स्तोत्र मानतुंगाचार्य का भक्तामर स्तोत्र ये तीनों प्रमुख रूप से अमृतचन्द्र के लघुतत्त्वस्फोट की रचना में प्रेरणास्रोत रहे हैं। स्वयंभूस्तोत्र के अनुकरण पर २४ तीर्थंकरों की स्तुति तथा गम्भीर तत्त्वविवेचन किया है। सिद्धसेन

---

१. लघुतत्त्वस्फोट – अध्याय २५ पद्य २६।

२. वहीं – अध्याय २५ पद्य २७।

की ३२ पद्यों वाली ३२ अध्यायवाली द्वात्रिंशतिका के अनुकरण पर अमृतचन्द्र ने २५ पद्यों वाली २५ अध्यायवाली रचना की। मानतुंग के भक्तामर के उपसंहार का अनुकरण अमृतचन्द्र ने किया है। भक्तामर का अंतिम पद्य "स्तोस्त्रस्रजं तव जिनेन्द्र गुणैर्निबद्धां.....इत्यादि" तथा लघुतत्त्वस्फोट के प्रथम अध्याय का अंतिम श्लोक "ये भावयंति विकलार्थवतीं जिनानां....." इत्यादि में शैलीसाम्य, ध्वनिसाम्य है। साथ ही अर्थ साम्य भी है। इसके अतिरिक्त समयसार कलश, आत्मख्याति टीका के अंशों, तत्त्वदीपिका के अंशों तथा समयव्याख्या के अंशों से भी विषय वस्तु ग्रहण कर स्तोत्र की सृष्टि की है।

विषयवस्तु :-

लघुतत्त्वस्फोट में वर्णित विषयवस्तु को पच्चीस श्लोक वाले पच्चीस अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है। उन अध्यायों में निरूपित प्रकरण इस प्रकार हैं -

प्रथम अध्याय में २४ तीर्थंकरों के गुणों का चमत्कारपूर्ण शैली में, अनुप्रास तथा विरोधाभास आदि अलंकारों के सरस आकर्षण के साथ स्मरण किया है। यह अध्याय समग्र कृति में सर्वाधिक क्लिष्ट अंश है। कुछ पद्य तो पहेलियों के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। स्याद्वाद सिद्धांत के माध्यम से विरोधाभास अलंकार का प्रयोग करने का लेखक को असीमित अवसर मिला है। इसमें शून्य-अशून्य, नित्य-अनित्य, सत्-असत् भूत्-भविष्यत्, आत्मक-निरात्मक, एक-अनेक, बद्ध-मुक्त, कर्तृ-बोद्धृ इत्यादि विरोधी युगलों का प्रदर्शन किया है। आत्मा के इन द्वन्द्वात्मक धर्मों को निश्चय तथा व्यवहार की निरूपण शैलियों द्वारा प्रस्तुत किया है। अनेकांत से अलग न होकर, निश्चय नय परक् वाक्पटुता द्वारा तथ्य का समर्थन करना अमृतचन्द्र का मौलिक वैशिष्ट्य है। यद्यपि उन्होंने समस्तपदार्थों की प्रकाशक जिनेन्द्र की सर्वज्ञता के अनेकरूपों की प्रशंसा की है, तथापि निश्चयदृष्टि से उक्त सर्वज्ञता को अद्वैत सिद्ध करने पर वजन भी दिया है। उक्त अद्वैत महान् ज्योति की वे उपासना करते हुए कहते हैं - "अद्वैतमेवमहयामि महन्महस्ते"। ये शब्द हमें उनके समयसार कलश में प्रयुक्त "अनुभवमुपयाते न भाति द्वैतमेव" इत्यादि का स्मरण कराते हैं। अध्याय की समाप्ति करते हुए वे लिखते हैं कि जो भव्य जीव अमृतचन्द्रसूरि के ज्ञान द्वारा गृहीत परिपूर्ण अर्थ से युक्त ऋषभादि तीर्थंकरों की नामावलि का चिंतन करते हैं, वे निश्चय से अनायास ही सकल विश्व को पी जाते हैं अर्थात् सर्वज्ञ हो

जाते हैं तथा सकल विश्व उनके ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो उठता है। उन्हें कर्म आदि परद्रव्य ग्रहण नहीं कर सकते हैं अर्थात् वे कर्मबन्धन में नहीं पड़ते हैं। यह अंतिम पद्य हमें भक्तामर स्तोत्र के अंतिम पद्य की याद दिलाता है, क्योंकि उनमें कई तरह से साम्य प्रतीत होता है।

द्वितीय अध्याय में विश्वरूपता तथा एकरूपता के आधार पर निर्मित विरोधी धर्मों का निरूपण किया है। यहाँ लेखक ने सांख्यमत की इस मान्यता का कि पदार्थों का ज्ञान चैतन्य के अखण्ड स्वभाव को खण्डित करता है, आदि का खण्डन किया है। एकांतवादी कथन करने वालों को उन्होंने पशु अर्थात् अज्ञानी शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है। अनेकांत स्वरूप स्पष्टीकरण करते हुए जिनेन्द्रदेव को भाव-अभाव, गुणपर्याय रूप सिद्ध किया है। उनके अंतरंग-बहिरंग स्वरूप के दर्शन से अंतर्बाह्य शत्रु नष्ट हुए हैं। उन्होंने कार्य को साधनविधि से सम्बद्ध होना बताया है, यथा "कार्यं हि साधनविधि प्रतिबद्धमेव।"[1] वे लिखते हैं कि यदि विज्ञानतन्तु स्वभाव में लीन हो तो कषाय रूप कन्या नष्ट हो जावें। अज्ञानी कषाय को तथा ज्ञानी प्रशमभाव का धारण करते हैं। जिनेन्द्रदेव मात्र ज्ञाता हैं, कर्ता नहीं है। जिनेन्द्र के तेजस्मरण से नेत्र निमीलित हो जाते हैं। वे समस्त विश्व के (ज्ञानद्वारा) भोक्ता है, सामर्थ्यवन्त, ऐश्वर्यवन्त, अंतरहित, निरंतर उदित तथा अद्वितीय महिमाधारी हैं। उनके उदित रहने पर भी स्वार्थ को सिद्ध करने वाले मिथ्यादृष्टि जीव एक-एक दृष्टि को धारण कर क्यों उछलकूद करते हैं? यह आश्चर्य की बात है। अंत में लिखा है कि विभिन्न आत्मशक्तियों के समूहरूप यह आत्मा नयदृष्टि से खण्ड-खण्ड होकर शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है, अतः मैं अखण्ड, एक, शांत, अविनाशी चैतन्य रूप हूँ। यह अंतिम कथन समयसार कलश २७० के कथन से साम्य रखता है।

तृतीय अध्याय में आशीर्वादात्मक मंगल पद्य के साथ सामायिक का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है कि बलपूर्वक मोहव्यूह को छोड़कर ज्ञान-दर्शन मात्र महिमामयी निज आत्म द्रव्य में लीन होना सामायिक है।[2] जिनेन्द्रदेव स्वयं ऐसे सामायिकस्वरूप परिणत हुए हैं। सम्पूर्ण अध्याय में जिनेन्द्र का उत्कृष्ट आध्यात्मिक चारित्र प्रस्तुत किया है। सबसे निम्नदशा

---

१. नयचक्रकोट – अध्याय – २ पद्य।

२ वही, अध्याय ३, पद्य २।

प्रथम मिथ्यात्व, गुणस्थान से लेकर आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च स्थिति सर्वज्ञता तक का आत्मा के क्रमिक विकास का विवरण प्रस्तुत किया गया है। क्रमिक विकास की १४ सीढ़ियां हैं, जिन्हें गुणस्थान कहते हैं, गुणस्थानातीत दशा सिद्धदशा है, जो जैनों का चरम आदर्श है। विकास का प्रारम्भ चौथे गुणस्थान से होता है, जिसे सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक्त्व मुमुक्षु का मोक्षमार्ग का प्रवेशद्वार है, जिसे अमृतचन्द्र ने मंगलाचरण में "मार्गावतार" शब्द से इंगित किया है। यह मार्गावतार का क्षण परम आनंदमय होता है। लेखक ने सम्यक्त्व और उपरोक्त सामायिक में साम्य स्थापित किया है। आगे लिखा है कि जिनेन्द्र ने पूर्व में भावसंयम सहित द्रव्यसंयम धारण किया था।[1] तप की महिमा से जिनेन्द्र के राग-द्वेष शांत हो चुके थे। वे उन दोनों के ज्ञाता मात्र थे। उन्होंने शुद्धोपयोग की भूमिका में दर्शनमोह का क्षय किया था।[2] दर्शनमोह का क्षय चौथे गुणस्थान में हुआ था। पश्चात् शुद्धोपयोग रूप किंचित् स्थिरता द्वारा आंशिक चारित्रमोह का क्षयोपशम किया था। यह कार्य पाँचवें गुणस्थान में हुआ था। छठवें गुणस्थान में परिषहजयी हुए तथा दृढ़ शुद्धोपयोग का आलम्ब लेकर निकांक्षित कर्म का भी क्षय किया था। वे परमसंयमी तथा द्वादशांग के ज्ञाता हुए थे। उन्होंने शुद्ध क्षायिक ज्ञान से सुशोभित आत्मद्रव्य का अनुभव किया था। उन्होंने निरंतर अंतर्बाह्य तपों के द्वारा ज्ञान तथा चारित्र की पूर्णता प्राप्त की थी। सातवें गुणस्थान में उपशम श्रेणी पर आरोहण किया और मोहराजा को दबा दिया था। उन्होंने अनंतगुणी परिणाम शुद्धि द्वारा क्षपकश्रेणी पर आरोहण करके अपूर्वकरण नामक आठवें गुणस्थान को प्राप्त किया था। आगे अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों के प्रभाव से शीघ्र ही बादर (स्थूल) कर्म रूप किट्टिमा को दूर किया था तथा नवमां गुणस्थान पाया था। सूक्ष्म कर्मरूप किट्टिमा को नष्ट करने पर भी सूक्ष्मलोभ रूप कर्म कालिमा शेष रह गई थी, इस तरह सूक्ष्मलोभ नामक दसवें गुणस्थान को प्राप्त किया था। पुनः अनंतगुणी परिणाम विशुद्धि द्वारा ग्यारहवाँ उपशांतमोह नामक गुणस्थान प्राप्त किया था। तत्पश्चात् उन्होंने पृथक्त्व वीचार शुक्लध्यान धारण कर १२वाँ क्षीणमोह नामक गुणस्थान प्राप्त किया तथा चार घातियाँ कर्मों का क्षय करके केवलज्ञान प्रगट किया। यह १३वें गुणस्थान की दशा है। उन्होंने

---

१. समयसारस्फोट: – अध्याय – ३, पद्य – ३।

२. वही – अध्याय ३ पद्य ५ "शुद्धोपयोगदृढ़भूमिमित:.....इत्यादि।

अनंतवीर्य प्रगट करके लोकालोक को जाना। आगे १४वें गुणस्थान में योगों का निरोध करके अयोग केवली अवस्था धारण की। अंत में गुणस्थानातीत होकर सिद्धावस्था को प्राप्त हुए। उस अवस्था में वे समस्त द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा भावकर्म से रहित हुए। उन्होंने अनुपमेय सिद्ध दशा को प्रगट किया। उस समय मानों वे समस्त लोकालोक को केवलज्ञान में संक्रांत कर रहे हों, लिख रहे हों, आकृष्ट सा कर रहे हों, संरक्षित सा कर रहे हों, पी सा रहे हों तथा उत्कृष्ट अनंत वीर्य से मानों प्रत्येक दिशा में स्वयं प्रगट हों रहे हों। इस प्रकार सिद्धदशा का उत्प्रेक्षा रूप कथन करके उनके समान बनने की मंगल कामना करते हुए अध्याय समाप्त किया।

चतुर्थ अध्याय में सर्वज्ञता का ही प्रतिपादन चलता है। वहाँ प्रथम ही केवलज्ञानमयी सूर्य को नमस्कार करते हुए लिखा कि जिनेन्द्र का तेज मेरे अनुभव में आने लगा है। जिनेन्द्र भगवान आत्मदर्शियों द्वारा पूज्य तथा तेजवंत हैं। अज्ञानियों को मात्र एक भासित होते हैं, परन्तु ज्ञानियों को एक तथा अनेक रूप एकसाथ ज्ञात होते हैं। वे अनंतरूप होकर भी एक हैं। उनकी ज्ञानरूप लता चरमसीमा तक वृद्धिगत होकर स्वभाव में ही क्रीडारत रहती है। वे अनंतज्ञान रूप वायु से समस्त जगत् को कम्पित सा करते हैं, जिससे साधक का मन भी कम्पित सा हो उठता है। जिनेन्द्र के ज्ञानसमुद्र की एक ही तरंग में समस्त लोक अपनी अनंतपर्यायों सहित तैरता सा प्रतीत होता है। उनके केवलज्ञान रूप तेज में चेतन-अचेतन प्रकाशित होते हैं। अनेक जिनेन्द्र को एकांत दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। प्रत्येक द्रव्य की पर्यायें अंतर्बाह्य कारणों की सन्निधि में उत्पन्न होती हैं। समुद्र में तरंगमाला की तरह शब्दावली भी जिनेन्द्र के द्रव्यस्वभाव की महिमा में विलीन हो जाती है। उनका विधि-निषेधरूप स्वभाव कृष्ण व शुक्लपक्ष की भाँति उभयरूपता को नहीं छोड़ता। उनके अस्ति-नास्ति, भाव-अभाव, एक-अनेक रूप स्वभाव, क्रम-अक्रम आदि युगल युगपत् रहते हैं। पदार्थ में पाई जाने वाली शक्तियाँ तर्कणा के योग्य नहीं होतीं। जिनेन्द्र के समक्ष एकांतरूप क्षणिकवाद ध्वस्त हो जाता है तथा वे जगत् को प्रकाशित करते हुए भी जगत् से भिन्न रहते हैं। पर को जानने मात्र में चेतना में दोष नहीं आता। वे परज्ञेयों में राग-द्वेष व मोह नहीं करते। उनकी ज्ञान ज्योति में परपदार्थों का प्रतिबिम्ब झलकता है। जो जीव पर पदार्थों में रत हैं, उन्हें जिनेन्द्र का दर्शन नहीं हो सकता। अंत में उनके अंतरंग बहिरंग वैभव का विशद अनुभव करते हुए अध्याय समाप्त होता है।

पंचम अध्याय में भी उक्त सर्वज्ञता ही प्रतिपाद्य है। प्रारम्भ में विरोधाभास अलंकार का प्रयोग करते हुए लिखा है कि हे जिनेन्द्र ! आप वृद्धि को प्राप्त न होने पर भी उन्नति को प्राप्त हो रहे हैं, नम्रीभूत न होने पर भी अत्यन्त नम्र हैं और अवस्थित एकरूप होकर भी सब ओर विस्तार से व्याप्त हो रहे हैं। आपका अनादि अनंत वैभव प्रवाह सुशोभित होता है। वह वैभव आदि मध्य तथा अंत से रहित है, विकारहित, ज्ञानमात्र रूप से स्पष्ट है। यद्यपि महासत्ता में आप गर्भित हैं, तथापि महासत्ता आपके ज्ञान में गर्भित है। आप समस्त शब्दानुगम से गम्भीर व ज्ञान से लोकालोक को ग्रास करने वाले हैं। आपकी ज्ञानसत्ता द्वारा परपदार्थ व्याप्त न होने पर भी वे चैतन्यवत् सुशोभित होते हैं। पदार्थसत्ता अर्थसमूह का उल्लंघन न करती हुई आपके ज्ञान में प्रत्यक्ष होती है। शब्दसत्ता पुद्गलपने का उल्लंघन नहीं करती हुई आपके ज्ञान में प्रतिबिम्बित होती है। प्रमेय के बिना ज्ञान में प्रमाणता नहीं तथा प्रमाण बिना प्रमेयता सम्भव नहीं है। प्रमाण में प्रमेय का तथा ज्ञान में ज्ञेय का निषेध सम्भव नहीं हो सकता। वाच्य-वाचक सम्बन्ध न होने पर भी आप समस्त पदार्थों के वाचक - प्रकाशक हैं। क्रमबद्ध पर्यायों द्वारा आपके सर्वगुणों का वैभव युगपत् प्रकाशित होता है। क्रमरूप पर्याय तथा अक्रम रूप गुण को गौण करने पर आप एक, अखण्ड ही प्रतिभासित होते हैं। प्रदेश भेद रूप तिर्यक्प्रचय, क्षणभेद रूप उर्ध्वप्रचय के साथ समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में झलकते हैं, परन्तु आपको उनसे ममत्व नहीं है। आप निरंश होकर भी अनंतांशों को प्रकाशित करते हैं। अखण्ड सत्ता वाले अनेक द्रव्य खण्ड आपके ज्ञान में पृथक्-पृथक् भासित होते हैं। आप सर्वद्रव्यों को सामान्य-विशेषरूप से जानते हैं। अनंत अवस्था सहित अनंत द्रव्यों को आप जानते हैं। अनंत अर्थपर्यायों तथा व्यंजनपर्यायों से युक्त अस्तित्व को न त्यागता हुआ द्रव्य सम्पूर्णतः आपके ज्ञान में आता है। पर्यायें द्रव्य को तथा द्रव्य पर्यायों को छोड़ने में समर्थ नहीं है। आपकी अभेद तथा भेद युक्त ज्ञानदृष्टियां सर्वत्र विचरती हैं। भिन्न तथा अभिन्न रूप से अवस्थित समस्त पदार्थों के ज्ञान से सम्पन्न आपका वैभव है। आप अनंत चतुष्टय विभूति से सुशोभित हैं। आप आत्माश्रित होने से स्वरूपमग्न हैं तथा पराश्रित होने से समवशरण में स्थित हैं। हे जिनेन्द्र ! मुझे तपद्वारा प्रज्जवलित करो, जिससे समस्त चराचर जगत् मेरे ज्ञान में प्रकाशित हो उठे। इस तरह उक्त अध्याय समाप्त हुआ।

षष्ठ अध्याय में पुनः निर्ग्रन्थ जिन के तपस्यापूर्ण मार्ग का, गुणस्थानानुसार विकास प्रक्रिया का वर्णन है। जिनेन्द्र ने मिथ्याचारित्र को सम्यग्चारित्र से दूर किया था। वे उत्कृष्ट वैराग्य, निस्पृह तप से युक्त तथा संसार के कौतुहल से मुक्त थे। उन्होंने संसार मार्ग को छोड़कर मोक्षमार्ग को पाया था तथा मोक्षमार्ग का प्रवर्तन किया था। उनका धैर्य अखण्ड था। वे मोक्षमार्ग में अकेले ही बिहार करते थे। उन्होंने साधनाकाल में तपों द्वारा अविपाक निर्जरा की थी। साथ ही कषाय रूप कर्मरज को नष्ट करते हुए क्षपक श्रेणी पर आरोहण किया था। अपने निर्मल ज्ञान-ध्यान संतति द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म कषायों का क्षय करके सूक्ष्मसाम्पराय तथा क्षीणकषाय अवस्था प्राप्त की थी। उन्होंने साम्परायिक आस्रव को पारकर, ईर्यापथ आस्रव की दशा को पाया था और शुक्लध्यान द्वारा क्षीणकषाय गुणस्थान में पहुँच थे। पश्चात् केवलज्ञान पाकर सम्पूर्ण जगत् को जाना और विज्ञानघन स्वरूप हुए। आगे आयु कर्म को भी क्षीण करके सिद्धपद पाया था। उनमें अनंत वीर्य आदि गुणों से पूर्णता प्रगटी थी, क्योंकि इस जगत् में द्रव्य अपने वस्तुत्व गुण को छोड़कर अन्य द्रव्य के साथ कभी भी एकरूपता स्थापित नहीं करता। जिनेन्द्र ने तीनों लोकों को देखा तथा अनंतज्ञेयों को जानने के कारण अनंतरूपता को भी पाया था। वे त्रिकालदर्शी होकर, स्वरूप में सुशोभित थे। वे आत्मज्ञ हुए। उन्होंने अनंत ज्ञेयों सहित निजात्मा को जाना था तथा वर्तमान में जानते हैं। उनके ज्ञान का अक्षुण्ण प्रवाह सदा जारी रहता है। उनमें अनंत शक्तियाँ स्फुरायमान हो उठी हैं, वे उनसे सुशोभित हैं। वे स्वरूपगुप्त – सुरक्षित, निराकुल तथा पर से शून्य रूप में सुशोभित हैं। अंत में आत्मलघुता का प्रदर्शन करते हुए लिखा है कि यदि इस स्तुति द्वारा मुझ में आप जैसा चैतन्यतेज नहीं प्रगटता तो वह मेरी ही जड़ता है, आपका उसमें कुछ भी कारणपना नहीं। इस तरह उक्त अध्याय समाप्त होता है।

सप्तम अध्याय में प्रारम्भ में स्तुतिकार पूर्णतः जिनेन्द्र की शरण लेने की सूचना देते हैं। वे लिखते हैं कि हे जिनेन्द्र! मेरा मतिज्ञान रूप प्रकाश अत्यल्प है। मेरा ज्ञान अविकसित तथा आच्छादित है। आप मुझ पर कृपाकर अमृतवर्षा करते हैं, तथापि मैं शक्तिहीन होने से उस अमृत को कितना पी सकता हूँ अर्थात् थोड़ी सामर्थ्यानुसार पीता हूँ। आपकी ज्ञानामृत की बूंद भी मुझे औषधिसमान गुणकारी है। आपका अंतरंग तथा बहिरंग संयम अखण्ड है। मैं उक्त उभय प्रकार के संयम से आपके समान

हो जाऊँगा। मैं संयमलब्धि गुणस्थान में हूँ तथा आप तेरहवें सयोग केवली गुणस्थान में हैं, अतः मुझसे आप बहुत दूर हैं। मैं तो आपके स्वरूप का यथार्थ विश्लेषण करने वाला हूँ। विवेक धारा से मेरा मन उत्कृष्टता को प्राप्त हो रहा है। आपने समता रूपी अमृत द्वारा कर्म रूप कालिमा को नष्ट किया है। आपने राग का शोषण किया है, जबकि अन्य देवगण राग में ही लिप्त हो रहे हैं। आपने संयम मार्ग की कुछ शुभक्रियाओं का अवलम्बन कर समस्त पाप-क्रियाओं को नाश किया तथापि शुभक्रिया के भी कर्तृत्व से दूर रहे। आप ज्ञानस्वरूप में मग्न, परम औदारिक शरीर धारी हैं। आपकी समस्त शक्तियाँ आपके स्वभाव को नहीं भेदतीं। आपका केवलज्ञान तेज उत्कृष्ट तथा जयवंत है। आप अपने केवलज्ञान में प्रतिबिम्बित विश्व को स्पर्शते हुए भी पर से अभिभूत नहीं होते। आप मात्र ज्ञाता हैं कर्ता नहीं। आपका अनंतशक्ति सम्पन्न केवलज्ञान कभी स्खलित नहीं होता। आपका स्वभाव सकल कारक चक्र की प्रक्रिया से पार है। आपका केवलज्ञान न तो प्रवर्तन करता है और न ही अतिवर्तन करता है, अपितु स्ववर्तन करता है। आप परिपूर्ण होकर भी परिपूर्ण हो रहे हैं। आप तृप्त होकर भी तृप्त, वृद्धिगत होकर भी वृद्धिगत हो रहे हैं। आपका सम्यग्ज्ञान कभी भी सर्वपदार्थों को जानने की शक्ति को नहीं छोड़ता : कहाँ आपका प्रतापवंत तेजस्वीस्वरूप और कहाँ मेरा अज्ञानान्धकार रूप पर्दा, दोनों की कथा कैसे हो सकती है ? आप दशों दिशाओं में प्रकाशित है। अन्त में स्तुतिकार लिखते हैं कि हे जिनेन्द्र आपकी महिमा का गुणगान वास्तव में केवलज्ञान से या विशिष्ट ज्ञानियों से ही सम्भव है।

अष्टम अध्याय में जिनेन्द्र को सर्वोत्कृष्ट उपदेष्टा – आप्त के रूप में स्मरण किया है। स्तुतिकार कहते हैं कि हे जिनेन्द्र आपका संसारदशा का रागीस्वभाव अब मोक्षमार्ग में शान्त हो चुका है। कषाय का क्षय ही एकमात्र मुक्ति का कारण आपने बताया है। आपने एक होने पर भी अनेक कषाय समूह को जीता है। देव-दानवों आदि सभी ने आपके मुख से वस्तु-स्वरूप को दिखाने वाला स्याद्वादस्वरूप सुना तथा जाना है। शुद्ध अभिप्राय वाले ही आपकी नयात्मक वाणी द्वारा अर्थ अवधारण कर सकते हैं। स्याद्वाद की मुद्रा के बिना शब्द शक्ति सर्वांशों के प्रकाशन में स्खलित (असमर्थ) हो जाती है। सत् का कथन असत् सापेक्ष होता है। यदि ऐसा न होता तो वस्तुस्वभाव अपनी मर्यादा तोड़ देता ? सत्ता द्वारा समस्त विश्व नहीं पिया जा सकता, परन्तु समस्त विश्व द्वारा सत्ता को पिया जा सकता

है। आत्मा-विश्व के एक अंश रूप से सत् है, वही विश्वरूप न होने से उस अपेक्षा से असत् है। ज्ञानघन आत्मा-विश्व के अनादिसिद्ध नानापने को नष्ट नहीं कर सकता। सबको जानकर भी चेतन तथा अचेतन के स्वरूप को नाश नहीं किया जा सकता। जैसे मुर्दे में अनेक संस्कार करने पर भी चेतनत्व की प्रतीति नहीं हो सकती। विश्व का [illegible] द्वारा निरूपण करने वाली स्याद्वाद रूप मुद्रा प्रत्यक्ष खड़ी प्रतीत होती है। आपके सिद्धान्तों तथा अन्यमतियों के सिद्धान्तों में बहुत बड़ा अन्तर है। आपने स्याद्वाद मुद्रा की रचना की है, जो वस्तु के तत्-अतत् स्वभाव की प्रकाशक है। आप स्व-पर के दुःख नाशक हैं। अन्य मतियों को खेदोत्पादक तथा मुमुक्षुओं के उपास्य हैं। आपका शासन जगत् के प्राणियों के दुःखों को दूर करने वाला है। समरसी महामुनियों को महादुःख भी सुख रूप लगते हैं। जैसे बिल्ली को गर्मदूध भी रुचिकर लगता है। आप सर्वज्ञता तथा निर्दोषता सहित श्रेष्ठ आप्त हैं। शब्द परमब्रह्म भी आप ही हैं। इस तरह उक्त अध्याय समाप्त होता है।

नवम अध्याय में पुनः जिनेन्द्र (निर्ग्रन्थ जिन) के आध्यात्मिक चरित्र का वर्णन है। इसमें जिनेन्द्र की पूर्वसाधना का विवरण है। पूर्व में वे अन्य मतियों द्वारा निन्दा किये जाने पर भी अपने स्वरूप साधना के मार्ग से विचलित नहीं हुए। आपने एकाकी रहने तथा अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह त्यागने की प्रतिज्ञा की और पामर प्राणियों पर दया की। आप वस्तुस्वरूप के विचार में निरत, छहकाय के जीवों की दया के पालक पक्षपात रहित होकर भी प्राणियों के हित के पक्षपाती थे। यद्यपि सूर्यकिरणें आपके शरीर को जलाती थी, आपका आत्मा तो अमृतकण की भाँति ही था। आप समता रस के भार से शिथिल हो रहे थे तथा योग धारणकर मृतकवत् निश्चेष्ट थे, उस समय शृगालों द्वारा आपका शरीर विदीर्ण किया गया था। आपने अर्ध तथा पूर्ण मासोपवास करके मोहज्वर को नाश किया था। आपने अर्ध तथा पूर्णसंयम प्रगटने से आप सर्वज्ञ बने थे। उस समय आपने मोक्षमार्ग का उपदेश दिया था। आपके समग्र उपदेश का सार यह है कि अन्तरंग की कषायों को क्षय करते हुए शक्ति अनुसार चारित्र धारण करें। ज्ञान-प्रधानचारित्र की महत्ता दिखाते हुए लिखा है कि सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है। साथ ही सम्यक्चारित्र रहित ज्ञान भी अहेतुवत् होता है। आपने परम यथाख्यात चारित्र को पाकर, कषाय तथा योग निरोध द्वारा, मनुष्य आयु के अंतिम क्षण को पूर्ण कर अग्नि की शिखा के समान उर्ध्वगति सिद्धावस्था को प्राप्त किया था। आप अनन्तचतुष्टय युक्त हैं।

वीर्य-शक्ति दर्शन-ज्ञान की तीक्ष्णता को तथा दर्शन-ज्ञान की तीक्ष्णता निराकुलता को और निराकुलता सुख को पैदा करती है। हे जिनेन्द्र ! आप ऐसे निराकुल-सुख से तन्मय हुए हैं। तृष्णा का अभाव, अखण्डित वीर्य, निर्बाधज्ञान इत्यादि जो सुख के कारण हैं, वे आप में विद्यमान हैं। आप संसार मार्ग से पृथक्, सिद्धदशा में स्थित तथा तीनों काल की पर्यायमाला सहित आत्मतत्व को देखते व जानते हैं। आप समस्त विश्व के अविभागी प्रतिच्छेदों को भी जानते हैं। आप प्रमाता व प्रमेय रूप से तन्मयी हैं, तथापि एकत्व को प्राप्त नहीं होते। परद्रव्य के प्रदेशों से द्रव्य प्रदेशवान् नहीं होता अपितु स्वप्रदेशों से प्रदेशवान् होता है। आपके अनन्तदर्शन व ज्ञान में लोकालोक झलकते हैं, यही उनके प्रति आपका उपकार है। आप दर्शन-ज्ञानमयी मूर्ति होकर भी नाना ज्ञेयों के अपेक्षा नानारूप भी हैं। आप सदा स्वभाव सीमा में मग्न रहते हैं। त्रिकालवर्ती अखिल-विश्व के ज्ञाता आपके ज्ञान में अनन्त विश्वों को जानने की सामर्थ्य है। आपकी सामर्थ्य अप्रतिहत है। मैं जगत् के परिभ्रमण से थक चुका हूँ, अतः प्राणपण से आपकी शरण लेता हूँ। मुझे अन्य विवादों से कोई प्रयोजन नहीं है।

दशम अध्याय में शुद्धनय की दृष्टि से जिनेन्द्र का स्मरण किया है। शुद्धनय में समस्त नय गर्भित हैं। अनन्तचतुष्टययुक्त चैतन्य चमत्कार मात्र आपका स्वरूप है। आपका चैतन्य रस प्रवाह किसी से रोका नहीं जा सकता। आपका निर्मल तेज उत्तरोत्तर उछलता है। आपकी चैतन्य महिमा में समस्त विश्व डूबा सा लगता है। आपका स्वभाव रस, विभाव परणति से भिन्न है। उसमें विकल्प जाल नहीं है। आपकी दृष्टि स्वभाव से प्रतिबद्ध है। आप सिद्धालय पाने वाले हैं। आपका ज्ञान सर्वतः सुशोभित है। आपकी अनुभूति अखण्डित है। अनादि काल से उत्पाद-व्यय करते हुए भी आप आत्मतेज को नहीं छोड़ते। आपकी चैतन्य-शक्ति के विकास से, सुगंध फैल रही है। आप नमक की डली की भाँति एक ज्ञायकस्वभाव तथा स्वानुभव से परिपूर्ण हैं। बर्फपिण्ड की तरह आत्मरस से परिपूर्ण हैं। आप अपार बोधामृत सागर होकर भी स्व के पारदर्शी हैं। आपके स्वानुभव में ज्ञान का सार समाया है। आपका स्वभाव अनुभवमय है। आप कारकमय होकर भी कारकों के चक्रों से पार हैं। आप काल से कलंकित नहीं होते। आप एक स्वभावी, ज्ञानमात्र हैं। आप में मिश्रण भी नहीं तथा शून्यता भी नहीं है। आप भावरूप तथा चैतन्य स्वरूप हैं। मैं भी चिद्भाव रूपता को धारण करता हूँ।

एकादश अध्याय में भी शुद्धनय की दृष्टि से कथन किया है। प्रारंभ में लिखा है कि हे जिनेन्द्र आपने मिथ्यात्वरूप रात्रि को नाश किया है तथा चैतन्यद्वारों से पाप नष्ट होते हैं, ऐसा उपदेश दिया है। सम्यग्ज्ञान रूप अग्नि समस्त विश्व को चाहती है, परन्तु आप उतना ही ज्ञेय उसे प्रदान करते हैं, जितने से आकुलता न हो। ज्ञानाग्नि कर्म रूप ईंधन को जलाती है तथा आत्मगुणों का पोषण करती है। आपका अनुपम वीर्य अनुभव में आता है। आप अनन्तबलयुक्त, अनन्तज्ञेयों को जानते हुए अंतर्लीन हैं। आपने समस्त पदार्थों को जान लिया है, अतः अब कुछ भी जानना बाकी नहीं रहा है। आप एकरूप तथा अनेकरूप हैं। आपका उपयोग साकार (ज्ञान) तथा अनाकार (दर्शन) रूप से दो प्रकार का है। आप में दर्शन, ज्ञान तथा अनंतबल सदा विद्यमान रहते हैं। आप निष्प्रमाद ज्ञाता-दृष्टा हैं। आपका दर्शन-ज्ञान अविनश्वर है। आप षट्कारक रूप हैं। आपका देखना जानना स्वभावतः है, पर ज्ञेयों के कारण नहीं है। आपके दर्शन व ज्ञान कभी भी आपसे पृथक् नहीं होते। आपने षट्कारक चक्र को अन्तर्गूढ़ किया है। दर्शन-ज्ञान की क्रिया से शोभित आप कर्ता, कर्म तथा करणरूप हैं। षट्कारकों को अंतर्गूढ़ करने में आपने निपुणता प्राप्त की है। आप निराकुल, अखंडित, अंतर्बाह्य ज्योति रूप है। आपके द्वारा कथित तत्त्व को धारण करने वाला एकांती नहीं होता। आप अनन्त शक्तियों से शोभायमान हैं। दीपक की अग्नि से व्याप्त बाती की नीति की तरह मैं आपसे तन्मय होता हूँ।

द्वादश अध्याय में भी उक्त शुद्धनय की दृष्टि से वर्णन किया है। जिनेन्द्र को नमस्कार करते हुए, उन्हें अनेकरूप होकर भी एकरूप ही सिद्ध किया। आकाश तथा कालगत पर्यायें भी जिनेन्द्र के ज्ञान को नष्ट नहीं कर सकती। वे स्वचतुष्ट्य रूप हैं, पर रूप नहीं है। सर्वज्ञ रूप से जाने जाते हैं। वे एक ज्ञान रूप होकर भी अनन्तज्ञान रूप परिणमते हैं। वे शुद्धनय के समुद्र हैं। हे जिनेन्द्र आपकी ज्ञानधारा क्रम को आक्रान्त करके, अक्रम से खींचती हुई, क्रम से खींची जा रही है। पर्याय क्रमभुवः (क्रमबद्ध) है। पर्यायापेक्षा आप अनेक रूप तथा द्रव्यापेक्षा एक रूप हैं। आपने अनन्त भूत, भविष्य तथा वर्तमान को धारण कर एकरूपता नहीं छोड़ी। आपकी गहराई तथा ऊँचाई अज्ञात है। अन्तर्बाह्य प्रकाश रूप, आप आक्षेप – परिहार (विधि-निषेध नीति से सुशोभित हैं। आप तद्-अतद् रूप स्वरूपसत्तावलम्बी, साधारण में असाधारणता धारण करने वाले हैं। आप ज्ञान शक्ति

द्वारा अनंतधर्मात्मक स्वभाव में अवगाहन करते हैं। अन्वयीगुण, व्यतिरेकी पर्याय परस्पर निमग्न होती हुई वाप में स्थित रहती हैं। आप प्रागभाव आदि चार प्रकार के अभावों की चर्चा की है। पर्यायतत्त्व को अनित्य तथा द्रव्यतत्त्व को नित्य बताते हुए जिनेन्द्र को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप लिखा है। आप भाव को अभावता तथा अभाव को भावता प्राप्त कराते हैं। आप हेतु तथा हेतुमान् भी हैं। सत्सामान्यापेक्षा आप न कार्यरूप हैं और न ही कारण रूप हैं, अपितु अखण्ड एक रूप हैं। आप परिपूर्ण होकर भी विभाव से खाली हैं, खाली होकर भी स्वाभाविक गुणों से परिपूर्ण हैं तथा पूर्ण होकर भी खाली व खाली होकर भी कुछ वृद्धि रूप (अर्थात् षड्गुणी हानि वृद्धिरूप) होते हैं। जिस प्रकार आप विज्ञानघन स्वभावी हैं, उसी प्रकार मैं भी बनूं।

त्रयोदश अध्याय में शुद्धनय की दृष्टि से दर्शन की सर्वोच्चता दिखाई है। आत्मा के संकोच-विस्तार स्वरूप का निरूपण किया है। स्तुतिकार लिखते हैं कि हे जिनेन्द्र आपका ज्ञानमयी दिव्य शरीर स्व-पर प्रकाशक है। आप आदि अंत रहित, त्रिकालवर्ती पर्यायों का समूह, चैतन्यचमत्कार मात्र हैं। उसके साथ ही सुख, वीर्य आदि शक्तियों का वेदन होता है। आप अनंतधर्मात्मक, उपयोगमयी हैं। चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता, क्योंकि परद्रव्य अन्यद्रव्य की शक्ति हरण नहीं कर सकता। आप स्व-पर प्रमेय के जानकार हैं। अचेतनपदार्थ का ज्ञान अचेतन से नहीं, चेतन से होता है। आत्मज्ञान में परज्ञेयों का ज्ञान सिद्ध होता है। पर के ज्ञान बिना निज का भी ज्ञान सच्चा नहीं होता। दर्शन गुण पर पदार्थों के ज्ञान से दूर रहता है। पूर्ण स्वाधीन आत्मा के सहकारी कारणों का अभाव है। ज्ञान ही स्व-पर प्रकाशक है। आत्मघाती, अज्ञानीजन ही परपदार्थों का स्पर्श करते हैं तथा उनसे सहकार की अपेक्षा करते हैं। आत्मा ज्ञेय-ज्ञायक के भेदवाला तथा अभेदरूप भी है। सूर्य के प्रकाश में जगत् प्रकाशित हो तो भले हो, परन्तु सूर्य को तो प्रकाशपने की इच्छा नहीं है, इसी तरह यदि जगत् स्वयं ही ज्ञेय बनता है तो बने, ज्ञान तो बिना इच्छा के ज्ञाता है। अज्ञानी ही पर प्रकाशन की इच्छा करते हैं। आपका स्वरूप सहज स्व-पर प्रकाशक है। निश्चय-व्यवहार रूप इस जगत् की स्थिति ह्रास को प्राप्त नहीं होती। आपकी चेतना सहज स्फुरित है, उसमें भेद परकृत होता है, जो आपको स्वीकार्य नहीं है। आप अनंतवीर्य, क्षायिक ज्ञान तथा वीतरागता सहित हैं। बहिरंग कारणों में निमित्त मात्र पना होता है, ऐसा वस्तु का निश्चित

नियम है। आपका केवलज्ञान सकल विश्व को व्याप्त करता है। उसकी एक कला मात्र प्राणी को अनुभूति कराती है। आत्मा स्व-पर प्रकाशक शक्ति वाला है।

चतुर्दश अध्याय में जिनेन्द्र के प्रत्येक गुण का अलग-अलग तथा एकसाथ निदर्शन कराया है। जिनेन्द्र सामान्यापेक्षा एक चैतन्यमात्र अभेद हैं, विशेषापेक्षा दर्शन-ज्ञान रूप भेद है। वे एकांतदृष्टियों को ज्ञानगोचर नहीं होते। उनकी प्ररूपणा आत्मा के स्वरूप समझने वालों के लिए है। आप पर्याय से उत्पन्न, द्रव्य से अनुत्पन्न हैं, समुदाय रूप से एक तथा अवयव रूप से अनेक हैं। आप नित्य-अनित्य तथा अनादि अनंत ज्ञान सागर रूप हैं। सामान्य ज्ञानदृष्टि से एक तथा विकल्पदृष्टि से अनेक हैं, परन्तु दोनों ही अवस्थाओं में अविभागी प्रतिच्छेदों से समान ही रहते हैं। आप वृद्धिगत होकर भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते, घटते हुए भी घटते नहीं और न ही घटते हैं, न बढ़ते हैं। वस्तु का स्वभाव परिणाममय है। स्वभाव में तर्क करना निरर्थक है। आपका प्रत्यक्ष स्वरूप अज्ञानी की प्रतीति से परे है। अज्ञानियों की दृष्टि पर पर पड़ी रहती है, जबकि आप निजमहिमा में लीन रहते हैं। स्व व पर के भेदज्ञान के लिए विधि-निषेध रूप पद्धति से निर्णय करना चाहिए। दर्शन गुण स्वयं प्रतिभासित होता है, उसे पर पदार्थों से प्रयोजन नहीं है। आप दृश्य पदार्थों से विरक्त तथा परपदार्थों के प्रकाशक हैं। हे जिनेन्द्र, दर्शन-ज्ञान की बिजलियाँ मानो चंदोवा रचतीं हैं, समस्त जगत् मानो आपके ज्ञानमुख में ग्रासीभूत होता है। सर्वज्ञदशा होने पर सर्वजगत् आपका प्रतिबिम्ब जैसा लगता है। आत्मा मात्र ज्ञायक है। उसके दर्शन-ज्ञान की क्रिया से संसार बीज नाश होता है। भेदज्ञानी क्रिया में नहीं रमता है। संसार के कारणों के नाश से मुक्ति होती है। आप मत्स्यावतार की भांति पुनः जन्म धारण नहीं करते। आपका समागम ही सुख है तथा वियोग ही दुःख है। वे धन्य हैं, जिनमें आप स्थित हैं। आप सकल परमात्मा हैं। आप में एकदेश संलग्न होने पर भी कषाय मल नहीं लगता।

पंचदश अध्याय में पूर्वोक्त विधिनिषेध पद्धति का ही स्पष्टीकरण प्रस्तुत है। आपका आश्चर्यकारी पद केवली के ज्ञानगम्य है। आपका रसास्वादी, गन्ने के स्वाद में अतृप्त बालक की तरह संतुष्ट नहीं होता। आपका ज्ञानास्त्र परपदार्थों पर पड़ते रहने से भोथला नहीं होता। आपके दर्शन रूप अस्त्र का पराक्रम लोकालोक में फैल रहा है। द्रव्य पर्याय बिना

तथा पर्याय द्रव्य बिना उदित नहीं होते। सूर्य व प्रकाश की भांति आश्रयी तथा आश्रय परस्पर आश्रित होते हैं। अस्ति नास्ति से तथा नास्ति अस्ति से बाधित होता है, परन्तु उभय पक्षों से वस्तुस्वरूप सिद्ध होता है। स्वचतुष्टयापेक्षा पदार्थ होते हैं, परापेक्षा नहीं। आपका महात्म्य वाच्य तथा अवाच्य उभयरूप है। वह क्रमशः वक्तव्य है तथा युगपत् अवक्तव्य है। इसी तरह एक-अनेक, अवयव-अवयवी, नित्य-अनित्य इत्यादि युगलों द्वारा जिनेन्द्र स्तुति की है। जिनेन्द्र के मत में अंतरंग तथा बहिरंग उभयकारणों को यथारूप स्वीकारा गया है। आपका ज्ञान स्वकारण से तथा उसमें भेद पर कारण से होता है। आपका उपयोग स्व-पर अवभासक है। स्व-पर को मणिमय दीपक की तरह आप प्रकाशित करते हैं। वस्तु का यह गौरव है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप नहीं होता। आपकी स्थिति स्वाश्रयी पराश्रयी उभय प्रकार की है। आप सर्वव्यापी होकर भी स्वसीमा में सीमित है। अपवाद (निषेध), तथा उत्सर्ग (विधि) से आपकी महिमा तत्-अतत् रूप हैं। निश्चय से आप गति रहित हैं, व्यवहार से गति युक्त हैं। पेले गये गन्ने से छलकते हुए रस की भांति आपकी विवेचना में आत्मरस फूट पूर छलकता है। आपके चरणकमल पाकर मेरी मोह रूप रात्रि समाप्त हो गई है। आप मुझे अपनी गोद में स्थित कीजिये।

षोड़श अध्याय में मंगलाचरण करते हुए स्तुतिकार लिखते हैं कि हे जिनेन्द्र आप अनंतज्ञान रूप अमृतरस के प्रदाता हैं। शांतरस के कलशों से धुलने से आपका कषायरूप रंग निकल गया है। ज्ञानशस्त्र से कषायों का नाशकर आपने आत्मशक्तियों को विकसित किया है। अंनतभवरूपी गम्भीर गर्त से निर्मल ज्ञान का प्रवाह बहता है। आप में सीमातीत गम्भीरता तथा उदारता है। आप अनंतज्ञान से पूर्ण, परिमित प्रदेशी तथा वैभवयुक्त हैं। स्वभाव के आश्रय के कारण नष्ट नहीं होते। आपके ज्ञान में सर्वज्ञेय प्रतिबिम्बित तथा मत्स्यसमूह की भांति तैरते प्रतीत होते हैं। आपमें ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध होने पर भी शंकर दोष नहीं है। भेदाभेद रूप आत्मा अनुभवगम्य है। आप अनेक तथा एक स्वभाव का अनुभव करते हुए अनंत शक्तियों के कारण अनंत है। अनंत भावरूप परिणमन के साथ आपका वैभव प्रगट होता है। आपका ज्ञान समस्त गुणपर्यायों सहित परद्रव्यों को पी सा रहा है। आपका ज्ञानास्त्र तीक्ष्ण है तथा आप ज्ञान लक्ष्मी से सुशोभित हैं। चराचर को चैतन्यभाव रूप कराता हुआ आपका ज्ञान है, उसमें वह ज्ञान भावलक्ष्मी से सुशोभित है। चराचर को चैतन्यभाव

रूप कराता हुआ आपका ज्ञान है, उसमें वह ज्ञान भावलक्ष्मी से सुशोभित है। चराचर को चैतन्यभावरूप कराता हुआ आपका ज्ञान है, उसमें वह भिन्नता की प्रतीति कराता है। प्रकाशहीन जगत् आपके ज्ञानप्रकाश से प्रकाशित है। आपका ज्ञान विश्व को जानकर भी विश्वरूप नहीं होता। आपकी समस्त शक्तियां आत्मरस से सिंचित हैं। यद्यपि परमागम त्रिकाल व त्रिलोक का प्रकाशक है, तथापि आपके केवलज्ञान के समक्ष वह जुगनुवत् ही है। हे जिनेन्द्र मेरा श्रुतज्ञान शीघ्र ही केवलज्ञानरूप बने।

सप्तदश अध्याय में स्यात् पद और उसके प्रतिपाद्य की चर्चा की है। विधि-निषेधरूप द्रव्यों का स्वरूप स्यात् पद द्वारा ही प्रतिपाद्य होता है। शब्द आत्मा की त्रिकाली दशाओं का प्रतिपादन नहीं कर सकते। नास्ति पक्ष की निरूपण की असमर्थता को स्यात्पद के प्रयोग द्वारा दूर करते हैं। शब्द विधि पक्ष को मधुररूप में तथा निषेध पक्ष को कटुकरूप में व्यक्त करते हैं। शब्दों तथा वस्तु में वाच्य-वाचक की भिन्नता बनी रहती है। शब्द अर्थरूपता को धारण नहीं कर सकते, क्योंकि घट शब्द व घट अर्थ में भेदपना है, अभेदपना नहीं। जगत् को सत् रूप कहकर समस्त वस्तुओं को प्रकट नहीं किया जा सकता, क्योंकि सत् को स्वयं असत् की अपेक्षा होती है। अस्ति की आत्मानुभूति पर की नास्ति पूर्वक ही होती है। तथा नास्ति की अनुभूति अस्ति पूर्वक होती है। जगत् में स्व-पर का विभाग है, अतः एक पक्ष के कथन में दूसरा पक्ष छूट जाता है। एकांत रूप से जगत् को सत् या असत् कहना नहीं बनता, क्योंकि वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं। वस्तु में भाव व अभाव तथा अस्ति में नास्ति ध्वनित है। इसी तरह नास्ति में अस्ति ध्वनित है। विधि पक्ष प्रगट करने पर निषेध पक्ष भी प्रगट होता है। स्यात् पद में द्विधा निरूपक शक्ति है। शब्द की द्वैधता स्यात् पद से प्रगट होती है। एक पद से दो पक्ष व्यक्त हो सकते तो स्यात् पद की जरूरत न होती। उभय पक्षों की प्रगटता स्याद्वाद से ही होती है। विवक्षित कथन मुख्य तथा अविविक्षित गौण होता है। स्यात्कार बिना पदार्थों की अनंतता तथा विधि अपेक्षा बिना मर्यादा व्यक्त करना सम्भव नहीं है। विधि निषेध में भी परस्पर मैत्री है, अतः स्याद्वाद के माध्यम से ही निजात्मा के स्वरूप की भेरी बजाओ।

अष्टादश अध्याय में भी द्रव्य के द्वैत स्वभाव की चर्चा की है। केवलज्ञान ज्योति को स्मरण करते हुए एकत्व अनेकत्व, सामान्य विशेष, एकरूप अनेकरूप, एक अनेक में परस्पर सम्बन्ध, नित्यानित्यता, द्रव्य-पर्याय

की अभिन्नता, भाव-अभाव तथा उनमे परस्पर सापेक्षपना, द्रव्य का वाच्यना तथा अवाच्यपना, उनमें भी सापेक्षता, जिनेन्द्र का वाच्य अवाच्य स्वरूप, शुद्धभाव कारण समूह में तथा कारक समूह शुद्ध भाव में लीन होना, कार्य व कारणपने की द्विरूपता इत्यादि का विवेचन किया है। आगे कहा कि लोग ज्ञान में निमित्त रूप ज्ञाद्य पदार्थों को ज्ञाता हेतु रूप से कहते हैं तो कहते रहें, परन्तु बाह्य हेतु कदापि अन्तरंग हेतु नहीं हो सकता। वास्तव में जिनेन्द्र ने अपने स्वयं उपादान कारण से विश्वव्यापी विज्ञानघन स्वभाव प्रगटाया है। व्यवहार से कर्ता-कर्म भिन्न कहे जाते हैं परमार्थ से वे भिन्न नहीं है। आप स्वतः आधार एवं आधेय हैं। ज्ञाता-ज्ञेय तथा वाचक-वाच्य दोनों में भिन्नता है। आप भविष्यत् अपेक्षा सिद्ध थे, वर्तमान में भी सिद्ध हैं तथा भूतकाल में आपके रागदशा थी, जो वर्तमान में वीतराग रूप हो चुकी है। आप एक रहकर पुनः पुनः उत्पन्न होते हैं, तथापि वह अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं है। आप विज्ञानघनस्वभाव एक रूप हैं तथा दर्शन ज्ञानादि अपेक्षा अनेक रूप हैं। हे जिनेन्द्र आप विरुद्धधर्म संयुक्त वैभव वाले हैं। स्वतत्त्व का आराधक आप में प्रवेश पाता है।

एकोनविंश अध्याय में भी उपर्युक्त द्वैत स्वभाव की चर्चा है। जिनेन्द्र पराश्रय, शून्य,संकर दोष आदि से रहित हैं। आत्मपरायण हैं, चैतन्य युक्त, पुद्गलभिन्न हैं तथा आत्मानन्द में रमण करने वाले हैं। आप निजभाव से परिपूर्ण, एक - सामान्य रूप हैं। ध्रुव, नित्य विशेषण युक्त हैं। आप कभी अभाव रूपता को नहीं धारण करते। आपके विशेषण पर से भिन्न, स्व से अभिन्न हैं। आत्मगुणों की भावना से स्वानुभूति प्रगटती है। व्यवहार से कारक भेद आप में हैं, निश्चय से नहीं हैं। कारण से कार्य होता है। कर्ता-कर्म की कल्पना कलंक है। आप चैतन्य, त्रैकालिक, स्व-पर प्रकाशक, ज्ञानरूप, अशुद्धि रहित, भ्रम रहित, विभामय, निराकुल, आश्चर्यकारी तेजयुक्त, विधिनिषेध स्वभाव मय तथा अपनी विभा से दशों-दिशाओं कृत तथा काल कृत भेद को मिटाने वाले हैं। आपका ज्ञान स्वाधीन है। आपको जानने का प्रयास करने वाला स्व-पर ज्ञानी होता है। मैं भी मध्यस्थ होकर अपनी विभा का अनुभव तब तक करता हूँ जब तक पूर्ण ज्ञान ज्योति नहीं प्रगटती।

विंश अध्याय में प्रमुखतः एकांतवादी बौद्धमत की आलोचना प्रस्तुत की है। वे लिखते है कि सर्वथा एकांतवाद की वाणी स्यात् पद लगाने से एकान्त विष का वमन होकर सत्यामृत रूप बन जाती है। संग्रहनय से

चिन्मात्र तथा ऋजुसूत्रनय से अग्निशिखावत् प्रकाशमान हैं। ऋजुसूत्र नय से ज्ञान के अनन्तांशों में एक अंश ही ग्राह्य होता है। साथ ही एक पर्याय मात्र विषय होने से पर्याय परम्परा भी नहीं बनती। आप में विचित्राकृतियों रूप परिणमन होता है। ज्ञान में ज्ञेय स्वयं प्रतिबिम्बित होते हैं, तभी तो उनकी भी सत्ता स्वयं सिद्ध होती है। आपका ज्ञान समस्त जगत् को व्याप्त करता है। आपका पर में, पर का आप में अभाव है किन्तु मन्द बुद्धियों को यह समझ में नहीं आता। पर द्रव्य आपत्तिकारक होने से उसे छोड़ा है, यही आपका अपोहवाद है, जो ज्ञानियों को भ्रमनाशक है। परस्पर अपोहवाद से आप गत, सुगत और तथागत भासित होते हैं। शून्यतावादी बौद्धमत में क्या, कहाँ, किससे प्रतिभासित है इत्यादि कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं। उक्त कल्पनाएँ निर्णायक के अभाव में कौन निर्णय करेगा? शून्यवाद से पदार्थों का अभाव सिद्ध होगा अतः उक्त सिद्धान्त स्वयं खण्डित है। अन्त में कल्पना रहित निर्विकल्परूप शून्य में लीन होने की स्तुतिकार ने भावना की है।

एकविंश अध्याय में न्याय तथा वैशेषिक मतों की आलोचना है। गुणस्थान आरोहण तथा आत्मशक्तियों का प्रकट होना जिनेन्द्र में पाया जाता है। एक-अनेक, विशेषण-विशेष्य, वर्तना-वृत्तिमान, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, पृथकत्व-अपृथकत्व-सत् असत् सामान्य-विशेष आदि का विस्तृत स्पष्टीकरण है। भाव-अभावरूपता, उनकी सापेक्षता तथा आपके मत में वस्तु का नाश न होना इत्यादि पर प्रकाश डाला है तथा अन्त में आप मेरे में प्रवेश करें अर्थात् मैं भी आप समान बनूँ ऐसी भावना भाई है।

अन्तिम चार अध्यायों में ज्ञान दर्शन के आधार पर ही दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाया है। प्रायः उपर्युक्त विषय ही विभिन्न अलंकारों तथा शब्दविन्यासों द्वारा पुनरुक्त हुए हैं। अनन्त सुख स्वरूप, ज्ञेय-ज्ञान, अखंडता-खण्डपना, भेद-अभेद आदि युगलों की चर्चा की गई है। केवलज्ञान की महिमा के साथ द्वाविंश अध्याय समाप्त किया।

त्रयोविंश अध्याय में पूर्ववत् गुणों का स्मरण विभिन्न विकल्पों द्वारा किया है तथा अनन्त-चतुष्टय प्रगट हो ऐसी भावना की है।

चतुर्विंश अध्याय में लिखा है कि भाग्यहीन प्राणी आपके स्वरूप का ध्यान नहीं कर सकता। आपका स्वरूपामृत पीकर कौन आनन्द में मत्त नहीं होता? आपकी शक्ति महान् है, अतः केवलज्ञान सागर को आपने मथा है। चेतना व चैतन्य में कथंचित् भेदाभेदपना है। उत्पाद-व्यय, अस्ति-नास्ति युक्त आपका ध्रुव स्वभाव है

आप चितिपिंड हैं। तीनों लोक मानो आपकी चैतन्यता का एक पत्ता है। आपकी चैतन्य चान्दनीरूप सागर में मानो तीनों लोक डूब रहे हैं। पूर्व पर्याय, अपर पर्याय को नहीं स्पर्शती। आप नित्य होकर भी परिवर्तनशील हैं। आप अमृतस्रोत, परमतृप्त, आत्मतेजयुक्त तथा स्वस्थ हैं। आपकी महिमा से हमारे विकारी भावप्राण नाश हो रहे हैं। आपकी महिमा अवर्णनीय है। मैं आपके केवलज्ञान जल में स्नानकर, आलस्य रहित, आत्मलीन होता हूँ।

पंचविंश अन्तिम अध्याय में कर्म तथा ज्ञान का समुच्चय रूप से वर्णन है। आप सर्वोदय की अवस्था को प्राप्त हैं। आपने संयम से असंयम को नाशकर कर्मों को निराकृत कर विज्ञानघन स्वरूप को प्रगट किया है। आप आत्मगरिमा तथा आत्मव्यापार युक्त हैं। आप अन्तर्बाह्य संयम के धारी हैं। आपका आत्मा परमार्थ रसिक और सर्वदर्शी है। निपुण पुरुष क्रमशः क्रियाओं से विरक्त होकर ज्ञानस्थ होते हैं। आपने कर्म व ज्ञान के सुयोग को धारण किया है। जो भाग्यवान् जिनागम का अध्ययन करते हैं, वे संयमामृत से ज्ञानभूमि को सिंचित कर अपने लक्ष्य को पा लेते हैं। आपके अनुभव में मत्त होकर भी साधक प्रमत्त नहीं होता। सम्यग्ज्ञान से ही बाह्य वस्तु का भी यथार्थज्ञान होता है। जो क्षणभर को भी रागादि-रूप या कर्तारूप होता है। वह समस्त कर्म कालिमा को नष्ट नहीं कर पाता। आपमें समस्त भावरूप रस पीने से निर्मलज्ञान की विशेषताएँ छलक उठी हैं। ऐसा भगवान आत्मा चैतन्य सागर तथा आश्चर्यों का भण्डार है। मेरे उत्कृष्ट संयम का पुटपाक ज्ञानाग्नि में सम्पन्न हो तथा स्वाभाव लक्ष्मी प्रगटे ऐसी भावना स्तुतिकार करते हैं। वे लिखते हैं कि इस स्तुतिरूप रस को अमृतचन्द्र कवीन्द्र ने अनेक बार पिया है। ग्रन्थान्त करते हुए लिखा है कि स्याद्वाद के मार्ग में, स्व-पर के विचार में, ज्ञान व क्रिया के अतिशयपूर्ण वैभव को विशिष्ट ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक अल्पज्ञजनों के लिए मेरी यह रचना दिशा प्रदर्शन करनेवाली है। इस तरह अमृतचन्द्रसूरि की यह "शक्तिमणित् कोश अपरनाम लघुतत्त्वस्फोट नामक कृति समाप्त हुई। इस तरह अध्यात्म तथा भक्ति की धाराओं के साथ दार्शनिक ज्ञान धारा का सम्मिलन करके अमृतचन्द्र ने इस रचना द्वारा जिनेन्द्र की स्तुति के नाम पर अपूर्व त्रिवेणी प्रवाहित की है। समग्र कृति में जैनदर्शन के गूढ़तम सिद्धान्तों तथा आध्यात्मिक रहस्यों का भली-भांति प्रस्फुटन हुआ है; अतः उक्त कृति का नाम "लघुतत्त्वस्फोट" सार्थक हो गया है।

पाठानुसंधान :-

"लघुत्वस्फोट" की उपलब्ध एकमात्र ताड़पत्रीय प्रति में बहुत कम शाब्दिक एवं लिपि विषयक त्रुटियां थीं, जिन्हें प्रथम अंग्रेजी संस्करण के सम्पादक डॉ. पद्मनाम जैनी (प्रोफेसर विश्वविद्यालय, केलीफोनिया, यू. एस. ए.) ने संशोधित कर दिया है। पश्चात् डॉ. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य ने इसका द्वितीय बार हिन्दी में सम्पादन किया है 'जो दि. जैन. वर्णी संस्थान वाराणसी से प्रकाशित हुआ है। अतः उक्त उपलब्ध दोनों ही प्रकाशन पाठानुसंधान की दृष्टि से पूर्णतः शुद्ध हैं।

परम्परा :-

अपने अन्य ग्रन्थों की भांति अमृतचन्द्र ने इस ग्रन्थ में भी मुख्यतः जिनस्तुति परक चरणानुयोग तथा करणानुयोग विषयक अध्यात्मरस का निर्झर प्रवाहित किया है। इस प्रकार इस कृति में जैन-स्तोत्रकाव्य परम्परा का ही निर्वाह हुआ है।

प्रणाली :-

स्तुति काव्यों की निरूपण प्रणाली वर्णनात्मक तथा तार्किक रही है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी इसमें उक्त प्रणाली का ही प्रयोग किया है। ग्रंथ में आद्यन्त दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा तार्किक शैली के पद-पद पर दर्शन होते हैं।

ग्रन्थवैशिष्ट्य :-

इसमें प्रथम तो दार्शनिक स्पर्धा युग की क्लिष्ट व तात्त्विक काव्य शैली प्रयुक्त है। दूसरे जैनदर्शन के गूढ़तम रहस्यों का मात्र विद्वज्जनग्राह्य मंथन है। तीसरे अनेकांत स्याद्वाद तथा नयों का विशद स्पष्टीकरण हुआ है।

प्रकाशन :-

अब तक उक्त नवोदित कृति के केवल दो ही संस्करण प्रकाशित हुए हैं, जो इसप्रकार हैं –

१. ल. त. स्फोट, सं. डा. पद्मनाम जैनी यू. एस. ए, प्रकाशक एल. डी. इंस्टीट्यूट अहमदाबाद, सन् १९७८, अंग्रेजी ५०० प्रतियां, प्रथम संस्करण।

२. ल. त. स्फोट. सं. डा. पं. पन्नालाल जैन, सागर म. प्र., प्रकाशक वर्णी दि. जैन संस्थापक वाराणसी, सन् १९८१, हिन्दी, १००० प्रतियां, प्रथम सं.।

अन्य चर्चित कृतियाँ

आचार्य अमृतचन्द्र के नाम पर कुछ अन्य कृतियों की चर्चा क्वचित् कदाचित् मिलती है। ऐसी चर्चित कृतियों में "षट्पाहुड़ पर संस्कृत टीका, श्रावकाचार (प्राकृत), पंचाध्यायी, ढाढसी गाथा के नाम विचारणीय हैं।

षट्पाहुड़ टीका :-

"षट्पाहुड़" नामक प्राकृत भाषा में गाथाबद्धरूप में लिखित एक रचना है, जो आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की कृति है। उस पर श्रुतसागरसूरि की १६वीं सदी में लिखी गई संस्कृत टीका तथा पं. जयचन्दजी कृत हिन्दी (ढूढारी) में भाषा वचनिका उपलब्ध होती है। प्रोफेसर विन्टरनिट्ज[1] ने उक्त ग्रन्थ का परिचय कराते हुए फुटनोट में श्रुतसागर सूरि के साथ अमृतचन्द्रसूरि को भी षट्पाहुड का संस्कृत टीकाकार लिखा है, जिसका आधार उन्होंने पीटर्सन रिपोर्ट जिल्द २ पृ. ८० तथा १५० बताया है। प्रो. विन्टरनिटज के उल्लेख के अनुसार डॉ. मोहनलाल एवं प्रो. हीरालाल र. कापड़िया[2] ने भी अमृतचन्द्र द्वारा षट्पाहुड पर टीका लिखे जाने की सम्भावना का उल्लेख किया है, परन्तु उक्त सम्भावनाएँ निराधार हैं। आचार्य अमृतचन्द्र कृत कृतियों में आज तक ऐसी कोई रचना प्रकाश में नहीं आई है, और न ही जैनदर्शन के विख्यात आचार्यों तथा विद्वानों ने इसका कहीं पर उल्लेख ही किया है। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने भी इस प्रकार की कृति के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता ही प्रगट की है।[3] अतः उक्त सम्बन्ध में जब तक कोई ठोस प्रमाण या तथोक्त टीका उपलब्ध नहीं होती तब उक्त टीका को अमृतचन्द्र के साथ प्रसिद्ध करना निराधार तथा अनुचित है।

श्रावकाचार (प्राकृत) :-

ऐसी एक विद्वान[4] की मान्यता है कि अमृतचन्द्र ने कोई श्रावकाचार नामक प्राकृत में ग्रन्थ लिखा होगा, कारण कि वे प्राकृत गाथाओं के टीकाकार थे। दूसरे समयसार की टीका में एक प्राकृत गाथा भी उद्धृत है। मेघविजय ने उक्त गाथा को अमृतचन्द्र कृत माना है। तीसरे एक गाथा "ढाढसी गाथा" में भी अवतरित है, जो अमृतचन्द्रकृत होनी चाहिए। इस प्रकार के सभी तर्क दिये हैं, परन्तु श्रावकाचार जैसी कोई कृति आज तक उपलब्ध नहीं हुई, जिसे अमृतचन्द्र कृत माना जा सके। दूसरे श्रावकाचार विषयक ग्रन्थ की रचना संस्कृत पद्यों में "पुरुषार्थसिद्धयुपाय" नाम से करने के बाद पुनः प्राकृत में रचना करना कोई प्रयोजनभूत बात नहीं

---

१. History of Indian Literature, Vol – II, Page 577 (Footnote)
२. जैन साहित्य का वृहद्इतिहास – भाग ४ पृ. १५६।
३. Pravachanasara – Preface Page 36 (Footnote Edited by A. N. Upadhye, Edn. II, 1935
४. Pravacanasara Preface Page 95 Edited by A. N. Upadhye.

जचती। उपर्युक्त कथन मात्र निराधार अनुमान हैं अतः उक्त श्रावकाचार नामक प्राकृत रचना अमृतचन्द्र ने की है, यह मान्यता भी निराधार ही है।

ढाढसी गाथा :-

मेघविजयजी ने[1] एक प्राकृत गाथा ढाढसीगाथा में उद्धृत देखकर, उसे अमृतचन्द्रकृत मानकर, सम्पूर्ण ग्रन्थ को ही अमृतचन्द की रचना मान लिया है, जो मात्र कल्पना ही है। ढाढसीगाथा नामक लघुकृति का एक संस्करण माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला की १३वीं जिल्द के रूप में निकल चुका है।[3] परन्तु उसमें लेखक के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं दी गई है। प. नाथूराम प्रेमी ने उक्त ग्रन्थ को कोई काष्ठासंघी आचार्य की कृति अनुमानित किया है, क्योंकि ऐसा ग्रन्थ में आगत "कट्ठो वि मूलसंघो" (काष्ठासंघ भी मूलसंघ है) पदों पर से प्रतीत होता है।

पंचाध्यायी :-

उक्त ग्रन्थ का सर्वप्रथम प्रकाशन पं. मक्खनलाल शास्त्री कृत भाषाटीका का किया गया। भाषाटीकाकार ने इसे आचार्य अमृतचन्द्रसूरि की रचना माना है। टीकाकार ने पंचाध्यायी को अमृतचन्द्र कृत घोषित तो किया है, परन्तु उसके लिए कोई ठोस प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये। दूसरी ओर प्रसिद्ध साहित्यकार पं जुगलकिशोरजी ने अपने एक लेख[2] द्वारा ठोस प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उक्त ग्रन्थ अमृतचन्द्रसूरि कृत नहीं है। उसके रचयिता लाटीसंहिता के कर्ता तथा समयसारकलश के भाषाटीकाकार महाकवि पं. राजमल पाण्डे हैं। उक्त रचना के सम्बन्ध में कुछ तर्क एवं प्रमाण इस प्रकार हैं :-

प्रथम तो पंचाध्यायी में अध्याय दो, श्लोक नं ४६६ के बाद "संवेगो..... जिव्वेगो....." इत्यादि गाथा "उक्तं च" रूप में उद्धृत की गई है, जो वसुनंदिश्रावकाचार की ४९वीं गाथा है। वसुनंदि का समय विक्रम की १२वीं सदी है, जो अमृतचन्द्र से काफी बाद हुए हैं; अतः उक्त गाथा का उद्धरण वसुनंदि के पश्चाद्वर्ती पं. राजमल्ल द्वारा दिया जाना सम्भव है, उनके पूर्ववर्ती अमृतचन्द्र द्वारा सम्भव नहीं है। उक्त गाथा को प्रक्षिप्त भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उसके सन्दर्भ में अग्रिम श्लोक ४६७ वें की रचना की गई है जिसमें "उक्त गाथार्थसूत्रेऽपि प्रशमादि-चतुष्टयम्" इत्यादि कथन द्वारा गाथा को सन्दर्भित किया गया है। अतः

---

1. Pravaxhanasara Preface 95 Edited by A. N. Upadhye.
2. Ibid – Page 95 तथा पुरातन जैन वाक्यसूची – पृ. १०४ (प्रस्तावना).

स्पष्ट है कि पंचाध्यायी अमृतचन्द्र की रचना नहीं है, अपितु पं. राजमल्ल की ही है।[1]

दूसरे – पं. राजमल्ल ने उक्त ग्रन्थ में पुरुषार्थसिद्धयुपाय का "येनांशेन सुदृष्टि·····" नामक पद्य "उक्तं च" लिखकर उद्धृत किया है।[2] इससे स्पष्ट है कि यदि उक्त ग्रन्थ अमृतचन्द्र की कृति होती तो वे स्वयं ही अपनी कृति में अपने दूसरे ग्रन्थ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के उक्त ११२वें श्लोक को "उक्तं च" रूप में कैसे उद्धृत करते, अतः यह उद्धरण पं. राजमल्ल द्वारा ही उदाहृत किया गया प्रतीत होता है। इससे पंचाध्यायी भी उनकी ही रचना सिद्ध होती है।

तीसरे – पंचाध्यायी तथा लाटी संहिता में परस्पर तुलना करने से ज्ञात होता है कि दोनों रचनाओं की कथन शैली, लेखनप्रणाली, रचनापद्धति एक जैसी है, ऊहापोह का ढंग, पदविन्यास और साहित्य में भी दोनों में समानता है। दोनों में किञ्च, ननु, अथ, अपि, अर्थात्, अयमर्थः, अयंभावः, एवं, नैवं, मैवं, नोह्यं, न चाशङ्क्यं, चेत्, नोचेत्, यतः, ततः, अत्र, तत्र, तद्यथा इत्यादि शब्दों का प्रचुर प्रयोग समान रूप से पाया जाता है। दोनों ग्रन्थों की लेखनी एवं शैली से प्रतीत होता है कि दोनों रचनाएँ एक ही कर्ता की हैं।

चौथे – लाटीसंहिता व पंचाध्यायी दोनों के श्लोकों में भी समानता पाई जाती है। उदाहरण के लिए पंचाध्यायी के द्वितीय अध्याय के ३७२ से ३९९ तक के पद्य लाटीसंहिता के तीसरे सर्ग के २७वें श्लोक से ५४वें तक समान हैं। इसी तरह पंचाध्यायी के ४१० से ४३४ तक के पद्य लाटीसंहिता के ५५ से ७९ तक के पद्यों में साम्य पाया जाता है। अन्य पद्यों में पंचाध्यायी के ४३५, ४३६, ४३९ से ४७६ तक तथा लाटी संहिता के क्रमशः ८०, ८१, ८२ से ११९ तक के पद्यों में समानता है। इसी तरह अन्य कितने ही पद्य साम्य प्रदर्शित करते हैं। इससे दोनों कृतियों के कर्तृत्व में भी एकत्व अथवा अभेदपना स्पष्ट होता है।

पांचवें – पंचाध्यायी के प्रारम्भिक चार मंगलाचरण विषयक पद्य तथा लाटीसंहिता के प्रारम्भ के ६ मंगलपद्यों में भावसाम्य पाया जाता है।

छठवें – पं. जुगलकिशोर के लेख द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों एवं परीक्षण के बाद प्रायः अधिकांश विद्वानों ने एकमतेन पंचाध्यायी को पं. राजमल्ल की कृति माना है, अमृतचन्द्र की नहीं।

---

१. "वीर" पत्र वर्ष ३, अंक १२, १३।

२. पंचाध्यायी अंक २, श्लोक नं. ७७१ के बाद।

पञ्चम अध्याय

साहित्यिक मूल्यांकन

आचार्य अमृतचन्द्र के व्यापक व्यक्तित्व का विहंगामावलोकन करने के बाद उनकी कृतियों का साहित्यिक मूल्यांकन करने के लिए उनके साहित्य में उपलब्ध विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डाला जा रहा है। उनमें भाषा, शैली, अलंकार आदि बिन्दुओं का अवलोकन करना आवश्यक है।

भाषा :-

आचार्य अमृतचन्द्र संस्कृत तथा प्राकृत भाषा के निष्णात, अधिकारी विद्वान् थे। संस्कृत पर तो उनका असाधारण प्रभुत्व था। उनकी लेखनी के इशारे और सहारे पर संस्कृत वाङ्मय की गद्यसरिता अनेक वैशिष्ट्य रूप तरंगों के साथ उद्वेलित हो उठती थी। पद्यरूप कामिनी अपनी समस्त कलाओं के साथ नृत्य करने तैयार रहती थी। गद्यरूप भाषा प्रवाह निर्झर की भांति प्रवाहित होती हुआ तथा पद्यमयी भाषा अध्यात्म रस के फुव्वारों की तरह प्रवाहित होती हुई अध्यात्म एवं साहित्य रसिकों का मनमोह लेती है। पाठक उनकी भाषा में अपूर्व मिठास, सहज आकर्षण तथा गम्भीर ज्ञान भरा पाते हैं। संस्कृत भाषा प्रायः तीन रूपों में प्रकट होती है। वे तीन रूप है गद्य, पद्य तथा चम्पू (मिश्र)। टीकाओं में उन्होंने उक्त तीनों साहित्य रूपों का प्रयोग किया है, जबकि मौलिक रचनाओं में केवल पद्यरूप में ही अभिव्यक्ति हुई है। आत्मख्याति, तत्त्वदीपिका तथा समय-व्याख्या टीकाओं में गद्यरूप भाषा-प्रौढ़ता देखते ही बनती है। समयसार-कलश, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, तत्त्वार्थसार तथा लघुतत्त्वस्फोट इन रचनाओं में परिष्कृत पद्यरूप का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध है। आत्मख्याति कलशयुक्त टीका में चम्पू या मिश्रभाषा रूप के दर्शन होते हैं। उनके विशाल, निर्दोष गद्य – गगन में पद्यरूप सितारों की झिलमिलाहट साहित्यरसिकों का हृदय प्रफुल्लित करती है, सहृदयजनों का मन मोह लेती है। उनकी कविता कामिनी कभी सीधे सादे, सहज वेश में प्रकट होती है, तो कभी छन्द, रस एवं अलंकारों से अलंकृत होकर पाठकों को

आश्चर्यान्वित करती है। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आर्या छन्दों में तथा तत्त्वार्थसार अनुष्टुप छन्दों में सहज - सुगम रूप के उदाहरण हैं। समयसारकलश तथा कृत्रिमता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। आत्मख्यातिकलशयुक्त-टीका का तो गंगा-यमुना के संगम की भांति अनुभव किया जा सकता है, जिसमें अवगाहन करके पाठक अभूतपूर्व सन्तुष्टि तथा परमानन्द का अनुभव करता है।

संस्कृत भाषा पर अमृतचन्द्र का आधिपत्य है। दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने तथा गूढ़ रहस्यों को उद्घाटित करने की क्षमता उनकी गद्य तथा पद्य मयी दोनों प्रकार की भाषाओं में है। जहाँ एक ओर वे सरल, सुगम, सुबोध, सोदाहरण तथा बालबुद्धिगम्य भाषा के प्रयोग में सिद्धहस्त हैं, वहीं दूसरी ओर वे क्लिष्ट, दुर्गम, सामासिक एवं तर्कप्रधान भाषा के प्रयोग द्वारा विद्वज्जनों के गर्व को खर्व करने में भी समर्थ हैं। इसप्रकार उनकी भाषा प्रौढ़ता, भावोत्कर्ष, रसोत्कर्ष, अर्थगांभीर्य आदि विशेषताएँ उनके उच्चकोटि के साहित्य के प्रमाण हैं।

उनकी आत्मख्याति टीका तत्त्वज्ञान की गम्भीरता तथा आध्यात्मिक रसोत्कर्ष का ज्वलंत उदाहरण है। आचार्य कुन्दकुन्द को अभिप्रेत आत्म-तत्त्व के सूक्ष्म विश्लेषण एवं निदर्शन कराने में उनकी अर्थवाही-भावप्रवण भाषा समर्थ सिद्ध हुई है। आत्मतत्त्व का साक्षाकार कराने में अमृतचन्द्र ने कोई कसर नहीं उठा रखी है। उनकी भाषा अर्थ का अनुधावन पूर्ण प्रामाणिकता के साथ करती है। उनके भाषाविषयक प्रौढ़ प्रयोगों से अमूर्त-शुद्धात्म-रूप-परब्रह्म साकार एवं सचेतरूप में प्रकट हो उठा है। आचार्य कुन्दकुन्द के सूत्रगत-भाव रत्न की उपमा को तथा अमृतचन्द की भाषा स्वर्ण की उपमा को प्राप्त होकर पाठकों के समक्ष मणिकांचन संयोग का सुन्दर सुमेल उपस्थित करते हैं। अद्भुत, अश्रुतपूर्व आत्मा के एकत्व-विभक्त-सजीव सौन्दर्य को अभिव्यक्त करके आत्मपूजक भाषादेवी मानो स्वयं पूज्य एवं श्रेष्ठ बन गई है।

अमृतचन्द्र की गद्य-पद्य-मयी भाषा, भाषाविषयक अनेक वैशिष्ट्यों व प्रयोगों के कारण, आकर्षक, चमत्कारोत्पादक, सरस एवं हृदयावर्जक बन गई है। साथ ही अमृतचन्द्र के अलौकिक-आध्यात्मिक व्यक्तित्व के संस्पर्श से भाषा में अलौकिक रस समा गया है। जिसके आस्वादन से मनमयूर मत्त होकर नाच उठता है। यहाँ उनके भाषा विषयक वैशिष्ट्यों को कुछ उदाहरणों द्वारा आलोकित किया जाता है।

पदलालित्य एवं भाषाप्रौढ़ता का उदाहरण :-

आत्मख्याति टीका आरम्भ करने की प्रतिज्ञा एवं सिद्धों को नमस्कार करते हुए, उनके ध्रुव, अचल एवं अनुपम स्वरूप का हेतुपुरस्सर स्पष्टीकरण करते हुए, वे लिखते हैं – "अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलम्बमानः अनादिभावान्तर परपरिवृत्ति विश्रान्तिवशेनाचलत्वमुपगतः अखिलोपमान विलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमानोपम्यामपवर्ग संज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिछंदस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्याम् स्वात्मनि परात्मनि च निधायानादि निधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थसार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः स्वयंमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्य समयप्रकाशकस्य प्राभृताव्हयस्याहंत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादि मोह प्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ।[1]

इसी तरह टीकाकार अमृतचन्द्र सिद्धान्त को सुबोध, सरल तथा बालबुद्धिगम्य बनाने हेतु दृष्टांत एवं दार्ष्टान्त दोनों में समान पद तथा वाक्यों का प्रयोग करते हैं। वे पुनरुक्ति दोष की चिन्ता किए बिना समान भाषाप्रयोग को तब तक जारी रखते हैं, जब तक दृष्टान्त के समान ही सिद्धान्त स्पष्ट नहीं हो जाता है। वे एक स्थल पर अप्रतिबुद्ध-अज्ञानी तथा प्रतिबुद्ध-ज्ञानी की पहिचान कराते हुए लिखते हैं –

---

१. समयसार गा. की १ टीका का अर्थ – 'अथ' पद मंगल अर्थ को सूचित करता है। प्रथम ही स्वभाव भाव से उत्पन्न होने के कारण (वह सिद्धगति-पंचमगति) ध्रुवत्व का अवलम्बन करती है। वह गति अनादिकाल से परभावों के निमित्त से होने वाले परिभ्रमण के अभाव के कारण अचलता को प्राप्त है तथा जगत् में जो समस्त उपमा योग्य पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण-अद्भुत महिमावाली है, अतः अनुपमता को प्राप्त है। उसे अपवर्ग नाम से जाना जाता है, ऐसी गति को प्राप्त हुए समस्त सिद्ध भगवन्तों को अपने तथा पर के आत्मा में स्थापित करते हैं, क्योंकि वे सिद्ध भगवान सिद्धत्व से साध्य आत्मा के प्रतिछन्द के स्थान पर हैं, अतः भाव तथा द्रव्य रूप से स्थापित करके समय का प्रकाशक (सर्व पदार्थों या जीवपदार्थ का प्रकाशक), अर्हन्त के प्रवचन का अवयवरूप प्राभृत नाम से व्यवहित ग्रन्थ का, अनादिकाल से उत्पन्न हुए अपने तथा पर के मोह को नाश करने के लिए, परिभाषण करता हूँ। यह अर्हंत्प्रवचन का अवयव अनादिनिधन परमागमरूप शब्दब्रह्म से प्रकाशित होने से, केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुननेवाले तथा स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवली – गणधरदेवों के द्वारा कथित होने से, समस्तपदार्थसमूह को साक्षात् करनेवाले केवली द्वारा प्रणीत होने से प्रमाणता को प्राप्त है।

"यथाग्निरिन्धनमस्तींधनमग्निरस्त्यग्नेरिंधनमस्तींधनस्याग्निरस्ति, अग्नेरिंधनंपूर्वमासीदिंधनस्याग्निः पूर्वमासीत्, अग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यतींधनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतींधन एवासद्भूताग्नि विकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत्, तथाहमेतदस्म्येतदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि, ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं, ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्यएवासद्भूतात्म विकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा। नाग्निरिंधनमस्ति नेंधनमग्निरस्त्यग्निरस्तींधनमिंधनमस्ति, नाग्नेरिंधनं पूर्वमासीन्नेंधनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिंधस्येंधनं पूर्वमासीत्, नाग्नेरिंधनं पुनर्भविष्यति नेंधनस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतींधनस्येंधनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि, नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतदस्यैतदस्ति, न ममैतत्पूर्वमासीन्नेतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीत्, न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्ध लक्षणस्य भावात्।[1]

---

१. समयसार गाथा २०-२१-२२ की टीका:-अर्थ – जिस प्रकार कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ, देखकर ऐसा झूँठा विकल्प करे कि "जो अग्नि है सो ईंधन है और ईंधन है सो अग्नि है। अग्नि का ईंधन है, ईंधन की अग्नि है, अग्नि का ईंधन पहले था, ईंधन की अग्नि पहले थी, अग्नि का ईंधन भविष्य में होगा, ईंधन की अग्नि भविष्य में होगी, "ऐसा विकल्प करने वाला अप्रतिबुद्धि-अज्ञानी प्रकट होता है। इसी प्रकार कोई (पुरुष) आत्मा एवं परद्रव्य में असत्यार्थ विकल्प करे कि "मैं यह परद्रव्य हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप है, यह परद्रव्य मेरा है, मैं इस परद्रव्य का हूँ, मेरा यह पहिले था, मैं इसका पहले था, मेरा यह भविष्य में होगा, मैं इसका भविष्य में होऊँगा" ऐसे विकल्पों से अप्रतिबुद्ध अज्ञानी पहिचाना जाता है और अग्नि है, वह ईंधन नहीं है, ईंधन है वह अग्नि नहीं है, अग्नि है वह अग्नि ही है, ईंधन है वह ईंधन ही है, अग्नि का ईंधन नहीं, ईंधन की अग्नि नहीं, अग्नि की अग्नि है, ईंधन का ईंधन है, अग्नि का ईंधन पहले नहीं था, ईंधन की अग्नि पहले नहीं थी, अग्नि की अग्नि पहले थी और ईंधन का ईंधन पहले था, अग्नि का ईंधन भविष्य में नही होगी, अग्नि की अग्नि ही भविष्य में होगी, ईंधन का ईंधन ही भविष्य में होगा" इस प्रकार किसी को सत्यार्थ अग्नि का विकल्प है, वह प्रतिबुद्ध-ज्ञानी का लक्षण है। इसी प्रकार "मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ, यह परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं है, मैं तो मैं ही हूँ, परद्रव्य तो परद्रव्य ही है, मेरा

उपरोक्त अंश यद्यपि समासबहुलता के कारण पढ़ने तथा समझने में क्लिष्ट प्रतीत होता है, तथापि समासविग्रह करने पर उसका अर्थ अत्यन्त सरल, सुगम एवं सुस्पष्ट हो जाता है। आगे अमृतचन्द्र की सामासिक, क्लिष्ट एवं दुर्बोध भाषा का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है। उक्त अंश अलंकार सौंदर्य से समन्वित है तथा प्रवाहपूर्ण, गम्भीर अर्थगरिमा को भी व्यक्त करता है। इसमें मोक्षतत्व का साधनतत्व कौन है, यह स्पष्ट किया गया है यथा –

"अनेकांतकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्त बहिरंगान्तरंगसंगति परित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्ति चैतन्य भास्वरात्मतत्त्व स्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्व वृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्तः समस्तानुभाववन्तो भगवन्तः शुद्धा एवासंसार घटित विकटकर्मकवाट विघटनपटीयसाध्यावसायेन प्रकटीक्रियमाणावदाना मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमवबुध्यताम्।[1]

इस प्रकार स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र की भाषा में भले ही समासबहुलता एवं क्लिष्टता हो परन्तु उसमें एक लयात्मक प्रवाह एवं ध्वन्यात्मक

यह परद्रव्य नहीं, इस परद्रव्य का मैं नहीं, मेरा ही मैं हूँ, परद्रव्य का ही परद्रव्य है, इस परद्रव्य का मैं पहले नहीं था, वह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, मेरा मैं पहले था, परद्रव्य का परद्रव्य ही पहले था। वह परद्रव्य मेरा भविष्य में नहीं होगा, इस परद्रव्य का मैं भविष्य में नहीं होऊँगा, मैं अपना हीभविष्य में होऊँगा, इस परद्रव्य का यह परद्रव्य ही भविष्य में होगा" ऐसा जो स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्म-विकल्प करता है, वही प्रतिबुद्धि-ज्ञानी का लक्षण है। इससे ज्ञानी पहिचाना जाता है।

१. प्रवचनसार गाथा २७३ की टीका:–अर्थ — अनेकांत के द्वारा ज्ञात सकल ज्ञातृतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व के यथावस्थित स्वरूप में जो प्रवीण है, अन्तरङ्ग में चकित होते हुए अनन्तशक्तिवाले चैतन्य से तेजस्वी आत्मतत्त्व के स्वरूप को जिनने समस्त बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग संगति के परित्याग से भिन्न किया है और अन्तःतत्त्व की वृत्ति (आत्मा की परिणति) स्वरूप गुप्त तथा सुषुप्त (सोये हुए के समान) समान (शांत) होने से किंचित् भी विषयों में जो आसक्ति को प्राप्त नहीं होते, ऐसे सकलमहिमावान् भगवन्तशुद्धशुद्धोपयोगी) हैं। उन्हें ही मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व जानने, क्योंकि वे अनादि संसार से रचित बन्द रहे हुए विकट कर्मकपाट को तोड़ने के लिए अति उग्र प्रयत्न से पराक्रम प्रकट कर रहे हैं।

आकर्षण विद्यमान है। यहाँ एक स्थल उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है, जिसमें लयात्मकता, ध्वन्यात्माकता, विषयप्रकाशिनी भाषा तथा अर्थ की गम्भीरता आदि विशेषताएँ युगपत् प्रस्फुटित हो उठती हैं यथा – आत्मज्ञान के होने तथा आस्रवों से निवृत्ति होने का समकालपना – समयपना सिद्ध करते हुए, आत्मा और आस्रवों के स्वरूप का तुलनात्मक स्पष्ट निदर्शन हुए करते हुए वे लिखते हैं –

"जतुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव। अपस्माररयवद्वर्धमानहीयमानत्वाद ध्रुवाःखल्वास्रवाः, ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव। शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृम्भमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एव। बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत्त्रातुमशक्यत्वादशरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव। नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद्दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावोजीव एव। आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद्दुःखफला खल्वास्रवाः, अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतुत्वाज्जीव एव। इति विकल्पानंतरमेव शिथिलतकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा-यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्तते, यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावद्विधानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो निवर्तते,तावदास्रवेभ्यश्च निवर्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम्।"[1]

---

१. समयसार गाथा ७८ की टीका अर्थ — वृक्ष और लाख की भांति वध्यघातक स्वभावपना होने से आस्रव जीव के साथ बन्धे हुए हैं, किन्तु अविरुद्धस्वभावत्व का अभाव होने से वे जीव ही नहीं है। मृगी के वेग की भांति बढ़ते-घटते होने से आस्रव अध्रुव हैं, चैतन्यमात्र जीव ही ध्रुव है। शीतदाहज्वर के आवेश की भांति अनुक्रम से उत्पन्न होते हुए होने से आस्रव अनित्य हैं, विज्ञानघनस्वभावी जीव ही नित्य है। कामसेवन में वीर्य छूट जाने के क्षण से दारुण काम का संस्कार नष्ट हो जाता है, उसे किसी से रोका जाना सम्भव न होने से रोका नहीं जा सकता है। इसी तरह कर्मोदय छूट जाने पर उसी क्षण आस्रव नाश को प्राप्त होता है, उसे किसी से रोका जाना सम्भव न होने से वे आस्रव वाले होने से आस्रव अशरण हैं, स्वयंरक्षित सहजचित्शक्तिरूप जीव ही शरणसहित है। सदा आकुल स्वभाव वाले होने से आस्रव दुःखफलरूप हैं, सदा निराकुल स्वभाववाला जीव ही अदुःखरूप अर्थात् सुखरूप है। आगामी काल में आकुलता को उत्पन्न करने वाले ऐसे पुद्गलपरिणाम के हेतु होने से आस्रव दुःखरूप है। जीव

इसी तरह उनकी भाषा में कहीं कहीं विपुलकाय वाक्यों तथा कहीं कहीं लघुकायवाक्यों का सुन्दर सहजप्रवाहमयी व प्रभावोत्पादक प्रयोग हुआ है। संस्कृत गद्य टीका के साथ कहीं कहीं प्राकृत गाथाएँ उदाहरण के रूप में उपलब्ध होती हैं। उक्त दीर्घवाक्यों तथा प्राकृत गाथा के प्रयोग का एक उदाहरण प्रस्तुत है। इस उदाहरण में केवल दो विशाल वाक्यों में निश्चय तथा व्यवहार नय की उपयोगिता प्रदर्शित की गई है तथा पूर्वाचार्योक्त एक प्राकृत पद्य द्वारा अथवा श्रीमदाय की पुष्टि की गई है यथा – "ये खलु पर्यन्त पाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवन्ति तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपम्परापच्यमानकार्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय एवोपरितनैकप्रतिवर्णिका स्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्। ये तु प्रथम द्वितीयाद्यनेक पाकपरम्परापच्यमान कार्तस्वरस्थानीयमपरं भावमनुभवन्ति तेषां पर्यन्तपाकोत्तीर्ण जात्यकार्तस्वरस्थानीय परमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शित प्रतिविशिष्टैक भावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात्। उक्तं च –

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥[1]

ही समस्त पुद्गलपरिणामों का अहेतु होने से अदुःखफलरूप है। इस प्रकार आस्रवों तथा जीव का भेदविज्ञान होते ही (तत्काल) कर्म विपाक शिथिल-आत्मा – बादल समूह रचना के नष्ट होने से प्रगट दिशाविस्तार की भाँति, अमर्याद विस्तार वाला, सहजरूप से विकास को प्राप्त विज्ञानघनस्वभाव (चित्शक्तिमय) ज्यों-ज्यों होता जाता है, त्यों-त्यों आस्रवों से निर्वृत्त होता जाता है, और ज्यों-ज्यों आस्रवों से निर्वृत्त होता जाता है त्यों-त्यों विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है, क्योंकि ज्ञान तथा आस्रवनिर्वृत्ति का एककाल है।

१. समयसार गाथा १२ की टीका:– अर्थ – "जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का अनुभव करते हैं, उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान अनुत्कृष्ट-मध्यमभाव का अनुभव नहीं होता, इसलिए शुद्धद्रव्य का निरूपण करने वाला होने से – "अचलित-अखण्ड एक स्वभाव रूप एक भाव को प्रकाशित

आचार्य अमृतचन्द्र की दीर्घवाक्यमयी भाषा के समान ही लघु-वाक्यमयी भाषा भी प्रभावोत्पादक, तारतम्यमयी, सहजबोधगम्य तथा सालंकृत है। उदाहरण के लिए वे एक स्थल पर जीव के भावकर्म तथा पुद्गल द्रव्यकर्म की परम्परा का निदर्शन कराते हुए लिखते हैं –

"इह हि संसारिणो जीवादनादिबंधनोपाधिवशेन स्निग्धः परिणामो भवति। परिणामात् पुनः पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म। कर्मणो नारकादिगतिषु गतिः। गत्यधिगमनाद्देहः देहादिन्द्रियाणि। इंद्रियेभ्यो विषयग्रहणम्। विषयग्रहणाद्रागद्वेषौ। रागद्वेषाभ्यां पुनः स्निग्धः परिणामः। परिणामात्पुनः पुद्गलपरिणामात्कं कर्म। कर्मणः पुनर्नारकादिगतिषुः गतिः। गत्यधिगमनात्पुनर्देहः। देहात्पुनरिन्द्रियाणि। इन्द्रियेभ्यः पुनर्विषयग्रहणम्। विषयग्रहणात्पुनः रागद्वेषौ। रागद्वेषाभ्यां पुनरपि स्निग्धपरिणामः। एवमिदमन्योन्यकार्यकारणभूतजीवपुद्गलपरिणामात्मकं कर्मजालं संसार-चक्रे जीवस्यानाद्यनिधनं अनादिसनिधनं वा चक्रवत्परिवर्तते। तदत्र पुद्गलपरिणामनिमित्तो जीवपरिणामो जीवपरिणामनिमित्तः पुद्गलपरिणा-मश्चवक्ष्यमाणपदार्थबीजत्वेन संप्रधारणीय इति।"[1]

किया है, ऐसा शुद्धनय ही, सबसे ऊपर की एक प्रतिवर्णिका (स्वर्णसमान) होने से, जानने में आता हुआ प्रयोजनवान् है। परन्तु जो पुरुष प्रथम-द्वितीय आदि अनेक पाकों (तावों) की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण के समान जो अनुत्कृष्ट-मध्यम भाव का अनुभव करते हैं, उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण के समान उत्कृष्ट भाव का अनुभव नहीं होता, इसलिए अशुद्धद्रव्य का निरूपण करने वाला होने से – भिन्न-भिन्न एक एक भावस्वरूप अनेक भाव दिखाये हैं, ऐसा व्यवहारनय, विचित्र अनेक वर्णमाला के समान होने से, जानने में आता हुआ प्रयोजवान है, क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की व्यवस्थिति ऐसी ही है। कहा भी है — "जो जिनमत को प्रवर्तना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारनय के बिना तीर्थ – व्यवहारमार्ग का तथा निश्चय नय के बिना तत्व का नाश हो जायेगा।"

१. पंचास्तिकाय गाथा १२८ से १३० तक की टीका:– अर्थ – "इस जगत् में संसारीजीव के अनादि बंधन रूप उपाधि के कारण स्निग्ध परिणाम होता है। परिणाम से पुनः पुद्गलपरिणाम रूप कर्म से नारकादिगतियों में गमन होता है। गति की प्राप्ति से देह प्राप्त से देह प्राप्त होती है। देह से इन्द्रियाँ,

आचार्य अमृतचन्द्र की टीकाओं में प्रयुक्त भाषा में जहाँ प्रौढ़ता, विद्वत्ता, चारुता, आलंकारिक सुन्दरता, विभिन्न भाषाशैलियों आदि की दृष्टि से एक ओर साम्य प्रतीत होता है, वहीं दूसरी ओर कई बातों में वैषम्य भी पाया जाता है। बाणभट्ट की भाषा में कृत्रिमता काल्पनिकता तथा क्लिष्टता के दर्शन प्रचुरमात्रा में होते हैं जबकि आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा में सहजता, यथार्थता तथा सुबोधता की उपलब्धि होती है। बाणभट्ट की भाषा पाठकों को कल्पनालोक की इन्द्रजालवत् क्षणिक विविधरंगी झाँकियों से रंजायमान कर लेती है जबकि अमृतचन्द्र की भाषा पाठक को अध्यात्मलोक की यथार्थ तात्त्विक अनुभूतियों से आत्मदर्शन तथा स्थाई आत्मीय-आनंदामृत की उपलब्धि कराती है। उनकी भाषा भावानुगामिनी है। सर्वत्र भावानुकूल भाषा तथा भाषानुकूल छंद प्रयोग, शैलीप्रयोग आदि सहज ही अभिव्यक्त हुए हैं। जहाँ उन्हें संक्षेप में विस्तृत तथ्यप्रदर्शन करना इष्ट लगा वहाँ उन्होंने सूत्रात्मक भाषा का प्रयोग किया है किन्तु जहाँ स्पष्टीकरण करना इष्ट हुआ वहाँ भाषात्मक पुनरावृत्ति करने में उन्हें संकोच नहीं हुआ है। सूत्रात्मक भाषा में कथन करते हुए वे लिखते हैं – "एवमेव स मोहरूपपरिणामेन रागद्वेषयोरपरिणामेन स्निग्धलक्षणपरिणामेन लोकस्यौदयिकभावस्य कर्मणो नोकर्मणश्च मनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसन स्पर्श सूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूहानि।"[1]

इन्द्रियों से विषय ग्रहण, विषय ग्रहण से राग-द्वेष, राग-द्वेष से पुनः स्निग्ध परिणाम होता है। परिणाम से पुनः पुद्गलपरिणाममय कर्म, कर्म से पुनः नारकादि गतियों में गमन, गतिगमन से पुनः देहप्राप्ति, देह से पुनः इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से पुनः विषयग्रहण, विषयग्रहण से पुनः रागद्वेष, रागद्वेष से पुनः स्निग्ध परिणाम होता है। इस प्रकार यह परस्पर कार्य कारणपना जीव तथा पुद्गल के परिणाममय-कर्मजाल संसारचक्र में जीव के अनादि अनंत अथवा अनादि सांत चक्र के समान होता है। इस प्रकार यहां पुद्गल परिणाम के निमित्त से जीव के परिणाम तथा जीवपरिणाम के निमित्त से पुद्गल के परिणाम पूर्वोक्त (पुण्यादि सात) पदार्थों के बीज रूप से समझना चाहिए।"

१. समयसार गा. टीका ३३ अर्थ – "यहाँ इसी प्रकार (पूर्वकथनानुसार) "मोह" पद को बदलकर राग-द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्श-इन पदों को रखकर १६ सूत्रों का व्याख्यान करना और इसी प्रकार से अन्य भी विचार लेना। "इसी प्रकार गा. ९४, १९९ तथा २१० की टीका भी उल्लेखनीय है"।

भाषात्मक पुनरावृत्ति के लिए निम्न उदाहरण प्रस्तुत है "यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वा वर्णः स सर्वोपि नास्ति जीवस्य पुद्गल-परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्" ..... "उक्त अंश में प्रयुक्त "पुद्गलपरिणामयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात्" इस पद का प्रयोग टीका में आगे २८ बार किया गया है।[1] इसी प्रकार एक स्थल पर समस्त कर्मफल सन्यास की भावना को नचाते हुए लिखा है – "नाहं मतिज्ञानावरणीय-कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये। नाहं श्रुतज्ञानावरणीय कर्मफलं भुंजे, चैतन्यात्मानमात्म नमेव संचेतये।" इसी प्रकार मतिज्ञाना-वरणीय के स्थान पर श्रुतज्ञानावरणीय तथा अन्य १४८ कर्म प्रकृतियों के नाम लिखकर शेष पंक्ति की १४८ बार पुनरावृत्ति की गई है।[2]

आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा, चाहे वह गद्य रूप हो या पद्यरूप हो, अपने चरम उत्कर्ष के साथ भाषा वैशिष्ट्यों से सुरभित, अलंकारों से मण्डित, शब्द विन्यास एवं वाक्य संरचना में असाधारण, सतर्क, सशक्त, सोदाहरण आदि अनेक विशेषताओं से समन्वित होकर साहित्यगगन में अपनी अनुपम छटा बिखेरती हुई अभिव्यक्त हुई हैं। उसमें पर्यायवाची शब्दों की बहुलता है, अनेकार्थवाची शब्दों का प्रयोग है। वह अप्रचलित विलष्ट शब्दावली से युक्त है, अनेक प्रकार के प्रत्यय, उपसर्ग, अव्यय, धातुप्रयोग, कारक प्रयोग आदि से श्रेष्ठता एवं प्रौढ़ता को प्राप्त है। इस तरह स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा अपने युग के साहित्यिक उत्कर्ष की प्रतीक है, साथ ही साहित्यिक विशेषताओं से सुसमृद्ध है।

शैली :–

आचार्य अमृतचन्द्र के साहित्यानुशीलन से ज्ञात होता है कि उन्होंने अपनी गद्य तथा पद्यमयी रचनाओं में विभिन्न साहित्यिक शैलियों का प्रयोग किया है। अनेक प्रकार की शैलियों के दर्शन हमें प्रायः उनके गद्य साहित्य में होते हैं। उनका पद्य काव्य भी शैलियों के प्रयोग से अछूता नहीं रहा है।

---

१. समयसार गा. टीका ५५ – अर्थ – जो काला हरा पीला, लाल और सफेद वर्ण है, वह समस्त ही जीव का नहीं है क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाम-स्वरूप होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है।

२. समयसार, गा. ३८७ से ३८९ तक की टीका – "अर्थ – " मैं (ज्ञानी होने से) मतिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही सचेतन करता हूं।

साहित्यिक शैलियों के प्रयोग में वे जितने कुशल हैं उससे भी अधिक आध्यात्मिक शैलियों के अनुसार विवेचन करने में वे निष्णात हैं। उनके वाङ्मय में प्रयुक्त समस्त भाषाशैलियों तथा निरूपण शैलियों को मुख्यतः दो विभागों में रख सकते हैं। प्रथम विभाग में वे समस्त साहित्यिक शैलियाँ गर्भित हैं जिनका प्रयोग अमृतचन्द्र के पूर्ववर्ती तथा समवर्ती साहित्यकारों द्वारा हुआ है। इन्हें हम लौकिक शैलियाँ कहेंगे। दूसरे विभाग में वे समस्त आध्यात्मिक दार्शनिक शैलियाँ आती हैं जिनका प्रयोग अध्यात्म एवं दर्शन के क्षेत्र में वस्तुतत्त्व के निरूपण में किया जाता है। इन्हें हम अलौकिक शैलियाँ कहेंगे। अलौकिक शैलियों में कुछ तो अमृतचन्द्र के पूर्ववर्ती जैनाचार्यों के जिनागम में उपलब्ध होती हैं किन्तु कुछ शैलियाँ ऐसी भी मिलती है जिनका प्रणयन आचार्य अमृतचन्द्र ने ही अपनी टीकाकृतियों में किया है। लौकिक शैलियों में व्युत्पत्ति या निरुक्त्यर्थ, सरलार्थ, सुगम-व्याख्या, प्रश्नोत्तर, दीर्घसमासपदयुक्त, सालंकृत-क्लिष्ट पद रचना, प्रश्नबहुल, उत्प्रेक्षार्थे "इव" प्रयोग, उपमार्थे "इव" प्रयोग, बहुशः "कदाचित्" पद प्रयोग, विभिन्न क्रिया पद प्रयोग आदि शैलियों की चर्चा सप्रमाण तृतीय अध्याय में की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त समासविग्रह, दृष्टांत - दार्ष्टान्त, तुलनात्मक निरूपण, दृष्टांत, सूत्ररूपेण कथन, अलंकार युक्त कथन, समासबहुल, दीर्घकायवाक्यरचना, लघुकायवाक्य रचना, उपमार्थे वत् प्रयोग इत्यादि गद्यशैलियाँ भी प्रयोग की गई हैं। अलौकिक शैलियों में हेतुपुरस्सर कथन शैली, नयरूपकथन, अनुमान-पंचावयव प्रयोग, न्यायशैली आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला जा चुका है। इसके अतिरिक्त हेतुहेतुमद्भूत शैली, अस्ति नास्ति रूप कथन, प्रत्यभिज्ञान, अनेकांत, तर्कबहुल दार्शनिक निरूपण इत्यादि शैलियाँ भी द्रष्टव्य हैं। उपरोक्त लौकिक तथा अलौकिक शैलियों के प्रयोग से आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा विशेषरूपेण गौरवान्वित तथा सौन्दर्यान्वित हो उठी है। इन शैलियों में कुछ के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

समास विग्रह शैली :-

एक स्थल पर "अणुमहान्" पद के समासविग्रह करके तीन प्रकार से अर्थ निष्पन्न करते हुए वे लिखते हैं - "अणुभिः महान्तः अणुमहान्तः" अथवा "अणुभ्यां महान्तः अणुमहान्तः" अथवा "गुणवश्च महान्तश्च अणुमहान्तः।[1] इस तरह समास विग्रह कथन शैली द्वारा तीन प्रकार के

---

१. पंचास्तिकाय, गा. ४ की टीका।

अर्थ किये गये हैं। इस प्रकार की शैली के प्रयोग टीकाओं में अन्यत्र भी मिलते हैं।

दृष्टांत – दार्ष्टान्त कथन शैली :–

दृष्टांत एवं दार्ष्टान्त शैली का प्रयोग करके टीकाकार दृष्टांत में मूर्तपदार्थ का तथा सिद्धान्त में अमूर्त पदार्थ का उल्लेख करते हैं। पाठकों को विषयवस्तु सुगम तथा सुबोध बनाने हेतु शिक्षण सूत्रों में मूर्त से अमूर्त समझाने वाला सूत्र भी आता है। उक्त शैली में इसी सूत्र का समाहार हुआ है। द्रव्य तथा गुणों के अभिन्नपदार्थपना सिद्ध करते हुए वे उक्त शैली में लिखते हैं – "वर्णरसगंधस्पर्शा हि परमाणोः प्ररूप्यंते, परमाणोरविभक्त प्रदेशत्वेनानन्येऽपि संज्ञादि व्यपदेशेन निबंधनैर्विशेषैरन्यत्वं प्रकाशयन्ति। एवं ज्ञानदर्शने अप्यात्मनि सम्बद्धे आत्मद्रव्यादविभक्त प्रदेशत्वेनान्येऽपि संज्ञादिव्यपदेशनिबंधनैर्विशेषैः पृथकत्वमासादयतः नित्यमपृथकत्वमेव बिभ्रतः।[1]

तुलनात्मक कथन शैली :–

इस शैली का प्रयोग अमृतचन्द्र ने मुख्यतः दो वस्तुओं में भिन्नता सिद्ध करने तथा उनके भिन्न-भिन्न स्वभाव का प्रकाशन करने हेतु किया है। एक स्थल पर जीव तथा अजीव द्रव्य में भिन्नता निरूपित करते हुए वे लिखते हैं –

"इह हि द्रव्यमेकत्वनिबंधनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढ-विशेषलक्षणसद्भावादन्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते। तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैकाव्यक्तिः। अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यम-धर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः। विशेषलक्षणजीवस्य चेतनोपयोगमयत्वं, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम्। तत्र यत्र स्वधर्म व्यापक त्वात्स्वरूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया

---

१. पन्चास्तिकाय गा. ५१–५२ टीका अर्थ – "वर्ण-रस-गंध-स्पर्श वास्तव में परमाणु के कहे गये हैं। वे परमाणु से अभिन्न प्रदेशवाले होने के कारण अनन्य होने पर भी संज्ञादि व्यदेश के कारणभूत भेदों के द्वारा अन्यपने को प्रकाशित करते हैं। इसी प्रकार आत्मा के ज्ञान-दर्शन भी आत्मद्रव्य से अभिन्न प्रदेशवाले होने के कारण अनन्य होने पर भी, संज्ञादि व्यपदेश के कारणभूत भेदों के द्वारा अन्यपने को प्राप्त करते हैं, परन्तु आत्मा स्वभाव से हमेशा अपृथक्पने को ही धारण करता है।

यत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणोपयोगेन च निर्वर्त्तत्वमवतीर्ण प्रतिभाति स जीवः । यत्र पुनरुपयोगसहचारिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः"[1] इस प्रकार की तुलनात्मक निरूपण शैली में दो वस्तुओं में भेदपने को सुस्पष्ट करने वाली स्पष्ट भेदक रेखा खचित प्रतीत होती है। अन्यत्र भी ज्ञानमय भाव से तथा अज्ञानमय भाव से क्या होता है ? उनके बीच स्पष्ट भेदक रेखा खीचते हुए तुलनात्मक कथन शैली में ही वे लिखते हैं –

"अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यंतप्रस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभृष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहंकारः स्वयं किलैषोऽहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च, तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि। ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यंतोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात्, तस्मिंस्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहंकारः स्वयं किल केवलं ज्ञानात्पेव न रज्यते, न च रुष्यति, तस्मात् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि।"[2]

---

१. प्रवचनसार, गाथा १२७ की टीका – अर्थ – "इस विश्व में द्रव्य, एकत्व के कारणभूत द्रव्यसामान्य को छोड़े बिना ही, उसमें रहे हुए विशेष लक्षणों के सद्भाव के कारण एक दूसरे से पृथक् किये जाने पर जीवत्वरूप और अजीवत्व रूप विशेष को प्राप्त होता है। उसमें, जीव का आत्मद्रव्य ही एक भेद है और अजीव के पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, कालद्रव्य, तथा आकाशद्रव्य-यह पाँच भेद हैं। जीव का विशेष लक्षण चेतना-उपयोगमयत्व है और अजीव का अचेतनपना है। वहाँ (जीवके) स्वगर्भों में व्यापनेवाली होने से स्वरूप से प्रकाशित होती हुई, अविनाशनी, भगवती, संवेदन रूप चेतना के द्वारा तथा चेतना परिणामलक्षण द्रव्यपरिणति रूप उपयोग के द्वारा जिसमें निष्पन्नपना अवतरित-प्रतिभासित होता है वह जीव है और जिसमें उपयोग के साथ रहने वाली यथोक्त लक्षणवाली चेतना का अभाव होने से बाहर तथा भीतर अचेतनापना अवतरित-प्रतिभासित होता है। वह अजीव है।

२. समयसार, गाथा १२७ की टीका का अर्थ–"अज्ञानी के सम्यक्प्रकार से, स्वपर का विवेक न होने के कारण भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो चुकने

इस प्रकार उक्त तुलनात्मक शैली का प्रयोग मात्र गद्य में ही नहीं हुआ अपितु पद्यों में भी इसी शैली का प्रयोग बड़ी ही कुशलता के साथ हुआ है। उदाहरण के लिए ज्ञान मोक्ष का कारण है, कर्म मोक्ष का कारण नहीं है – इस बात की सिद्धि हेतु वे दो पद्यों द्वारा विभाजित रेखा खींचकर स्पष्ट करते हैं – यथा –

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यांतरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्नकर्म तत् ॥१०७॥[1]

दृष्टांत शैली :-

आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रयुक्त दृष्टांत शैली अत्यन्त स्पष्टता के साथ प्रतिपाद्य विषय को उद्घाटित करती है। दृष्टांत के कारण विषय-वस्तु अत्यन्त सरल एवं सहजग्राह्य हो जाती है। यथा – एक स्थान पर शुभोपयोग की कारणविपरीता से फल विपरीतता होती है, यह स्पष्ट करते हुए लिखा है –

"यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं, तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारण-विशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात्।[2]

से अज्ञानमय भाव ही होता है। और उसके होने से, स्वपर के एकत्व के अभ्यास के कारण ज्ञानमात्र ऐसे निज में से भ्रष्ट हुआ है, पर रूप रागद्वेष के साथ एक होकर स्वयं अहंकार में प्रवर्त रहा है। "यह मैं यथार्थ में रागी हूं, द्वेषी हूं" ऐसा मानता हुआ रागी और द्वेषी होता है। इसलिए अज्ञानमय भाव के कारण अज्ञानी अपने को पररागद्वेषरूप करता हुआ कर्मों को करता है।

१ समयसार कलश १०६–१०७ अर्थ – "ज्ञान एक (जीव) द्रव्यस्वभावी होने से ज्ञान के स्वभाव से सदा ज्ञान का भवन बनता है, इसलिए ज्ञान ही मोक्ष का कारण है। १०६।" कर्म अन्य (पुद्गल) द्रव्यस्वभावी होने से कर्म के स्वभाव से ज्ञान का भवन नहीं बनता है, इसलिए कर्म मोक्ष का कारण नहीं है।" १०७।

२. प्रवचनसार गाथा २५५ की टीका – अर्थ – "जैसे बीज ज्यों का त्यों होने पर भी भूमि की विपरीतता से निष्पत्ति (फल) की विपरीतता होती है,

सालंकृत-दीर्घसमास-दीर्घवाक्य प्रयोग रूप शैली :-

उक्त टीकाकार की अलंकारयुक्त, समासमयी तथा दीर्घकाय वाक्य प्रयोग रूप शैली भी अत्यन्त आकर्षक है। उक्त विशेषताओं से युक्त गद्य में वाक्यविन्यास चातुरी, शब्दासंघटनारूप कुशलता, ध्वन्याकर्षण, सहजप्रवाह, अनुप्रास चारुता आदि वैशिष्ट्य भी विद्यमान हैं। उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत निम्नांकित गद्यांश उपरोक्त विशेषताओं से तो परिपूर्ण है ही, साथ ही अमृतचन्द्र की असाधारण भाषाप्रभुता, प्रौढ़ता तथा प्रखर विद्वता का भी परिचायक है। यथा – आगम-ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयतत्त्व का युगपत्पना होने पर भी आत्मज्ञान के मोक्षमार्ग का साधकतमपना बताते हुए लिखा है – "यदज्ञानी कर्मक्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटिभिः कथंचन निस्तरति, तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञानमयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मनःकर्मोपरमप्रवृत्तत्रिगुप्तत्वात् प्रचण्डोपक्रमपच्यमानमपहस्ततरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदुःखादिविकारः पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेवमोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम्।[1]"

उसी प्रकार प्रशस्तरागस्वरूप शुभोपयोग के ज्यों का त्यों होने पर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीता होती है। क्योंकि कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यम्भावी (अनिवार्य) है।

१. प्रवचनसार, गा. २३८ – अर्थ जो कर्म (अज्ञानी को) क्रमपरिपाटी से तथा अनेक प्रकार के बालतपादि रूप उद्यम से पकते हुए, राग-द्वेष की ग्रहणक्रिया हुआ होने से सुख दुःखादि विकारभावरूप परिणमित होकर, पुनः उसकी संतान-परम्परा को आरोपित करता हुआ लक्षकोटि भवों तक जिस प्रकार अज्ञानी पार करता है, वही कर्म (ज्ञानी) को स्यात्कारकेतनरूप आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयतत्व के युगपत्पने के अतिशय प्रसाद से प्राप्त की हुई शुद्धज्ञानमय आत्मतत्त्व की अनुभूति लक्षण वाले ज्ञानीपने के सद्भाव के कारण काय वचन मन के कर्मों के उपरम (विश्राम) से त्रिगुप्तिता प्रवर्तमान होने से प्रचण्ड उद्यम से पचता हुआ, राग-द्वेष के छोड़ने से समस्त सुख-दुःखादि विकार अत्यन्त निरस्त हुआ होने से, पुनः संतान (राग-द्वेष की

आचार्य अमृतचन्द्र ने जहाँ उक्त दीर्घकाय, – पाण्डित्यपूर्ण, अर्थ-गरिमायुक्त तथा प्रभावोत्पादक भाषाशैली का प्रयोग किया है, वहाँ उन्होंने लघुकाय वाक्य, सरलसुबोध तथा प्रभावमयी शैली का भी प्रयोग किया है। एक स्थल पर अध्यवसान का स्वरूप बताते हुए उक्त शैली का प्रयोग किया है।

लघुकायवाक्यावलि युक्त शैली – यथा –

"स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानं, तदेव च बोधनमात्रत्वाद् बुद्धिः, व्यवसानमात्रत्वाद् व्यवसायः, मननमात्रत्वान्मतिः, विज्ञाप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानं, चेतनामात्रत्वाच्चित्तं, चित्तो भवनमात्रत्वाद्भावः, चितः परिणमनमात्रत्वाद्परिणाम।"[1]

इस प्रकार यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रयुक्त लौकिक साहित्यिक भाषा शैलियों का परिचय कराया गया। अब उनकी कतिपय अलौकिक दार्शनिक कथन शैलियों पर भी प्रकाश डाला जाता है। उपरोक्त उद्धरण में लघुवाक्य मयी शैली के साथ ही साथ हेतु परक शैली का भी प्रयोग हुआ है। यथा "बोधनमात्रत्वात्" पद के अंत पंचमी विभक्ति के प्रयोग द्वारा हेतुपने को प्रदर्शित किया है। उक्त पद का अर्थ है "बोधनमात्रपने के कारण" अध्यवसान को बुद्धि कहा है। यहाँ "के कारण" पद हेतु वाचक है। उक्त पंचमी विभक्ति का प्रयोग प्रायः उक्त उद्धरण के प्रत्येक वाक्य में किया गया है। यही उनके द्वारा प्रयुक्त हेतुपरक् दार्शनिक शैली है। उक्त शैली शैली का एक और उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है। पुण्यजनित

परम्परा) को आरोपित न करता हुआ उच्छ्वास मात्र में ही लीला से ही ज्ञानी नष्ट कर देता है। अतः आगमन, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा संयतपने का युगपत्पना होने पर भी आत्मज्ञान को ही मोक्ष का साधकतम कारण मानना चाहिए।

१. समयसार, गाथा २७१ की टीका–अर्थ – "स्वपर का अविवेक होने पर जीव की अध्यवसिति (परणति) मात्र से अध्यवसान है, वही बोधनमात्रपने के कारण बुद्धि है, व्यवसायमात्रपने के कारणव्यवसाय है, मननमात्रपने के कारण मति है, विज्ञप्तिमात्रपने के कारण विज्ञान है, चेतनामात्रपने के कारण चित्त है, चेतन के भवनमात्रपने के कारण भाव है, चेतन के परिणममात्रपने के कारण परिणाम है।

इन्द्रियसुखों को दुःख रूप ही प्रकाशित करते हुए टीकाकार टीका में हेतुओं की बौछार सी करके तथ्य सिद्धि करते हैं। वे लिखते हैं –

"सपरत्वात्, बाधासहितत्वात्, विच्छिन्नत्वात्, बंधकारणत्वात्, विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रिय सुखं दुःखमेव स्यात्।....."[1] अन्यस्थलों पर हेतु का हेतु प्रस्तुत करके हेतुहेतुभूत् शैली का परिचय दिया है। यथा "न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तरणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्, स्वभाव-सिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्, अनादिनिधनं हि न हि साधनान्तर मपेक्षते।....."[2]

अस्तिनास्ति रूप कथन शैली :–

इस शैली में आचार्य अमृतचन्द्र तथ्य की सिद्धि एवं श्रद्धान की दृढ़ता हेतु एक ही अभिप्राय को अस्तिरूप से तथा नास्ति रूप से प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए मोक्षमार्ग की ही सूचना करते हुए मोक्षमार्ग को आठ विशेषताओं द्वारा अस्ति तथा नास्ति उभय पक्षीय कथन द्वारा करते हुए लिखते हैं –

"मोक्षमार्गस्य तावत्सूचनेयम्। सम्यक्त्वज्ञानयुक्तमेव, नासम्यक्त्व-ज्ञानयुक्तं, चारित्रमेवनाचारित्रं, रागद्वेषपरिहीणमेव, न रागद्वेषापरिहीणं, मोक्षस्यैव, नभावतो बंधस्य, मार्ग एव, नामार्गः, भव्यानामेव, नाभव्यानां, लब्धबुद्धीनामेव, नालब्धबुद्धीनां, क्षीणकषायत्वे भवत्येव, न कषाय-सहितत्वे भवतीत्यष्टधा नियमोऽत्र दृष्टव्याः।"[3]

---

१. प्रवचनसार, गाथा ७६ की टीका का अर्थ – "पर सम्बन्धयुक्त होने के कारण, बाधासहित होने के कारण, विच्छिन्न होने के कारण, बंध का कारण और विषम होने के कारण इन्द्रियसुख – पुण्यजन्य होने पर भी दुःख ही है।"

२. प्रवचनसार गा. ९८ की टीका का अर्थ : "वास्तव में द्रव्यों से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि सर्व द्रव्य स्वभावसिद्ध है तथा स्वभावसिद्धता भी अनादिनिधनता के कारण है। क्योंकि अनादि निधन को साधनान्तर की अपेक्षा नहीं होती।"

३. पंचास्तिकाय, गाथा १०६ "अर्थ – मोक्षमार्ग की ही यह सूचना है। (वह मोक्ष मार्ग) सम्यक्त्व और ज्ञान सहित ही है, न कि सम्यक्त्व और ज्ञान रहित। चारित्र रूप ही है, न कि अचारित्ररूप। राग द्वेष से रहित ही है, न कि राग द्वेष से सहित। मोक्ष का ही मार्ग है, न कि भाव रूप से बंध का मार्ग

उपरोक्त वाक्यों में पहले अस्तिपरक तथा "न" पदयुक्त वाक्यों में नास्तिपरक कथन किया है। ऐसी कथनशैली में भ्रान्ति का अवसर नहीं रहता अपितु श्रद्धान पक्का हो जाता है। इसी शैली में विरोधी भावों के बीच तथा हेय उपादेय के बीच स्पष्ट अन्तर दिखाया जा सकता है। यथा – वीतरागचारित्र से मोक्ष तथा सराग चारित्र से बंध बताकर प्रथम को उपादेय तथा दूसरे को हेय निरूपित करते हुए अस्तिनास्तिपरक शैली में ही लिखा है – "संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुर मनुजराजविभवक्लेशरूपो बंधः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम्।[1]

क्लिष्ट तर्कबहुल गम्भीर दार्शनिक तत्त्वनिरूपण शैली –

आचार्य अमृतचन्द्र की आध्यात्मिक शैलियों में निरूपण की असाधारण क्षमता का चरमोत्कर्ष एवं रसोत्कर्ष उनकी समयसार की आत्मख्याति टीका में सर्वत्र देखने में आता है, परन्तु उनकी दार्शनिक, गम्भीर, तर्कबहुल, क्लिष्ट तत्त्वनिरूपक शैली का चरमोत्कर्ष पंचास्तिकाय की टीका में तथा विशेषरूपेण प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में आद्यन्त दृष्टिगोचर होता है। जिस तथ्य की सिद्धि करने की प्रतिज्ञा वे करते हैं, उसे वे सतर्क, सोदाहरण एवं दार्शनिक प्रौढ़ता द्वारा अत्यन्त स्पष्ट करने में कोई कसर नहीं रखते। ऐसी दार्शनिक व्याख्याएँ इतनी क्लिष्ट तथा अर्थगाम्भीर्य से युक्त होती है कि वे अच्छे-अच्छे दार्शनिक विद्वानों के गर्व को खर्व करती हुई तात्विक मर्म को भलीप्रकार प्रकट करती हैं। ऐसी दार्शनिक व्याख्याओं में प्रयुक्त उक्त दार्शनिक शैली पाठकों को बाणभट्ट की क्लिष्ट समासबहुल शैली की याद दिलाती है। बाणभट्ट की उक्त शैली

मार्ग ही है, न कि अमार्ग। भव्यजीवों का ही (मार्ग), न कि अभव्य-जीवों का। लब्धबुद्धिजनों का ही, न कि अलब्धबुद्धिजनों का। क्षीणकषायपने में ही होता है, न कि कषाय सहितपने में होता है। इस प्रकार आठ प्रकार के नियम यहाँ जानना चाहिए।

१. प्रवचनसार, गा. ६ "अर्थ – दर्शनज्ञान प्रधानता से वीतराग चारित्र से मोक्ष होता है। और वही यदि सरागचारित्र हो तो उससे देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्र के वैभव क्लेशरूप बंध की प्राप्ति होती है। इसलिए मुमुक्षुओं को इष्टफल वाला होने से वीतरागचारित्र ग्रहण करने योग्य है (उपादेय है)। और अनिष्टफल वाला होने से सरागचारित्र त्यागने योग्य है (हेय है)।

को आलोचकों ने विन्ध्याचल की भांति गहन तथा क्लिष्ट श्लिष्ट पदयोजना, जटिलसमासयुक्तदीर्घपदावलि आदि रूप हिंस जन्तुओं से संचारित और पाठकों को भयोत्पादक माना है। यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र की भी उक्त दार्शनिक निरूपण शैली अर्थगांभीर्य तथा अद्वितीय तर्क बाहुल्य के कारण दार्शनिकों को चमत्कारोत्पादक तथा खरतर दृष्टि हीन जनों को भयोत्पादक भी प्रतीत होती है किन्तु उनके रसिक अध्येताओं को नारिकेल-फल की भाँति परमानन्ददायक, आत्मतृप्तिकारक परमरसायन की भाँति प्रतीत होती है। उदाहरण के लिए यहाँ उपरोक्त शैली में निरूपित तत्त्व को प्रस्तुत किया जाता है। कालद्रव्य की सिद्धि करके व्यवहार काल के कथंचित् पराश्रयपने का निरूपण करते हुए वे लिखते हैं –

'इह हि व्यवहारकालः निमेषकलादादौ अस्ति तावत् चिर इति क्षिप्र इति सम्प्रत्ययः। स खलु दीर्घह्रस्वकालनिबंधनं प्रमाणमंतरेण न संभाव्यते तदपि प्रमाणं पुद्गलद्रव्यपरिणाममंतरेण नावधार्यते। ततः परपरिणामद्योतमानत्वाद्व्यवहार कालो निश्चयेनानन्याश्रितोऽपि प्रतीत्य-भव इत्यभिधीयते। तदत्रास्तिकाय सामान्यप्ररूपणायामस्तिकायत्वा-भावात्साक्षादनुपनन्यस्यमानोऽपि जीवपुद्गल परिणामान्यथानुपपत्या निश्चियरूपस्तत्परिणामायत्ततया व्यवहाररूपः कालोऽस्तिकाय पञ्चक-वल्लोकरूपेण परिणत इति खरतर दृष्ट्याभ्युपगम्यत इति।[1] इसी तरह

---

१. पंचास्तिकाय गा. २६ की टीका – अर्थ – प्रथम तो निमेषसमयादिकाल में चिर और क्षिप्र (लम्बे तथा थोड़े समय तक) ज्ञान होता है। वह ज्ञान वास्तव में दीर्घ तथा लघु काल के साथ सम्बन्ध रखने वाला प्रमाण (काल परिमाण) बिना सम्भव नहीं है। वह प्रमाण पुद्गलद्रव्य के परिणाम बिना निश्चित नहीं होता। अतः व्यवहारकाल पर के परिणाम द्वारा जानने में आता हुआ होने से, निश्चय से वह अन्य के आश्रित नहीं है तो भी (पर के) आश्रयपने से उत्पन्न होने वाला कहा जाता है। इसलिए काल के अस्ति-कायपने के अभाव के कारण यहाँ अस्तिकाय की सामान्य प्ररूपणा में उसका (काल का) सीधा कथन नहीं है, तो भी जीव व पुद्गल के परिणाम की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा निश्चय रूप काल सिद्ध है तथा उसके परिणाम के आश्रय से यह निश्चित होता है कि व्यवहारकाल पंचास्तिकाय की भाँति लोकरूप में परिणमता है, इस प्रकार अति तीक्ष्ण दृष्टि से जानना सम्भव है।

अन्यत्र भी कालद्रव्य के उर्ध्वप्रचय को निरन्वय (एक प्रवाह रूप न रहने वाला) मानने का खण्डन करते हुए दार्शनिक गंभीर शैली में वे लिखते हैं[1] –

"समयो हि समयपदार्थस्य वृत्यंशः। तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पाद-प्रध्वंसौ संभवतः, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारण पूर्वत्वात्। तौ यदि वृत्यंशस्यैव, किं यौगपद्येन, किं क्रमेण? यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं, सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात्। क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः वृत्यंशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात्। ततो वृत्तिमानकोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः। स च समय पदार्थ एव। तस्य खलु – एकस्मिन्नपि वृत्यंशे समुत्पादप्रध्वंसौ संभवतः। यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्यंशे तद्वृत्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः, स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्यंशे पूर्ववृत्यंश विशिष्टत्वेन प्रध्वंस। यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्यंशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम निरन्वयत्वं, यतः पूर्वोत्तरवृत्यंश विशिष्टत्वाभ्यां युगपदुपातप्रध्वंसोत्पा-स्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत्। एवमेकस्मिन्,

---

१. प्रवचनसार गा. १४२ (ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन) – अर्थ – "समय कालपदार्थ का वृत्यंश है उस वृत्यंश (सूक्ष्मातिसूक्ष्म पर्याय) में किसी के भी अवश्य उत्पाद तथा विनाश सम्भावित हैं, क्योंकि परमाणु के अतिक्रमण के द्वारा (समय रूप वृत्यंश) पैदा होता है। अतः वह कारण पूर्वक है। यदि उत्पत्ति और विनाश वृत्यंश के ही माने जायें तो, (प्रश्न होता है कि) वे युगपत् हैं या क्रमशः? यदि युगपत् कहा जाय तो युगपत्पना घटित नहीं होता, क्योंकि एक ही समय में एक के दो विरोधी धर्म (पर्याय) नहीं होते। यदि कहा जाय कि क्रमशः है, तो क्रम भी घटित नहीं होता क्योंकि वृत्यंश के सूक्ष्म होने से उसमें विभाग का अभाव है, इसलिए कोई वृत्तिमान, अवश्य ढूंढना चाहिए। और वह (वृत्तिमान्) कालपदार्थ ही है। उसको वास्तव में एक वृत्यंश में भी उत्पाद-विनाश सम्भव है, क्योंकि जिस वृत्तिमान, के जिस वृत्ति अंश में जिस वृत्यंश की अपेक्षा से जो उत्पाद है वही उसी वृत्तिमान् के उसी वृत्यंश में पूर्ववृत्यंश की अपेक्षा से विनाश है। यदि इस प्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्यंश में भी सम्भवित है, तो कालपदार्थ निरन्वयन कैसे हो सकता है कि जिससे पूर्व और पश्चात् वृत्यंश की अपेक्षा से युगपत् विनाश और उत्पाद को प्राप्त होता हुआ भी स्वभाव से अविनष्ट और अनुत्पन्न होने से वह (कालपदार्थ) अवस्थित न हो? इस प्रकार एक वृत्यंश में कालपदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है ऐसा सिद्ध हुआ।

वृत्यंशे समयपदार्थस्योत्पाद व्यय ध्रौव्यत्वं सिद्धम् ।" आगे बड़ी दृढ़ता के साथ वे लिखते हैं कि काल की सामान्य विशेष अस्तित्व की सिद्धि भी अस्तित्व की सिद्धि बिना किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकती – यथा

"अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्यय ध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्यंशे तस्य दर्शनात्, उपपत्तिमच्चैतत्, विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः । अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्धयति सद्भावः । यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्धतस्तदा तु अस्तित्वमंतरेण न सिद्धयतः कथंचिदापि ।"[१]

इस प्रकार अमृतचन्द्र की कृतियों की भाषा अनेक लौकिक अलौकिक शैलियों से समृद्ध है। वे कहीं भी अपनी आध्यात्मिक रसिकता तथा [illegible] के प्रति अधिक सजग हुये नहीं। उनकी भाषा तथा भाषाशैलियाँ जहाँ एक ओर संस्कृतवाङ्मय के समृद्धिशाली युग को इंगित करती हैं, वहीं दूसरी ओर जैन अध्यात्म एवं दर्शन की श्रेष्ठता तथा साहित्यक वैभव को भी प्रगट करती हैं। अमृतचन्द्र ने उपरोक्त शैलियों के अतिरिक्त नाट्यशैली तथा चम्पूकाव्य शैली में भी निरूपण किया है। उनकी भाषा तथा शैली विषयक प्रांजलता, प्रौढ़ता, पाण्डित्य प्रखरता, तथा भाषा प्रभुता निश्चित ही अद्वितीय, अनुपम एवं असाधारण है। उनकी भाषा और शैली का सुमेल अध्यात्म की गंगा तथा दार्शनिक भावों की यमुना की भांति है एवं जिज्ञासुओं को अवगाहनार्थ आकर्षित करती है।

अलंकार :–

अब, आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा तथा शैली के आकलन के पश्चात् अलंकार छंद, रस, गुण आदि साहित्यिक विधाओं का भी मूल्यांकन किया जाता है। यद्यपि उनके व्यक्तित्व तथा भाषा – शैली आदि पर प्रकाश डालते समय यत्र तत्र उद्धरणों में अलंकार आदि उक्त सभी काव्यात्मक विशेषताओं के भी दर्शन होते हैं, तथापि यहां उनको विशेषरूपेण दिखाते हैं।

---

१. प्रवचनसार, गा. १४३ की टीका का अर्थ – "कालपदार्थ के सभी वृत्यंशों में उत्पाद-व्यय ध्रौव्य होते हैं क्योंकि एक वृत्यंश के देखे जाते हैं। और यह उचित ही है क्योंकि विशेष अस्तित्व सामान्य अस्तित्व के बिना नहीं हो सकता। यही काल पदार्थ के सद्भाव की सिद्धि है, (क्योंकि) यदि विशेष अस्तित्व और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते हैं तो वे अस्तित्व के बिना किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होते।

साहित्यालोचकों की दृष्टि में सालंकृत काव्य चाहे वह गद्य रूप हो या पद्य रूप, सहृदय पाठकों को मनोरम, सरल तथा विशेष आनंददायक होता है। साहित्यविदों में कुछ तो अलंकार से ही काव्य को सहज ग्राह्य मानते हैं[1] क्योंकि अलंकार काव्य का सौन्दर्य है[2] तथा सौन्दर्य ही आकर्षण का कारण है। अधिकांश कवियों के प्रयोग में सतर्कता तथा प्रयास की आवश्यकता पड़ती है किन्तु सिद्धहस्त, – प्रतिभासम्पन्न कवियों के काव्य में अलंकारों का प्रस्फुटन सहज एवं स्वयमेव हो जाता है। अलंकारों का यथावसर यथोचित प्रयोग ही कवि की काव्यकुशलता का परिचायक है। अलंकारों के वैज्ञानिक वर्गीकरण तथा स्पष्टीकरण में भी काव्यकला की प्रवीणता ज्ञात होती है। कवि की मनस्थिति तथा अनुभूतियों का मापन भी अलंकारों के द्वारा किया जा सकता है अतः अलंकारों के प्रयोग से काव्य में चारुता, सुन्दरता, आकर्षण तथा रसानुभूति आदि गुणों का उत्कर्ष देखा जाता है। अलंकारों का काव्योत्कर्ष तथा कवि प्रतिभा की अभिव्यक्ति में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है।[3]

उपरोक्त अलंकारविषयक कसौटी पर आचार्य अमृतचन्द्र काव्यक्तित्व प्रतिभासम्पन्न-सिद्धहस्तकवि के रूप में उभर कर सामने आता है। उनकी कृतियां सालंकृत होने से मनोहर, सरस एवं रसप्लावित है। अपने अलौकिक आनंद तथा अध्यात्मरस के अतिरेक द्वारा उनकी कृतियां अध्यात्मरसिक मुमुक्षुओं को सौन्दर्याधायक एवं आकर्षक बनी हुई हैं। अलंकारों के समुचित प्रयोग से अमृतचन्द्र की गद्य तथा पद्य कृतियों में आत्मानुभूति विषयक रस का आस्वादन कराने की अपूर्व क्षमता विद्यमान है। उनकी कृतियों में प्रयुक्त अलंकार सहज एवं अनुभूतिपरक हैं। अनुप्रास तथा उपमा आदि अलंकार आभूषणों की भांति शब्द तथा अर्थ दोनों के सौन्दर्यवर्धक माने गये हैं।[4] आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों में प्रयुक्त अनुप्रास तथा उपमा की छटा अनुपम है। चाहे गद्यरचना हो या पद्य, अनुप्रास और उपमा के समुचित प्रयोग में अमृतचन्द्र सिद्धहस्त हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त अनुप्रास उपमादि अलंकारों का सौन्दर्य प्रस्तुत है –

---

१. काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्।
२. सौन्दर्यमलङ्कारः (अलंकार सूत्र – वामन) सूत्र १/१/२।
३. अलंकार मीमांसा – डा. राजवंश सहाय पृ. ८, ९।
४. काव्यप्रकाश – अष्टम उल्लास, ६७।

यथा – गद्यकाव्य में अनुप्रास की छटा निराली ही है –

"मेषइवानिमेषोन्मेषितचक्षु ।" (आत्मख्याति गा. ८ की टीका)

"एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुजलझल्ललोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत" ।

(वही, गा. ८ की टीका)

"विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः ।"

(वही, गा. ७४ की टीका)

"यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्तामिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छन्तःपुद्गलस्य वर्णादि तादात्म्यं प्रथयन्ति ।"

(वही, गा. ६२ टीका)

"यथोत्तरंगनिस्तरंगावस्थयोः समीरसंचरणासंचरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ ..... भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य ।" (वही, गा. ८३ टीका)

"घोरघनघाताभिघातपरम्परास्थानीयं शरीरगतसुखदुखं न स्यात् ।

(प्रवचनसार गा. २० की त. प्र. टीका)

"प्रभाकरः प्रभतप्रभाभारभास्वरस्वरूपविकस्वरप्रकाशशालितयातेजः ।"

(वही, गा. ६८ टीका)

"सतत समुपचीयमानमहामोहमलभलीमसमानसतया नित्यमज्ञानिनो भवन्ति ।" (वही, गा. २७१ टीका)

पद्यकाव्य में भी अनुप्रास का प्रयोग देखिये –

भूतं भांतमभूतमेव रभासान्निर्भिद्य बंधं सुधी –

र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहृत्य मोहं हठात् । (कलश क्र. १२)

"निश्शंकः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ।" (वही, क्र. १५६)

"दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चंचच्चिदर्चिर्मयीं ।

विदंन्ति स्वरसाभिषिक्त भुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ।। (वही, क्र. २२३)

"उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्, तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।

यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः, पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ।। (वही, क्र. २३६)

"हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः ।

प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ।।" (प्रवचनसार – त. प्र. पद्य क्र. २)

गद्यकाव्य में उपमा विधान भी मनोरम है – यथा

"गौरिव बाह्यमानस्यः" (आत्मख्याति टी. गा. ४)

"अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीमात्रस्पर्श इव, सफरस्य बाडिश मिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसंमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चीरूप इव, कुरङ्गमस्य मृगेयुगेयस्वर इव,....."

(प्रवचनसार गा. ६४ की टीका)

".....कुशील मनोरमामनोरम करेणुकुट्टनीरागसंसर्गवत्"

(आत्मख्याति टी. गा. १४७)

पद्यरचनाओं में उपमा का रूप दर्शनीय है –

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र ।।[1]

इतियो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सफलशीलानि ।
वरयति पतिवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्री ।।[2]

आचार्य अमृतचन्द्र की रचनाओं में अलंकार हीं नहीं, अपितु उनके भेद-प्रभेदों का भी अवतरण यथावसर हुआ है । उपमा के भेदों में पूर्णोपमा, लुप्तोपमा आदि का प्रयोग देखने को मिलता है । समयसार कलश में एक स्थल पर "उदितममृतचन्द्र ज्योतिरेतत्समंतात्" पद द्वारा आत्मा को अमृतचन्द्रज्योति अर्थात् अमृतमय चन्द्रमा के समान ज्योति कहा है, जो लुप्तोपमालंकार है, क्योंकि "अमृतचन्द्रवत्ज्योतिः" पद का समास करने पर वत् का लोप होकर "अमृतचन्द्रज्योतिः" होता है ।[3]

इस प्रकार उक्त उदाहरणों से उपमालंकार के प्रयोग की कविचातुरी का स्पष्ट बोध हो जाता है । आलोचकों का अभिमत है कि उपमालंकार की अपेक्षा उत्प्रेक्षालंकार के प्रयोग में कवि की काव्यप्रतिभा विशेषरूप से विकसित होती है ।[4] अमृतचन्द्र उत्प्रेक्षा के प्रयोग में भी अपने कौशल का प्रयोग करते हैं । उनके द्वारा प्रयुक्त उत्प्रेक्षाअलंकार उनकी काव्य प्रतिभा का ज्वलंत प्रमाण है ।

गद्यरचना में उत्प्रेक्षालंकार का मनोहारि रूप देखिये –

एक स्थल पर वे लिखते हैं कि एक ज्ञायक भाव (आत्मा) का समस्त ज्ञेयों को जानने का स्वभाव होने से क्रमशः प्रवर्तमान, अनंत भूत वर्तमान

---

१. पु. सि. – पद्य नं. १ ।
२. वही – पद्य १८० ।
३. समयसार, आत्मख्याति टीका, कलश क्र. २७६ का भावार्थ ।
४. महाकवि हरिचन्द्र – एक अनुशीलन – पृ. ४९. अध्याय २.

भावी विचित्र पर्यायसमूह वाले, गम्भीर तथा अगाध स्वभाव वाले समस्त द्रव्यमात्र को, मानो वे द्रव्य ज्ञायक स्वभाव में उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों, कीलित हो गये हों, डूब गये हों, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हुए हों, इस प्रकार – एक क्षण में ही (वह शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है। टीकाकार की मूल शब्द संरचना इस प्रकार है – "अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेयभावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्ण-लिखित-निखात - कीलित - मज्जित - समावर्तित - प्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्त भूतभवद्भाविविचित्रपर्याय प्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेक क्षण एव प्रत्यक्षयन्तं……"[1]

पद्यरचना में उत्प्रेक्षालंकार का सौन्दर्य भी दृष्टव्य है :–

प्राकारकवलिताम्बर-मुपवनराजीनिर्गीर्ण भूमितलम्।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥[2]

इसी तरह रूपक अलंकार का प्रयोग टीकाकार ने अपनी गद्य तथा पद्य उभय विधाओं में बहुशः किया है। उनकी "लघुतत्त्वस्फोट" नामक कृति तो उत्प्रेक्षा अलंकार से आद्यान्त मण्डित है।

रूपकालंकार के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं :–

मोक्षलक्ष्मी स्वयंवरायमाण……	(प्रवचनसार गा. ५ की टीका)
महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात्……	(वही गा. ५५ की टीका)
संसारसागरे भ्रमन्तीति……	(पंचास्तिकाय गा. १७२ की टीका)
प्रमादकादम्बरीमदभरालसचेतसो……	(वही, गा. १७२ टीका)
महता मोहग्रहेण……	(समयसार गा. ४ टीका)
सम्यग्बोधमहारथरथिनान्येन……	(वही, गा. ८ टीका)
इतिविविधभंगगहने……	(पु. सि. पद्य ५८)
परममहिंसारसायनं लब्ध्वा……	(पु. सि. पद्य ७८)
अनेकांतमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम्……	(समयसार कलश – क्र. २)
आनंदामृतनित्यभोजि……	(समयसार कलश – क्र. १६३)
उदितममृतचन्द्रज्योति……	(वही, कलश क्र. २७६)

---

१. प्रवचनसार – टीका गा. २००.

२. समयसारकलश क्र. २५ का अर्थ – यह नगर ऐसा है कि मानों जिसने कोट के द्वारा आकाश को ग्रसित कर रखा है, बगीचों की पंक्तियों से मानों भूमितल को निगल लिया हो और कोट के चारों ओर की खाई के घेरे से मानों पाताल को पी रहा हो।

आ. अमृतचन्द्र ने अपनी अनुपम कृति "लघुतत्त्वस्फोट" में तो रूपक का प्रयोग बहुत बार किया है। उनके एक ही पद्य में अनेक रूपक देखने में आते हैं – यथा

प्रच्छादयन्ति यदनेकविकल्पशङ्कु खातान्तरङ्ग जगतीजनितैरजोभिः।
एतावतैव पशवो न विभो भवन्तमालोकयन्ति निकटं प्रकटं निधानम् ॥[1]

अर्थात् हे स्वामिन्, अज्ञानीजीवरूप पशु, अनेक विकल्प रूपी कीलों से खोदी गई मनरूप भूमि द्वारा समुत्पन्न कर्मरूपधूलि से निजस्वरूप को आच्छादित करते हैं, इसलिए वे निकट प्रकाशमान निधान (कोश) रूप आपको नहीं देख पाते हैं। यहाँ रूपक का एक और सुन्दर रूप दर्शनीय है यथा –

ज्ञानाग्नौ पुटपाक एष घटतामत्यन्तमन्तर्बहिः,
प्रारब्धोद्धत संयमस्य सततं विष्वक् प्रदीप्तस्य मे।
येनाऽशेष कषाय किट्ट गलनस्पष्टीभवद्वैभवाः,
सम्यग् भान्त्यनुभूतिवर्त्म पतिताः सर्वाः स्वभावश्रियः ॥[2]

अर्थात् निरन्तर सर्वतः देदीप्यमान अंतरंग बहिरंग में प्रकट हुए उत्कृष्ट संयम का पुटपाक ज्ञान रूप अग्नि में सम्पन्न हो, जिससे समस्त कषायरूपी कीट के नाश हो जाने से स्पष्ट वैभवशाली समस्त स्वभावरूपी लक्ष्मियाँ, अनुभूतिरूपी मार्ग में पड़कर अच्छी तरह सुशोभित हों।

कारणमाला अलंकार की झांकी भी देखिये :-

"द्रव्यकर्ममोक्षहेतु परमसंवररूपेण भावमोक्षस्वरूपाख्यानमेतत्। आस्रवहेतुर्हि जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावः। तदभावो भवति ज्ञानिनः। तदभावे भवत्यास्रवभावाभावः। आस्रवभावाभावे भवति कर्माभावः। कर्माभावेन भवति सार्वज्ञं सर्वदर्शित्वमव्याबाधमिन्द्रियव्यापारातीतमनन्तसुखत्वञ्चेति। स एष जीवन्मुक्तिनामा भावमोक्षः।[3]

गद्य रचनाओं में अनेक स्थल[4] उक्त कारणमाला अलंकार के रूप में उदाहरणीय हैं किंतु विस्तारभय से यहां प्रस्तुत नहीं किये हैं। यहां उक्त अलंकार का एक उदाहरण पद्यरचना से प्रस्तुत है। यथा :-

---

१. "लघुतत्त्वस्फोट", अध्याय – २ पद्य क्र. ३.
२. वही अध्याय २५, पद्य क्र. २५.
३. पंचास्तिकाय गा. १५०–१५१ की टीका।
४. देखिये, पंचास्तिकाय गा. १२८, १६९ की टीकाएँ।

मद्यं मोहयति मनो, मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम् ।
विस्मृतधर्माजीवो हिंसामविशङ्क-माचरति ।।[1]

अनुमान अलंकार को प्रयोग चातुरी भी देखिये :-

न बिना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्ति रिष्यते यस्मात् ।
मांसं भजतस्तमात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ।[2]

यहां प्राणियों का घात होना कारण (साधन) है, उससे मांसोत्पत्ति रूप कार्य (साध्य) का अनुमान किया इसलिए मांसभक्षी को हिंसा अवश्य होती है, यह अनुमान से सिद्ध किया अतः यहां अनुमान अलंकार है। गद्य टीकाओं में भी इस तरह का अनुमान अलंकारयुक्त निरूपण बहुशः किया गया है।

अन्योन्य अलंकार का निदर्शन भी दर्शनीय है :-

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि,
द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्ग,
द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ।।[3]

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धः,
द्रव्यस्य सिद्धः चरणस्य सिद्धौ ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि,
द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु ।।[4]

---

१. पु. सि. ६२ वां पद्य ।
२. पु. सि. ६५ वां पद्य ।
३. प्रवचनसार गा. २०० की टीका का पद्य नं. १२.
४. प्रवचनसार टीका पद्य १३ उक्त दोनों पद्यों का अर्थ इस प्रकार है – चरण द्रव्यानुसार होता है, द्रव्य चरणानुसार होता है, इस प्रकार वे दोनों परस्पर सापेक्ष हैं इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा तो चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु मोक्षमार्ग में आरोहण करो ॥१२॥
द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है और चरण की सिद्धि में द्रव्य की सिद्धि है यह जानकर कर्मों से अविरत दूसरे भी, द्रव्य से अविरुद्ध चरण (चारित्र) का आचरण करो ॥१३॥

अब स्वभावोक्ति अलंकार का सहजरूप प्रस्तुत किया जाता है :-

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वं सहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ।।[1]

"अर्थात् जो सर्वांग रूप से अविकार तथा सुस्थित है, अपूर्व और स्वाभाविक लावण्य रूप है तथा समुद्र की भांति क्षोभ रहित है, ऐसा जिनेन्द्र का रूप उत्कृष्टतया जयवन्त वर्तता है ।[1] यहां जिनेन्द्र के सहज रूप का स्वाभाविक वर्णन होने से स्वभावोक्ति अलंकार है, साथ ही "अक्षोभमिव" पद में उपमालंकार भी है । इस प्रकार स्वभावोक्ति तथा उपमा अलंकार का सुन्दर सम्मिश्रण उक्त पद्य में विद्यमान है । ऐसा ही स्वभावोक्ति तथा उपमा का एक उदाहरण और प्रस्तुत हैं । इससे सिद्धात्मा या मुक्त परमात्मा का सहज स्वरूप वर्णित है । यथा—

नित्यमपि निरूपलेपः स्वरूप समवस्थितो निरुपघातः ।
गगनमिव परमपुरुषः परमपदे स्फुरति विशदतमः ।।[2]

अब विशेषोक्ति अलंकार का उदाहरण दिया जाता है :-

जिससे समस्त प्रसिद्ध कारणों के सद्भाव में भी उनके फल या कार्य का असद्भाव दर्शाया हो वहां विशेषोक्ति अलंकार होता है ।[3] यहां दो पद्यों द्वारा यह विशेष कथन किया है कि सम्यग्दृष्टि ज्ञान या वैराग्य की सामर्थ्य के कारण कर्मों को भोगता हुआ भी कर्मों से नहीं बंधता, जबकि कर्मों का भोग रूप बंध का कारण मौजूद है । इसी तरह विषय सेवन करता हुआ भी ज्ञानी उसके फल को नहीं भोगता । उसे, विषय सेवक होने पर भी असेवक कहा है । लेखक के मूल पद्य इस प्रकार हैं :—

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल ।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुंजानोऽपि न बध्यते ।।
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत्, स्वं फलं विषय सेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागता बलात्, सेवकोऽपि तदसावसेवकः ।।[4]

इसी प्रकार गद्य टीका में भी विशेषोक्ति का प्रयोग किया गया है ।[5]

---

१. समयसारकलश पद्य क्र. २६.
२. पु. सि. पद्य २२३.
३. काव्यप्रकाश, दशम उल्लास, पृ. ३६१.
४. समयसार कलश, पद्य क्र. १३४, १३५.
५. समयसार गा. १९५ तथा १९६ की टीका देखिये ।

अब दीपकालंकार का प्रयोग भी प्रस्तुत है :-

कांत्यैव स्नपयंति ये दशदिशो धाम्ना निरूंधंति ये ।
धामोद्दाममहस्विां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरंतोऽमृतं
वंद्यास्तेऽष्टसहस्त्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ।।[1]

इस पद्य में कारक दीपक अलंकार है क्योंकि एक ही तीर्थंकर रूप कारक की अनेक क्रियाएँ(दिशाओं को धोना, सूर्यतेज को ढकना, मन को हरना और कानों में सुखामृत बरसाना) दिखाई गई हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र कृत "लघुस्वस्फोट" नामक स्तोत्रकाव्य सर्वाधिक सालंकृत, क्लिष्ट एवं उच्चतम काव्य प्रतिभा का अमर स्मारक है। इसमें अलंकारों का बहुतायत से प्रयोग हुआ है। इससे कवि की सर्वोत्कृष्ट काव्य-शक्ति की अभिव्यक्ति हुई है। इसलिए इस काव्य के अनुशीलन से कवि का एक कुशल आलंकारिक का रूप भी मुखरित हो उठता है। इस कृति में लेखक ने जहाँ अनुप्रास, उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा का बाहुल्लता से निदर्शन कराया है वहीं अन्य अनेक अलंकारों की झांकी भी प्रस्तुत की है। विरोधाभास अर्थान्तरन्यास, अन्योन्य, संभावना, प्रतीप, दृष्टांत, अन्योक्ति, श्लेष, काव्यलिंग आदि अलंकारों की विविधरंगी उर्मियों से समग्र काव्य को आलोकित, चमत्कृत तथा रसाप्लावित किया है। यहाँ हम उनके प्रयोग कौशल की संक्षिप्त झलक प्रस्तुत करते हैं।

विरोधाभास का सुन्दरतम उदाहरण आस्वाद्य है :-

नित्योऽपि नाशमुपयासि न यासि नाशं नष्टोऽपि सम्भवमुपैषि पुनः प्रसह्य ।
जातोऽप्यजात इति तर्कयतां विभासि श्रेयः प्रभोऽद्भुतनिधान किमेतदीदृक् ।।[2]

अर्थात् हे आश्चर्यनिधान श्रेयोजिनेन्द्र, आप (द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा) नित्य होकर भी (पर्याप्त स्वभाव की अपेक्षा) नाश को प्राप्त होते हो और नाश को प्राप्त होकर भी पुनः उत्पन्न होते हो। इस प्रकार उत्पन्न होकर भी आप अनुत्पन्न हो ऐसा (विभिन्न दृष्टियों से) विचार करने वालों को आप प्रतिभासित होते हो। हे प्रभु ! यह ऐसा क्यों है ? अर्थात् यह आश्चर्य की बात है।

---

१. समयसार कलश क्र. २४.

२. लघुतत्त्वस्फोट, अध्याय प्रथम, पद्य ११.

उपरोक्त उदाहरण में विरोधाभास के साथ ही अनुप्रास का सौन्दर्य भी प्रस्फुटित हुआ है जो पाठक को चमत्कृत करता है। लघुतत्त्वस्फोट के प्रथम अध्याय में सर्वत्र विरोधाभास अलंकार मुख्य रूप से अभिव्यक्त हुआ है।

अर्थान्तरन्यास अलंकार :-

तवसहजविभाभरेण विश्वं वरद ! विभात्यविभामयत् स्वभावात्।
स्नपितमपि महोभिरुष्णरश्मेस्तव किरहे पुनरं न किंचिदेव ॥[1]

अर्थात् हे वरदायक, स्वभाव से अप्रकाशित जगत् आपके प्रकाशमय ज्ञान के समूह से प्रकाशित हो रहा है। सो ठीक ही है क्योंकि सूर्य तेज से प्रकाशित होने पर भी जगत् आपके अभाव में किंचित् भी प्रकाशित नहीं होता।

दृष्टांत अलंकार :-

इसमें उपमान तथा उपमेय वाक्य दोनों में सभी उपमान, उपमेय तथा साधारण धर्म का प्रतिबिम्बन होता है[2] नीचे उदाहृत पद्य में कहा गया है कि प्रकट होता हुआ बहुत भारी दुःख का समूह भी समतामृत के स्वाद को जानने वाले मुनियों के लिए सुखरूप होता है, जिस प्रकार इस लोक में हठपूर्वक अग्नि से तपा हुआ दूध पीने वाले, दुग्धरस के ज्ञाता मार्जार को महादुःख का भार भी सुख रूप मालूम होता है।
मूल पद्य इस प्रकार है—

समामृतास्वादविदां मुनीनामुद्यन्महादुःखभरोऽपि सौख्यम्।
परोरसज्ञस्य यथा वृषारेर्हठाग्नितप्तं पिबतः पयोऽत्र ॥[3]

इसी प्रकार अन्यत्र भी दृष्टांत अलंकार प्रयोग करते हुए वे लिखते हैं कि जिस प्रकार सिंह को सर्वथा न जानने वाले पुरुष के लिए बिलाव ही सिंहरूप होता है, उसी प्रकार निश्चय नय के स्वरूप से अपरिचित मनुष्य के लिए व्यवहार ही निश्चयपने को प्राप्त होता। उनका मूल पद्य इस प्रकार है :-

---

१. लघुतत्त्वस्फोट, अध्याय १६, पद्य २१.
२. काव्यप्रकाश, उल्लास १०, पृ. ३७८.
३. लघुतत्त्वस्फोट, अध्याय ८, पद्य २३.

माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य ।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ।।[1]

व्यतिरेक अलंकार :-

कवि ने एक स्थल पर जहां "उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समंताज्ज-वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ।।[2] पंक्तियाँ रची हैं, वहाँ उपमा, रूपक तथा अनुप्रास अलंकार के साथ व्यतिरेक अलंकार का सम्मिश्रण भी किया है, आत्मा को अमृतमय चन्द्रमा के समान कहने पर भी, वहाँ प्रयुक्त विशेषणों द्वारा चन्द्रमा के साथ व्यतिरेक भी प्रदर्शित किया है, क्योंकि "व्वस्तामोह" विशेषण अज्ञानांधकार का दूर होना बतलाता है, "विमल-पूर्ण" विशेषण लाछन रहितपने तथा पूर्णता को सूचित करता है. "निः-सपत्नस्वभाव" विशेषण राहुबिम्ब तथा मेघादि से आच्छादित न होने को बतलाता है, और "समंतात् ज्वलतु" विशेषण सर्वक्षेत्र तथा सर्वकाल में प्रकाश करना सूचित करता है, परन्तु चन्द्रमा ऐसा नहीं है, अतः व्यतिरेक अलंकार भी सुघटित होता है।

इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों के साहित्यिक मूल्यांकन के अंतर्गत अलंकारों का अनुशीलन किया गया, जिससे स्पष्ट हुआ कि एक ओर जहाँ अमृतचन्द्र की कृतियों की भाषा प्रौढ़, गम्भीराशययुक्त, सशक्त अमूर्त अनुभूतियों को भी स्पष्ट करने वाली तथा विभिन्न शैलियों से मण्डित है, वहीं दूसरी ओर वह अलंकारों की विविधरंगी आकर्षक झिलमिलाहट से सुशोभित तथा सौन्दर्यान्वित भी है। इतना ही नहीं, भाषा, शैली तथा अलंकारों के अतिरिक्त, अन्य भी विशेषताएँ हैं जिनसे उनका साहित्य सौरभित है। उनमें छंद, रस तथा गुण आदि मुख्य हैं जिन पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जा रहा है।

छन्द

तीव्र भावावेश अथवा अनुभूति की अवस्था में प्रयुक्त भाषा छंदात्मक हो जाती है। उस समय भाषा में सहज ही लयात्मक प्रवाह फूट पड़ता है। भाषा का यह लयात्मक प्रवाह ही छंद है।[3] गद्य की अपेक्षा पद्यात्मक या छंदात्मक भाषा विशेष प्रभावशाली, आकर्षण एवं भाववाही

---

१. पु. सि., पद्य ७.
२. समयसार कलश, क्र. २७६
३. हिन्दी छंदप्रकाश, रघुनंदन शास्त्री, एम. ए. भूमिका पृ. १५.

होती है। छंदात्मक भाषा का आकर्षण अद्भुत होता है। मानव ही नहीं अपितु पशुपक्षी तथा सर्प आदि प्राणी भी लयात्मक भाषा पर मंत्रमुग्ध हो जाते हैं। इसलिए छंदशास्त्रों में छंद को संगीत की योनि तथा काव्य की जान कहा जाता है। छंदों में गुम्फित भाव सहस्त्रों श्रोताओं को मंत्रमुग्ध करते हैं। छंदों का प्रभाव हृदय तक ही सीमित नहीं होता अपितु मस्तिष्क के विकास में छंदों का उपयोग वैज्ञानिक माना जाता है। स्मरण शक्ति एवं बुद्धि की प्रखरता के लिए छंद बहुत ही उपयोगी होते हैं।[1] छंदोबद्ध साहित्य रुचिर और चमत्कारपूर्ण होता है, साथ ही दीर्घजीवी भी। छंदों में प्रक्षेपण (मिलावट आदि) की भी संभावना कम ही रहती है। लेखक के विचारों की मौलिकता, प्रामाणिकता तथा विश्वसनीयता बनी रहती है। छंदज्ञान के बिना साहित्यकार की साहित्यिक क्षमता का मूल्यांकन कर पाना असंभव है।

यहाँ उक्त कसौटी, छंदों की महत्ता एवं वैज्ञानिकता, के परिप्रेक्ष्य में आचार्य अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व का अवलोकन तथा कृतित्व का मूल्यांकन किया जा रहा है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी अनुभूतियों तथा पूर्वाचार्यों की अध्यात्म वाणी के रहस्यों को विभिन्न छंदों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। कुन्दकुन्द प्रणीत समयप्राभृत पर लिखित "आत्मख्याति" टीका में आगत पद्यों को विभिन्न छन्दों में वैज्ञानिक ढंग से ढाला है। "आत्मख्याति" में उन्होंने १९ प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। वे छंद हैं- अनुष्टुप्, मालिनी, शार्दूलविक्रीड़ित, उपजाति, वसंततिलका, पृथ्वी, आर्या, स्वागता, शालिनी, मंद्राक्रान्ता, स्रग्धरा, उपेन्द्रवज्रा, स्थोद्धता, इन्द्रवज्रा, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, नर्दटक, वंशस्थ और वियोगिनी। दूसरी कृति प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका है जो प्रमुखतः गद्य में ही निर्मित है परन्तु उक्त गद्यटीका भी आचार्य अमृतचन्द्र कवीन्द्र की कविप्रतिभा से अछूती नहीं रह पायी है। इसमें भी विभिन्न सुप्रसिद्ध छंदों में २१ पद्यों की सृष्टि हुई है। इसमें छंदों में स्रग्धरा, मंद्राक्रांता, वसंततिलका, अनुष्टुप्, शालिनी, इन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीड़ित तथा मालिनी का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार पंचास्तिकाय की समय व्याख्या नामक गद्य टीका में भी ८ पद्यों की रचना हुई है। पद्यटीका में "तत्त्वार्थसूत्र" की "तत्त्वार्थसार" नामक टीका में मुख्यपने से तो अनुष्टुप् छंदों का प्रयोग हुआ है तथा शालिनी, आर्या और वंसततिलका छंद भी प्रयुक्त हुए हैं। ७२० पद्यों में

---

१. हिन्दी छन्दप्रकाश, भूमिका पृ. १५

७१५ अनुष्टुप हैं। मौलिक ग्रंथ पुरुषार्थसिद्धयुपाय में आद्यन्त आर्या छंद का ही उपयोग किया है। इनकी कुल संख्या २२६ है, उनकी उपलब्ध अंतिम कृति लघुस्वस्फोट नामक स्तोत्र काव्य में १३ प्रकार के उत्कृष्ट काव्य प्रतिभा छंदों का अवतरण हुआ है। इनमें अनुष्टुप्, शार्दूलविक्रीडित, उपजाति, वसंततिलका, मंद्राक्रान्ता वंशस्थ तथा वियोगिनी ये ७ तो पूर्वप्रयुक्त छंदों में से हैं। तथा मंजुभाषिणी, तोटक, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, मत्तमयूर तथा हरिणी ये ६ बिल्कुल नये छंद हैं। इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र के उपलब्ध पद्य साहित्य में २५ प्रकार के छंदों की सृष्टि हुई है जो उनके काव्यज्ञ, रसज्ञ तथा छंदविशेषज्ञ होने का स्पष्ट प्रमाण है।[1] जिस प्रकार कवि पाणिनी (ई. ५वीं शती) को उपजातिछंद, कविवर कालीदास को मंद्राक्रांता छंद भारवि को वंशस्थ छंद, महाकवि भवभूति को शिखरिणी छंद विशेष रूप से प्रिय थे,[2] उसी प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र को आर्या, अनुष्टुप्, शार्दूल-विक्रीड़ित, वसंतलिका, मंद्राक्रांता तथा उपजाति ये छह छंद अत्यधिक प्रिय थे, इसलिए इनका प्रयोग उन्होंने अपनी रचनाओं में सबसे अधिक किया है। उदाहरण के लिए उन्होंने अनुष्टुप् ८१६, आर्या २४०, वंशस्थ १५०, शार्दूलविक्रीडित १२३, उपजाति ११०, वसंतिलका १०५ तथा मन्दाक्रान्ता ४७ छंद अपने साहित्य में लिखे हैं। उन्होंने छंदों का प्रयोग पाण्डित्य प्रदर्शन हेतु नहीं किया है अपितु विभिन्न प्रकार के भावों तथा अनुभवों को अभिव्यक्त करने हेतु किया है। इसलिए विभिन्न छंदों का प्रयोग सहजरूप से हुआ है कृत्रिमरूप में नहीं। उनके द्वारा प्रयुक्त छंद उनकी अनुभूतियों की विभिन्न स्थितियों के परिचायक हैं। उन्होंने अपने भावों को छंदों में ढालने का प्रयास उतना नहीं किया है जितना कि भावप्रवाह तथा अनुभूतियों के आवेग में अनायास ही विभिन्न छंद प्रस्फुटित हुए हैं। ये सहज प्रफुल्लित छंद गुलदस्ते की भांति यथोचित प्रसंगानुकूल अलंकार तथा रस सौन्दर्य से सुशोभित हैं एवं सहृदयजनों को चित्ताकर्षक एवं हृदयावर्जक हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त छंद विभिन्न प्रकार से आध्यात्मिक रस का रसास्वादन कराने में समर्थ हैं। प्रत्येक छंद एक कलश – घट की भाँति है, जिसमें अध्यात्मामृत लबालब भरा है। उनके अमृतरस को पीकर मनमयूर मत्त, व रोमांचित होकर नांच उठता है तथा एक अदभुत्, अभूत-पूर्व परमानन्द का अनुभव करता है।

---

१. हिन्दी छंद प्रकाश, पृ. ३१.

छंद प्रयोग की वैज्ञानिकता :-

जहाँ जिस प्रकार के मनोभाव या अनुभव को व्यक्त करना होता है, वहाँ तदनुकूल भाववाही तथा अर्थप्रकाशी छंदों का प्रयोग होता है, यही छंद प्रयोग की वैज्ञानिकता है। अधिकांश छंद तो अपनी महत्ता तथा उपयोगिता को अपने (सार्थक) नाम द्वारा ही प्रकट करते हैं। इसी महत्त्व को समझकर अमृतचन्द्र ने छंदों को विचाराभिव्यक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन बनाया है। आचार्य वीरनंदि ने भी उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार छंदों में परिवर्तन करने के प्रयोग किये हैं। उन्होंने दर्शन या आचार सम्बन्धी तथ्यों के निरूपण में अनुष्टुप् छंद को अपनाया है। वियोग तथा करुणा के चित्र में मन्दाक्रांता, मालिनी और उपजाति छंद प्रयोग किया है। वस्तु व्यापार वर्णन को सशक्त बनाने के लिए वसन्ततिलका तथा नगर, सरोवर, ऊषा आदि के चित्रण में पुष्पिताग्रा, वंशस्थ, प्रहर्षिणी और ललिता छंदों को अपनाया है। इस तरह विषय निरूपण में छंद वैविध्य चमत्कारोत्पादक होता है।[1] महाकवि क्षेमेन्द्र भी सुवृत्ततिलक में लिखते हैं कि कथा विस्तार तथा शांतरस के उपदेश में अनुष्टुप्, शृंगार तथा नायिका के उत्कृष्ट रूपवर्णन में वसंततिलका तथा उपजाति छंद सुशोभित होते हैं। चन्द्रोदय आदि विभाव भावों के वर्णन में रथोद्धता छंद अच्छा माना जाता है जबकि संधि, विग्रह तथा नीति के उपदेश में वंशस्थ छंद सुशोभित होता है। वीर तथा रौद्र रस के संकर में वसंततिलका, सर्ग के अंत में मालिनी खिलती है। युक्तिपूर्ण अभिव्यक्ति में शिखरिणी, उदारता व औचित्य वर्णन में हरिणी, शौर्यवर्णन में शार्दूलविक्रीडित तथा वेगशाली वायु वर्णन में स्रग्धरा छंद का प्रयोग उचित माना गया है।[2] आचार्य अमृतचन्द्र ने छंदों की सार्थकता को ध्यान में रखकर आध्यात्मिक तत्त्वनिरूपण में छन्दों का समुचित वैज्ञानिक प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए "शार्दूलविक्रीडित" शब्द का अर्थ है "सिंह की विशिष्ट क्रीड़ा" अर्थात् सिंह जब अपनी विशेष क्रीड़ाएँ करता है तब उसका पुरुषार्थ – ओज तथा प्रभाव दर्शनीय होता है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी पुरुषार्थ या ओजपूर्ण भावों की अभिव्यक्ति के लिए शार्दूलविक्रीडित छंद का प्रयोग किया है। आत्मख्याति कलश टीका में एक स्थल पर वे लिखते हैं कि कोई सुबुद्ध जीव भूत,

---

१. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. १००.

२. महाकवि हरिचन्द्र – एक अनुशीलन, पृ. ७६.

वर्तमान तथा भविष्य–तीनोंकाल में कर्म के बंध को अपने आत्मा से शीघ्र भिन्न करके तथा कर्मोदय के निमित्त से होने वाले मोह (अज्ञान) को अपने पुरुषार्थ से (बल से) हटाकर अंतरंग में अभ्यास कर देखे तो यह आत्मा अपने अनुभव से ही आत्मानुभवगोचर जिसकी एकमात्र महिमा है ऐसा निश्चल, शाश्वत्, नित्य, कर्मकलंक कर्दम से रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव को विराजमान पायेगा। उक्त अर्थवाची शार्दूलविक्रीडित छंद मूलतः इस प्रकार है :–

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी –
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात्।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तो यमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलंकपंकविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥[1]

उक्त छंद में अनुप्रास अलंकार सौन्दर्य, आत्म-पुरुषार्थ, ओजगुण तथा आत्मानुभूति का रस युगपत् प्रतीयमान है। इसी प्रकार प्रभावातिशय तथा ओजपूर्ण स्वरूप कथन हेतु भी शार्दूलविक्रीडित छंद का चमत्कारी प्रयोग अनेक स्थलों पर हुआ है।[2] ज्ञानरूप नायक के उत्कर्ष, प्रभावाधिक्य तथा पराक्रम को व्यक्त करने हेतु भी इसी छंद को भावाभिव्यक्ति का वाहन बनाया गया है।[3] एक स्थल पर जिनेन्द्रदेव के अनंतवीर्य के उत्कृष्ट व्यापार से विकारी भावों का नाश तथा अनंतवीर्य की महिमा का ओजपूर्ण शब्दों में, अनुप्रास अलंकार के सरस सौन्दर्य के साथ वर्णन करते हुए वे लिखते हैं कि हे भगवन् अत्यधिकता के साथ अनंतवीर्य के उत्कृष्ट व्यापार से विस्तारित, बहुत भारी बड़ी बड़ी तरंगों से परिपुष्ट आपकी दृष्टियों के समूह क्रीड़ा करते रहते हैं। हमारी कांति की उत्कृष्टरूप से खींची हुई, मर्मरूप महिमा के विस्तार पर आक्रमण कर, विविध विकारी भावों की ये पंक्तियाँ यथार्थ में प्राण त्याग करती हैं। उनका मूल पद्य इस प्रकार है –

उद्दामोद्यदनन्तवीर्यपरमव्यापारं विस्तारित –
स्फारस्फारमहोर्मिमांसलदृशां चक्रे तव क्रीडति।

---

१. समयसारकलश क्र. १२.

२. उदाहरण स्वरूप समयसार कलश क्रमांक २४, ४८, ४९ तथा ९३, ९४ विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं। कलश १७८ इसका श्रेष्ठ उदाहरण है।

३. देखिये, समयसार कलश, पद्य क्र. ३३, १२५, १३३, १५४ तथा १६३.

आक्रम्याकुलकुष्ट मर्ममहिमा प्रोत्तनितां नस्विषो,
भावानां ततयो निरन्तरमिमामुच्चन्ति जीवं किल ।।[1]

मालिनी छंद का प्रयोग आत्मानुभूति या आत्मज्योति के प्रदर्शन के लिए किया है । यथा –

चिरमिति नवत्वच्छन्नमुन्नीयमानं
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेक रूपं,
प्रतिपद-मिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ।।[2]

अन्य स्थलों पर आत्मकल्याण की प्रेरणा या उसका उपदेश देने के लिए भी मालिनी छंद का ही प्रयोग किया है ।[3] कहीं कहीं सहेतुक कथन करने स्पष्टीकरण करने, व्याख्या करने और शुभभावना व्यक्त करने के लिए भी मालिनी छंद का ही उपयोग किया है ।[4]

अनुष्टुप् छंद का प्रयोग दार्शनिक तत्त्व निरूपण हेतु ही मुख्य रुप से किया है । तत्त्वार्थसार मुख्यतः अनुष्टुप् छंद में ही रचित है । उसमें आद्यान्त दार्शनिक तत्त्वों का तथा मुनि व श्रावक के आचारों का ही वर्णन है । अन्यत्र मंगलाचरण तथा उपसंहारात्मक कथन करने हेतु भी अनुष्टुप् का ही आश्रय लिया है ।[5]

उपजाति छंद का प्रयोग आत्मस्वरूप प्रदर्शन के लिए किया है । उदाहरण के लिए आत्मा का स्वरूप निरूपण करते हुए वे लिखते हैं –

आत्मस्वभावं परभावभिन्न – मापूर्ण माद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीन संकल्प विकल्प जालं, प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।।[6]

लघुतत्त्वस्फोट में २५ पद्यवाले तीन अध्यायों की रचना उपजाति छंद में ही की है जिसमें जिनेन्द्र के उत्कृष्ट स्वरूप की ही महिमा विभिन्न प्रकार से प्रस्तुत की गई है ।

---

१. लघुतत्त्वस्फोट, अध्याय २४, पद्य नं. २२.
२. समयसार कलश, ८ वां पद्य ।
३. देखिये, समयसार कलश क्र. ११, २०, २२, २३ और ४७.
४. वही, पद्य क्र. ३ तथा ३१.
५. वही, पद्य १, २, ७, १५, ३६.
६. समयसार कलश पद्य १०.

बसंततिलका छंद में आत्मानुभूति का आनन्द तथा मस्ती प्रगट की है। यथा :-

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिकाया,
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्धवा।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्प,
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥११॥

पृथ्वी छंद अनुभूति की गम्भीरता तथा अखण्डता के निरूपण में प्रयोग किया है। 'पृथ्वी' शब्द भी गंभीरता तथा अखण्डता का प्रतीक है अतः उसके माध्यम से अभिव्यक्त विचार भी वैसे ही गम्भीर तथा अखण्ड हैं।[1] पृथ्वी एक सामान्य, सुप्रसिद्ध वर्णवृत्त है परन्तु वह मंदाक्रांता तथा शिखरिणी वर्णवृत्तों की भांति लोकप्रिय नहीं है।[2] फिर भी अमृतचन्द्र ने इसका उपयोग किया है।

शिखरिणी छंद का प्रयोग निष्कर्ष रूप कथन करने तथा शंका के समाधान में भी हुआ है।[3] उक्ति पूर्ण कथनों की अभिव्यक्ति भी शिखरिणी छंद में ही हुई है।[4]

स्वागता एक अप्रचलित छंद है जिसका प्रयोग अमृतचन्द्र ने अनुभव के प्रदर्शन में किया है। यहाँ इसका एक सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है। यथा –

चित्स्वभावभरभावितभावा – भावभावपरमार्थतयैकम्।
बंधपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥[5]

शालिनी छंद भी मालिनी की तरह निष्कर्ष रूप कथन में सुशोभित हुआ है।[6] सहेतुक कथन के लिए भी शालिनी का प्रयोग कवि ने किया है।[7]

---

१. समयसार कलश, क्र. १३.
2. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute Pune, Vol. 58–59, 1977–78. Page 627.
३. समयसार कलश क्र. १०४, १०५, ११५.
४. वही, पद्य १८०.
५. वही, पद्य ६१.
६. वही, पद्य ३७, ११३.
७. वही, पद्य २१६.

नर्दटक भी एक अप्रचालित छंद है। वस्तुस्थिति अथवा सैद्धान्तिक नियम दिखाने के लिए इस छंद का प्रयोग किया है। उनके सम्पूर्ण साहित्य में मात्र समयसार कलशों में एक छंद में नर्दटक का प्रयोग हुआ है।[1]

हरिणीछंद का प्रयोग जिनेन्द्र के असाधारण रूप तथा प्रगट गुणों के वर्णन में किया है जो निश्चित ही हृदयहारी है।[2] अस्ति नास्ति रूप अनेकांतमयी वस्तु का निरूपण प्रवचनसार [illegible] में मिलता है[3] जो इस बात का प्रतीक है कि आचार्य अमृतचन्द्र को अनेकांत तथा स्याद्वादरूप कथन करने में अत्यधिक हर्ष होता था। मंदाक्रांता तथा मत्तमयूर छंद अमृतचन्द्र के आत्मानुभवानन्द के अभिव्यंजक है।[4]

इस प्रकार अमृतचन्द्र द्वारा प्रयुक्त २५ प्रकार के प्रचलित तथा अप्रचलित उभय प्रकार के छंदों के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जाती है कि आचार्य अमृतचन्द्र का प्रभुत्व संस्कृत भाषा, शैली, अलंकार, आदि की तरह छंदोबद्ध रचना करने में भी था। इससे उनकी कविप्रतिभा तथा सर्वतोमुखी व्यक्तित्व का भी पता चलता है। सर्वत्र छंदों के प्रयोग की वैज्ञानिकता को देखते हुए उन्हें वैज्ञानिक छंद प्रयोग शैली का पुरस्कर्ता भी कह सकते हैं।

रस

रस के स्वरूप के सम्बन्ध में अध्याय तृतीय के नाटककार तथा काव्यकार के रूप में अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व निदर्शन से बहुत कुछ कहा जा चुका है। आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों में प्रयुक्त प्रमुख अथवा अंगीरस शांत रस है। इसी शांत रस[5] के लिएही स्वरस[6]; चैतन्यरस[7], परमार्थरस[8],

---

१. समयसार कलश, पद्य २११.
२. ल. त. स्कोट – अध्याय २३ वां
३. वही, अध्याय १७ वां
४. वही, श्र. २२ तथा १८.
५. समयसार कलश ३२.
६. वही, कलश १९०, तथा गा. ८९ की टीका।
७. समयसार गाथा ९७ की टीका।
८. वही, गाथा २०३ की टीका।

प्रशमरस[1], महारस[2], ज्ञानरस[3], परमानन्द सुधा रस[4], निजरस[5], आदि पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग उनकी कृतियों में हुआ है। इसे ही एक स्थल पर ज्ञायकभाव से परिपूर्ण महास्वाद[6] पद भी व्यवहृत हुआ है। अन्यत्र इसे शुद्धोपयोग रस[7] नाम से भी पुकारा गया है। इस तरह सर्वत्र शांतरस ही प्रमुख रस के रूप में अभिव्यक्त हुआ हैं। साथ ही वीररस, अद्भुतरस का भी यथास्थान दिग्दर्शन हुआ है। उदाहरण के लिए आस्रव रूप योद्धा को समरभूमि में अजेय ज्ञानरूप धनुर्धारी योद्धा जीत लेता है, इस कथन में स्पष्टतः वीर रस झलकता है –

यथा – अथमहामद निर्भरमन्थरं, समररंगपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगंभीरमहोदयो; जयति दुर्जय बोधधनुर्धरः ।।

इसी तरह वीररस पूर्ण वर्णन अन्य कई स्थलों[8] पर उपलब्ध होता है। इसी तरह अद्भुतरस का प्रयोग करते हुए वे लिखते हैं कि हे नाथ केवलदर्शन एवं केवलज्ञान की एकाग्रता से तन्मय उपयोगरूपी तेज के सर्वतः विस्तृत होने पर, तादात्म्य को अच्छी तरह धारण करने वाले आपकी, समस्त जगत् में व्याप्त होने हेतु अद्भुत रस की प्रस्तावना करने वाली, दूर तक व्याप्त अनंतवीर्य सम्बन्धी गौरव की ये विस्तृत सम्मूर्च्छनाएँ एवं अत्यधिक चेष्टाएँ वेगपूर्वक, अतिशय रूप से प्रकट हो रहीं है। उनका पद्य इस प्रकार है –

दृग्बोधैक्यमयोपयोगमहसि व्याजृम्भमाणेऽमित्,
स्तैक्ष्ण्यं संदधतस्तवेश ! रभसादत्यन्तमुद्यन्त्यमूः ।
विश्वव्यापिकृते कृताद्भुतरसप्रस्तावनाडम्बरा,
दूरोत्साहितगाढ़वीर्यगरिमव्यायामसम्मूर्च्छनाः ।।२३।।[9]

---

१. समयसार कलश, २३३.
२. लघुतत्त्वस्फोट, अ. २३, पद्य ६ तथा अ. ४, पद्य २.
३. समयसार कलश २२२.
४. प्रवचनसार, तत्त्वद्रीपिका पद्य क्र. ३.
५. लघुतत्त्वस्फोट, अ. २४, पद्य २०/स. कलश १२५.
६. समयसार, कलश १४०.
७. लघुतत्त्वस्फोट, अ. ३, पद्य ६.
८. देखिये, स. सा. कलश १३३, १६३, १७८ आदि ।
९. लघुतत्त्वस्फोट, अ. २४, पद्य, २३.

अब यहाँ एक रौद्ररस का उदाहरण प्रस्तुत है जिसमें वे लिखते हैं कि बंध के कारण रूप रागादि के उदय को निर्दयता पूर्वक विदारण करती हुई, उस रागादि के कार्य को (अनेक प्रकार के बंध को) अब तत्काल दूर करके अज्ञानरूप अंधकार को नाश करने वाली ज्ञानज्योति भलीभाँति इस प्रकार सज्ज हुई है कि उसके विस्तार को अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता। उनका मूल पद्य इस प्रकार है –

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां,
कार्यं बंधं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्,
तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ॥[1]

इस तरह अमृतचन्द्र के वाङ्मय में जितने प्रकार के भी अंगभूत रस एकत्रित हुए हैं वे सभी एक ही चैतन्यरूप महारस के नाना आकार हैं। वास्तव में तो सर्वत्र एकमात्र प्रधान – अंगीरस के रूप में शांतरस ही स्फुरित है। इस तथ्य का उल्लेख स्वयं अमृतचन्द्र ने एक स्थल पर किया है। यथा –

इदमति भरान्नाकारं समं स्नपयन्,
जगत्परिणतिमितो नानाकारेस्तवेश ! चकास्त्ययम्।
तदपि सहज व्याप्तया रुन्धन्नवान्तर भावनाः,
स्फुरति परितोऽप्येकाकारश्चिदेकमहारसः।[2]

आचार्य अमृतचन्द्र का "चिदेकमहारसः" के भाव को व्यक्त करने वाला उक्त पद्य महाकवि भवभूति (ई. ७००) के उस पद्य की याद दिलाता है जिसमें उन्होंने "एको रसः करूणएव·····" इत्यादि लिखा है तथा करूणरस को अपने नाटक उत्तररामचरितम् का प्रमुख – अंगीरस तथा अन्य सभी को अंगरस निरूपित किया हैं। उन्होंने लिखा है कि आवर्त, बुद्बुद्, तरंग आदि एक जल के ही रूप हैं।[3] अस्तु, अमृतचन्द्र के साहित्य में

---

१. समयसार कलश, पद्य १७६.

२. लघुतत्त्वस्फोट – अ, २३, पद्य ६.

३. उत्तररामचरित् ३/४७ "एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद्,
भिन्नः पृथक् पृथमिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त बुदबुद तरंगमयान् विकारान्,
अम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्।

अन्य गुणों तथा विशेषताओं की भांति रस संघटना भी सुष्ठुरूपेण सम्पन्न हुई है।

गुण

साहित्यकारों ने मुख्यतः तीन गुण माने हैं माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। माधुर्य गुण के अभिव्यंजक वर्ण ट् ठ् ड् ढ्, को छोड़कर अन्त्यवर्णों ङ्, ञ्, न्, म्, ण्, से संयुक्त क् से म् पर्यन्त वर्ण हैं, ओज के व्यंजक वर्ण क्, च्, त्, प्, ट्, ग्, ज्, द् ब्, ड् वर्ण अपने वर्ग के प्रथम वर्ण के अन्त्य वर्ण ग्, झ्, घ्, भ, द, के संयोग से निर्मित पद हैं, तथा प्रसाद के अभिव्यंजक वे वर्ण हैं जिनका अर्थज्ञान श्रवणमात्र से हो जाय।[1] अस्तु उक्त आधार पर हमें अमृतचन्द्र के साहित्य में तीनों प्रकार के गुणों का सौन्दर्य उपलब्ध होता है। यथा :-

माधुर्य गुण के उदाहरण :-

सद्य एवोद्यदमंदानंदमयाश्रुजलझलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव।[2]
सद्य एवोद्यदमंदानंदांतः सुन्दरबंधुरबोधतरंगस्तत् प्रतिपद्यत एव।[3]
आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त विमुक्तमेकम्।
विलीनसंकल्प विकल्प जालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥[4]

ओज गुण का प्रयोग :-

अनेकांतकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्तबहिरङ्गान्तरङ्गसङ्गति परित्याग विविक्तान्तश्चकचकायमानान्तश्चितचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्त कल्पान्तस्तत्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्तः समस्तानुभाववन्तो भगवन्तरः शुद्धा एवासंसारघटितविकट कर्म कवाट विघटन पटीयसाध्यावसायेन प्रकटीक्रियमाणावदाना मोक्षतत्त्वसाधनतत्वमवबुध्यताम।[5]

---

१. काव्यप्रकाश – अष्टमोल्लासः।
२. समयसार गाथा ८ की टीका।
३. समयसार गाथा ८ की टीका।
४. समयसार कलश १०.
५. प्रवचनसार गाथा १७३ टीका।

प्रसाद गुण का प्रयोग :-

आचार्य अमृतचन्द्र की श्रेष्ठ कृति पुरुषार्थसिद्ध्युपाय प्रसादगुण युक्त रचना है। उसमें प्रयुक्त सभी पद्य सुगम, स्पष्ट तथा प्रसादगुण मण्डित हैं। उदाहरण के लिए इन पद्यों का अवलोकन कीजिये –

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥[1]

मधु मद्य नवनीतं पिशितं च महाविकृतयस्ताः।
बल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥[2]

आचार्य अमृतचन्द्र ने माधुर्य हेतु उपजाति तथा वसंततिलका छंद का, ओजगुण के लिए मुख्यतः शार्दूलविक्रीडित तथा प्रसादगुण को मन्दाक्रान्ता छंद का प्रयोग मुख्यरूप से किया है। इस तरह उनकी कृतियों में अन्य समस्त गुणों के साथ माधुर्य, ओज तथा प्रसाद इन तीनों गुणों का समुचित प्रस्फुटन हुआ है।

अमृतचन्द्र कला के तीन अर्थ

अच्छर अरथ में मगन रहै सदा काल,
महासुख देवा जैसी सेवा कामगविकी।
अमल अबाधित अलख गुन गावना है,
पावना परम सुद्ध भावना है भविकी॥
मिथ्यात तिमिर अपहारा वर्धमान धारा,
जैसी उगै जामलौ किरण दीपै रविकी।
ऐसी है अमृतचन्द्र कला त्रिधारूप धरै,
अनुभौ दसा गरथ टीका बुद्धि कविकी॥५२॥

अर्थ—अमृतचन्द्र स्वामी की चन्द्रकला, अनुभव की, टीका की और कविता की तीनरूप है तो सदाकाल अक्षर अर्थ अर्थात् मोक्ष पदार्थ से भरपूर है, सेवा करने से कामधेनु के समान महा सुखदायक है। इसमें निर्मल और शुद्ध परमात्मा के गुण- समूह का वर्णन है, परम पवित्र है, निर्मल है और भव्य जीवों के चिंतवन करने योग्य है, मिथ्यात्व का अन्धकार नष्ट करने वाली है, दोपहर के सूर्य के समान उग्रतिशील है।

– कविवर बनारसीदास, नाटक समयसार, साध्य साधक द्वार, छन्द ५२

---

१. पु. सि. पद्य नं. १०३.
२. वही, पद्य नं. ७१

षष्ठ अध्याय

दार्शनिक विचार

दर्शन का अर्थ है देखना। वह दो प्रकार का है स्वयं को देखना तथा पर को। प्रथम आत्म-दर्शन है तथा द्वितीय पर-दर्शन। इस स्व व पर के यथार्थ दर्शन को सम्यग्दर्शन तथा अयथार्थ दर्शन को मिथ्यादर्शन कहते हैं। दर्शन विचार-मूलक होता है अतः हेतु पूर्वक वस्तुस्वरूप की सिद्धि करते हुए यथार्थ का दिग्दर्शन कराना दर्शन का काम है। दार्शनिक विचारों के अन्तर्गत उन सभी सिद्धान्तों का परिज्ञान अपेक्षित है जिनका मोक्षमार्ग में महत्त्व है अथवा जिनके यथार्थ ज्ञान विना तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन नहीं होता। तीर्थंकर सर्वज्ञ जिनेन्द्रों की दिव्यध्वनि में निहित आत्मदर्शन अथवा विश्वदर्शन परक गम्भीर रहस्यों का उद्घाटन गणधरों तथा महान आचार्यों द्वारा मौखिक तथा तत्पश्चात् लिखित रूप में होता रहा है। समग्र दार्शनिक विवेचन प्रथम तथा द्वितीय दो श्रुतस्कंधों में समाहित होकर प्रकट होता रहा है। प्रथम श्रुतस्कंध को आगम तथा द्वितीय को परमागम नाम से अभिहित किया गया है। आगम या सिद्धांत विषयक परम्परा में आत्मा का कर्मों तथा पर द्रव्यों से होने वाले विविध संबंधों का पर्यायदृष्टिपरक - संयोगी कथन है और परमागम में मुख्यरूप से शुद्धात्मस्वरूप अथवा शुद्धद्रव्यरूप निरूपक विवेचन है। परमागम परम्परा के पुनरुद्धारक तथा प्रकृष्ट प्रचारक के रूप में आचार्य श्रेष्ठ कुन्दकुन्द का नाम विश्रुत है। उनकी दार्शनिक विचारधारा को पुनरुज्जीवित, परिपुष्ट तथा व्यापक बनाने वाले आचार्यों में अग्रणी आचार्य अमृतचन्द्र हैं जिन्होंने एक ओर टीकाग्रंथों की सृष्टिकर परमागम संबंधी दार्शनिक विचारों को प्रस्पष्ट रूप से प्रकट किया तथा दूसरी ओर मौलिक ग्रंथों के प्रणयन द्वारा आगम तथा सिद्धांत परम्परा की सुरक्षा भी की। उनके द्वारा प्रदर्शित दार्शनिक विचारों को यहां विभिन्न प्रकरणों के माध्यम से स्पष्ट किया जा रहा है।

निश्चय-व्यवहार

नय ज्ञान की आवश्यकता व महत्व :-

आचार्य उमास्वामी (गृद्धपिच्छाचार्य) ने वस्तुस्वरूप के अधिगम (समझने) का उपाय प्रमाण तथा नयों को बताया है।[1] वस्तु का स्वरूप अनेकांतमय है। अनेकांतस्वरूप का दिग्दर्शन या प्रकाशन स्याद्वाद (सापेक्ष कथन) द्वारा ही सम्भव है। स्याद्वादमयी निरूपण नयों के आश्रय से ही सम्भव है। नयज्ञान बिना एकांत पक्ष का आग्रह नहीं मिट सकता। एकांतपक्ष का आग्रह मिटे बिना अनेकांतमय वस्तुस्वरूप की प्राप्ति नहीं हो सकती। वस्तुस्वरूप की प्राप्ति बिना सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता तथा सम्यग्दृष्टि हुए बिना मोक्षमार्ग की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि तथा फल प्राप्ति नहीं हो सकती अतः मोक्षमार्ग में आने के लिए, वस्तुस्वरूप समझने के लिए, जिनदर्शन का दर्शन करने अथवा आत्मदर्शन करने के लिए नयों का ज्ञान होना सर्वप्रथम आवश्यक है। आचार्य देवसेन मानते हैं कि जो पुरुष नयदृष्टि से रहित हैं, उन्हें वस्तुस्वभाव की उपलब्धि (परिज्ञान) संभव नहीं है, तथा वस्तुस्वभाव के ज्ञान बिना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।[2] नयज्ञान के बिना मनुष्य को स्याद्वाद की प्रतिपत्ति नहीं होती, अतः जो एकांतपक्ष के आग्रह से मुक्त होना चाहता है उसे नय जानना चाहिए।[3] नय को तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का साधन तथा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति को परमकल्याण का उपाय कहा गया है।[4] अतः नयों के ज्ञान की आवश्यकता तथा उनके स्वरूप का विवेचन भी महत्वपूर्ण है।

नय का स्वरूप :-

आचार्य पुष्पदंत एवं भूतबलि प्रणीत षट्खण्डागम सूत्र में नय का लक्षण इस प्रकार उल्लिखित है उच्चारित अर्थ, पद तथा उसमें निहित निक्षेप को समझकर पदार्थ को ठीक निर्णय तक पहुंचा देते हैं इसलिए वे नय कहलाते हैं।[5] यह नय का निरुक्त्यर्थ है। वस्तुतः अनेकांत धर्ममयी

---

१. "प्रमाणनयैरधिगमः" (तत्त्वार्थसूत्र अ. १, सूत्र ६)

२. जे णयदिट्ठि विहूणा ताण ण वत्थू सहाव उवलद्धी।
वत्थुसहाव विहूणा सम्मादिट्ठि कह होंति।। नयचक्र, गा. १.

३. जम्हा ण णयेण विणा होई णरस्स सियवाय पडिवत्ती।
तम्हा सो णायव्वो एयंत हंतु कामेण।। नयचक्र, गा. १७४.

४. धवला पु. १, पृ. १०.

५. धवला पु. १, पृ. ११

वस्तु प्रमाण से परिपूर्णतः ग्रहण में आती है। प्रमाण द्वारा वस्तु को जानकर पश्चात् उसकी किसी एक अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय कहलाता है।[1] अथवा सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहते हैं।[2] यहां अभिप्राय से तात्पर्य है प्रमाण से गृहीत वस्तु के एक देश में वस्तु का निश्चय करना।[3] एकदेश अर्थात् एक धर्म का कथन करना नय का काम है। यद्यपि वस्तु नाना धर्मों से संयुक्त होती है तथापि नय उसके एक ही धर्म का कथन करता है क्योंकि उस समय उस ही धर्म की विवक्षा होती है, शेष धर्मों की विवक्षा नहीं होती है।[4] इस तरह पूर्वाचार्यों के दार्शनिक विचारों के प्रकाश में आचार्य अमृतचन्द्र के निश्चय तथा व्यवहार नय संबंधी विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

वक्ता उभय नयज्ञ होना चाहिए :-

आचार्य अमृतचन्द्र नयवेत्ता, नय मर्मज्ञ तथा नयस्वरूप के स्पष्ट निरूपक थे। सर्वत्र, उनके साहित्य में नय सापेक्ष, स्पष्ट निरूपण तथा निश्चय-व्यवहार उभय नयों का स्पष्टीकरण दिखाई देता है। निश्चय को मुख्य तथा व्यवहार को उपचार कथन दिखाकर शिष्यों के अज्ञान को दूर किया जा सकता है। अतः जिन मार्ग के वक्ता को निश्चय तथा व्यवहार दोनों नयों का ज्ञाता होना चाहिए। नयों के रहस्य के जानकार वक्ता ही जगत् में धर्मतीर्थ की प्रभावना करते हैं।[5]

नय प्रयोग में सावधानी की आवश्यकता है :-

नय अनेक हैं, उनके अपने अपने अलग-अलग अभिप्राय हैं। प्रत्येक नय के कथन के अभिप्राय को समझे बिना वक्ता या श्रोता किसी का भी कल्याण होना संभव नहीं है, अपितु नयों का यथार्थ अभिप्राय ग्रहण न करने वाले को लाभ न होकर उल्टे नुकसान में ही पड़ना पड़ता है।

---

१. सर्वार्थसिद्धि १/६ पृ. २० (ज्ञानपीठ)
२. तिलोयपण्णत्ति १/८३.
३. धवला पु. ९/४५ पृ १६२.
४. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गा. २६४. (मूल)
५. मुख्योपचार विवरण निरस्तदुस्तर विनेयदुर्बोधाः।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम्। पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, पद्य ४.

जिस प्रकार चक्र चलाने से शत्रुओं का नाश होता है परन्तु यदि चक्र चलाना न आता हो और अकुशल व्यक्ति चक्र को असावधानीपूर्वक चलाता है तो अपना ही मस्तक काट लेता है. इसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान का नयों के समूहरूप नयचक्र है, जो अतितीक्ष्ण धारवाला है, जिसका चलाना कठिन है, उसे मिथ्या अभिप्रायपूर्वक चलाने वाला पुरुष कर्मरूप शत्रुओं का नाश करता है अतः नयों के कथनों में यथार्थ अभिप्राय ग्रहण करना तथा उनके प्रयोग में सावधानी रखना आवश्यक है।[1]

नय चक्र संचालन में कुशल गुरु की शरण आवश्यक है :-

आगम में[2] कहा है कि जितने वचन हैं उतने ही नय हैं अर्थात् नयों के अनेक भेद हैं। उनके भेद प्रभेदों को सुनकर विद्वज्जनों की भी बुद्धि आश्चर्यचकित होती है। पवचनसार की तत्त्वदीपिका टीका में[3] ही आचार्य अमृतचन्द्र ने एक स्थल पर सैंतालीस प्रकार के नयों का उल्लेख एवं स्पष्टीकरण किया है। अहिंसा तथा हिंसा के स्वरूप निदर्शन में अनेक दृष्टियों से कथन किये है।[4] इन सभी कथनों के विस्तार तथा विविध भंगों (प्रकारों) को सुनकर अल्पमतिजनों को भय पैदा हो जाता है। जिस प्रकार गहन वन में कोई पथिक मार्ग भूल जाता है तो उसका उस वन से सुरक्षित पार होना कठिन हो जाता है, उस समय कोई गहनवन के समस्त मार्गों का कुशल जानकार ही उसे बचा सकता है, इसी प्रकार विविध भंग युक्त नय समूह रूप गहनवन में सन्मार्ग भूले हुए पुरुष को अथवा तत्त्वज्ञान से रहित पुरुष को नयचक्र के चलाने में कुशल अथवा नयों के मर्म के कुशल जानकार श्री गुरु ही शरणभूत होते हैं। उनके बिना अन्य कोई सन्मार्ग का प्रदर्शन नहीं कर सकता।[5] इस प्रकार स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र

---

१. अत्यंत निशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम्।। पु. सि. पद्य ५८.

२. जावदिया वयण–वहा तावदिया चेव होंति णय वादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥
धवला खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, सूत्र १, गाथा नं ६७ पृ. ८१.

३. प्रवचनसार तत्त्वदीपिका टीका, चरणानुयोग चूलिका के अंत में परिशिष्ट, पृ. ४०२.

४. पु. सि. पद्य ४३ से ५७ तक।

५. "इति विविधभंग गहने सुदुस्तरे मार्गमूढ दृष्टीनाम्।
गुरवो भवंति शरणं प्रबुद्धनयचक्र संचाराः॥" पु. सि. पद्य ५८.

नयचक्र संचालन पटु गुरु थे। ऐसे ही गुरु आत्मकल्याण हेतु आश्रय करने योग्य होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र की नयचक्र संचालनपटुता का एक सुन्दर उदाहरण यह है कि एक स्थल पर वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय से बंध होने का निषेध करते हैं।[1] साथ ही इस शंका का भी स्पष्ट शब्दों में निराकरण करते हैं कि आगम में सम्यक्त्व तथा चारित्र से तीर्थंकर तथा आहारक द्वय प्रकृतियों का बंध होना लिखा है। वे लिखते हैं कि उक्त कथन नय के ज्ञाताओं को दोष का कारण नहीं है।[2] क्योंकि सम्यक्त्व तथा चारित्र के सद्भाव में योग और कषाय के द्वारा उक्त प्रकृतियों का बंध होता है। सम्यक्त्व एवं चारित्र से बंध नहीं होता, बंध होने में दोनों उदासीन होते हैं[3] फिर भी सम्यक्त्व और चारित्र के सद्भाव की मुख्यता एवं महत्ता दिखाने के लिए उपचार (व्यवहार) से उन्हें बन्ध का कारण कहा गया है, वास्तव में वे बंध के कारण नहीं हैं। यदि कोई पुनः शंका करे कि रत्नत्रय के धारक श्रेष्ठ-मुनियों को भी देवायु तथा अन्य उत्तमप्रकृतियों का बंध होना सर्व लोक में भली भांति प्रसिद्ध है तो यह कथन किस प्रकार घटित होगा ?[4] इसके समाधान में कहा गया है कि सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र रूप रत्नत्रय तो एकमात्र निर्वाण का ही कारण होता है, अन्य गति का कारण नहीं है तथापि रत्नत्रयधारी के जो देवगति आदि के योग्य पुण्य प्रकृतियों का आस्रव (तथा बंध) होता है, वह बंधरूप अपराध शुभोपयोग का है, रत्नत्रय का नहीं।[5] उक्त सर्वजगत् प्रसिद्ध कथन रूढ़-व्यवहार का कथन

---

१. दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः॥ पु. सि. पद्य. २१६.

२. सम्यक्त्वचारित्राभ्यां तीर्थकराहारकर्मणो बन्धः।
योऽभ्युपदिष्टः समये न नयविदां सोऽपि दोषाय॥ पु. सि. पद्य २१७.

३. सति सम्यक्त्व चरित्रे तीर्थकराहार बन्धको भवतः
योगकषायौ नासति तत्पुनरस्मिन्नुदासीनम्॥ पु. सि. पद्य २१८.

४. ननुकथमेवं सिद्धयति देवायुः प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्धः।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणां मुनिवराणाम्॥ वही, पद्य २१९.

५. रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगोऽयमपराधः॥ वही, पद्य २२०.

है। निश्चय से एक वस्तु में अत्यंत विरोधी दो कार्यों के भी मेल से उक्त व्यवहार रूढ़ि को प्राप्त होता है जिस प्रकार लोक में यह व्यवहार रूढ़ हो चुका है कि "घी जलाता है"। वास्तव में देखा जाय तो घी नहीं जलाता, घी में जलाने के स्वभाव का अभाव है, जलाती तो अग्नि है क्योंकि उसमें ही जलाने का स्वभाव है। इसी प्रकार उपरोक्त कथन जानना चाहिए।[1] यह है आचार्य अमृतचन्द्र की नयपटुता का स्पष्ट उदाहरण।

निश्चय व्यवहार का स्वरूप :-

निश्चय नय भूतार्थ है तथा व्यवहार नय अभूतार्थ है, क्योंकि भूतार्थ (निश्चयनय) के ज्ञान के विरुद्ध जो भी अभिप्राय है वह सभी संसार स्वरूप है। अथवा समस्त ही संसार भूतार्थ (निश्चय) के ज्ञान से विमुख है।[2] यह नय स्वरूप कथन आचार्य अमृतचन्द्र ने आचार्य कुन्दकुन्द के कथानानुसार ही किया है। उन्होंने भी यही बात अमृतचन्द्र से हजार वर्ष पहले ही कही है कि व्यवहार अभूतार्थ है तथा शुद्धनय (निश्चयनय) भूतार्थ है ऐसा ऋषीश्वरों ने कहा है। भूतार्थ का आश्रय लेने वाला सम्यग्दृष्टि होता है।[3]

भूतार्थ-अभूतार्थ का स्पष्टीकरण :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त भूतार्थ तथा अभूतार्थ का बहुत विस्तार से स्पष्टीकरण किया है। वे लिखते हैं[4] कि समस्त ही व्यवहार अभूतार्थ है क्योंकि वह अविद्यमान या अभूत अर्थ को बताता है। निश्चय नय भूतार्थ है क्योंकि वह विद्यमान या भूत अर्थ का प्रकाशन करता है। जिस तरह प्रबल कीचड़संयुक्त, आच्छादित हुआ है निर्मल स्वभाव जिसका, ऐसे जल को जल तथा कीचड़ का भेदज्ञान न करने वाले पुरुष मलिनरूप अनुभव करते हैं, परन्तु अपने हाथ से कतकफल डालकर जल एवं कीचड़

---

१. एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढ़मिति। पु. सि. पद्य. २२१.

2. निश्चयमिहभूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थं बोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः॥ पु. सि. पद्य ५.

३. ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो॥ समयप्राभृत, गाथा ११.

४. समयसार की ११ वीं गाथा की आत्मख्याति टीका।

दोनों में भेद कर भेद ज्ञानी पुरुष जल को निर्मल अनुभव करते हैं, इसी प्रकार प्रबल कर्मों से संयुक्त जिसका एक सहज ज्ञायक स्वभाव आच्छादित हो गया है ऐसे आत्मा को, आत्मा और कर्मों का भेदज्ञान न करने वाले अभूतार्थ (व्यवहारनय) के अवलम्बी पुरुष (अथवा व्यवहार से विमोहित पुरुष) अनेक भाव रूप तथा मलिन ही अनुभव करते हैं, परन्तु भूतार्थ (शुद्ध नय या निश्चय नय) को देखने वाले पुरुष अपनी बुद्धि से शुद्ध नय के द्वारा आत्मा तथा कर्म में भेदकर, अपने पुरुषार्थ से आविर्भूत सहज एक ज्ञायक स्वभाव के कारण आत्मा को निर्मल प्रकाशमान ही अनुभव करते हैं। अतः स्पष्ट है कि कतकफल की भांति शुद्ध नय मलिनता से भेदज्ञान कराकर शुद्ध स्वभाव को ग्रहण कराता है इसलिए शुद्ध नय या निश्चय का अवलम्बन लेने वाले सम्यग्दृष्टि हैं तथा दूसरे अशुद्ध नय या व्यवहार नय का आश्रय लेने वाले सम्यग्दृष्टि नहीं है। अतः स्पष्ट है कि कर्मों से भिन्न आत्मा को देखने वालों को व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

अभूतार्थ के उपदेश का प्रयोजन :-

यहां कोई शंका करे कि यदि व्यवहार नय अभूतार्थ है, उपचार मात्र है तथा अनुसरण करने योग्य नहीं है, तो आगम में उसका उपदेश ही क्यों दिया गया है ? इसके समाधान में स्पष्ट किया गया है कि अज्ञानी जीवों को ज्ञान उत्पन्न करने अथवा समझाने के लिए आचार्य व्यवहार नय का उपदेश करते हैं, परन्तु जो जीव निश्चय यथार्थ वस्तु स्वरूप को तो नहीं जानते हैं, मात्र व्यवहार नय को ही जानते हैं उन्हें व्यवहार नय का उपदेश करना योग्य नहीं हैं।[1] उक्त अभिप्राय का समर्थन आचार्य कुन्द-कुन्द की वाणी में पहले से ही उपलब्ध है यथा जिस प्रकार अनार्य को अनार्य भाषा के बिना समझाना संभव नहीं है, उसी प्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश हो सकना संभव नहीं है।[2] कुन्दकुन्द के उक्त कथन का अत्यंत सरल, सुबोध एवं सुन्दर दृष्टांत द्वारा अमृतचन्द्र ने अपनी आत्मख्याति टीका में स्पष्टीकरण किया है।[3] यथा - जिस प्रकार किसी

---

१. अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वराः देशन्त्यभूतार्थम् ।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्यस्य देशना नास्ति ॥ पु. सि., पद्य-६,

२. जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा दु गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ समयप्राभृत, गाथा ८.

३. समयसार गा. ८ की आत्मख्याति टीका ।

अनार्य (म्लेच्छ) से यदि कोई ब्राह्मण "स्वस्ति" शब्द कहता है तो वह म्लेच्छ उस शब्द को वाच्य द्वारा सम्बन्ध को न जानने के कारण कुछ भी नहीं समझ पाता है और उस ब्राह्मण की ओर मेंढ़े की भांति टकटकी लगाकर, आंखें फाड़कर देखता ही रहता है किन्तु जब ब्राह्मण तथा म्लेच्छ दोनों की भाषा जानने वाला पुरुष समझाता है कि "स्वस्ति" का अर्थ है "तेरा अविनाशी कल्याण हो", तब तत्काल ही उत्पन्न होने वाले आनंदमय अश्रुओं से नेत्र भर कर वह म्लेच्छ "स्वस्ति" पद के अर्थ को समझ जाता है, इसी प्रकार व्यवहारी जनों को "आत्मा" शब्द कहे जाने पर आत्मा शब्द के अर्थ का ज्ञान न होने से कुछ भी न समझकर वे मेढ़े की भांति टकटकी लगाकर, आंखें फाड़कर देखते रहते हैं परन्तु जब व्यवहार एवं परमार्थरूप मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी रथ को चलाने वाले सारथी की भांति अन्य कोई आचार्य "आत्मा" शब्द का यह अर्थ बतलाते हैं कि जो दर्शन ज्ञान तथा चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है, तब तत्काल ही उत्पन्न होने वाले आनंदातिरेक से जिसके हृदय में सुन्दर तथा मनोहर बोधतरंगें (ज्ञानतरंगें) उछलने लगती हैं ऐसा वह व्यवहारी जन उस "आत्मा" पद के अर्थ को समझ जाता है। यहां ऐसा समझना चाहिए कि जगत् (व्यवहारीजन) तो म्लेच्छ के स्थान पर होने से तथा व्यवहार नय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक कहा है। अतः स्पष्ट है कि यद्यपि व्यवहार नय स्थापित करने योग्य है तथापि ब्राह्मण को म्लेच्छ नहीं हो जाना चाहिए, इस वचन से व्यवहार नय अनुसरण करने योग्य नहीं है।

व्यवहार (अभूतार्थ) को परमार्थ मानना भूल है :-

यद्यपि व्यवहार के द्वारा निश्चय (परमार्थ) का प्रतिपादन किया जाता है अतः वह निश्चय स्वरूप को समझाने का साधनमात्र है, अन्य कुछ भी नहीं।[1] साधन को साध्य मानना भी भूल ही है। टीकाकार अमृतचन्द्र ने स्वयं ही एक स्थल पर इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार बिलाव सिंह को समझने का एक साधन मात्र है परन्तु सिंह के स्वरूप से सर्वथा अपरिचित पुरुष बिलाव को ही सिंहरूप मानने लगता है, उसी तरह यथार्थ में निश्चय के स्वरूप से सर्वथा अपरिचित पुरुष के लिए व्यवहार ही निश्चय स्वरूप सत्यार्थ या भूतार्थ लगने

---

१. व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते, न किंचिदप्यतिरिक्तम्।

- समयसार गा. १० की आत्मख्याति टीका.

लगता है।[1] यही अज्ञानी की व्यवहार को सत्यार्थ मानने सम्बन्धी भूल है, जो उक्त स्पष्टीकरण से निराकृत हो जाती है। व्यवहार को परमार्थ मानने वालों को शुद्धात्मा अथवा समयसार का अनुभव नहीं हो सकता।[2]

अभव्य तथा अज्ञानी का व्यवहार नय का आश्रय कैसा होता है :-

अभव्य अथवा अज्ञानी जनों के भी व्यवहार नय का आश्रय देखा जाता है। वे तप एवं शील को धारण करते हैं, तीन गुप्ति, पांच समितियों तथा पांच महाव्रतों रूप व्यवहार चारित्र का पालन करते हैं। उक्त सभी करते हुए भी निश्चय चारित्र के कारणरूप ज्ञान तथा श्रद्धान से शून्य होने के कारण वे चारित्र रहित हैं, अज्ञानी तथा मिथ्यादृष्टि भी हैं।[3] आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि अभव्य जीव के शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं होता है। मोक्ष की अश्रद्धा से ज्ञानतत्व की भी अश्रद्धा होती है अतः ज्ञान की श्रद्धा बिना११ अंगज्ञान रूप श्रुत (शास्त्रों) को पढ़ता हुआ भी, शास्त्र पठन का गुण आत्मज्ञान न होने से वह अज्ञानी ही है। उसके आत्मज्ञान तथा आत्मश्रद्धान नहीं होता। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि आत्मज्ञान तथा श्रद्धान होते ही ज्ञानी संज्ञा प्राप्त होती है, भले ही उसके नियमरूप व्रत, चारित्रादि न हों।[4] अभव्य जीव हमेशा कर्मफलचेतना रूप वस्तु की श्रद्धा करता है परन्तु नित्यज्ञान चेतनामात्र वस्तु की श्रद्धा नहीं करता क्योंकि वह सदा ही भेदविज्ञान के अयोग्य होता है। इसलिए वह कर्मों से मुक्ति के निमित्तरूप, ज्ञानमात्र, भूतार्थ (निश्चय) धर्म की श्रद्धा

---

१ माणवक एव सिंहो यथा भवत्यनवगीत सिंहस्य।
व्यवहार एव हि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥ पु. सि. पद्य ७

२. ये व्यवहारमेव परमार्थं बुद्धया चेतयन्ते ते समयसारमेव न सचेतयन्ते।
(समयसार गा. ४१४ की टीका)

३. कथमभव्येन व्याश्रियते व्यवहारनयः इति चेत् ? अवेलतपः परिपूर्णत्रिगुप्ति पंचसमितिपरिकलितमहिंसादिपंचमहाव्रतरूपं व्यवहारचारित्रं अभव्योऽपि कुर्यात्, तथापि स निश्चयचारित्रशोऽज्ञानीमिथ्यादृष्टिरेव, निश्चयचारित्रहेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात्। (स्या. क्या. २७३.)

४. 'मोक्ष हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते, शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात्। ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धते। ज्ञानमश्रद्धानश्चाचाराद्यैकादशांगश्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात्। ..... ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः।' - समयसार गाथा २७४ की आत्मख्याति टीका।

नहीं करता तथा अभूतार्थ (व्यवहार) धर्म की श्रद्धा करता है जो कि भोग का निमित्त तथा शुभ कर्ममात्र रूप होता है। ऐसे अभूतार्थ धर्म की श्रद्धा प्रतीति रुचि और स्पर्शन से ऊपर के ग्रैवेयकों तक के भोग प्राप्त करता है परन्तु कर्मों से कदापि मुक्त नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि उसके भूतार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव है।[1] उपरोक्त समस्त दार्शनिक विचारों का आधार आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत समयसार की संबंधित गाथाएं हैं।[2]

निश्चय व्यवहार का एक और लक्षण :-

आचार्य अमृतचन्द्र निश्चय-व्यवहार का भूतार्थ-अभूतार्थ स्वरूप स्पष्ट रूप से दिखा चुके हैं। अन्यत्र वे उनका एक और लक्षण प्रस्तुत करते हैं। वे निश्चय को आत्माश्रित अथवा स्वाश्रित तथा व्यवहार को पराश्रित भी निर्दिष्ट करते हैं।[3] उन्होंने स्पष्ट किया है कि समस्त परद्रव्यों के निमित्त से होने वाले अध्यवसान भाव हैं वे पराश्रित होने से त्यागने योग्य हैं। इससे यह भी फलित होता है कि जितने प्रकार के व्यवहार भाव हैं, वे सभी पराश्रित हैं तथा पराश्रित होने के कारण ही जिनेन्द्रदेवों ने समस्त व्यवहार को तथा व्यवहारनय के विकल्पों को त्याज्य कहा है। सत्पुरुषों को एक शुद्धात्मा में ही स्थिरता करनी चाहिए।[4] इस प्रकार उक्त द्वितीय लक्षण द्वारा भी निश्चय को उपादेय तथा व्यवहार को हेय कहा है।

निश्चय-व्यवहार की तृतीय परिभाषा :-

शुद्धद्रव्य का निरूपण करने वाला निश्चय नय है तथा अशुद्धद्रव्य का निरूपण करने वाला व्यवहार नय है। शुद्धद्रव्य का अर्थ मात्र एक द्रव्य से है, उसमें अन्य द्रव्य निरपेक्ष है। अशुद्धद्रव्य से तात्पर्य एक द्रव्य में दूसरे द्रव्य का आरोपण है। उदाहरण के लिए राग परिणाम ही आत्मा का कर्म है। वही पुण्य तथा पाप रूप से दो प्रकार का है। आत्मा अपने राग परिणाम का कर्ता है, उसी को ग्रहण करता है तथा उसी का त्याग करता है, वह शुद्ध द्रव्य (एकद्रव्याश्रित) निरूपण स्वरूप निश्चयनय है तथा पुद्गल परिणाम आत्मा

---

१. समयसार गा. २७५, आत्मख्याति टीका।

२. देखिये, समयप्राभृत, गाथा नं० २७३, २७४ तथा २७५.

३. आत्माश्रितो निश्चयः, पराश्रितो व्यवहारः। समयसार गा. २७२ की टीका.

४. समयसार कलश नं० १७३.

का कर्म है, वही पुण्य पाप के भेद से दो प्रकार का है, आत्मा पुद्गल परिणाम का कर्ता है, उसका ग्रहण करने वाला तथा छोड़ने वाला है, यह अशुद्धद्रव्य (अन्य द्रव्याश्रित) निरुपण स्वरूप व्यवहार नय है। शुद्ध तथा अशुद्ध अथवाएक तथा मिश्रितरूप से द्रव्य की प्रतीति की जाती है अतः एक द्रव्य ग्राहक को शुद्ध द्रव्य ग्राही निश्चय तथा मिश्रद्रव्य ग्राहक को अशुद्धद्रव्य ग्राही व्यवहार, ये दो नय कहे है किन्तु इन दोनों में निश्चय नय को ही साधकतम मानकर उपादेय निरूपित किया है और व्यवहार नय को अशुद्धत्व का द्योतक होने के कारण साधकतम नहीं कहा है अतः साधकतम न होने से उसे हेय कहा है।[1]

नयों की हेयता तथा उपादेयता का कारण :-

अशुद्धद्रव्य का ग्राहक अशुद्धनय (व्यवहार नय) कहलाता है। अशुद्धनय को उपादेय मानने या उसका आश्रय लेने से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है तथा शुद्धद्रव्यग्राही शुद्धनय (निश्चयनय) को उपादेय मानने तथा उसका आश्रय करने से शुद्ध आत्मा की उपलब्धि होती है। शुद्धात्मा की उपलब्धि से मोक्षमार्ग एवं मोक्ष दोनों की प्राप्ति होती है, जिससे आत्मा का प्रयोजन सधता है तथा अशुद्धात्मा की उपलब्धि तो सदा से संसारी जीव को है ही, जिससे सदैव दुःखी रहा है और आत्मा का प्रयोजन नहीं साधा जा सका है अतः प्रयोजन के साधक निश्चय नय को उपादेय और प्रयोजन का साधक न होने से व्यवहार नय को हेय कहा गया है। व्यवहार नय में मूर्च्छित जीवों को आचार्य अमृतचन्द्र ने उन्मार्गगामी लिखा है। वे लिखते हैं कि जो आत्मा शुद्ध द्रव्य के निरूपक निश्चय नय से निरपेक्ष होकर अशुद्धद्रव्य के निरूपक व्यवहार नय में मोह करता है तथा मानता है कि ये देहादि व धनादि पर द्रव्य मेरे हैं, मैं इनका हूँ मैं यह हूँ" इत्यादि ममत्व करता है, वह अशुद्धात्म परिणतिरूप उन्मार्ग का ही पथिक है, भले ही वह श्रमण (मुनि) क्यों न हो। अस्तु, जो आत्मा निश्चय नय के द्वारा पर द्रव्य विषयक ममत्व को त्यागता है वह शुद्धात्मा की प्राप्ति तथा शुद्धात्मानुभूति रूप सन्मार्ग को प्राप्त करता है।[2] यहां यदि कोई तर्क करे कि व्यवहार नय के कथन अनुसार लोक व्यवहार चलता है, जैसे लोक में

---

1. प्रवचनसार, तत्त्वदीपिका गा. टीका १८९.
2. प्रवचनसार, गा. १९०-१९१ की तत्त्वदीपिका टीका।

बात प्रसिद्ध एवं रूढ़ है कि कुम्भार घड़े का कर्ता है।[1] व्यवहार नय को हेय निरूपित करने तथा मानने से समस्त प्रकार के लोक व्यवहार का लोप हो जायेगा। आगम में स्पष्ट घोषणा है कि यदि लोक व्यवहार का लोप होता है तो होने दो, इसमें हमारी क्या हानि है, क्योंकि लोक व्यवहार तो वास्तव में नय नहीं है, नयाभास है।[2] उक्त लोकव्यवहार तो मिथ्या ही है साथ ही आत्मा के अनर्थ का कारण है यथा – मैं परजीवों को दुखी करता हूँ, सुखी करता हूँ, बंधाता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि सभी अध्यवसानरूप व्यवहार, परभाव का, पर में व्यापार न होने के कारण अपनी अर्थ क्रिया करने वाला नहीं है। अतः "मैं आकाश कुसुम को तोड़ता हूं" मानने की भांति उक्त अध्यवसान मिथ्या है, मात्र अपने (आत्मा के) अनर्थ के लिए ही है।[3] इसीलिए आचार्य अमृतचन्द्र स्पष्ट शब्दों में निश्चय व्यवहार के निरूपण का सार प्रस्तुत करते हैं कि यहां यही तात्पर्य है कि शुद्धनय (निश्चयनय) त्यागने योग्य नहीं है, क्योंकि उसके अत्याग से बन्ध नहीं होता है तथा त्याग से बंध होता है।[4] साथ ही व्यवहार नय को त्याज्य बताने का कारण यह है कि वह स्वयं ही मिथ्या उपदेश अर्थात् जैसा वस्तुस्वरूप नहीं है वैसा कथन करता है इसलिए वह निषेध करने या त्यागने योग्य है, परन्तु जो आत्मा व्यवहार नय के विषय पर दृष्टि रखता है, वह मिथ्यादृष्टि माना गया है।[5] अतः न्यायबल से यह बात सिद्ध

---

१. कुलालः कलशं करोत्यनुभवसिद्धमेतत् लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावदयमपि व्यवहारः।
समयसार गा. २४ की टीका.

२. अथ चेद् घटकर्ताऽसौ घटकारो जनपदोक्तिलेशोऽयम्।
दुर्वारो भवतु तदा का नो हानिर्यदा नयाभासः॥
पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, पद्य ५७६.

३. परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादि बंधयामि मोचयामीत्यादि वा यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्व्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं चुनामीत्यध्यवसानमिवाभूतार्थं केवलमात्मनोऽनर्थायैव। (समयसार गा. २६६ की टीका)

४. इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो न हि।
नास्ति बंधस्तदत्यागात् तत्यागाद्बंध एव हि॥ (समयसार कलश, १२२)

५. व्यवहारः किल मिथ्या स्वयमपि मिथ्योपदेशकश्च यतः।
प्रतिषेध्यस्तस्मादिह मिथ्यादृष्टिस्तदर्थदृष्टिश्च॥
६२८ पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय।

है कि व्यवहार नय अभूतार्थ है तथा जो केवल व्यवहार नय को अनुभव करने वाले हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं और पथभ्रष्ट भी हैं।[1]

व्यवहारनय कथंचित् प्रयोजनीय है :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने जहां एक ओर व्यवहार नय के कथन को अभूतार्थ या असत्यार्थ का प्रकाशक होने से अनुसरण न करने योग्य लिखा है वहीं दूसरी ओर उनने उसे हस्तावलम्ब तुल्य बताकर उसकी समुचित स्थापना भी की है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि प्रथम भूमिका में कदम रखने वाले पुरुषों को वह व्यवहार नय सखेद हस्तावलम्ब समान है, तथापि जो पुरुष चैतन्य चमत्कारमात्र परद्रव्यों तथा परभावों से भिन्न परम "अर्थ" को अपने अंतरंग में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं तथा उसमें लीन होकर चरित्रभाव को प्राप्त करते हैं उन्हें यह व्यवहार नय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है।[2] एक अन्य स्थल पर भी इसी सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है कि जो पुरुष अंतिम ताव से पच्यमान शुद्ध स्वर्ण के समान परमभाव को अनुभवता है उसे शुद्धनय ही जानने में आता हुआ प्रयोजनवान् है, परन्तु जो पुरुष उत्कृष्ट भाव का अनुभव नहीं करते, उन्हें अशुद्धद्रव्य को कहने वाला, भिन्न-भिन्न एक एक भावस्वरूप अनेकभावों को दिखाने वाला व्यवहार नय जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है।[3] इस प्रकार स्पष्ट है कि कोई भी नय का कथन सर्वथा परिपूर्ण वस्तुस्वरूप का निरूपक नहीं होता है अपितु एकांश का निरूपक होता। साथ ही सापेक्ष नय ही सम्यक् नय है सर्वथा निरपेक्ष नय मिथ्या नय हैं।[4] अस्तु नयों के कथनों के सत्यार्थ अभिप्राय या भावार्थ को यथा प्रसंग यथोचित जानना तथा मानना चाहिए।

व्यवहार की स्थापना भी न्यायसंगत है :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने नयों का यथार्थ-अयथार्थपना ही प्रदर्शित

---

१. तस्मान्नयागत इति व्यवहारः स्यान्नयोऽप्यभूतार्थः ।
केवलमनुभवितारस्तस्य च मिथ्यादृशो हतास्तेऽपि ॥ ६३६, पञ्चाध्यायी प्र. अ.

२. व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हंत हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥
स. सा. क. ५.

३. समयसार गा १२ की आत्मख्याति टीका।

४. निरपेक्षनया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत ॥ देवागम स्तोत्र, १०८.

नहीं किया है, अपितु उनके प्रयोग का कहाँ कितना औचित्य है, इसका भी भली प्रकार प्रकार स्पष्टीकरण किया है। व्यवहार नय को जहां वे अभूतार्थ - अयथार्थ लिखते हैं, वहीं वे उसे स्थापित करने योग्य भी लिखते हैं क्योंकि म्लेच्छभाषा की भांति व्यवहारनय व्यवहारी जीवों को परमार्थ बतलाने वाला है, इसलिए वह स्वयं अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिए व्यवहार नय बतलाना न्यायसंगत ही है। यदि व्यवहार न बताया जावे और परमार्थ से (निश्चय से) जीव को शरीर से भिन्न बताया जाने पर भी जैसे भस्म (राख) को मसल देने पर हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार त्रस स्थावर जीवों को निःशंकतया मसल देने, कुचल देने या घात करने पर भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इस कारण बंध का भी अभाव सिद्ध होगा तथा परमार्थतः जीव राग-द्वेष से भिन्न बताये जाने पर भी "रागी द्वेषी, मोही जीव कर्म से बंधता है उसे छुड़ाना चाहिए" ऐसे मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जायेगा और इससे मोक्ष का भी अभाव होगा[1] जो सिद्धांत विरुद्ध है। उक्त कथन से स्पष्ट है कि परमाध्यात्मी परन्तु अनेकांती आचार्य अमृतचन्द्र ने सर्वत्र एकान्त के झुकाव से जगज्जनों को सावधान किया है। जहां एक ओर वे व्यवहार नय को अनुसरण करने लायक नहीं हैं - लिखते हैं, वहां दूसरी ओर वे व्यवहार नय को दिखाना न्यायसंगत सिद्ध करते हैं। इससे यह भी निश्चित होता है कि एकांत चाहे व्यवहार नय का हो या निश्चय नय का, वह अनर्थ की परम्परा का ही कारण है।

निश्चय नय की एकांत स्थापना से भी अनर्थ परम्परा का ही जन्म होता है:-

निश्चय नय की एकांत स्थापना में होने वाले अनर्थ को दिखाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि जो जीव यथार्थ में निश्चय के स्वरूप को तो नहीं जानता तथा अयथार्थ को ही निश्चयरूप से अंगीकार करता है, वह मूर्ख बाह्य क्रिया में आलसी है। वह बाह्य क्रियारूप आचरण को नाश करता है।[2] अतः हे भव्य जीवो यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहार के बिना तीर्थ (व्यवहार मार्ग) का नाश हो जायेगा तथा

---

१. समयसार, गा. ४६ आत्मख्याति टीका।

२. निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करण चरणं स बहिः करणालसो बालः॥ पु. सि., ५०।

निश्चय के बिना तत्त्व का नाश होगा।[1] यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि दोनों नयों का ग्रहण किस प्रकार करना चाहिए? वहां आगम में निश्चय नय की मुख्यता लिए कथन हो, वहां तो "सत्यार्थ है", वस्तुस्वरूप ऐसा ही है - ऐसा मानना, तथा जहां व्यवहार नय की मुख्यता से कथन हो वहां "असत्यार्थ है" ऐसा है नहीं, किसी अपेक्षा उपचार किया है-इस प्रकार जानने का नाम ही दोनों नय का ग्रहण है, परन्तु दोनों नयों को समान रूप से सत्यार्थ मानना भूल है, मिथ्यात्व है।[2] दोनों नयों का कथन (स्वरूप) परस्पर विरोध लिए हुए है अतः दोनों को समान रूप से सत्यार्थ नहीं माना जा सकता।[3] अस्तु।

नयों के भेद :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने प्रत्येक तथ्य के निरूपण में अपने पूर्वाचार्यों की सिद्धांत परम्परा को ही विशेष रूप से स्पष्ट किया है। उन्होंने प्रमाण, नय तथा निक्षेप को अधिगम (ज्ञान) का उपाय बतलाते हुए नयों के मूलतः दो ही भेद लिये हैं, वे हैं द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक। वहां द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु में द्रव्य की मुख्यता से अनुभव कराने वाला द्रव्यार्थिक नय है तथा पर्याय की मुख्यता से अनुभव कराने वाला पर्यायार्थिक नय है। ये दोनों नयों का पर्याय से अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और द्रव्य व पर्याय से अनालिंगित शुद्धवस्तुमात्र जीव के चैतन्य स्वभाव का अनुभव करने पर अभूतार्थ हैं।[4] अन्यत्र इन्हीं दो मूल भेदों का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि भगवान् ने दो नय कहे हैं - द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। वहां कथन एक नय के आधीन नहीं होता किन्तु दोनों नयों के आधीन होता है। इसलिए वे पर्यायार्थिक कथन से जो अपने से कथंचित् भिन्न भी है ऐसे अस्तित्व में व्यवस्थित हैं तथा द्रव्यार्थिक कथन से स्वयमेव सत् (विद्यमान) होने के कारण अस्तित्व से अनन्यमय हैं।[5] उक्त दो नयों का

---

१. उक्तं च→ "जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।"
—समयसार गा. १२ की टीका.

२. मो. मा. प्रकाशक अ. ७, पृ. २५१.

३. वही. अ. ७. पृ. २४८.

४. समयसार गा. १३ आत्मख्याति।

५. पंचास्तिकाय गा. ४ की टीका।

ही उल्लेख आचार्य अमृतचन्द्र के पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा भी प्रमाणित होता है। षट्खण्डागमकार ने भी स्पष्ट लिखा है कि तीर्थंकरों के वचनों के सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। शेष सभी नय इन दोनों नयों के ही प्रभेद हैं।[1] "नयचक्र" प्रणेता माइल्ल धवल ने भी उक्त दो ही भेदों का उल्लेख किया है।[2] अनेकांती आचार्य अमृतचन्द्र ने सभी टीकाएं मुख्यतः दोनों नयों के आश्रय से लिखी है। पंचास्तिकाय की समयव्याख्या नामक टीका में इसका संकेत उन्होंने टीका के आरम्भ में ही किया है कि जो सम्यग्ज्ञान रूपी निर्मल ज्योति की जननी है तथा दोनों नयों के आश्रित है ऐसी समयव्याख्या नाम की टीका कही जाती है।[3]

नयों के अन्य प्रभेदों का उल्लेख :-

सर्वप्रथम आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी आत्मख्याति टीका में भूतार्थ-स्वरूप निश्चय तथा अभूतार्थस्वरूप व्यवहार इन दो नयों की चर्चा की। तत्पश्चात् निश्चय नय के ही मूलतः दो भेद दर्शाये एक द्रव्यार्थिक, दूसरा पर्यायार्थिक। अभूतार्थरूप व्यवहार के भी सद्भूत तथा असद्भूत ये दो भेद भी किये तथा असद्भूत व्यवहार के भी अनुपचरित और उपचरित भेदों का उल्लेख किया है। प्रसंगवशात् आचार्य अमृतचन्द्र ने नयों के उक्त भेद प्रभेदों का स्वरूप निर्देश तथा उनके आश्रय से कथन भी किया है। यहां उनके द्वारा उल्लिखित भेद प्रभेदात्मक नयों को प्रस्तुत किया जाता है।

सद्भूत व्यवहार नय :-

व्यवहार दो प्रकार का कहा गया है, सद्भूत तथा असद्भूत। वहां एक वस्तु विषयक व्यवहार को सद्भूत व्यवहार तथा भिन्न वस्तु विषयक व्यवहार को असद्भूत व्यवहार कहते हैं।[4] स्वभावतः वस्तु एक अभेद

---

१. धवला पु. १, गाथा ५.

२. नयचक्र गा. १८३, तथा आलाप पद्धति गा. ४.

३. पंचास्तिकाय, समयव्याख्या टीका, पद्य ३

४. व्यवहारो द्विविधः सद्भूतव्यवहारोऽसद्भूतव्यवहारश्च। तत्रैकवस्तुविषयः सद्भूत व्यवहारः। भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।
आलापपद्धति, सूत्र न. २२०-२२२ तक।

ही होती है तथापि उसमें भेद करके कथन करना सद्भूत व्यवहार नय की कथन शैली है। इस शैली का प्रयोग अनंतधर्मात्मक अभेद अखण्ड एक वस्तु स्वरूप का परमार्थ को न जानने वाले शिष्यों को समझाने के लिए किया जाता है। उक्त अभिप्राय को व्यक्त करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि वास्तव में तो एकमात्र ज्ञायक आत्मा के बंधपर्याय विषयक अशुद्धता तथा दर्शन ज्ञान चारित्र रूप भेद भी विद्यमान नहीं है तथापि अनंत धर्मात्मक एक धर्मी को न जानने वाले अनिष्णात निकटवर्ती शिष्यों को, धर्म तथा धर्मी के अभेद होने पर भी, धर्मी को समझाने वाले धर्मों के द्वारा अभेद वस्तु में भी भेद उत्पन्न कर व्यवहार मात्र से ऐसा कथन किया जाता है कि ज्ञानी के ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र हैं, परन्तु परमार्थ से पण्डित (ज्ञानी) पुरुष के अनंत धर्मात्मक एक वस्तु का स्वभाव अनुभव होने से उक्त दर्शन ज्ञान चारित्रादि भेद नहीं है। एकमात्र शुद्ध ज्ञायक आत्मा ही अनुभूत है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि उक्त कथन सद्भूत व्यवहार नय के आश्रय से ही किया है क्योंकि गुण-गुणी में अभेद होने पर भी भेदोपचार करना सद्भूत व्यवहार नय है ऐसा आगमोक्त है।[2]

असद्भूत व्यवहार नय :-

भिन्न वस्तुओं में अभिन्नपने का उपचार करना असद्भूत व्यवहार नय है। अथवा भेद होने पर भी अभेदपन का उपचार करना असद्भूत व्यवहार नय कहलाता है।[3] उक्त व्यवहार को सत्यार्थ मान लेने वाले जीवों को अमृतचन्द्र ने अज्ञानी अथवा नय विभाग ज्ञान से अनभिज्ञ कहकर उक्त नय के आश्रय से किये जाने वाले कथनों का अभिप्राय स्पष्ट किया है। एक स्थल पर वे लिखते हैं कि "जो आत्मा है, वही शरीर है या पुद्गलद्रव्य है" ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। नय विभाग से अनभिज्ञ अज्ञानी की ऐसी मान्यता है। नय विभाग की स्पष्ट मर्यादा इस प्रकार है – जैसे लोक में सोने और चांदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है, उसी प्रकार आत्मा और शरीर को परस्पर एक क्षेत्र में रहने वाली अवस्था के होने से एकपने का व्यवहार होता है। ऐसे व्यवहार में आत्मा और शरीर का एकपना कहा जाता है परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है।

---

१. समयसार गा. ७ आत्मख्याति टीका।

२. निरूपाधि गुणगुणिनोर्भेदविषयोऽनुपचरित सद्भूत व्यवहारो—। आलापपद्धति सूत्र नं. २२५.

३. बृ. द्र. सं.–गा. ३ की टीका।

जिस प्रकार निश्चय से पीलापना आदि तथा सफेदी आदि स्वभाव वाले सोने तथा चांदी में अत्यन्त भिन्नता होने से उनमें एक पदार्थपना असिद्ध है क्योंकि उनमें अनेकत्व है, इसी प्रकार उपयोग स्वभावी आत्मा तथा उपयोग रहित शरीर में अत्यंत भिन्नता होने से उनमें एक पदार्थपना सिद्ध नहीं है क्योंकि उनमें अनेकत्व ही है। इस प्रकार यह प्रगट नय विभाग है।[1] अतः स्पष्ट है कि उक्त कथन असद्भूतव्यवहारनय के आश्रयसे है। यहां शरीर और आत्मा की भिन्नद्रव्यसत्ता है, तथापि भिन्न सत्तावाले दो द्रव्यों में संश्लेष (एकक्षेत्रावगाह) संबंध देखकर अभेद कथन करना असद्भूतव्यवहारनय की कथन शैली है।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार :-

उपरोक्त कथन असद्भूतव्यवहार नय का तो स्पष्ट है ही। साथ ही असद्भूत व्यवहार के दो प्रभेदों, अनुपचरित तथा उपचरित के लक्षणों की कसौटी पर कसने से उक्त कथन अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय का सिद्ध होता है क्योंकि एकक्षेत्रावगाह या संश्लिष्ट संबंध को ही अनुपचरित कहते हैं।[2] आत्मा और शरीर संश्लिष्ट संबंध वाले होने से अनुपचरित हैं तथा दोनों की स्वरूप व द्रव्यसत्ता भिन्न होने से असद्भूत हैं और दोनों एक द्रव्य नहीं हैं, फिर भी एकपने का कथन किया सो व्यवहार है। इस प्रकार देह तथा जीव को एक कहने वाला, देह की क्रिया का कर्ता आत्मा है अथवा आत्मा की क्रिया में देह साधक-बाधक है - इत्यादि समस्त कथन अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय के ही हैं।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नय :-

भिन्न क्षेत्रवर्ती भिन्न वस्तु में अथवा एकक्षेत्रावगाह संबंध से रहित

---

१. ततो य एवात्मा तदेव शरीर पुद्गलद्रव्यमिति ममैकांतिकी प्रतिपत्तिः। नैवं, नयविभागानभिज्ञोसि इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समवर्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कंधव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं, न पुनर्निश्चयतः, निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपाण्डुरत्वादि स्वभावयोरिवात्यंत व्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्मेवेति। एवं हि किल नयविभागः।

- समयसार आत्मख्याति गा. २६, २७.

२. बृ. द्र. सं. गाथा ३, टीका, आलाप पद्धति, सूत्र नं. २२८.
संश्लेष सहित वस्तु सम्बन्धोविषयोऽनुपचरितासद्भूत व्यवहारो···

भिन्न वस्तु में अन्य द्रव्य के प्रसिद्ध धर्म को आरोपित करना उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है।[1] उक्त नय के आश्रित कथन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र एक स्थल पर लिखते हैं कि कुम्भकार घड़े का कर्ता तथा भोक्ता है, ऐसा लोगों का अनादि रूढ़ व्यवहार है।[2] अथवा यह राजा पांच योजन के विस्तार में निकल रहा है ऐसा कहना, व्यवहारीजनों का सेना समुदाय में राजा कह देने का व्यवहार है क्योंकि एक राजा का पांच योजन में फैलना शक्य है, परमार्थ से तो राजा एक ही है।[3] उक्त दोनों उदाहरण उपचरित असद्भूत व्यवहारनय के हैं, क्योंकि कुम्भकार और घड़ा अथवा राजा और सेना दोनों भिन्न क्षेत्रवर्ती होने से उपचरित हैं, दोनों की सत्ता भिन्न होने से असद्भूत हैं तथा अन्य का गुण-धर्म अन्य द्रव्य में आरोपित करना व्यवहार है। असद्भूत व्यवहार स्वयं उपचार है तथा उपचार का भी उपचार करना उपचरित असद्भूत व्यवहार है।[4]

इस प्रकार शुद्धनय (निश्चयनय), अशुद्धनय (व्यवहारनय), सद्भूत-व्यवहार, असद्भूत व्यवहार, अनुपचरित व्यवहार तथा उपचरित व्यवहार इन छह नयों के आश्रय से कथन तथा स्पष्टीकरण करके आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीकाओं में तथा मौलिक ग्रंथों में आध्यात्मिक दृष्टि से नयचक्र का कुशल संचालन किया है। ये छहों नय अध्यात्म भाषा में नयचक्र के मूल माने गये हैं। उक्त छह नयों का ही अनुकरण एवं प्रयोग करते हुए अमृतचन्द्र के पश्चाद्वर्ती ब्रह्मदेव सूरि ने भी इन छहों नयों को नयचक्र का मूल एवं संक्षेप में उनको ही ज्ञातव्य लिखा है।[5]

नयों के ४७ प्रकारों का निर्देश :-

एक कुशल नयचक्रवेत्ता तथा नयचक्र संचालक के रूप में अमृतचन्द्र ने उपरोक्त छह मूल आध्यात्मिक नयों के अतिरिक्त ४७ नयों का उल्लेख भी किया है। उनमें ७ नय सप्तभंगी के अनुसार, ४ नय निक्षेपों के अनुसार

---

१. बृ. द्र. सं.–गा. ३, तथा आलाप पद्धति–सूत्र नं. २२७.

२. समयसार, गा. ८४. आत्मख्याति टीका।

३. वही, गा. ४८. आत्मख्याति टीका।

४. असद्भूतव्यवहार एवोपचारः, उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्व्यवहारः ॥ आलापपद्धति सूत्र नं. २०८.

५. बृ. द्र. सं, गा. ३–"इतिनयचक्रमूलं संक्षेपेण नयषट्कं ज्ञातव्यमिति।"

तथा शेष नय विरोधी धर्मसूचक युगलों पर आधारित हैं। इन ४७ नयों के आश्रय से एकमात्र आत्मा का निरूपण किया है।[1]

समस्त नयों का ३ प्रकारों द्वारा भी निर्देश :-

उपर्युक्त समस्त नयों द्वारा निरूपित एक आत्मा का तीन प्रकार से विवेचन किया है शब्दरूप, ज्ञानरूप तथा अर्थरूप। वहां ज्ञानरूप आत्मा (समय) की प्रसिद्धि के लिए, शब्दरूप आत्मा के सम्बन्ध से, अर्थरूप आत्मा को प्रकाशित किया जाता है।[2] इन्हें ही शब्दनय तथा अर्थनय भी कहा जाता है। अन्यत्र कर्मनय तथा ज्ञाननय २ प्रकारों का भी उल्लेख है। वहाँ पराश्रित क्रियाकाण्ड को दर्शाने वाले समस्त प्रकार के व्यवहार नयों को कर्मनय से तथा परमभाव-ज्ञानमयी शुद्धात्मस्वभाव ग्राही निश्चय नय को ज्ञाननय नाम से अभिहित किया गया है।[3] इस तरह नयों के भेद प्रभेदों के कथन में आचार्य अमृतचन्द्र ने अत्यंत स्पष्ट एवं विहंगमदृष्टि रखी है।

निश्चय व्यवहार नयों में परस्पर सम्बन्ध :-

उक्त दोनों नयों के स्वरूप, लक्षण प्रकार तथा प्रयोजन को स्पष्ट करने के अतिरिक्त आ. अमृतचन्द्र ने उन दोनों में प्रतिपाद्य प्रतिपादक, साध्य-साधक तथा निषेधक-निषेध्य आदि सम्बन्धों पर भी प्रकाश डाला है। इन सम्बन्धों के स्पष्टीकरण हेतु उन्होंने अपने ग्रंथों में पर्याप्त प्रकाश डालकर उनके समुचित एवं संतुलित महत्त्व को भी प्रदर्शित किया है, जो इस प्रकार है :-

प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्ध :-

निश्चयनय एक अभेद-अखण्ड ज्ञायकस्वभावी आत्मा का प्रकाशक है परन्तु अनादि अज्ञान के कारण एक चिदानन्द ज्योति आत्मा के ज्ञान रहित अज्ञानी जनों को सीधे निश्चय कथन से अभेद आत्मा का वाच्यपना अनुभव में - पकड़ में नहीं आता, इसलिए दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि भेद करके

---

१. प्रवचनसार तत्त्वदीपिका, परिशिष्ट।

२. पंचास्तिकाय गा. ३ की टीका :-"अत्र शब्दज्ञानार्थरूपेण त्रिविधाऽभिधेयता समयशब्दस्य.....।.....तदत्र ज्ञानसमयप्रसिद्धयर्थं शब्दसमयसम्बन्धेनार्थ-समयोऽभिधातुमभिप्रेतः।

३. समयसार कलश-१११.

व्यवहार कथन द्वारा समझाया जाता है तथा व्यवहार कथन से दर्शन, ज्ञान, चारित्रादि लक्षणमयी दिखाकर अभेद आत्मा का भी ग्रहण करना सम्भव होता है, जिस प्रकार म्लेच्छ भाषा में आर्यभाव को समझाया जाना शक्य है उसी प्रकार व्यवहारीजनों को व्यवहार भाषा में निश्चयनय का विषयभूत आत्मा समझाया जाता है।[1] अमृतचन्द्र ने स्पष्ट कहा है कि ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कहने वाला व्यवहार, परमार्थ मात्र का ही प्रतिपादक है अन्य कुछ का नहीं।[2] यहां विशेष सावधानी इस बात की होना आवश्यक है कि प्रतिपाद्य-प्रतिपादक को वाच्य-वाचक सम्बन्ध नहीं मान लेना चाहिए क्योंकि निश्चयनय द्वारा निरूपित वस्तु तथा निश्चय के वचनों में वाच्य-वाचक संबंध बन जाता है परन्तु व्यवहार नय के वचन वस्तु स्वरूप के प्रकाशक नहीं हैं अपितु आरोपित, उपचरित, असत्यार्थ स्वरूप के प्रकाशक हैं अतः व्यवहारनय के कथन के विपरीत वस्तुस्वरूप होने से व्यवहार तथा निश्चय में वाचक-वाच्य सम्बन्ध नहीं बनता। इसी लिए व्यवहार नय को प्रतिपादक लिखकर भी अमृतचन्द्र ने उसे अनुसरण न करने योग्य लिखा है।[3]

साध्य-साधक सम्बन्ध :-

निश्चय को साध्य तथा व्यवहार को साधक निरूपित करते हुए एक स्थल पर वे लिखते हैं कि निश्चय व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का कहा गया है, उनमें प्रथम-निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप तथा द्वितीय व्यवहार मोक्षमार्ग साधक रूप है।[4] यहां यह ध्यान देने योग्य है कि ज्ञेयों को ज्ञान कहना जैसे घट ज्ञान, श्रद्धेय को दर्शन कहना जैसे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा सम्यग्दर्शन है तथा आचरण करने योग्य को चरित्र कहना जैसे हिंसादि का त्याग चारित्र है, यह सब व्यवहार रत्नत्रय विषयक कथन असद्भूत व्यवहारनय का है।[5] इसे परमार्थ नहीं जानना चाहिए।

---

१. समयसार आत्मख्याति गा. ७ टीका तथा ८ की टीका।

२. वही, गा. टीका ९-१०.

३. समयसार गा. टी ८ तथा ११. "इति वचनात् व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः।"

४. तत्त्वार्थसार, उपसंहार पद्य-२. 'निश्चयव्यवहाराभ्यां मोक्षोमार्गो द्विधा स्थितः तत्राद्यः साध्यरूपः स्याद्द्वितीयस्तस्य साधनम्॥"

५. नयचक्र ३२० गा. "णेयं खु जत्थ णाणं सद्धेयं जत्थ दंसणं भणियं।
चरियं खलु चारित्तं णायव्वं तं असब्भूयं॥"

परमार्थ से साध्य साधनपना कदापि घटित नहीं होता, कारण कि व्यवहार पराश्रित होने से बंधभाव है तथा हेय है, निश्चय स्वाश्रित होने से निज-भाव - मोक्षभाव है तथा उपादेय है।[1] फिर भी व्यवहार दृष्टि से ही कर्ता-कर्म अथवा साध्य-साधन भावों में भिन्नता कही जाती है। निश्चय दृष्टि से विचारने पर कर्ता-कर्म अथवा साध्य-साधन भाव एक ही द्रव्य में होते हैं, दो में नहीं।[2]

निषेधक-निषेध्य सम्बन्ध :-

निश्चय, कर्मों से मुक्ति दिलाने में निमित्तभूत तथा भूतार्थ है इसलिए वह निषेधक है। व्यवहार-धर्म भोगों की प्राप्तिमें निमित्तभूत है तथा अभूतार्थ है इसलिए वह निषेध्य है।[3] व्यवहार को निषेध्य बताकर आचार्य समस्त ही पराश्रित, बंध-कारक व्यवहार छुड़ाना चाहते हैं तथा निश्चय के द्वारा स्वाश्रित, मोक्ष-मार्गक दृष्टि प्रगट कराना चाहते हैं।[4]

एकांत व्यवहाराभासी का स्वरूप :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने निरपेक्षनय रूप व्यवहार तथा निश्चय के एकांत का अवलम्बन करने वाले जीवों की भूलों का स्पष्ट दिग्दर्शन करा-कर उन्हें सम्यक् अनेकान्त स्वरूप दिखाकर परमार्थ मार्ग - मोक्षमार्ग में लगाने में कोई कसर नहीं रखी है। व्यवहारनय के एकांतरूप से अवलम्बन करने की भूलों को दिखाते हुए वे लिखते हैं - जो केवल व्यवहारा-वलम्बी जीव हैं, वे प्रथम तो भिन्न साध्यसाधन भाव के अपनाने में निरन्तर लगे रहते हैं तथा व्यर्थ ही अत्यधिक खेदखिन्न होते रहते हैं। दूसरे, बार बार धर्मादि के श्रद्धान रूप अध्यवसान में उनका चित्त लगा रहता है, वे निरन्तर बहुत श्रुताभ्यास रूप संस्कारों से उठने वाली विचित्र विकल्पजाल-रूप वृत्ति से चैतन्यवृत्ति को कलुषित करते हैं। तीसरे, यतियों के आचार रूप समस्त प्रकार के तपों में प्रवर्तते हुए कर्मकाण्ड की धमाल में तल्लीन रहते हैं। ये कभी किसी विषय की रुचि करते हैं, कभी किसी विषय के विकल्प करते हैं और कभी कुछ आचरण करते हैं। इस तरह कर्म चेतना में ही संलग्न रहते हैं। वे दर्शन, ज्ञान, चरित्र, तप तथा वीर्याचार रूप पंचा-चारों के पालन हेतु किस प्रकार प्रवृत्ति करते हैं इसे स्पष्ट करते हुए

---

१. समयसार कलश १७३ - तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।"
२. वही, कलश, २१०. "व्यावहारिकदृशैव केवलं, कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते॥"
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते, कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते॥"
३. समयसार, बंधाधिकार गा २७५-२७६ की टीका.
४. समयसार कलश, १७३.

अमृतचन्द्र लिखते हैं कि वे दर्शनाचार के लिए कभी अत्यंत शांत होते हैं, कभी संसार-शरीर तथा भोगों की अरुचिरूप संवेग भाव को धारण करते हैं, कभी षट्काय के जीवों की दया का पालन करते हैं, कभी आस्तिक्य भाव को धारण करते हैं, शंका-कांक्षा-विचिकित्सा और मूढ़दृष्टिता के उत्थान को रोकने के हेतु नित्य कटिबद्ध रहते हैं, उपबृंहण स्थितिकरण वात्सल्य और प्रभावना के कार्य में बारम्बार उत्साह को बढ़ाते हैं। वे ज्ञानाचार के लिए स्वाध्याय काल का ध्यान रखते हैं, बहुत प्रकार सेवि नय करते हैं, दुर्धर उपधान (नीरस आहार तप) करते हैं, भली-भांति बहुमान को प्रसारित करते हैं, निह्नव दोष को अत्यंत दूर करते हैं, अर्थ व्यंजन तथा तदुभय की शुद्धि में सावधान रहते हैं। वे चारित्राचार के लिए पंच महाव्रतों में तल्लीन रहते हैं, योगनिरोध लक्षणयुक्त गुप्तियों में उद्योग रखते हैं, पांच समितियों का पालन करते हैं। वे तपाचार के लिए छह अंतरंग एवं छह बहिरंग ऐसे १२ प्रकार के तपों को तपते हुए अपने अंतकरण पर अंकुश रखते हैं तथा वीर्याचार के लिए कर्मकाण्ड में पूर्णशक्ति के साथ संलग्न होते हैं, इस प्रकार के आचरण से अशुभ कर्मरूप प्रवृत्ति से निरन्तर दूर रहते हैं तथापि कर्मचेतना रूप शुभ कर्म प्रवृत्ति को बारम्बार ग्रहण करते हैं परन्तु वे समस्त क्रिया काण्ड से परे दर्शनज्ञानचारित्र की एकता रूप ज्ञानचेतना को जरा भी उत्पन्न नहीं करते हैं तथा बहुत पुण्य के भार से मंदचित्त वृत्ति वाले होकर स्वर्गलोकादि के क्लेशों की परम्परा को पाते हैं और अत्यन्त दीर्घकाल तक संसार सागर में परिभ्रमण करते हैं। कहा भी है-जो चरण परिणाम प्रधान हैं और स्वसमयरूप परमार्थ में व्यापार रहित हैं, वे चरण परिणाम का सार जो निश्चय शुद्धात्मा है उसे नहीं जानते।[1]

एकांत निश्चयाभासी का स्वरूप :-

आचार्य ने जहां एक ओर व्यवहार नयावलम्बी के दोषों का दिखाकर उसे परमार्थ पथ की ओर अग्रसर किया, वहाँ दूसरी ओर एकांत निश्चय नयावलम्बी की भी भूलें दिखाकर उसे भी भवसागर में डूबने से सावधान किया। वे लिखते हैं कि जो केवल निश्चय नयावलम्बी हैं वे प्रथम तो समस्त क्रियाकर्मकाण्ड के आडम्बर से विरक्त रहते हैं। दूसरे वे अपनी आंखों को अधमुंदा रखकर कुछ भी स्वबुद्धि से कल्पनाकर इच्छानुसार सुखी रहते हैं। तीसरे, वे भिन्न साध्यसाधनभाव का सर्वथा तिरस्कार करते हैं तथा अभिन्न साध्यसाधनभाव को भी उपलब्ध नहीं कर

---

१. पंचास्तिकाय गा. १७२, टीका।

पाते इसलिए प्रमादरूपी मदिरा से मदमत्तवत् आलसी चित्त वाले बने रहते हैं। चौथे, वे मूछित व्यक्ति के समान, गाढ़-निद्रा में सोये हुए के समान, बहुत घी शक्कर खाकर तृप्त हुए के समान, मोटे शरीर के कारण जड़ता पैदा हुए के समान, दारुणबुद्धिभ्रंश से मूढ़ता को प्राप्त होने वाले के समान, विशिष्ट चेतना मुंदी हुई वनस्पति के समान, मुनीन्द्र पदोचित कर्मचेतना का पुण्यबंध के भय से अवलम्बन नहो करते हैं। पांचवे, वे परम निष्कर्मावस्थारूप ज्ञानचेतना को प्राप्त नहीं करते तथा व्यक्त-अव्यक्त प्रमाद के ही आधीन वर्तते हैं। वे निकृष्ट कर्मफल की चेतना प्रमुख प्रवृत्ति वाली वनस्पति की भांति केवल पाप को ही बांधते हैं। कहा भी है निश्चय का आलम्बन लेने वाले परन्तु यथार्थ में निश्चय को न जानने वाले कुछ जीव बाह्याचरण में आलसी होते हुए आचरण तथा परिणाम को नाश करते हैं।[1]

आभासरहित, उभयनयसुमेल सहित सम्यग्ज्ञानी साधक का स्वरूप :-

आचार्य ने व्यवहार तथा निश्चय दोनों के एकान्त अवलंबी अज्ञानी के दोषों का दर्शन कराकर आभास रहित, उभयनय का परस्पर सापेक्ष संधिबद्ध सुमेल दिखाकर सच्चे मोक्षमार्ग का उद्घाटन किया है। सम्यग्ज्ञानी साधक की प्रवृत्ति का निरूपण करते हुए वे लिखते हैं - जो अपुनर्भव (मोक्ष) के लिए सतत प्रयत्नशील रहने वाले महान् भगवान् पुरुष हैं, वे प्रथम तो निश्चय व्यवहार में से किसी एक का ही आलम्बन (पक्ष) न लेने से अत्यंत मध्यस्थ रहते हैं। दूसरे, वे शुद्धचैतन्य रूप आत्मतत्त्व में विश्रांति को बढ़ाते रहते हैं। तीसरे, वे प्रमाद के उदय से उत्पन्न वृत्ति को नाश करने वाली क्रियाकाण्ड रूप परणति को अंतरंग में महत्त्व नहीं देते अपितु उदासीन वर्तते हैं। चौथे, वे यथाशक्ति आत्मा को आत्मा में अनुभव करते हुए अनुभव में ही लीन रहते हैं। ऐसे महान भाग्यशाली जीव स्वतत्व में विश्राति के अनुसार क्रमशः कर्म का त्याग करते हैं तथा अत्यंत निष्प्रमाद निष्कम्पमूर्ति होकर यद्यपि वनस्पति की उपमा को धारण करते हैं और कर्मानुभूति के प्रति निरुत्सुक रहते हैं, केवल ज्ञानानुभूति से ही उत्पन्न तात्त्विक आनंद से अत्यंत भरपूर वर्तते हैं। इस प्रकार वे शीघ्र ही संसार-समुद्र को पार कर, शब्द ब्रह्म के शाश्वत फल निर्वाण सुख के भोक्ता होते हैं।[2]

---

१. पंचास्तिकाय गा. १७२ की टीका।

२. पंचास्तिकाय गा. १७२ की टीका.

उपर्युक्त व्यवहार रूप कर्मनय तथा निश्चय रूप ज्ञाननय के एकांत अवलम्बन का तथा दोनों के सम्यक् सुमेल का फल निरूपण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने एक स्थल पर लिखा है – कि कर्मनय के अवलम्बन में तत्पर पुरुष डूबे हुए हैं क्योंकि वे ज्ञानस्वभावी आत्मा को नहीं जानते। साथ ही ज्ञाननय के इच्छुक जो डूबे हुए हैं क्योंकि वे स्वरूप प्राप्ति का पुरुषार्थ नहीं करते तथा प्रमादी होकर विषय कषाय में प्रवर्तते हैं, परन्तु जो निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए, कर्म नहीं करते तथा प्रमाद के वशीभूत भी नहीं होते, वे जीव संसार समुद्र से ऊपर तैरते हैं।[1]

नय पद्धति - जैनी नीति के प्रयोग का उदाहरण :–

आचार्य अमृतचन्द्र उक्त निश्चय-व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों को ग्वालिनी की मथानी की रस्सी के दो छोर की भांति निरूपित करते हैं। जिस प्रकार ग्वालिनी मथानी की रस्सी के एक छोर को खींचती है तथा दूसरे को ढीला करती है, इस प्रकार मन्थन करके तत्त्व-मक्खन को प्राप्त करती है उसी प्रकार जिनेन्द्रदेव की स्याद्वाद नीति है जो द्रव्यार्थिक नय से वस्तुस्वरूप को खींचती – प्रमुख करती है तथा पर्यायार्थिक नय से शिथिल करती है, इस प्रकार आत्मानुभूति रूप तत्त्व को प्राप्त कराती है।[2]

उभयनयों के विरोध को स्यात् पद से मिटाया जाता है :–

वे लिखते हैं कि दोनों नयों में यद्यपि विषय की अपेक्षा परस्पर विरोध है तथापि स्यात् पद के प्रयोग से वह विरोध मिट जाता है तथा स्यात् पद से चिह्नित जिनवाणी में जो पुरुष रमण करते हैं वे पुरुष स्वयं ही मोहकर्म का वमन करके शीघ्र ही अतिशयरूप से प्रकाशमान शुद्धात्मा को प्राप्त करते हैं, जो शुद्धात्मा नवीन पैदा नहीं हुआ।[3]

मध्यस्थ शिष्य ही देशना का फल पाता है :–

वास्तव में नय तो वस्तुस्वरूप को जानने के लिए साधनमात्र हैं

---

१ समयसार कलश, १११.

२. एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥ पु. सि.२२५ वां पद्य।

३. उभयनय विरोध-ध्वंसिनी स्यात्पदांके, जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्त मोहाः
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै–रनवमनय पक्षाक्षुण्ण मीक्षन्त एव ॥
–स. सा. क. ४.

अतः जो जीव निश्चय-व्यवहार नय को वस्तुस्वरूप से यथार्थ जानकर उनमें मध्यस्थ होता है, वही शिष्य जिनदेशना के सम्पूर्ण फल को प्राप्त करता है।[1]

पक्षपात का भी त्याग जरूरी है :-

ऊपर आचार्य ने नयों के स्वरूप को जानकर मध्यस्थ होने की बात कही है। मध्यस्थ होना या नयों के पक्ष का विकल्प त्याग करना एक बात है। यथार्थ में तत्त्वनिर्णय रूप सविकल्प अवस्था में व्यवहार का विकल्प असत्यार्थ कहकर छुड़ाया है। तथा निश्चय के आलम्बन का विकल्प कराया है, परन्तु आत्मानुभूति के लिए नयपक्ष रूप विकल्प बाधक ही है। जो विकल्प तत्त्वनिर्णय में साधक कहे गये हैं वे ही अब बाधक कहे गए हैं, क्योंकि अनुभूति की दशा में द्वैत नहीं होता,नय का विकल्प नहीं होता।[2] इसलिए आचार्य अमृतचन्द्र शुद्धात्मानुभूति रूप अमृतपान करने के इच्छुक जनोंको साक्षात आनंदामृत प्राप्त करने हेतु नय पक्षपात को त्यागने की प्रेरणा करते हैं। वे लिखते हैं – कि जो आत्मा नयों के पक्षपात से मुक्त होकर, अपने स्वरूप में लीन होते हैं, वे ही विकल्प रूप जाल से छूटकर शांत विचित्त होकरसाक्षात् अमृत का पान करते हैं।[3] अस्तु।

अनेकान्त - स्याद्वाद

अनेकांत जैनदर्शन तथा अध्यात्म की आधारशिला है तथा स्याद्वाद उस आधारशिला पर सुस्थित भव्य भवन है। वस्तु का स्वरूप अनेकांत-मयी है तथा उस अनेकांतस्वरूप वस्तु की शब्दात्मक अभिव्यक्ति स्याद्वाद-मयी है। वस्तु का स्वरूप अनादि अनंत तथा अखण्डित होता है अतः अनेकांतरूप आधारशिला भी अखण्डित है। वस्तु स्वरूप का यथार्थ कथन करने वाली वाणी भी अस्खलित ही होती है अतः स्याद्वादरूप भव्य भवन

---

१. व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्यतत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥ पु. सि. पद्य ८.

२. उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं……अनुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव।
–स. सा. क. ६.

३. य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं, स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यम्।
विकल्पजालच्युतशांत-चित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति॥
–समयसार कलश ६२.

भी अस्खलित एवं अनुल्लंघनीय है। आचार्य अमृतचन्द्र भी उक्त तथ्य की घोषणा करते हुए लिखते हैं कि इस प्रकार जो जिनदेव का अनेकांतरूप अलंघ्य शासन है, वह वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति के द्वारा स्वयं को व्यवस्थापित करता हुआ व्यवस्थित है।[1] अनेकान्त और स्याद्वाद दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। उनमें द्योत्य-द्योतक सम्बन्ध है।[2] अनेकांत स्वरूप वस्तु द्योत्य है तथा स्याद्वादमयी वाणी या कथन शैली उसकी द्योतक है। अमृतचन्द्र ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए स्पष्ट लिखा है कि स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला, अर्हन्तदेव सर्वज्ञ जिनेन्द्र का एक अस्खलित शासन है। वह स्याद्वाद "समस्त वस्तुएं अनेकान्तात्मक हैं" ऐसी उद्घोषणा या उपदेश करता है, क्योंकि सभी वस्तुओं का स्वभाव अनेकान्तमय है।[3] जो अनेकांतमय वस्तुस्वरूप को अनेकांतसंगत दृष्टि से स्वयं ही अवलोकन करते हुए, स्याद्वाद की शुद्धि को अतिशयता से जानकार जिननीति (जिनेन्द्र के मार्ग) का उल्लंघन नहीं करते हैं, वे सत्पुरुष ज्ञानस्वरूप होते हैं।[4] इस प्रकार दोनों अनेकांत तथा स्याद्वाद की आवश्यकता तथा महिमा को देखते हुए ही आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी समग्र रचनाओं में अनेकांतस्वरूप का जिस पटुता एवं स्पष्टता के साथ विवेचन किया है तथा स्याद्वादमयी शैली में तत्त्वमीमांसा में जो कौशल प्रदर्शित किया है, वैसी पटुता, स्पष्टता तथा कुशलता अन्यत्र दुर्लभ है। यहां हम अमृतचन्द्र द्वारा प्रस्तुत अनेकान्त की आस्था, उसका महत्व, लक्षण, उदाहरण एवं अन्य बातों पर प्रकाश डालते हैं :-

अमृतचन्द्र की अनेकान्त विषयक आस्था :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने अनेकांत के सम्बन्ध में अपनी विशेष आस्था प्रगट की है। प्रत्येक ग्रंथ में चाहे वह टीकाकृति हो या मौलिक ग्रंथ, उन्होंने अनेकांत का स्मरण अवश्य किया है। आत्मख्याति टीका के आरम्भ में

---

१. एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम्।
अलंघ्यशासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥ समयसार कलश, २६३.

२. पंचा. गा. १४ की टीका।

३. समयसार, आत्मख्याति, परिशिष्ट पृ. ५११.

४. नैकान्ततंगतदृशा स्वयमेववस्तु-तत्त्वव्यवस्थितिमिति प्रविलोकयन्तः।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य संतो, ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलंघयन्तः।
—समयसार.क. २६५.

अनेकांतमयी वस्तु स्वरूप को वे मूर्तिमन्त रूप में अवलोकन करते हुए स्मरण करते हैं। वे लिखते हैं कि पर द्रव्यों से भिन्न, अपने स्वरूप से अभिन्न आत्मा के अनंतधर्मों के रहस्य को प्रकाशित करने वाली अनेकांत-रूपमूर्ति (जिनवाणी) सदाकाल ही जगत् में प्रकाशित रहे।[1] तत्त्वदीपिका टीका में आरम्भ में अनेकांत का स्मरण करते हुए लिखा है कि जो अनेकांत मय तेज महामोह रूप अंधकार समूह को लीलामात्र में नष्ट करता है तथा जगत् के स्वरूप को प्रकाशित करता है ऐसा अनेकांत तेज सदा जयवन्त रहे।[2] समयव्याख्या टीका के मंगलाचरण में लिखा है कि उस परमात्मा को नमस्कार हो जो सहजानंद तथा सहजचैतन्यप्रकाशमय होने से महान है तथा अनेकांत में जिसकी महिमा स्थित है।[3] मौलिककृति पुरुषार्थ-सिद्धयुपाय में भी अनेकान्त की वन्दना करते हुए लिखा है कि जन्मान्ध-पुरुषों के हस्तिविधान का निषेध करने वाले, समस्त नयों से प्रकाशित वस्तु स्वरूप के विरोध को दूर करने वाले, अनेकान्त को नमस्कार करते हैं। वह अनेकांत उत्कृष्ट जैन सिद्धान्त का प्राण है।[4] लघु तत्त्वस्फोट में राग को जीतने वाले, अनेकांत से सुशोभित, अविनाशी चैतन्यकला के विलास से स्पष्टता को प्राप्त आत्मतेज वाले तथा कर्म-शत्रु विजेता जिनेन्द्र को नमस्कार किया है।[5] इस प्रकार स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र अनेकांत के अनन्य उपासक एवं अनेकान्त में गहरी आस्था रखने वाले थे। वे अनेकान्त के महत्त्व से भली भांति परिचित थे।

---

१ स. सा. क. २

२. हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्पदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः॥
—प्रवचनसार, तत्त्वदीपिका टीका, पद्य-२

३. सहजानन्द चैतन्य प्रकाशाय महीयसे।
नमोऽनेकांतविश्रान्तमहिम्ने परमात्मने॥
—पंचास्तिकाय समयव्याख्या टीका, पद्य १.

४. परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्ध सिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम्॥ पु. सि. पद्य २.

५. जिननाथ जिनरागाय नमोऽनेकान्तशालिने।
अनंतचित्कलास्फोट स्पृष्टस्पष्टात्मतेजसे।
लघु त. स्फोट, अध्याय १२ पद्य १.

अनेकान्त का महत्त्व :-

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्र की दृष्टि में अनेकान्त की सर्वोत्कृष्ट महिमा समायी थी, इसलिए उसके स्मरण तथा नमस्कार के हेतु स्वरूप उन्होंने अनेकान्त के कई विशेषण बताये जो उसकी महिमा के परिचायक हैं। उन्होंने अनेकान्त को परमागम का प्राण, नयों के विरोध को शमन करने वाला, अलंध्यशासन, जिनोति. अर्हन्त का अस्खलित शासन, मोहांधकारनाशक इत्यादि विशेषण प्रयोग किये हैं। एक स्थल पर वे लिखते हैं कि अनेकान्त की ऐसी महिमा है कि विरोध भी विरोध नहीं है।[1] वस्तु स्वभाव में पाई जाने वाली विरोधी शक्तियों का प्रकाशन अथवा उसकी सिद्धि अनेकान्त ही करता है। वास्तव में हे जिनेन्द्र ! आप में, जो एक-अनेक, सगुण-निर्गुण, शून्य-अशून्य, नित्य-अनित्य, व्यापक-अव्यापक, विश्वरूप-एकरूप तथा चैतन्य के समूह से संसार के आभोग विस्तार को क्षीण करने वाली ज्ञान की उठती हुई तरंगों से उन्मग्न सिद्ध करता है, वह अनेकान्त ही तो है।[2] अमृतचन्द्र के पूर्व आचार्य समन्तभद्र ने अनेकान्त की महत्ता जिन शब्दों में घोषित की है, उनसे भी आचार्य अमृतचन्द्र के अनेकान्त विषयक विचार आचार्य-परम्परानुकूल प्रमाणित होते हैं। वे लिखते हैं कि हे जिनेन्द्र ! आपकी अनेकांत दृष्टि सच्ची है। इसके विपरीत जो एकांतमत हैं, वे शून्यरूप असत् है अतः अनेकांत दृष्टि से रहित समस्त वचन मिथ्या है, क्योंकि वे स्व के घातक है।[3] जैन सिद्धांत में अनेकान्त को बलवान माना गया है। सर्वथा एकांत बलवान नहीं है इसलिए अनेकांत पूर्वक सर्व कथन अविरुद्ध

---

१. "स खल्वयं प्रसादोऽनेकान्तवादस्य यदीदृशोऽपि विरोधो न विरुध्यते।"
—पंचास्तिकाय २१. गा. टी.

२. "एकानेकं गुणवदगुणं शून्यमत्यन्तपूर्णं।
नित्यानित्यं विततमततं विश्वरूपैकरूपम्।
चित्प्राग्भारस्नपितभुवनाभोगरङ्गत्तरङ्गं
समज्जन्तं कलयति किल त्वामनेकान्त एवः
लघुतत्त्व. स्फोट, अ. २२, पद्य २५.

३. अनेकान्तात्म दृष्टिस्ते सती शून्यो विपर्ययः।
ततः सर्वं मृषोक्तं स्यात्तदयुक्तं स्वघातनः॥
बृहद् स्वयंभूस्तोत्र/अरजिनस्तोत्र पद्य १३.

होता है तथा अनेकांत के बिना सर्व ही कथन विरुद्ध हो जाता है।[1] यहां तक कि आत्म वस्तु ज्ञानमात्र कही गई है तथापि वहां भी अनेकांत प्रकाशित होता है। स्वयमेव अनेकांत प्रकाशित होने पर भी अर्हन्त ने उसके साधनरूप में अनेकांत का उपदेश क्यों दिया है। इसका समाधान यह है कि अज्ञानियों के ज्ञानमात्र वस्तु (आत्मा) की प्रसिद्धि करने के लिए उपदेश दिया गया है ऐसा हम कहते हैं। वास्तव में अनेकांत के बिना ज्ञानमात्र आत्म वस्तु ही प्रसिद्ध नहीं हो सकती।[2] इस प्रकार अनेकांत की महत्ता स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। अनेकांत तत्त्व का श्रद्धान करने वाला सम्यदृष्टि होता है।[3] अनेकांत की मैत्री से चित्त पवित्र होता है।[4] अतः अनेकांत की महिमा स्पष्ट है। आचार्य अमृतचन्द्र ने यत्र तत्र अनेकांत का स्वरूप भी प्रदर्शित किया है।

अनेकांत का स्वरूप :-

"अनेकान्त" पद का शाब्दिक अर्थ है "अनेक अन्त या धर्मों वाला"। अर्थात् प्रत्येक वस्तु अनेक धर्मात्मक है अतः अनेकान्त स्वरूप है। अनेक धर्मों में जात्यन्तरभाव पाया जाता है अर्थात् एक धर्म दूसरे धर्म से भिन्न स्वरूप वाला होता है अतः धवलाकार ने जात्यंतर भाव को ही अनेकांत लिखा है।[5] आचार्य अमृतचन्द्र ने तो अनेकान्त का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो तत् है, वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक ही वस्तु में वस्तुत्व की उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत है।[6] अनेकांत स्वरूप वस्तु में जो विरुद्ध युगल

---

१. तत्रयतोऽनेकान्तो बलदानिह खलु न सर्वथैकान्तः।
सर्वं स्यादविरुद्धं तत्पूर्वं तद्विना विरुद्धं स्यात्॥
–पंचाध्यायी–पूर्वार्ध पद्य २२७, तथा प्रवचनसार गा. २७, टीका।

२. आत्मख्याति टीका परिशिष्ट पृ. ५७३.

३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा। मू. गा. ३११.

४. सा खल्वनेकान्तमैत्रीपवित्रितचित्तेषु……। (प्रवचनसार गा. २५१ टीका)

५. धवला, पु. १५, २५.।

६. यदेव तत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं, यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तु वस्तुत्वनिष्पादक परस्पर विरुद्धशक्ति द्वयप्रकाशनमनेकान्तः।"
–आत्मख्याति परिशिष्ट पृ. ५७२.

शक्तियों का प्रकाशन होता है, यह किस प्रकार संभव है ? इसका खुलासा भी किया गया है। आत्मा में उपरोक्त विरोधी शक्तियों के युगलों का प्रकाशन क्रमशः इस प्रकार संभव है :-

ज्ञानमात्र आत्म वस्तु के अपने अंतरंग में प्रगट प्रकाशित ज्ञानरूप के द्वारा तत्पना है तथा बाहर में प्रगट अनन्त ज्ञेयों से स्वरूप की भिन्नता होने के कारण आत्मा के (परज्ञेयों के स्वरूप की अपेक्षा से) अतत्पना भी है। सहभूत प्रवर्तमान (गुणों) तथा क्रमशः प्रवर्तमान (पर्यायों के) अनंत चैतन्यांशों के समुदाय रूप अविभागी द्रव्य की अपेक्षा एकत्व है और विभागी द्रव्य में व्याप्त सहभूत तथा क्रमशः प्रवर्तमान अनंत चैतन्य अंश रूप पर्यायों की दृष्टि अनेकत्व है। अपने ही द्रव्य-क्षेत्र-काल तथा भावरूप भवन शक्ति के होने से सत्व, तथा न होने से असत्व भी है। अनादि निधन अविभाग एक वृत्ति रूप से परिणमन के द्वारा नित्यत्व है और क्रमशः प्रवर्तमान एक-समयवर्ती पर्याय रूप वृत्तिअंशों से परिणत होने के कारण अनित्यत्व है।[1] इस प्रकार से विरोधीयुगलों के प्रकाशन में कोई बाधा नहीं है अतः वस्तु स्वरूप में अनेकान्त का प्रकाशन भी निर्बाध सिद्ध होता है। वह अनेकान्त अज्ञान से मूढ़ हुए जीवों को ज्ञानमात्र आत्म तत्त्व को प्रसिद्धि करता हुआ अनुभव में आता है।[2] आचार्य अमृतचन्द्र के उपरोक्त अनेकान्त स्वरूप विषयक दार्शनिक विचार पूर्वाचार्य परम्परा से साम्य रखते हैं। आचार्य अकलंक देव के इस कथन से उक्त बात प्रमाणित होता है कि जैसे एक ही हेतु सपक्ष में सत् और विपक्ष में असत् होता है, उसी तरह विभिन्न अपेक्षाओं से अस्तित्वादि धर्मों के वस्तु में रहने में भी कोई विरोध नहीं है।[3] वास्तव में अनेकान्त स्वरूप वस्तु को समझने के लिए सापेक्ष दृष्टि चाहिए। सापेक्ष दृष्टि से ही विरोधी धर्मों की सिद्धि होती है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में स्पष्ट किया है कि अर्पित (मुख्य) तथा अनर्पित (गौण) इन दोनों दृष्टियों से एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो धर्मों की

---

१. आत्मख्याति, परिशिष्ट पृ. ५७३.

२. इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन्।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥ समयसार कलश नं. २६२.

३. सपक्षासपक्षापेक्षयोपलक्षितानां सत्त्वासत्त्वादीनां भेदानामाधारेण पक्ष धर्मेणैकेन तुल्यं सर्वद्रव्यम्।
—राजवार्तिक, अ. १, सूत्र ६ (भा. ज्ञानपीठ, वि. सं. २००८)

सिद्धि होती है, इसलिए कोई विरोध नहीं है। जैसे देवदत्त के पिता, पुत्र, भाई तथा भानजे. इसी प्रकार और भी जनकत्व और जन्यत्व आदि के निमित्त से होने वाले सम्बन्ध विरोध को प्राप्त नहीं होते। जब जिस धर्म की प्रधानता होती है, उस समय उसमें वही धर्म माना जाता है। उदाहरण के लिए पुत्र की अपेक्षा वह पिता है और पिता की अपेक्षा वह पुत्र है; आदि। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है; इसलिए कोई विरोध नहीं है।[1] उपरोक्त आचार्य परम्परा का अनुसरण आचार्य अमृतचन्द्र के विचारों में स्पष्टतः पाया जाता है। एक स्थल पर वे कहते हैं कि यद्यपि अस्ति पक्ष नास्ति पक्ष से बाधित है और नास्ति पक्ष अस्ति पक्ष से बाधित है परन्तु वे दोनों अस्ति-नास्ति पक्ष समता को प्राप्त कर (परस्पर मिले हुए) प्रयोजन अथवा पदार्थ की सिद्धि के लिए यत्न करते हैं।[2] सम्पूर्ण जगत् को यद्यपि एक "सत्" शब्द से कहा जा सकता है तथापि वह सत् वास्तव में समस्त वस्तुओं को प्रकट नहीं करता क्योंकि सत् स्वयं ही असत् स्वरूप की अपेक्षा रखता है। अस्ति रूप चैतन्य स्वरूप की प्रतीति - अनुभूति (आत्मानुभूति) नास्तिपूर्वक ही होती है। तथा नास्ति रूप परानुभूति (स्वकी) अस्ति की अपेक्षा रखती है[3] क्योंकि जगत् में स्व तथा पर का विभाग पाया जाता है अतः जब शब्दों द्वारा एक पक्ष या विधि पक्ष कहा जाता है तब दूसरा पक्ष या निषेध पक्ष शब्दों में छूट जाता है। अस्ति की ध्वनि निषेध को साक्षात् स्पर्शती है तथा नास्ति की ध्वनि अस्ति की अपेक्षा रखती है। इसलिए यदि सापेक्ष कथन न किया जाय तो विधि पक्ष द्वारा अपना स्वयं का विधेय प्रगट नहीं किया जा सकता; क्योंकि विधि अर्थ तो पर के निषेध के लिए अभिहित किया जाता है तभी वह स्वयं को प्रकट कर पाता है।[4] इस प्रकार अमृतचन्द्र ने अनेकान्त का स्पष्ट स्वरूप

---

१. सर्वार्थसिद्धि अ. ५, सूत्र ३२ (ज्ञानपीठ १९५५. ई)

२. विधिरेव निषेधबाधितः प्रतिषेधो विधिना विलक्षितः।
उभयं समतामुपेत्य तद्यतते संहितमर्थसिद्धये ॥ ७ ॥
—लघुतत्त्वस्फोट। अ १५.

३. लघुतत्त्वस्फोटः अ. १७ पद्य नं. ७,८,९.

४. ल. त. स्फोटः अ. १७ पद्य १०, १४, १५, १६
सत्यस्मिन् स्वपर विभेद भाजि विश्वे किं ब्रूयाद् विधिनियमाद्वयं स शब्दः।
ब्रूयाद्यदि विधिमेव नास्ति भेदः ब्रूते यदि नियमं जगत् प्रमृष्टम् ॥१०॥

प्रस्तुत किया है। इन्होंने अनेकान्त शैली में अत्यंत स्पष्ट प्ररूपणा की है। निश्चय तथा व्यवहार अथवा द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयों में प्रस्तुत निरूपण भी अनेकांत शैली के अन्तर्गत समाहित है।

अनेकान्त शैली में निरूपण :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने अनेकान्तमयी शैली में टीकाएं रचीं, मौलिक ग्रंथों की प्ररूपणा की तथा जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए भी उक्त शैली का प्रयोग किया है। जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए वे एक स्थल पर लिखते हैं कि हे जिनेन्द्र देव ! आप सदैव पदार्थ की स्थिरता का उपदेश नहीं देते और सदा ही आत्मस्वरूप की महिमा की अस्थिरता को दूर करते हैं, इसीलिए आपका आश्चर्यकारक चैतन्यज्योति द्वारा प्रसिद्ध आत्मस्वभाव एक होने पर भी विधि निषेधरूप अथवा अस्ति नास्ति रूप है।[1] आपका सहज स्वभावोत्पन्न निर्माण (स्वरूप भवन) विधि तथा निषेध रूप से सुशोभित है अतः आप में प्रकट अनुभव में आने वाला सत् असत् आदि विकल्पों का समूह उच्छलित हो रहा है, इसमें आश्चर्य नहीं है।[2] आप देदीप्यमान, बहुत भारी, परस्पर मिश्रित अनंतचतुष्टय रूप संपत्ति के समूह से प्रकाशित होते हैं। नित्य अनित्य, एक अनेक आदि अनेक धर्मों सहित हैं, अविनाशी हैं। आपको एक धर्म में स्थिर दृष्टि रखने वाले (एकांतदृष्टि) पुरुष कैसे देख सकते हैं।[3]

अस्तीति ध्वनिरनिवारितः प्रशाम्यात्यत् कुर्वद्विधिमयमेव नैव विश्वम्।
स्वस्यार्थं परगमनाद्विरम्यंतयन्तं तन्नूनं स्पृशति निषेधमेव साक्षात् ॥ १४ ॥
नास्तीति ध्वनितमनङ्कुशप्रचारात्यच्छून्यं झगिति करोति नैव विश्वम्।
तन्नूनं नियमपदे तदास्मभूमावस्तीति ध्वनितमपेक्षते स्वयं तत् ॥ १५ ॥
सापेक्षो यदि न विधीयते विधिस्तस्वस्यार्थं ननु विधिरेव नाभिधत्ते।
विध्यर्थः स खलु परान्निषिद्धमर्थं यत् स्वस्मिन्नियतमसौ स्वयं ब्रवीति ॥१६॥

१. नावस्थिति जिनददासि न चाऽनवस्थामुत्थापयस्यनिशमात्ममहिम्नि नित्यम्।
येनाद्भुतविदुदगमचंचुरुच्चैरेकोऽपि ते विधिनिषेधमय स्वभावः ॥ ५ ॥
– लघुतत्त्व स्फोट, श्र २,

२. यस्मादिदं विधिनिषेधमयं चकास्ति निर्माणमेव सहजप्रविजृम्भतं ते।
तस्मात् सदा सदसदादिविकल्पजालं स्वय्यद्विलासमिदमुल्लसते न चित्रम् ॥६॥
वही अ. २,

३. परस्परं संवलितेन दीव्यतानमुन्निषन्भूतिभरेण भूयसा।
त्वमेक धर्मी बहिताचलेक्षणैरनेक धर्मी कथमीक्ष्यसेऽक्षरः ॥ ११ ॥
वही श्र. ४,

आपका विधि निषेध से रचित स्वभाव अपनी मर्यादा का उलंघन किये बिना कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष की भांति अपनी द्विरूपता को नहीं छोड़ता। आप अस्ति-नास्ति उभयरूप प्रतीत होते हैं। आप स्वचतुष्टय से भावरूप तथा परचतुष्टय से अभावरूप हैं। ऐसे आपके द्वैधशक्ति युक्त स्वभाव को अज्ञानी जनों द्वारा समझा जाना कठिन है।[1] वास्तव में सत् रूप कथन असत् की अपेक्षा रखता है यदि ऐसा न हो तो वस्तुस्वरूप अपनी मर्यादा तोड़ देवें।[2] हे जिनेन्द्र, निज तथा परपदार्थ दर्शन का विषय होने से दर्शन गुण में प्रविष्ट हो रहे हैं, इसलिए आपके द्वारा स्वपर का भेदज्ञान करने के लिए विधि तथा निषेध की (अनेकांत) पद्धति का निर्णय किया गया है।[3]

स्याद्वाद की आवश्यकता तथा महत्ता :-

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि अनेकान्त और स्याद्वाद दोनों में घनिष्ट सम्बन्ध है। अनेकान्त वस्तु का स्वरूप है तथा स्याद्वाद वस्तु स्वरूप प्रतिपादक कथन शैली है। अनेकांत ज्ञानगोचर वस्तु है तो स्याद्वाद वचनाश्रित कथन पद्धति। यद्यपि अनुभूति वाणी से परे है तथा वाणी अनुभूति से भिन्न वस्तु है, तथापि अनुभूति को इंगित करने वाली वाणी ही है। अज्ञानी जीवों को वाणी के संकेत या वचन व्यवहार बिना वस्तु स्वरूप का परिज्ञान एवं अनुभव होना असंभव है अतः स्याद्वाद की आवश्यकता स्पष्ट है।

---

१. विभो विधानप्रतिषेधनिर्मिता स्वभावसीमानममूमलङ्घयन्।
त्वमेवमेकोऽयमशुक्लशुक्लवन्न जात्वपि द्वयात्मकतामपोहसि ॥ १४ ॥

भवत्सु भावेषु विभाव्यतेऽस्तिता तथाऽभवत्सु प्रतिभाति नास्तिता।
त्वमस्तिनास्तित्व समुच्चयेन नः प्रकाशमानो न ततोऽपि विस्मयम् ॥ १५ ॥

उपैषि भावं स्वमिहात्मना भवन्नभावतां यासि परात्मना भवन्।
अभाव भावोपचितोऽयमस्ति ते स्वभाव एव प्रतिपत्तिदारुणः ॥ १६ ॥
—लघु तत्त्व स्फोट अ. ४,

२. इयं सदित्युक्तिरपेक्षते सदव्यावृत्तिसीमन्तितसत्प्रवृत्तीः।
जगत्समक्षं सहसैव यद्वः स्वभावसीमानमथान्यथार्थाः ॥१३॥
वही अ. ८,

३. दृशि दृश्यतया परितः स्वपरावितरेतरमीश्वर संविशतः।
अत एव विवेककृते भवता निरणायि विधिप्रतिषेधविधिः ॥ १३ ॥
वही, अ. १४,

स्याद्वाद समस्त वस्तुओं के स्वरूप को सिद्ध करने वाला, अर्हन्तसर्वज्ञ का एक अस्खलित शासन है ।[1] स्याद्वाद वस्तु स्वरूप को प्रकाशित करने वाला दीपक है। वह लहलहाद तेज से युक्त, शुद्ध स्वभावरूप महिमा से संयुक्त ज्ञानरूप प्रकाश को उदित करने वाला है ।[2] आचार्य अमृतचन्द्र ने स्याद्वाद को जिनेन्द्र भगवान की सिद्धान्त पद्धति लिखा है । यह पद्धति नयों के समूह में पाये जाने वाले दुर्निवार विरोध को नाश करने वाली है तथा स्यात्कार ही उसका जीवन है ।[3] वे लिखते हैं कि निश्चय व्यवहार दोनों नयों में विषयापेक्षा परस्पर विरोध है। उस विरोध को नाश करने वाला स्यात्पद है । "स्यात्पद" से चिन्हित जिनेन्द्र की वाणी में जो पुरुष रमण करते हैं, वे शीघ्र ही मोह का वमन (त्याग) करते हैं तथा तत्काल परमज्योतिरूप प्रकाशमान शुद्धात्मा (समयसार) को देखते हैं। वह शुद्धात्मा नवीन नहीं है तथा एकांत रूप कुनय के पक्ष से खण्डित भी नहीं है ।[4] जिनेन्द्र की वाणी रूप जो शब्द ब्रह्म है वह स्यात्पद से मुद्रित होता है ।[5] स्यात्पद मुद्रा से [illegible] प्रकाशन में समर्थ होती है क्योंकि विरोधी धर्म से सापेक्ष होने के कारण जिनेन्द्र के शब्द विरुद्ध धर्म से युक्त वस्तु को स्पर्श करते हैं परन्तु स्याद्वाद मुद्रा से रहित शब्द वस्तु स्वरूप के एक देश में शक्ति बिखर जाने से स्खलित हो जाते हैं ।[6] आचार्य अमृतचन्द्र

---

१. स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वप्रकाशकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य ।
—आत्मख्याति, परिशिष्ट पृ. ५७१

२. स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे, शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बंधमोक्षपथपातिभिरन्यभावैः – नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥
—स. सा. क. २६९.

३. दुर्निवारनयानीक विरोधध्वंसनौषधिः,
स्यात्कारजीविता जीयाज्जैनी सिद्धान्तपद्धति । —पंचास्तिकाय टीका, १

४. उभयनय विरोधध्वंसिनी स्यात्पदांके, जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैः, अनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥
—समयसार कलश ४

५. "स्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा"···· समयसार गा. ५ की टीका

६. विषक्षापेक्षतयैव शब्दाः स्पृशन्ति ते वस्तु विरुद्धधर्मा ।
तदेकदेशेऽपि विशीर्णसाराः स्याद्वादमुद्राविकलाः स्खलन्ति ॥ १२ ॥
—तत्त्व स्फोट, अध्याय ८,

के उपरोक्त विचार स्याद्वाद की महिमा के प्रकाशक हैं। वे जिस प्रकार अनेकांत को मूर्तिमन्त रूप में स्मरण करते हैं उसी प्रकार स्याद्वद मुद्रा को भी मूर्तिमन्त रूप में ही देखते है। वे लिखते हैं कि हे जिनेन्द्र! जो अनेक बार विश्व को अच्छी तरह शब्द मार्ग का विषय बनाकर एक साथ कथन करने में नहीं चूकती, ऐसी [illegible] स्याद्वाद [illegible] हठपूर्वक सामने उठ खड़ी होती है।[1] हे भगवान्; शब्दों में दृढ़ता स्थापित करने के लिए ही आपने स्याद्वाद मुद्रा को रचा है। इसलिए उस स्याद्वाद मुद्रा से चिन्हित वे शब्द स्खलित न होते हुए अपने आप वस्तु को तत् अतत् स्वभावयुक्त निरूपित करते हैं।[2] आप वस्तु के नास्ति पक्ष के निरूपण की शब्दों की असर्थता नहीं चाहते, इसलिए स्यात्पद के प्रयोग द्वारा शब्दों को उक्त निरूपण में समर्थ करते हैं।[3] स्यात् पद, शब्द में द्विधाशक्ति पैदा करता है जिससे अस्तिनास्ति उभय शक्तियों का प्रतिपादन होता है। यद्यपि शब्द स्वयं ही द्वैध शक्ति युक्त है क्योंकि कोई किसी में शक्ति पैदा नहीं कर सकता परन्तु उक्त शब्द की द्वैधशक्ति स्याद्वाद की सहायता से ही प्रकट होती है। इसलिए उसे व्यवहार से शक्ति उत्पादक कहते हैं। यदि जगत में एक ही शब्द से दोनों पक्ष व्यक्त किये जाना संभव होता तो स्यात् पद प्रयोग की आवश्यकता न होती परन्तु दूसरे शब्द का उपयोग भी अर्थपूर्ण माना जाता है इसलिए द्वैध शक्ति के विवाद में पड़ना व्यर्थ है।[4] स्याद्वाद के आश्रय से मुख्य (विधि) पक्ष द्वारा गौण (निषेध) पक्ष की भी अभिव्यक्ति होती है। विवक्षित की मुख्यता तथा अविवक्षित की गौणता होती है। उक्त मुख्य तथा गौण दोनों में मैत्री होती है तथा स्यात्कार पद के आश्रय

---

१. प्रत्यक्षमुत्तिष्ठति निष्ठुरेयं स्याद्वादमुद्राहठकारतस्ते।
अनेकशः शब्दपथोपनीतं संसृत्य विश्वं सममस्खलन्ती॥
— लघु तत्त्व स्फोट अ. ८, पद्य १८

२. गिरां बलाधानविधानहेतोः स्याद्वादमुद्रामसृजस्त्वमेव।
तदङ्कितास्ते तदतत्स्वभावं वदन्ति वस्तु स्वयमस्खलन्तः॥
—वही, अ. ८, पद्य २०

३. तस्यास्तंगमनमनिच्छता त्वयैव स्यात्काराश्रयणगुणाद्विधानजन्म।
सापेक्षं प्रविदधता निषेधशक्तिर्दत्तासौ स्वरसभरेण वल्गतीह॥
—वही अ. १७ पद्य ३

४. लघु तत्त्व स्फोट, अ. १७, पद्य १७, १८, १९.
स्यात्कारः किमु कुरुते सतीं सतीं वा शब्दानामयमुभयार्थिकां स्वशक्तिम्।
यद्यस्ति स्वरसत एव सा कृतिः किं नासत्याकरणमिह प्रसह्ययुक्तम्॥ १७॥

से दोनों अपने अर्थ को व्यक्त करते हैं।[1] इस प्रकार स्यात्पद तथा स्याद्वाद की महिमा आचार्य अमृतचन्द्र ने पद पद पर व्यक्त की है। सर्वथा एकांतवादी वाणी भी जब स्यात् पद से युक्त होती है तब वह परिष्कृत हो जाती है, एकांतरूप विष को वमन करती है तथा सत्यरूप अमृत की वर्षा करती है।[2] लघुतत्त्वस्फोट नामक स्तोत्रकाव्य में तो आचार्य अमृतचन्द्र ने समग्र कृति में आद्यन्त अनेकांत तथा स्याद्वाद की महिमा गाई है। उनकी महिमा का नगाड़ा बजाया है तथा अन्य आत्म हितैषीजनों को भी अनेकांत स्वरूप का स्याद्वाद के माध्यम से नगाड़ा बजाने की प्रेरणा की है। वे लिखते हैं कि स्वद्रव्य की अपेक्षा विधि तथा परद्रव्य की अपेक्षा निषेध तथा इसी प्रकार स्वक्षेत्र स्वकाल तथा स्वभाव की अपेक्षा विधि और परक्षेत्र परकाल परभाव की अपेक्षा निषेध प्रकट किया जाता है। इस प्रकार से प्रथम ही इस जगत् में, शब्द जोरों से भेरी बजाकर, निर्बाध रूप से निजात्मस्वरूप में आचरण करें।[3] तार्किक शिरोमणि आचार्य समंतभद्र ने भी स्याद्वाद को निर्दोष कहा, क्योंकि वह कथंचित् अर्थ के वाचक स्यात्पद सहित है तथा

शब्दानां स्वयमुभवात्मिकाऽस्ति शक्ति शक्तस्तां स्वयमसती परो न कर्तुम्।
न व्यक्तिर्भवति कदापनापि किन्तु स्याद्वाद सहचरमन्तरेण तस्य : ॥ १८ ॥
एकस्मादपि वचसो द्वयस्यसिद्धौ किम्स्याद् विफल इहेतरप्रयोगः।
साफल्यं यदिपुनरेति सोऽपि तत् किं क्लेशाय स्वयमुभयात्मि यितेयम् ॥१९॥

१ तन्मुख्यं विधिनियमद्वयादयदुक्तं स्याद्वादश्रयणगुणोदितस्तु गौणः।
एकस्मिन्नुभमिहानयोर्बचाणे मुख्यत्व भवति हि तदद्वयप्रयोगात् ॥२०॥
मुख्यत्वं भवति विवक्षितस्य साक्षात् गौणत्वं व्रजति विवक्षितो न यः स्यात्।
एकस्मिंस्तदिह विवक्षितो द्वितीयो गौणत्वं दधदुपयाति मुख्यसख्यम् ॥ २१ ॥
धत्तेऽसौ विधिरनिशं निषेधमैत्रीं साकाक्ष वहति विधि निषेधवाणी।
स्यात्कारश्रयण समर्थितात्मवीर्यावाख्यातौ विधिनियमौ निजार्थमित्थम् ।२३।
—लघु तत्त्व स्फोट अ. १७

२. "अतत्त्वमेव प्रणिधानसौष्ठवात् तवेश ! तत्त्वप्रतिपत्तये परम्।
विषं वमन्त्योऽप्यमृतं क्षरन्ति यत् पदे पदे स्यात्पदसंस्कृतागिरा ॥ १ ॥
—वही, अ. २०

३. स्वद्रव्याद् विधिरयमन्यथा निषेधः क्षेत्राद्यैरपि हि निजेतरैः क्रमोऽयम्।
इत्युच्चैः प्रथममिह प्रताड्य भेरीं निर्बाधं निजविषये चरन्तु शब्दा ॥
लघु तत्त्व स्फोट अ. १८/पद्य २५

प्रत्यक्ष परोक्षरूप दृष्ट और अनुमान आगमरूप इष्ट प्रमाणों से अविरुद्ध है ।[1] इस प्रकार अमृतचन्द्र के स्याद्वाद विषयक दार्शनिक विचार पूर्वाचार्यों की विचार सरणि का ही अनुचरण करते हैं ।

स्याद्वाद का अर्थ :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने, स्याद्वाद की आवश्यकता तथा महत्ता को जिस अतिशयता से व्यक्त किया है, उसका स्वरूप स्पष्टीकरण भी उसी तरह जोर देकर किया है । उन्होंने स्याद्वाद का अर्थ दिखाकर उसके सम्बन्ध में कल्पित भ्रमों का भी यथा संभव निराकरण किया है । स्याद्वाद में मूलतः दो शब्द है स्यात् तथा वाद । स्यात् का अर्थ है किसी अपेक्षा से कथन करना । तार्किक आचार्य प्रभाचंद्र लिखते हैं कि जिसके द्वारा प्रतिपादन किया जाय, वह वाद कहलाता है तथा जिसका वाचक शब्द स्यात् हो वह स्याद्वाद है ।[2] अथवा स्यात् अर्थात् कथंचित् या विवक्षित प्रकार से अनेकांत रूप से वदना, वाद करना, जल्प करना, कहना तथा प्रतिपादन करना स्याद्वाद है ।[3]

स्यात् पद के प्रयोग का प्रयोजन :-

स्याद्वाद में प्रयुक्त स्यात् पद का प्रयोजन आचार्य अमृतचन्द्र की दृष्टि में इस प्रकार है - वह स्यात् पद सर्वथापने का निषेधक है, अनेकांत का द्योतक है तथा कथंचित् या किसी अपेक्षा अर्थ बोधक अव्यय के रूप में प्रयुक्त है ।[4] यहां यह स्पष्ट है कि स्याद्वाद में प्रयुक्त स्यात् पद अस् धातु

---

१. "अनवद्यः स्याद्वादस्तव दृष्टेष्टाविरोधतः स्याद्वादः ।
इतरो न स्याद्वादो सद्वितत विरोधान्मुनीश्वरा स्याद्वादः ।" ३।
-स्वयंभूस्तोत्र-वीरजिनस्तुति, पद्य ३

२. उत्पाद्यते प्रतिपाद्यतेऽनेन असौ वादः शब्दः स्यादिति वादो वाचकः शब्दो यस्यानेकान्तवादस्यो स्याद्वादः ।" -स्वयंभूस्तोत्र, टीका, २३८

३. "स्यात कथंचिद्विवक्षितप्रकारेणानेकांतरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिती स्याद्वादः ।"
-समयसार (तात्पर्य वृत्ति) स्याद्वाद अधिकार, आ. जयसेन

४. "अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थे स्याच्छब्दो निपातः ।"
-पंचास्तिकाय गा. १४ की समय व्याख्या टीका ।

का विधिलिङ् का अन्य पुरुष एकवचन का रूप नहीं है अपितु स्यात् पद अव्यय या निपात शब्द है जिसका विशिष्ट अर्थ "किसी अपेक्षा से" या कथंचित् ।

"स्यात्" पद संशयवाची "शायद" अर्थ का सूचक भी नहीं है अपितु निश्चित, किसी एक अपेक्षा का प्रकाशक एवं निर्णायक है। इसलिए स्यात् पद के साथ "एव" पद का प्रयोग भी होता है जो दृढ़ता का सूचक है, संशय का नहीं। आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट किया है कि अनंतधर्मों वाले द्रव्य के एक एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षित तथा अविवक्षित रूप विधि-निषेध के द्वारा सप्तभंगी प्रकट होती है, ऐसी सप्तभंगमयी वाणी का निरन्तर सम्यक् रूप से उच्चा[illegible] जाने पर, स्यात्कार इस प्रयोगमंत्र पद के द्वारा, "एव" कार में रहने वाले समस्त विरोध रूप विष के मोह को दूर किया जाता है।[1] इस प्रकार स्यात् पद का निहित अर्थ एवं माहात्म्य स्पष्ट हो जाता है। जिस प्रकार विभिन्न देशों में प्रचलित सिक्कों पर उस देश की निर्धारित मुद्रा अंकित होती है उससे सिक्के की देशीयता तथा सत्यता प्रमाणित होती है, उसी प्रकार जिनेन्द्र की वाणी भी स्यात् पद की मुद्रा से अंकित होती है।[2] अथवा जैनश्रुत या जिनवाणी की पहिचान ही स्यात् पद है।[3] उससे वाणी की सत्यता प्रमाणित होती है। अमृतचन्द्र के स्यात् पद एवं स्याद्वाद विषयक उक्त विचार पूर्वाचार्यों की तर्कणा एवं दार्शनिक विचारणा के ही निस्यन्द हैं। आचार्य समन्तभद्र ने भी स्यात् पद को अव्यय (निपात) अर्थ में प्रयुक्त, अनेकान्त का द्योतक तथा विवक्षित (बोध्य) अर्थ का बोधक लिखा है।[4] साथ ही उसे सर्वथा एकांत

---

१. ....चानन्तधर्मोण द्रव्य स्वैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधि प्रतिषेधाभ्यामवतरन्तो सप्तभङ्गकैवकारविनाभ्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति।"

—प्रवचनसार गाथा ११५ की त. प्र. टीका

२. इह किल सकलोद्भासिस्यात्पद मुद्रित शब्द ब्रह्मोपासनजन्मा....."

—समयसार गा. ५ की टीका

३. स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे" प्रवचनसार गा ९२ की टीका

४. वाक्येष्वनेकांतद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातेऽर्थ योगित्वात्तव केवलिनामपि ॥ १०३॥

—देवागम स्तोत्र, अपरनाम आप्तमीमासा।

का त्यागी होने से "किं" शब्द से निष्पन्न कथञ्चित् अर्थ का पर्यायवाची लिखा है। वह स्याद्वाद सप्तभंगों, नयों तथा हेय उपादेय की अपेक्षाओं को प्रकट करता है।[1] उक्त सप्तभंगों का स्पष्टीकरण भी आचार्य अमृतचंद्र ने अनेक प्रकार से किया है।

सप्तभंग रूप न्याय :-

यद्यपि सप्तभंग रूप न्याय का संक्षिप्त उल्लेख आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रसंगोपात्त किया है[2] तथापि उसका विशेष स्पष्टीकरण एवं प्रयोग आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीकाओं तथा अन्य रचनाओं में किया है। वे एक स्थल पर द्रव्यादेश से प्रयुक्त सप्तभंगी का निर्देश करते हुए लिखते हैं :- द्रव्य "स्यात् अस्ति" है (१) द्रव्य "स्यात् नास्ति" है (२), द्रव्य "स्यात् अस्ति और नास्ति" है (३) द्रव्य "स्यात् अवक्तव्य" है (४), द्रव्य "स्यात् अस्ति और अवक्तव्य" है (५) द्रव्य "स्यात् नास्ति और अवक्तव्य" है (६), और द्रव्य "स्यात् अस्ति और नास्ति और अवक्तव्य" है (७) इस प्रकार द्रव्य सात भंग वाला है।[3]

उक्त सप्तभंगात्मक द्रव्यस्वरूप की तथा प्रत्येक भंग की सिद्धि इस प्रकार होती है। प्रथम भंग द्रव्य "स्यात् अस्ति" है जो स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव इन द्रव्य के स्वचतुष्टय की अपेक्षा विचार करने पर सिद्ध होता है तथा द्वितीय भंग द्रव्य स्यात् नास्ति है अर्थात् परद्रव्य, परक्षेत्र परकाल तथा परकाल तथा परभाव द्रव्य के परचतुष्टय की अपेक्षा

---

१. स्याद्वादः सर्वथैकान्त त्यागात् किं वृत्त-चिद्-विधिः।
सप्तभंग नयापेक्षो हेयाऽऽदेय-विशेषकः ॥१०४॥ —देवागम स्तोत्र

२ सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं ॥
दव्वं सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि ॥१४॥
—पंचास्तिकाय

३ "अत्र द्रव्यस्यादेश वशेनोक्तः सप्तभंगी। स्यादस्ति द्रव्यं, स्यान्नास्ति द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति च द्रव्यं, स्यादवक्तव्य द्रव्यं, स्यादस्तिच अवक्तव्य च द्रव्यं, स्यान्नास्ति चावक्तव्यम् च द्रव्यं, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं द्रव्यमिति ॥"
—पंचास्तिकाय समय, व्याख्या टीका गाथा १४.

विचार करने पर द्वितीय भंग की सिद्धि होती है । तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य स्वस्वरूपचतुष्टय से अस्ति रूप है तथा वही द्रव्य परस्वरूप चतुष्टय से नास्ति रूप है। तृतीय भंग अस्तिनास्ति रूप है जिसकी सिद्धि स्व-चतुष्टय तथा परचतुष्टय अपेक्षा क्रमशः कथन करने पर होती है। चतुर्थ भंग अवक्तव्य का है अर्थात् द्रव्य का कथन स्वचतुष्टय तथा परचतुष्टय की अपेक्षा से युगपत् हो सकना संभव नहीं है, अतः द्रव्य स्यात् अवक्तव्य है। पंचम भंग सिद्धि प्रथम तथा चतुर्थ भंग की युगपत अपेक्षाओं से होती है अर्थात द्रव्य स्वचतुष्टय से है (अस्ति , तथा स्व तथा परचतुष्टय की युगपत अपेक्षा से वक्तव्य नहीं है अर्थात् अवक्तव्य है, अत द्रव्य स्यात् अस्ति तथा अवक्तव्य है। षष्ठ भंग का निर्माण द्वितीय तथा चतुर्थ भंग के मेल से होता अर्थात् परचतुष्टय अपेक्षा तथा स्व-परचतुष्टय की अपेक्षा द्रव्य स्यात् नास्ति अवक्तव्य है और सप्तम भंग का निर्माण तृतीय और चतुर्थ भंग के संयोग से होता है। अर्थात् स्वचतुष्टय से, परचतुष्टय से तथा स्वपर चतुष्टय से कथन करने पर द्रव्य अस्ति और नास्ति और अवक्तव्य है। उपरोक्त सप्तभंग रूप कथन असिद्ध भी नहीं है क्योंकि सर्व वस्तु स्वरूपादि से अशून्य हैं, पररूपादि से शून्य हैं, दोनों से अशून्य तथा शून्य हैं, दोनों एक ही अवाच्य हैं, अन्य भंगों के संयोग से कथन करने पर अशून्य तथा अवाच्य हैं, शून्य और अवाच्य है तथा अशून्य, शून्य और अवाच्य हैं।[1] इस प्रकार एक ही वस्तु के सापेक्ष कथन में सप्त भंगों की सिद्धि होती है।

"एव" कार का प्रयोग :-

उक्त सप्तभंगों में जहां सभी के साथ स्यात् पद का प्रयोग होता है, वहीं सभी भंगों के साथ "एव" कार पद भी प्रयुक्त हुआ है।[2] स्यात् पद जहां सर्वथा एकांत अभिप्राय को दूर करता है, वहीं पर "एव" पद वस्तु के विवक्षित इष्ट अर्थ की प्राप्ति तथा अनिष्ट अर्थ की निराकृति के लिए

---

१. पचास्तिकाय गाथा १४की टीका।

२. "स्यादस्त्येव, स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव, स्यादस्तिनास्त्येव, स्यादस्त्यवक्तव्यमेव, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव।"

—प्रवचनसार गा. ११५ टीका

प्रयुक्त होता है ।[1] यह मानना भी भ्रम ही है कि किसी कथन में "ही" एवकार का प्रयोग मिथ्या एकांतवाची है। एव "ही" का प्रयोग मिथ्या एकांत का सूचक नहीं बल्कि सम्यक् एकांत का ग्राहक है । सम्यक् एकांत सम्यक् अनेकांत सापेक्ष ही होता है । स्यात् पद सम्यक अनेकांत को तथा एव पद सम्यक् एकांत को बताता हैं। मोक्षमार्गी के लिए सम्यक् पद विभूषित एकांत तथा अनेकांत दोनों इष्ट एवं पूज्य हैं। सम्यक् अनेकांत प्रमाण रूप है अर्थात् एक ही वस्तु में रहने वाले अनेक धर्मों के स्वरूप को विषय करने वाला, या प्रकाशन करने वाला सम्यक् अनेकांत है ।[2] जबकि सम्यक् एकांत नय रूप है अर्थात् वस्तु के अनंतधर्मों में विवक्षित एक धर्म का ग्राहक-प्रकाशक नय सम्यक् एकांत है ।

अतः स्पष्ट है कि नयात्मक निरूपण में "ही" पद का प्रयोग करने से अनर्थ न होकर, अनर्थ का निषेध होता है एवं निर्णय की दृढ़ता प्रकट होती है । इस सम्बन्ध में जयधवलाकार ने स्पष्ट किया है कि जितने भी शब्द हैं, उनमें स्वभाव से ही एवकार का अर्थ छिपा रहता है, इसलिए "एवकार का प्रयोग इष्ट के अवधारण के लिए होता है । जिस प्रकार प्रभा अंधकार का नाश करती है उसी प्रकार शब्द दूसरे के अर्थ का निराकरण करता है । और अपने अर्थ को कहता है ।[3]

स्याद्वाद के सम्बन्ध में भ्रांतियां :-

कुछ विचारकों ने[4] स्याद्वाद में प्रयुक्त स्यात् पद का अर्थ शायद

---

१. वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थ निवृत्तये ।
कर्त्तव्यमन्यथानुक्त समत्वात्तस्य कुत्रचित् ॥
-श्लोकवार्तिक २/१/६ श्लोक ५३ (जैनेन्द्र सि. कोश, भाग ४ पृ ५०३)

२. एकत्र वप्रतिपक्षानेक धर्मस्वरूपनिरूपणो युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धः सम्यगनेकांतः।
-राजवार्तिक १/६/७ (जै. सि. कोश भाग । पृ. १६८)

३. अन्तभूतैवकारार्थाः गिरः सर्वाः स्वभावतः ।
एवकार प्रयोगो यमिष्टतो नियमाय सः ॥
निरस्यंती परस्वार्थं स्वार्थं कथयति श्रुतिः ।
तमो विधुन्वती भास्यं यथा भासयति प्रभा ॥
-कषाय पाहुड़ १/१, १३-१४. जैनेन्द्र सि. कोश-भाग ४ पृ. ५०३

४. डा. बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन पृ. १५५ में स्यात् का अर्थ शायद तथा संभवतः किया है। (जैनदर्शन पृ. ५२६), डा. देवराज जी ने "पूर्वी और पश्चिमी दर्शन" के पृ. ६५ पर स्यात् शब्द का कदाचित् अर्थ किया है, जो कालवाची है तथा भ्रमपूर्ण है । (जैन दर्शन पृ. ५३१)

करके स्याद्वाद को शायदवाद संशयवाद अथवा अनिश्चयवाद और संभावना वाद का बोधक माना है, जो भ्रमपूर्ण है। उक्त समस्त भ्रमों की जड़ स्यात् पद का निश्चित निहित अर्थ न करके अन्य अर्थ की कल्पना करना है। आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त भ्रांति को दूर करने हेतु स्यात् पद को निपात तथा "किसी अपेक्षा" अर्थ का पर्यायवाची लिखा है। स्यात् पद का अर्थ अंग्रेजी का "परहेप्स"[1] अथवा "में बी"[2] न होकर "फ्राम सम प्वाइंट आफ व्हयु"[3] है।

स्याद्वाद का यथार्थ भाव ग्रहण का फल :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने स्याद्वाद को यथार्थ समझने का महान फल प्रदर्शित करते हुए लिखा है कि आनंदामृत के पूर से भरपूर प्रवहमान कैवल्य सरिता में जो डूबा है, जगत् को देखने में समर्थ महासंवेदन रूप लक्ष्मी जिसमें प्रमुख है, जो उत्तम रत्नकिरण की भांति अत्यंत स्पष्ट और इष्ट है, ऐसे प्रकाशमान निजतत्त्व को जगत् जन स्यात्कार लक्षण वाले जिनेन्द्र शासन के आश्रय से प्राप्त करें।[4] जो पुरुष स्याद्वाद में कुशल तथा संयम में सुस्थित होते हैं, वे नित्य अपने स्वरूप को भाते हुए, ज्ञान तथा क्रियानय में मित्रता स्थापित करते हुए ज्ञानस्वभावी निजात्मद्रव्य की भूमिका को प्राप्त करते हैं।[5] आचार्य अमृतचन्द्र ने स्याद्वाद शैली में वस्तु स्वरूप की अनेकांतात्मकता सिद्ध करने में विशेष पटुता प्रदर्शित की है। समयसार की आत्मख्याति टीका के अंत में आत्मा की अनेक शक्तियों में

---

1. "Perhaps"
2. 'May be'
3. From Some Point of View.
4. आनंदामृतपूरनिर्भर महत्कैवल्य कल्लोलिनी,
निर्मग्नं जगदीक्षणक्षममहासंवेदन श्रीमुखम् ।
स्यात्कारांकजिनेशशासनवशादासादयन्तूल्लसत् स्वं
तत्त्वं वृत्तजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिष्टं जनाः ॥
—तत्त्वप्रदीपिका, परिशिष्ट, पृ. ४१५
5. स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वनिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्री पात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥
—समयसार कलश, २६७

से ४७ शक्तियों का स्पष्ट विवेचन किया है। प्रवचनसार की तत्वप्रदीपिका व्याख्या के अंत में नयात्मक कथनों द्वारा, ४७ नयों के आश्रय से आत्मा की अनेकान्तात्मकता प्रदर्शित की है। पंचास्तिकाय की समयव्याख्या टीका के अंत में निश्चय तथा व्यवहार के एकांत का निराकरण एवं सम्यक् मार्ग का प्रकाशन किया है। पुरुषार्थसिद्धयुपाय मौलिक कृति के अंत में दही मथने वाली गोपिका का उदाहरण देकर लिखा है कि जिस प्रकार गोपिका मथानी की रस्सी के एक छोर को खींचती है तथा दूसरे छोर को शिथिल करती है तथा अंत में सारतत्व मक्खन को प्राप्त करती है, उसी प्रकार एक नय (द्रव्यार्थिक) को मुख्य करके, दूसरे नय (पर्यायार्थिक) को गौण करके वस्तुस्वरूप की प्राप्ति कराने वाली जैननीति - स्याद्वाद-अंततः जयवन्त होती है। इस प्रकार स्यात्कार लक्ष्मी के निवास के वशीभूत रहने वाले नय समूहों से देखने पर भी और प्रमाणदृष्टि से देखने पर भी स्पष्ट अनंतधर्मों वाले निज आत्मद्रव्य को अंतरंग में शुद्ध चिन्मात्र ही देखते हैं।[२]

निमित्त – उपादान

आत्महितैषी को जिस प्रकार निश्चय-व्यवहार तथा अनेकांत स्याद्वाद समझना जरूरी है, उन्हें समझे बिना उसे वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान नहीं हो सकता। उसी प्रकार उसे निमित्त-उपादन को भी समझना अत्यावश्यक है, उन्हें समझे बिना पराश्रित (अथवा निमित्ताधीन) दृष्टि का परित्याग नहीं हो सकता तथा स्वाश्रित (अथवा उपादानाधीन) दृष्टि प्रकट नहीं हो सकती। स्वाश्रित दृष्टि बने बिना स्वाधीन मोक्ष सुख की प्राप्ति तो दूर ही रहो, निज शुद्धात्म स्वरूप का दर्शन अथवा सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति बिना मोक्षमार्ग की शुरुआत भी नहीं हो सकती और सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र को स्थिति वृद्धि तथा फल प्राप्ति होना

---

१. एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिवगोपी ॥ २२५ पु. सि. ॥

२. स्यात्कार श्रीवासवश्यैर्नयोघैः, पश्यन्तीत्थं चेत् प्रमाणेन चापि।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्मस्वात्मद्रव्यं शुद्धचिन्मात्रमन्तः ॥१९॥
–प्रवचनसार तत्त्वदीपिका।

असंभव है।[1] अतः अन्य विषयों की भांति निमित्त उपादान को यथार्थ समझना मोक्षमार्गी का परम कर्त्तव्य है। आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त विषय पर भी पूर्वाचार्यों की दार्शनिक विचारधारा का ही विशेषतः स्पष्टीकरण किया है। उक्त दोनों को आगम में निमित्त कारण तथा उपादान कारण के नाम से व्यवहृत किया है।

कारण का स्वरूप :-

जिसके होने पर ही जो होता है, नहीं होने पर नहीं होता, वह उसका कारण कहलाता है।[2] कार्य की उत्पादक सामग्री को भी कारण कहते हैं।[3] कारण दो प्रकार के होते हैं प्रथम – निमित्त कारण, द्वितीय उपादान कारण।

निमित्त कारण का लक्षण :-

जो कारण स्वयं तो कार्यरूप न परिणमे, किंतु कार्य की उत्पत्ति में सहायक हो उसको निमित्त कारण कहते हैं, जैसे घड़े की उत्पत्ति में कुंभकार, दंड, चक्र आदि।[4] निमित्त कारण को "परयोग" भी कहते हैं।[5]

निमित्त कारण के पर्यायवाची नाम :-

आगम में प्रत्यय, कारण तथा निमित्त को एकार्थवाची लिखा है।[6] इसके अतिरिक्त साधन, सहकारी, उपकारी, उपग्राहक, आश्रय, आलम्बन,

---

१. विद्यावृत्तस्य संभूतिस्थितिवृद्धिफलोदयाः।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ ३२ ॥
–समंतभद्राचार्य कृत रत्नकरण्ड श्रावकाचार।

२. यद्भिन् सत्येव भवति, नासति तत् तस्य कारणमिति।
–धवल पु. १२ पृ. २८९.

३. जैन सिद्धान्त प्रवेशिका प्रश्नोत्तर नं. ४०२

४ वही, प्रश्नोत्तर ४०७

५. "है निमित्त परयोग तें धन्यो अनादि बनाव"
–भैया भगवतीदास कृत "निमित्त उपादान संवाद" पद्य ३

६. प्रत्ययः कारणं निमित्तमित्यनर्थान्तरम्
–सर्वार्थसिद्धि १, २१, १२५. ७ (जै. सि. को. २ पृ. ६०९)

अनुग्राहक, उत्पादक, प्रेरक, अभिव्यंजक आदि शब्दों का निमित्तकारण के लिए प्रयोग भी होता है।[1] अन्यत्र बन्धक, परिणाम, उपकारक, सहायक, आधार निमित्त आश्रय निमित्त, उदासीन निमित्त आदि पर्यायवाची नामों का भी उल्लेख है।[2] स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र ने निमित्त के लिए कारण[3], हेतु[4], निमित्तकर्ता,[5], हेतुकर्त्ता[6], बहिरंग साधन[7] उदासीन-कारण, आश्रयकारण[8] उदासीन हेतु[9] निमित्त मात्र[10] आदि शब्दों का प्रयोग किया है।

निमित्त कारण के भेद :-

उपरोक्त अनेक प्रकार के निमित्तों को मुख्यतः दो भेदों में समाहित किया जा सकता है। वे दो भेद हैं प्रयोग और विस्रसा। इन्हीं को प्रेरक निमित्त तथा उदासीन निमित्त भी कहा जाता है। प्रेरक निमित्त के लिए कर्त्ता निमित्त, उत्पादक निमित्त, परिणामक निमित्त इत्यादि शब्दों का प्रयोग होता है। जहां अज्ञानी जीव की योगरूप प्रवृत्ति और विकल्प निमित्त होता है वहां उसे प्रेरक या प्रयोग निमित्त कहते हैं, तथा जहां विभावपरिणत जीव और पुद्गलादि स्वयं निमित्त होते हैं वहां उसे विस्रसा या उदासीन निमित्त कहा जाता है। उक्त बात का संकेत आचार्य अमृतचंद्र ने भी किया है, एक स्थल पर वे लिखते हैं कि जिस प्रकार गतिपरिणत वायु, पताकाओं के गतिपरिणाम का हेतुकर्त्ता देखा जाता है, वैसे ही धर्म-द्रव्य हेतुकर्त्ता नहीं देखा जाता, क्योंकि वह परमार्थ से परिस्पंद लक्षण क्रिया से रहित होने के कारण भी गति क्रिया को प्राप्त नहीं होता है,

---

१. जैनेन्द्र सिद्धांत कोश-भाग २ पृ. ६१०
२. जैनतत्त्वमीमांसा-द्वितीय संस्करण पृ. ५६
३. लघु तत्त्व स्फोट-श्र. १५
४. समयसार गाथा १३२ से १३६ की आत्मख्याति टीका।
५. वही, गाथा १०० की आत्मख्याति टीका।
६. पंचास्तिकाय गाथा ८८, समयव्याख्या टीका।
७. प्रवचनसार, तत्त्वप्रदीपिका गाथा ९५
८. पंचास्तिकाय गाथा ८८ टीका।
९. वही, गाथा ८९, ९३, ९४
१०. आत्मख्याति गाथा ८० की उत्थानिका।

इसलिए सहकारी कारणरूप से दूसरों से दूसरों की गति क्रिया का कर्त्ता कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। किन्तु मछलियों को जिस प्रकार जल आश्रय कारणमात्र है उसी प्रकार जीव पुद्गलों का आश्रयमात्र होने से वह धर्मद्रव्य भी गति में उदासीन निमित्त होता है।[1] इस प्रकार निमित्त के मुख्यतः दो भेद किये गये हैं। संक्षेप में कहा जाय तो प्रेरक-निमित्त वे निमित्त हैं जो अपने आप में क्रियाशील – सक्रिय रह कर अन्य वस्तु के परिणमन में अनुकूल होते हैं तथा उदासीन निमित्त वे हैं जो अपने आप में क्रिया रहित – निष्क्रिय रह कर अन्य वस्तु के परिणमन में अनुकूल रहते हैं।

निमित्त-कारण कार्य का नियामक नहीं होता :–

निमित्त-कारण कार्य का नियामक या कर्ता कदापि नहीं होता क्योंकि वह परद्रव्य के कार्यरूप परिणमन की शक्ति से रहित है। उसमें परद्रव्य रूप परिणमन करने की योग्यता ही नहीं होती। जिस वस्तु में स्वयं की परिणमन शक्ति या योग्यता न हो, उसमें अन्य वस्तु योग्यता पैदा नहीं कर सकती।[2] इसलिए निमित्त-कारण कार्य का कर्ता या नियामक नहीं होता है। कार्य की नियामक तो द्रव्य में निहित शक्ति या योग्यता ही होती है। अपनी ही योग्यता से प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमन का कर्ता है तथा जीव के रागादि भावों (परिणामों) का निमित्तमात्र प्राप्त कर पुद्गल स्कंध स्वयं ही कर्मरूप से परिणमन करते हैं।[3] ऐसा कथन अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।[4] इसमें निमित्त को बहिरंग साधनरूप

---

१. "यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते न तथा धर्मः। स खलु निष्क्रियत्वात् न कदाचिदपि गतिपरिणाममेव आपद्यते। कुतोऽस्य सहकारित्वेन परेषां गतिपरिणामस्य हेतुकर्तृत्वम्। किन्तु सलिलमिव मत्स्यानां जीवपुद्गलानामाश्रयकारणमात्रत्वेनोदासीन एवासौ गतेः प्रसरो भवति।" पंचास्तिकाय, गा. ८८ की टीका।

२. न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते। समयसार गा. ११८, ११९.

३. जीवकृतं परिणाम निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥ पु. सि. ॥

४. "जीवपरिणाममात्रं बहिरंगसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कंधाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति।
–प्रवचनसार गा. १६९ टीका।

लिखा, साथ ही निमित्त कार्य का कराने वाला - परिणमाने वाला नहीं है इस बात का भी उल्लेख किया है। यहाँ यह बात स्पष्ट होती है कि पुद्गल स्कंधों में कर्म रूप से परिणमन की शक्ति स्वयं की है अतः पुद्गल स्कंधों में जो कर्मदशा रूप कार्य उत्पन्न हुआ, उसका उपादान कारण तो तद्रूप परिणमन शक्ति सम्पन्न पुद्गल स्कंध ही है। उस शक्ति से ही, पुद्गल स्कंध कर्मरूप परिणमा है - यह बताने के लिये अमृतचन्द्र ने "स्वयमेव" पद का प्रयोग किया है तथा तद्रूप (कर्म भाव रूप) परिणमन शक्ति से रहित अथवा पुद्गलस्कंधों को कर्मरूप परिणमाने की शक्ति से रहित जीव के परिणाम उस परिणमन के निमित्तमात्र हैं।

इसी प्रकार जीव भी निश्चय से अपने चैतन्यस्वरूप रागादि भावों से स्वयं परिणमन करते हैं क्योंकि उनमें भी वैसे परिणमन की स्वयं की शक्ति है। उनके उक्त परिणमन में पुद्गलकर्म का उदय निमित्त मात्र होता है, वह रागादि भाव कराता नहीं है।[1]

परिणमन में विशेषता – विचित्रता भी निमित्तों के कारण नहीं होती :-

जो पुद्गलस्कंध कर्म रूप परिणमन करते हैं, वे आठ प्रकार के विचित्र परिणमन करते हैं। इन आठ प्रकारों को ही ज्ञानवरणी, दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अंतराय ये नाम व्यवहृत हैं। इन आठों प्रकारों के १४८ उत्तरोत्तर प्रकार होते हैं अतः पुद्गलस्कंध १४८ प्रकार से विशेषता – विचित्रता को प्राप्त करते हैं, इस विचित्र-परिणमन का भी कारण पुद्गलस्कंधों की स्वयं की परिणाम शक्ति है। आत्मा उनका कर्ता नहीं है, निमित्तमात्र है।[2] इससे स्पष्ट है कि समस्त कार्यों की नियामक शक्ति समस्त द्रव्यों में निहित अपनी अपनी तत्तत्कालीन योग्यता ही है। किसी प्रकार का निमित्त परसंयोग मात्र है।

---

१. "परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥ १३ ॥ पु. सि. ॥

२. "यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योग द्वारेण प्रविशन्तः कर्मपुद्गलाः स्वयमेवसमुपात्त वैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादि भावैः परिणमन्ते। अतः स्वभाव कृतं कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम्।"
–प्रवचनसार गा. १८७ टीका।

प्रेरकनिमित्त भी कार्य का नियामक नहीं है :-

निमित्त-उपादान के यथार्थ ज्ञान से रहित बहुत से जन तो सर्व-निमित्तों को ही कार्य का कर्ता मानकर भ्रांतिवशात् अनंतसंसार में परिभ्रमण करते हैं, यह तो उनकी स्थूल भूल है ही, किन्तु कुछ लोग उदासीन निमित्त को कार्य का कर्ता नहीं मानते और प्रेरक निमित्त को कार्य का प्रेरक नियामक – विशेषता पैदा करने वाला मानते हैं, परन्तु यह भी एक स्थूल भूल है। भूल का कारण "प्रेरक" शब्द का यथार्थ अर्थ न समझना है। प्रेरक निमित्त यथार्थ में परद्रव्य की क्रिया का प्रेरक नहीं होता, अपितु स्वयं में सक्रिय होकर परद्रव्य के परिणमन में अनुकूल होता है। सक्रियपना वास्तव में अन्य प्रदेश की प्राप्ति की कारणरूप परिस्पन्दन क्रिया है। वह क्रिया जीव तथा पुद्गल दो प्रकार के द्रव्यों में होती है अतः ये दो द्रव्य सक्रिय कहलाते हैं। ये ही परिस्पन्द क्रिया युक्त होकर अन्य द्रव्य की स्वयमेव होती हुई क्रिया में अनुकूल होने के कारण प्रेरक निमित्तपने की संज्ञा प्राप्त करते हैं तथा शेष चार द्रव्य धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये परिस्पन्दन-क्षेत्रांतर रूप क्रिया से रहित होने से निष्क्रिय या उदासीन निमित्त के रूप में व्यवहृत होते हैं।[1] अतः निमित्तों के दो भेद प्रेरक तथा उदासीन, स्व-सापेक्ष हैं। निष्क्रिय को उदासीन तथा सक्रिय को प्रेरक कहते हैं। परद्रव्य की क्रिया – पर्याय में प्रेरक निमित्त कुछ नहीं करते। यदि आगम में कहीं उन्हें परद्रव्य का प्रेरक भी लिखा हो तो उसे केवल उपचार कथन मात्र जानना चाहिए, परमार्थ नहीं।[2] उक्त तथ्य का समर्थन आचार्य पूज्यवाद से निम्न शब्दों से भी होता है कि अज्ञानी को ज्ञानी नहीं किया जा सकता तथा ज्ञानी को अज्ञानी नहीं बनाया जा सकता। अन्य द्रव्य तो उसके निमित्त मात्र ही होते हैं जिस प्रकार धर्मास्तिकाय गति में निमित्तमात्र है।[3] इस तरह स्पष्ट है कि दोनों प्रकार

---

१. "प्रदेशांतरप्राप्तिहेतुः परिस्पंदनरूपपर्यायः क्रिया। तत्र सक्रिया बहिरङ्गसाधनेन सहभूताः जीवाः, सक्रिया बहिरङ्गसाधनेन सहभूताः पुद्गलाः। निष्क्रियमाकाशं, निष्क्रियोधर्मः, निष्क्रियोऽधर्मः, निष्क्रियः कालः।"

—पंचास्तिकाय गाथा ९८ टीका.

२. नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रं अन्यस्तु गते धर्मास्तिकायवत् ॥ इष्टोपदेश, पद्य ३५.

३. समयसार गाथा ८४ "कुलालः कलशं करोति-अनुभवति चेति लोकानामनादिरूढोस्ति तावद्व्यवहारः।" तथा गाथा १०६–१०७ की टीका।

के निमित्त कार्य के यथार्थतः कर्ता – नियामक नहीं होते। समुद्र में उत्पन्न तरंगावस्था में हवा का चलना निमित्त है तथा निष्तरंगावस्था में हवा का न चलना निमित्त है। हवा का चलना यह सक्रिय प्रेरक निमित्त है, और हवा का न चलना यह उदासीन निमित्त है; तथापि हवा का समुद्र के साथ व्याप्य-व्यापक भाव का अभाव होने से उनमें कर्ता-कर्मपने की असिद्धि है। समुद्र स्वयं ही तरंगावस्था में अन्तर्व्यापक होकर उत्तरंग तथा निस्तरंग अवस्थाओं को स्वयं ही कर्ता है।[1] अपने कार्य का कर्ता समुद्र, पर का कार्य नहीं करता है, अतः सिद्ध है कि प्रेरक आदि समस्त निमित्त कार्य के नियामक नहीं हैं।

निमित्त की अपेक्षा उपादान से सम्पन्न कार्य को नैमित्तिक कहते हैं :-

निमित्त की अपेक्षा उपादान को ही नैमित्तिक कहते हैं। निमित्त उपादान को दूसरे शब्दों में निमित्त-नैमित्तिक नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में भी निमित्त-नैमित्तिक का कर्ता नहीं होता, क्योंकि व्याप्य, व्यापक भाव के बिना कर्ता-कर्म संबंध घटित नहीं होता। निमित्त, नैमित्तिक में अव्यापक है अतः निमित्त, नैमित्तिक भाव का कर्ता नहीं है। उन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध मात्र घटित होता है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध में भी दोनों अपने अपने परिणाम के कर्ता होते हैं, कोई किसी के परिणाम के कर्ता नहीं, क्योंकि अपने भाव से अपना भाव किया जाता है, अपने भाव से परभाव कदापि नहीं किया जा सकता। जैसे मिट्टी अपने भावरूप घट को करती है परन्तु परभाव रूप पट (वस्त्र) को नहीं करती। उसी प्रकार जीव, जीव-भाव को करता है, जीव पुद्गलकर्म भाव का कर्ता नहीं है, किन्तु निमित्तमात्र है। इसी प्रकार पुद्गलकर्मोदय जीवभाव का कर्ता नहीं है, निमित्तमात्र है, अतः निमित्त-नैमित्तिक अपने अपने भाव के कर्ता है, पर-भाव के कर्ता नहीं।[2] उनमें परस्पर में समकाल कार्यपना तथा अनुकूलता देखकर ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध माना गया है। दूसरे शब्दों में निमित्त को नैमित्तिक का अकर्ता कहा गया है। वास्तव में निमित्त-नैमित्तिक अथवा निमित्त-उपादान सम्बन्ध दो द्रव्यों में होता है, जबकि कर्ता-कर्म सम्बन्ध एक ही द्रव्य में होता है। आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त दार्शनिक विचारों की प्रमाणता आचार्यश्रेष्ठ आचार्य कुन्दकुन्द के वचनों

---

१. समयसार गा. ८३ की टीका।

२. समयसार, गा. ८२ की टीका।

से भी होती है।[1] उन्होंने तो स्पष्ट घोषित किया है कि जीव के परिणाम के निमित्त से पुद्गल कर्मरूप में परिणमित होते हैं तथा पुद्गल कर्म के निमित्त से जीव भी परिणमन करता है। जीव, कर्म के गुणों को नहीं करता, उसी तरह कर्म, जीव के गुणों को नहीं करता, परन्तु परस्पर निमित्त से दोनों के परिणाम जानना चाहिए। इसी कारण आत्मा अपने ही भाव का करता है और पुद्गल-कर्मकृत सभी भावों का कर्ता नहीं है। निश्चय नय का ऐसा मत है कि आत्मा अपने को ही करता है, तथा अपने को ही भोगता है - ऐसा जानना चाहिए। व्यवहार नय का यह कथन है कि आत्मा अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को करता है तथा उन्हीं अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को भोगता है। यहां ध्यान रहे कि व्यवहार नय का कथन अनादिरूढ़ जगत् व्यवहार है, वह कथन यथार्थ नहीं है। यदि व्यवहार नय के कथन को यथार्थ मानकर आत्मा को पुद्गल कर्म का कर्ता तथा भोक्ता माना जावे तो आत्मा द्विक्रिया से अभिन्न ठहरेगा, किन्तु ऐसा द्विक्रियापना जिनेन्द्र मत सम्मत नहीं है। निमित्त को उपादान की क्रिया का कर्ता मानने में द्विक्रिया वादी मिथ्यादृष्टिपना प्रगट होता है।

कार्य की सम्पन्नता में निमित्त को दूषण देने का फल :-

निमित्त को नियामक या कार्य का कर्ता मानने वाले आत्मा में रागादि की उत्पत्ति का कारण कर्मोदय को मानते हैं अतः वे रागादि की उत्पत्ति में कर्म को दोष देते हैं। परन्तु रागादि की उत्पत्ति में कर्मोदय रूप निमित्तों को दोष देना अज्ञानता है। आचार्य अमृतचन्द्र निमित्त को दोष देने का परिणाम घोषित करते हुए लिखते हैं कि जो आत्मा रागादि की उत्पत्ति में निमित्त रूप परद्रव्य (कर्मोदय) को दोष लगाते हैं, वे शुद्धात्म स्वरूप के ज्ञान से रहित हैं। तथा वे मोहरूपी नदी को पार नहीं करते हैं।[2] अर्थात् वे मिथ्यात्व में ही पड़े रहते हैं। यहां यह भी स्पष्ट है कि जिस प्रकार विकारी भावों की उत्पत्ति में निमित्तों को दूषण देना भूल है, उसी प्रकार किसी अन्य कार्य की उत्पत्ति का श्रेय निमित्तों को देना भी भूल ही है, क्योंकि कार्योत्पत्ति में बाह्य हेतु या निमित्त अंकिंचित्कर है। इस सन्दर्भ में पंचाध्यायीकार ने स्पष्ट लिखा है कि मतिज्ञान के समय एक आत्मा ही उनका उपादान कारण है।[3] देह, इन्द्रिय और इन्द्रिय-विषय तो केवल बाह्य कारण हैं इसलिए वे अहेतु के समान हैं

---

१. समयसार गाथा ८० से ८६ तक।
२. समयसार कलश २२१
३. पंचाध्यायी, अ. २, पद्य ३५१.

इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि शरीर तथा अपने अपने विषय सहित पाँचो इन्द्रियाँ आत्मा के ज्ञान और सुख को उत्पन्न करने में अकिञ्चित्कर हैं।[1] निमित्तों की अकिञ्चित्करता का कारण आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि समस्त द्रव्यों का अन्य द्रव्यों के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है[2] अतः निमित्त, उपादान की पर्याय को उत्पन्न करें यह कदापि संभव नहीं है। अस्तु।

निमित्त में बाह्य हेतुता की स्वीकृति :-

यद्यपि समस्त ही कार्य उपादान गत योग्यता से ही सम्पन्न होते हैं, निमित्तों का कर्तापना उनमें असंभव है, तथापि निमित्तों की सन्निधि का निषेध भी सम्भव नहीं है। प्रत्येक कार्य या उपादान का निमित्त अवश्य होता है, परन्तु निमित्त, उपादान का कर्ता नहीं होता। यदि एकांत रूप से निमित्तों को नहीं स्वीकारा जावे तो भी अद्वैत एकांत का प्रसंग उपस्थित होगा। साथ ही आत्मा में होने वाले रागादि भावों के निमित्तों का निषेध किया जाने पर रागादि भाव आत्मा के स्वभाव बन जायेंगे तथा स्वभाव का अभाव न होने से रागादि का भी कभी अभाव नहीं होगा, इसलिए रागादि की उत्पत्ति में परद्रव्य की निमित्तता अवश्य स्वीकृत की गई है तथा कर्तापने का निषेध किया गया है। अमृतचन्द्र ने इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सूर्यकांतमणि स्वयं के आश्रय से अग्निरूप नहीं परिणमती, उसके अग्निरूप परिणमन में परसंग रूप निमित्त अवश्य है, उसी प्रकार आत्मा भी स्वयं ही स्वयं को रागादि भावों का निमित्त नहीं होता है, उन रागादि की उत्पत्ति में पर-संग रूप निमित्त अवश्य होता है - ऐसा वस्तु का स्वभाव है।[3] इस प्रकार यह फलित हुआ कि रागादि की उत्पत्ति स्वाश्रय से, पराश्रय के काल में अथवा पराश्रित दृष्टि से ही होती है, अतः रागादि के अभाव का एकमात्र उपाय पराश्रित दृष्टि और पराश्रय का त्याग करना और स्वाश्रित दृष्टि या स्वाश्रयपना प्रगट करना ही है। संसार की विद्यमानता का कारण पराश्रित दृष्टि ही है तथा संसार से मुक्ति - शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का कारण स्वाश्रित दृष्टि है। स्वाश्रित दृष्टि को उपादानाधीन तथा पराश्रित दृष्टि को निमित्ताधीन दृष्टि भी कहते हैं अतः निमित्त का पररूपपना जानकर उसका आश्रय छोड़ना और उपादान का स्वरूपपना जानकर उसका अवलम्बन

---

१. पंचाध्यायी, अ. २ पद्य ३५६.

२. समयसारगाथा ३०८ से ३११ टीका।

३. समयसार कलश, १७५.

करना श्रेयस्कर है। यहां श्रेयस्कर उपादान कारण पर भी विचार किया जाता है।

उपादान-कारण का स्वरूप :-

जो कारण स्वयं कार्य रूप परिणमे उसे उपादान-कारण कहते हैं। जैसे घट की उत्पत्ति में मिट्टी उपादन कारण है क्योंकि वह घटरूप स्वयं परिणमती है।[1] उपादान-कारण को निजशक्ति भी कहते हैं।[2]

उपादान-कारण के पर्यायवाची नाम :-

आगम में उपादान कारण को समर्थ कारण[3] मूलहेतु[4], अंतरंग साधन[5], मुख्यहेतु[6], कर्ता[7] इत्यादि नामों से अभिहित किया गया है।

उपादान-कारण के भेद :-

उपादान कारण के मुख्य दो भेद हैं शाश्वत (त्रिकाली) उपादान तथा क्षणिक उपादान।[8] द्रव्य तथा गुण स्वभाव को त्रिकाली उपादान तथा पर्याय स्वभाव को क्षणिक उपादान कहते हैं। त्रिकाली उपादान यह बताता है कि कार्य की उत्पत्ति द्रव्य के स्वाश्रय से होती, पर से नहीं। पृथक् सत्ताकद्रव्य तो निमित्त मात्र हो सकता है। क्षणिक उपादान के भी दो प्रकार हैं, प्रथम तो अनंतरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय रूप उपादान तथा द्वितीय, तत्समय की योग्यता युक्त पर्याय रूप क्षणिक उपादान। इनमें प्रथम प्रकार इस नियम की घोषणा करता है कि अनंतरपूर्वक्षणवर्ती पर्याय (अर्थात् कार्य प्रकट होने से एक समय पूर्व वाली पर्याय) का व्यय ही उत्तर-क्षणवर्ती पर्याय रूप कार्योत्पत्ति का उपादान कारण है।[9] द्वितीय प्रकार

---

१. जै. सि. प्रवे. ४०८ प्रश्नोत्तर

२. "उपादान निजशक्ति है जिय को यही स्वभाव" (निमित्त उपादान संवाद पद्य नं ३)

३. धवला-१२/४-जै. सि. को भाग २ पृ. ५५.

४. बृ. स्वयंभूस्तोत्र-पद्य ६०

५. प्रवचनसार गा. टीका ९५.

६. पंचास्तिकाय गा. टी. ८९.

७. य: परिणमति स: कर्ता" (स. सा. क., ५१)

८. अष्टसहस्री-५८ वें पद्य की टीका।

९. देवागम स्तोत्र पद्य ५८ तथा अष्टसहस्री पृ. २११
"नियत पूर्वक्षणवर्तित्व कारणलक्षणम्।
नियतोत्तरक्षणवर्तित्वं कार्य लक्षणम्।" (जै. सि. को, भाग २ पृ. ५४.)

एक समय में ही कारण तथा कार्य के अभेदपने की सूचना करता है।[1] वास्तव में पर्याय की तत्समय की योग्यता ही उपादान-कारण तथा तत्समय की पर्याय ही कार्य है। उपादान को कारण तथा उपादेय को कार्य कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि कारण-कार्य या उपादान-उपादेय भाव एक ही द्रव्य की एक ही समयवर्ती एक पर्याय में घटित होता है। इस तरह त्रिकाली उपादान द्रव्य रूप तथा अनंतरपूर्वक्षणवर्ती एवं तत्समय की योग्यता रूप उपादान पर्याय रूप हैं। ये तीन भेद (उपादान कारण के) आगम में उपलब्ध होते हैं।

उपादान-कारण ही कार्य का नियामक होता है :-

यद्यपि निमित्त कारण पर विचार करते समय यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कार्य की उत्पत्ति का नियामक कारण उपादान ही है, निमित्त नहीं, तथापि यहाँ उक्त विषय में आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारों का विशेष रूप से आकलन किया जा रहा है। कार्य की उत्पत्ति कारण के अनुसार होती है। जैसे - जौ पूर्वक होने वाले जो जौ, वे जौ ही होते हैं।[2] यहां कार्य की उत्पत्ति का जो कारण कहा, वह समर्थ कारण ही है। समर्थ कारण उपादान कारण को कहते हैं, अतः उपादान कारण के अनुसार ही कार्य होता है - ऐसा आगम का वचन है,[3] तथा वस्तु स्वरूप है। वास्तव में वस्तु की शक्तियां पर की अपेक्षा नहीं रखती।[4] यद्यपि कार्योत्पत्ति में अंतरंग बहिरंग उभय कारणों की सन्निधि पाई जाती है। तथापि बहिरंग कारण, अंतरंग कारण की भांति कार्य का नियामक नहीं हो सकता। इस तथ्य को प्रकट करते हुए आ. अमृतचन्द्र ने लिखा है कि ज्ञान के निमित्तपने को प्राप्त हुए अन्य पदार्थ भले ही गतिशील रहें, परन्तु परमार्थ से बाह्य कारण अंतरंग कारण नहीं बन सकता। हे जिनेन्द्र, आप बुद्धि को प्राप्त अपने ज्ञान तथा वीर्य के विशेष से विश्वव्यापक या लोकालोक के ज्ञाता तथा केवल ज्ञान स्वरूप हुए हैं।[5]

---

१. "स एवैकः कार्यकारणव्यपदेशमार्गति पर्यायार्थिकः।"
रा. वा. १/३३ (वै. सि. को २/५५)

२. "कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति"
-समयसार. गाथा ६८ की टीका।

३. बृ. द्र. सं. टीका गा. २१-"उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात्। (पृ. ६१)

४. समयसार गा. ११६ टीका "न हि वस्तु शक्तयः परमपेक्षन्ते।"

५. लघु तत्त्व स्फोट, अ. १८, पद्य १८.

पूर्व अवस्था संयुक्त द्रव्य उचित बहिरंग साधनों (निमित्तों) के सानिध्य के सद्भाव में जो अनेक प्रकार की अवस्थाएं करता है, उनके प्रकट होने में अंतरंग साधन भूत उपादान कारणरूप स्वरूप कर्ता तथा स्वरूप करण की ही सामर्थ्य ही अनुग्रह रूप होती है, अर्थात् स्वरूप कर्ता एवं स्वरूप करण की सामर्थ्य से ही समस्त विभिन्न पर्यायें प्रगटती है।[1] अमृतचन्द्र के उक्त विचारों का समर्थन धवलाकार के उल्लेख से भी होता है कि सर्वत्र ही अंतरंग कारण (उपादानकारण) से ही कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा निश्चय करना चाहिए, क्योंकि बाह्य कारण (निमित्त कारणों) से कार्य की उत्पत्ति मानने पर शाली के बीज से (धान से) जौ की उत्पत्ति का प्रसंग उपस्थित होगा।[2]

उपादान-कारण की अपेक्षा कार्य को उपादेय कहते हैं :-

अभ्यंतर कारण को उपादान कारण कहा है, उससे निष्पन्न कार्य को उपादेय कहा गया है। उपादान-उपादेय को ही कारण कार्य नाम से अथवा कर्ता-कर्म नाम से भी जाना जाता है। उपादान-उपादेय सम्बन्ध द्रव्यार्थिक - निश्चय नय की अपेक्षा एक ही द्रव्य तथा उसकी ही उत्पन्न पर्याय में निर्दिष्ट किया गया है, तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा एक ही समय की एक ही पर्याय में बताया गया है। पूर्व पर्याय को उपादान तथा उत्तरवर्ती पर्याय को उपादेय कहना, दो पर्यायों में (एक ही द्रव्य की होने से) सद्भूत व्यवहार नय की अपेक्षा घटित होता है।

निमित्त-उपादान की समन्वित स्थिति :-

वास्तव में जब जब कार्य की उत्पत्ति होती है, तब तब उसमें दोनों हेतुओं (बहिरंग - अंतरंग) की विद्यमानता अवश्य होती है, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। अन्य प्रकार से मोक्ष की प्राप्ति की विधि सम्भव नहीं है, अतः हे जिनेन्द्र ! आप ऋषियों तथा ज्ञानियों द्वारा वंदनीय हैं।[3] यह बात भी सत्य है कि उभय कारणों (निमित्त तथा उपादान) की सन्निधि में ही कार्य होने का वस्तु स्वभाव गत नियम होने पर भी ज्ञानियों की दृष्टि बाह्य हेतु से हटकर अभ्यंतर हेतु में ही निहित रहती है, आचार्य समंतभद्र

---

१. प्रवचनसार गा. ९५ की टीका।

२. जैनेन्द्र सि. कोश भाग, २ पृ. ६२.

३. बृ स्व. स्तोत्र, पद्य, ६०

ने स्पष्ट घोषित किया है कि हे जिनेन्द्र ! गुण दोष की उत्पत्ति में बाह्य वस्तु निमित्त मात्र है, तथा अभ्यंतर कारण - उपादान उसका मूल हेतु है। अध्यात्मार्गी के वह अभ्यंतर कारण ही पर्याप्त है।[1] उसे बाह्य कारण प्रमुख नहीं है। उसकी दृष्टि में बाह्य कारण की सन्निधि गौणपने स्वीकार्य है। आचार्य अमृतचन्द्र ने भी उपरोक्त विचारों की स्पष्ट रूप से घोषणा की है, कि आत्मा स्वयं ही देव है, अचिंत्य शक्ति का धारक है क्योंकि वह चैतन्यचिन्तामणि रत्न ही है, अतः ज्ञानी सर्व प्रकार से शुद्धात्मा को धारण करते हैं, उन्हें अन्य परिग्रहों से क्या प्रयोजन ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं है।[2] उभय कारणों की समन्वित स्थिति पर प्रकाश डालते हुए वे लिखते हैं कि निश्चय से स्व ही अथवा पर ही एकमात्र कारण नहीं है अपितु कार्य की सिद्धि में उभय कारणों की विद्यमानता होती है।[3] अंतरंग तथा बहिरंग कारणों से समस्त वस्तुओं में अनंत पर्यायों की संतति प्रकट होती है, इस बात का ज्ञान अज्ञानी जीव को नहीं होता परन्तु उन पर्यायों की संतति को आप संपूर्णतया जानते हैं।[4] हे जिनेन्द्र ! बहिरंग कारणों की निश्चित व्यवस्था के कारण अन्य पदार्थ को निमित्त मात्रपना प्राप्त कराते हुए भी आप स्वयं ही केवल अपने द्वारा अत्यधिक विभेदों से परिपूर्ण परिणमन को प्राप्त होते हैं।[5] इससे स्पष्ट है कि उपादान द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों के बाह्य कारण - निमित्त भी व्यवस्थित हैं - निश्चित है, जिनेन्द्र के ज्ञान में फलित हैं। अतः निमित्तों की जोड़ तोड़ में परतंत्र होना व्यर्थ है। वास्तव में आत्मा का पर द्रव्यों के साथ कोई कारक सम्बन्ध नहीं है कि जिससे शुद्धात्म स्वरूप की प्राप्ति हेतु बाह्य सामग्री निमित्तों की खोज में व्यग्र होकर परतंत्र होते हैं।[6] जिनकी दृष्टि निमित्त रूप बाह्य कारणों में लगी रहती है वे मिथ्या दृष्टि हैं। आचार्य श्री ने उक्त बात का भी उल्लेख किया है कि स्व - पर की आकृति के ग्रहण

---

१. बृ. स्व. स्तोत्र, पद्य ५६

२. स. सा. क. १४४

३. ल. त. स्फोट, अ. १५ पद्य १५

४. ल. त. स्फोट, अ. ४ पद्य १२

५. ल. त. स्फोट अ. १३ पद्य २२

६. प्रवचनसार गा. १६ टीका।

करने में आकुलित रहने वाली अन्य मिथ्यादृष्टि मनुष्यों की दृष्टि, निज को छोड़कर पर पदार्थों पर जा पड़ी है परन्तु आपकी दृष्टि बलपूर्वक निज महिमा में ही उच्छलित होती है।[1]

अन्य सिद्धान्त

कर्ता-कर्म और द्रव्य-गुण-पर्याय :-

जो परिणमन करे सो कर्ता, जो कर्ता का परिणाम सो कर्म, तथा जो कर्ता की परिणति सो ही क्रिया है। ये तीनों वस्तु स्वरूप से भिन्न नहीं हैं।[2] आचार्य अमृतचन्द्र ने उपरोक्त परिभाषाओं द्वारा यह स्पष्ट किया है कि कार्य रूप में परिणमन करने वाला द्रव्य स्वयं ही अपनी उस कार्य रूप पर्याय का कर्ता है। अन्य उसके परिणमन काल में अनुकूल रहने वाले द्रव्य उस पर्याय के निमित्त हो सकते हैं, कर्ता नहीं। कर्ता-कर्म तो व्याप्य-व्यापक के नियम के सद्भाव में ही घटित होते हैं।[3] जो पर्याय प्रगटती है उसे व्याप्य कहते हैं तथा उस पर्याय में जो द्रव्य फैलता है, परिणमित होता है वह द्रव्य व्यापक कहलाता है। उदाहरण के लिए मिट्टी रूप कलश पर्याय व्याप्य है तथा उस पर्याय में मिट्टी ही व्यापक है कुम्हार नहीं, अतः कलश पर्याय कर्म तथा मिट्टी द्रव्य उसका कर्ता है, कुम्हार उसका कर्ता नहीं है। कुम्हार तो कलश रूप कार्य का निमित्त मात्र है। निमित्त को भी कर्ता कहना जगज्जनों का अनादिरूढ़ व्यवहार है।[4] वास्तव में निमित्त किसी भी कार्य का परमार्थतः कर्ता नहीं होता। इस पर से यह भी फलित होता है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का परमार्थतः कर्ता नहीं होता। एक द्रव्य को दूसरे का कर्ता कहना वह व्यवहार कथन मात्र है परन्तु एक द्रव्य को दूसरे का कर्ता मानना वह अज्ञानी व्यवहारी जनों का अज्ञान या मोह भाव है।[5] जिस प्रकार एक द्रव्य दूसरे का कर्ता नहीं है, उसी प्रकार एक ही द्रव्य में रहने वाले अनेक गुण भी परस्पर में एक-दूसरे के कार्य (पर्याय) के कर्ता नहीं हैं। प्रत्येक गुण अपना अपना कार्य करता है, कोई गुण किसी अन्य गुण का कार्य नहीं करता, जैसे, ज्ञान गुण

---

१. ल त. स्फोट, अ. १४, पद्य १२.
२. समयसार कलश, ५१
३. समयसार गा. १०० तथा १०८ की आ. ख्या. टीका।
४. वही, गा ८४ की टीका।
५. समयसार कलश ६२

का काम जानना है वह जानने का ही कार्य करता है अन्य कुछ नहीं कर सकता।[1] दर्शन गुण का काम देखना है, वह देखने का ही काम करता है, जानने का नहीं क्योंकि एक गुण में दूसरे गुण का कार्य करने की सामर्थ्य नहीं है। एक गुण दूसरे गुण के कार्य (परिणमन) में अनुकूल होने पर निमित्त हो सकता है किन्तु उसका कर्ता नहीं। इससे स्पष्ट है कि द्रव्य की भांति द्रव्य के गुण भी परस्पर में कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं रखते, मात्र निमित-नैमित्तिक सम्बन्ध रखते हैं। जिस प्रकार द्रव्य तथा गुण अपने अपने कार्य के कर्ता हैं उसी प्रकार प्रत्येक गुण में उत्पन्न होने वाली प्रतिसमयवर्ती पर्यायें भी परस्पर में स्वतंत्र होती है। कोई भी पर्याय किसी भी आगामी या पूर्व पर्याय की कर्ता नहीं होती, क्योंकि उन पर्यायों में परस्पर प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव होता है। इस तरह, प्रत्येक पर्याय भी अपनी अपनी स्वतंत्रपने कार्यकर्त्री हैं अतः द्रव्य भी स्वतन्त्र, गुण भी स्वतन्त्र तथा पर्यायें भी स्वतन्त्र हैं। कोई किसी के आधीन नहीं है। न द्रव्य को किसी ने रचा है, न गुण को कोई ने बनाया है, वे स्वयं सत् रूप हैं, जो सत् रूप है उसका कोई कर्ता नहीं होता है अतः द्रव्य स्वभाव एवं गुण स्वभाव पूर्णतः स्वतन्त्र अनादि अनंत, अकृत तथा अकार्य हैं। पर्याय भी पर्याय रूप से सत् होने से अपनी स्वतन्त्र सत्ता तत्तत्समय के लिए रखती है। इस प्रकार सत् के स्वतन्त्रपने की घोषणा द्वारा आचार्य अमृतचन्द्र ने समस्त द्रव्य तथा उनके समस्त गुण और पर्यायों को स्वतन्त्र बताया है। जैन दर्शन कर्तावादी दर्शन नहीं है बल्कि ज्ञातावादी दर्शन है। ज्ञातापने में सहजसुख एवं परम शांति या निराकुलता होती है जबकि कर्तापने में कर्तृत्व की आकुलता एवं अशांति ही होती है। आचार्य अमृतचन्द्र ने जैन दर्शन के उक्त रहस्य को प्रस्तुत करते हुए समस्त परमार्थ शांति के इच्छुकों को परम शांति का मार्ग प्रदर्शित किया है।

वस्तु एक त्रय नाम

करता परिनामी दरब, करम रूप परिनाम।
किरिया परजय की फिरनि, वस्तु एक त्रय नाम॥

—समयसार नाटक, कर्ता कर्म क्रिया द्वार,

---

१. समयसार कलश ६२

सप्तम् अध्याय

धार्मिक विचार

यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि धर्म का सम्बन्ध विचारों से तथा धर्म का सम्बन्ध आचारों से है। धर्म प्रवृत्तिमूलक होता है। वहां भी निश्चय धर्म स्वप्रवृत्ति अथवा पर से निवृत्ति मूलक है तथा व्यवहारधर्म पराश्रय-वृत्ति का द्योतक है। अतः धार्मिक विचारों के अंतर्गत स्व-पर प्रवृत्तिमूलक आचरणों की चर्चा अभिप्रेत रहती है। आत्मा को अन्यथा मार्ग से हटाकर स्वरूप की प्राप्ति हेतु स्वसन्मुख प्रवृत्ति कराना धार्मिक आचारों का मुख्य प्रयोजन है। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्वामी समंतभद्र ने धर्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यहाँ उस समीचीन धर्म का उपदेश दिया जाता है, जो जीवों को संसार के चतुर्गति सम्बन्धी दुःखों से बचाकर श्रेष्ठ मोक्ष सुख में ले जाता है तथा जो कर्मों का नाश करने वाला है।[1] ऐसा धर्म धर्म के ईश्वर अर्थात् तीर्थंकरों ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप कहा है और इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान तथा मिथ्याचारित्र को संसार परिभ्रमण की परम्परा का कारण लिखा है।[2] अतः उक्त धर्म के आधारों को दो विभागों में निरूपित किया गया है। उनमें प्रथम है मुनि आचार तथा द्वितीय श्रावकाचार। उक्त दोनों प्रकारों पर क्रमशः विचार किया जाता है।

मुनि आचार

यहां मुनि आचारों का आकलन करने के लिए सर्व प्रथम मुनि के स्वरूप का अवलोक करना आवश्यक है।

---

१. देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥

२. सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।
यदीय प्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥ ३ ॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार

मुनि का स्वरूप :-

जो इंद्रिय विषयों की आशा से रहित हैं, छहकाय के जीवों के घातरूप आरम्भ से रहित हैं, चौदह प्रकार के अंतरंग तथा दश प्रकार के बहिरंग परिग्रहों से रहित हैं, तथा जो सदा ज्ञान और ध्यान में तथा तप में अनुरक्त हैं, वे साधु – तपस्वी प्रशंसनीय हैं।[1] धवलाकार आचार्य वीरसेन ने साधु का लक्षण सर्वसाधारण से विलक्षण ही बताया है। वे लिखते हैं कि जो अनंतज्ञानादि रूप शुद्धात्मा के स्वरूप को साधना करते हैं, वे साधु हैं। जो सिंह के समान पराक्रमी, गज के समान स्वाभिमानी, बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशु के समान निरीह गोचरीवृत्ति करने वाले, पवन के समान निःसंग अथवा सर्वत्र बिना रुकावट विचरण करने वाले, सूर्य के समान तेजस्वी या सकल तत्त्वों के प्रकाशक, सागर के समान गंभीर, मेरू के समान परिषह व उपसर्गों के बीच निश्चल या अडिग रहने वाले, चन्द्रमा के समान शांतिप्रदायक, मणि के समान प्रभा पुंजयुक्त, पृथ्वी के समान सर्व बाधाएं सहन करने वाले, सर्प के समान परिनिर्मित अनियत आश्रय वसतिका आदि में निवास करने वाले, आकाश के समान निरावलम्बी, निर्लेप, सदाकाल मोक्ष का अन्वेषण करने वाले साधु होते हैं। वे पांच महाव्रतों को धारण करते हैं, तीन गुप्तियों से सुरक्षित रहते हैं। अठारह हजार शील के भेदों को पालन करते हैं तथा चौरासी हजार उत्तर गुणों को धारण करते हैं, ऐसे साधु परमेष्ठी होते हैं।[2] आचार्य अमृतचन्द्र ने भी साधु – मुनि का स्वरूप तो भलीभांति स्पष्ट किया ही है, साथ ही मुनिधर्म पर सर्वप्रकार से सविस्तार प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं कि रत्नत्रय रूप पदवी का अनुसरण करने वाले मुनियों की वृत्ति पापक्रिया मिश्रित आचारों से सर्वथा पराङ्मुख होती है। वे सर्वथा उदासीन रूप तथा लोक से विलक्षण प्रकार की वृत्ति के धारक

---

१. विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥ १० ॥ र. क. श्रा ॥

२. "णमो लोए सव्व साहूणं" अनंतज्ञानादिशुद्धात्मस्वरूपं साधयन्तीति साधवः।
धवला खण्ड १, भाग १, पुस्तक १, गाथा ३३ पृष्ठ ५२

सिंह गय वसह मिय पशु मारुद सूरिहु मंदरिंदु मणी।
खिदि उरगम्बर सरिसा परम पय विमग्गया साहू ॥३३॥

होते है।[1] वे मोह रूपी सेना को जीतने के लिए कमर कसे रहते हैं।[2] उन्हें मोह सेना जीतने का उपाय उपलब्ध हो जाता है।[3] उनकी मति व्यवस्थित हो जाती है।[4] वह समस्त परद्रव्यों में मध्यस्थ होता है।[5] उनके मोह ग्रंथि के क्षय होने से रागद्वेष का भी क्षय होता है, रागद्वेष के क्षय होने मे वे सुख-दुख में समान बने रहते हैं और समानता के कारण ही मध्यस्थ लक्षण वाले श्रमणपने को प्राप्त करते हैं, जिससे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।[6] यथार्थ में मुनि के द्वारा शुद्धात्मा की वृत्ति ही निरन्तर अपनाई जाती है।[7] वे आगम चक्षु होते हैं। वे सर्व बातों का निर्णय आगम से ही करते हैं।[8] संयत् साधु का लक्षण साम्य है। वे शत्रु-मित्र में, सुख-दुख में, प्रशंसा-निंदा में, मिट्टी तथा सोने में, जीवन-मरण में, अपने पराये, अह्लाद-परिणाम में, यश-अपयश में, उपयोगी-अनुपयोगी में स्थायी-अस्थायी में इस प्रकार सर्वत्र ही मोह नाश होने के कारण समता भाव धारण करते हैं।

---

१. "अनुसरतां पदमेतत् करम्बिताचार नित्यनिरभिमुखा।
एकांत विरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः ॥ १६ ॥
—पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

२ "अतो मया मोहवाहिनी विजयाय बद्धाकक्षेयम्।"
—प्रवचनसार गाथा ७९ की टीका

३. "लब्धो मया मोहवाहिनी विजयोपायः।" —वही, गाथा ८० की टीका

४. "व्यवस्थिता मतिर्मम।" —वही, गाथा ८२ की टीका

५. "ततोऽहमेव सर्वस्मिन्नेव परद्रव्ये मध्यस्थो भवामि।"
—प्रवचनसार गाथा १५९ टीका

६. "मोहग्रंथिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषक्षपणं ततः समसुखदुःखस्य परममाध्यस्थलक्षणे श्रामण्ये भवन, ततोऽनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यलाभ।"
—वही गाथा १९५ की टीका

७. "संशुद्धात्मद्रव्यमत्रैकवृत्या, नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम्।"
—वही गाथा २०० टीका का छंद नं. १०

८. "श्रमणाः आगमचक्षुषो भवन्ति।"
"अथागमचक्षुषासर्वमेव दृश्यत एवेति समर्थयति।"
वही, गाथा २३४ की टीका उत्थानिका २३५ की

मुनि के पर्यायवाची नाम :-

मुनि के लिए आगम में श्रमण, संयत् ऋषि, साधु, वीतराग, अनगार, भदन्त, दान्त व यति आदि पदों का भी प्रयोग होता है।[1] तपस्वी पद भी मुनि के लिए ही प्रयुक्त हैं।[2]

मुनियों के भेद :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने मुनियों के अनेक प्रकार से भेद प्रदर्शित किये हैं। उनमें कुछ इस प्रकार हैं :-

शुद्धोपयोगी तथा शुभोपयोगी मुनि :-

जो वास्तव में श्रामण्य परणति की प्रतिज्ञा करके भी कषाय कण के जीवित होने से, समस्त पर द्रव्यों से निवृत्ति रूप से प्रवर्तमान सुविशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभावी आत्मतत्त्व में परिणति रूप शुभोपयोग भूमिका में आरोहण करते हैं, वे शुद्धोपयोगी मुनि हैं, शुद्धोपयोगी मुनि समस्त कषायों को निरस्त करके निरास्रव हो जाते हैं, परन्तु शुभोगयोगी मुनि उपरोक्त शुद्धोपयोग की भूमिका में आरोहण नहीं करके, उसके समीप ही कषाय द्वारा शक्ति कुंठित होने से शुभोपयोग की भूमिका में रहते हैं वे शुभोपयोगी श्रमण हैं। शुभोपयोगी मुनि कषाय कण का विनष्ट नहीं कर सकने के कारण आस्रवसहित होते हैं। यहां यह विशेष ज्ञातव्य है कि शुद्धोपयोगी शुभोपयोगी श्रमण से श्रेष्ठ होते हैं।[3]

---

१. जै. सि. को. खण्ड ४ पृ. ४०४

२. र क श्रा.. १० वां पद्य।

३. ये खलु श्रामण्यपरिणतिं प्रतिज्ञायापि जीवितकषायकणतया समस्तपरद्रव्यनिर्वृत्तव्यावृत्तसुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावत्वात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोग भूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते । ते तदुपकण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो निरास्रवमुत्कण्ठमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्नेत्यत्राभिधीयते । "धम्मेण परिणदप्पा····" इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः । ततः शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद्भवेयुः श्रमणाः किंतु तेषां शुद्धोपयोगिभिः समं समकाष्ठत्वं न भवेत् यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्त समस्त कषायत्वादनास्रवाः एव। इमे पुनरनवकीर्णकषायकणासाश्रवा एव। —प्रवचनसार गाथा २४५ की टीका

निश्चयी तथा व्यवहारी मुनि :-

अन्यत्र उन्होंने निश्चयी तथा व्यवहारी मुनियों के स्वरूप का भी उल्लेख किया है। उनमें जो स्वद्रव्य (आत्मा) की श्रद्धा करता है, स्वद्रव्य को जानता है और स्वद्रव्य के प्रति उपेक्षाभाव रखता है वह निश्चय नय से श्रेष्ठ मुनि है। जो परद्रव्य की (७ तत्त्वों की भेद रूप) श्रद्धा करता है, परद्रव्य को जानता है तथा परद्रव्य के प्रति उपेक्षाभाव रखता है वह व्यवहारी मुनि माना गया है।[1]

चार प्रकार के श्रमण संघ :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने ४ प्रकार के श्रमण संघों का भी संकेत किया है। वे ४ प्रकार है ऋषि, मुनि, यति और अनगार। इनमें ऋद्धि प्राप्त को ऋषि; अवधि, मनः पर्यय तथा केवलज्ञानी को मुनि; उपशम या क्षपक श्रेणी में आरूढ़ को यति और सामान्य साधुओं को अनगार कहते हैं। इन चारों प्रकार के श्रमण संघों के उपकार का अनुराग शुभोपयोगी मुनियों में होता है शुद्धोपयोगियों में नहीं। शुभोपयोगी आचार्य, उपाध्याय तथा साधु भी शुद्धोपयोगी मुनि की वन्दना आदि करते हैं। उक्त प्रवृत्ति शुद्धोपयोगियों के नहीं होती।[2]

मुनियों के ५ प्रकार :-

पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ तथा स्नातक ये ५ प्रकार भी मुनियों के कहे गये हैं। इनमें बकुश के शरीर बकुश तथा उपकरण बकुश ये दो भेद हैं। कुशील के प्रतिसेवना तथा कषाय ये दो प्रकार हैं।[3] इनके

---

१. स्वद्रव्यं श्रद्दधानस्तु बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च निश्चयान्मुनि सत्तमः ॥ ६ ॥
श्रद्धानः परद्रव्यं बुध्यमानस्तदेव हि।
तदेवोपेक्षमाणश्च व्यवहारी स्मृतो मुनिः।' ५ ॥
—तत्त्वार्थसार, उपसंहार।

२. "चातुर्वर्ण्यस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणप्रवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति, न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम्। "श्रमणेषु वन्दननमस्करण—" प्रवचनसार गाथा १४६ तथा २४७ की टीका।

३. "पुलाको बकुशो द्वेधा कुशीलो द्विविधस्तथा।
निर्ग्रन्थः स्नातकश्चैव निर्ग्रन्थाः पञ्च कीर्तिताः ॥
—तत्त्वार्थसार अ. ७ पद्य, ५८।

संक्षेप में निम्न प्रकार के लक्षण होते हैं। जो उत्तर गुणों की भावना से रहित हो तथा किसी क्षेत्र काल में किसी मूलगुण में अतिचार लगावे, जिनके अल्प विशुद्धता हो उसे पुलाक कहते हैं। जो मूलगुणों को निर्दोष पालन करता हो किन्तु धर्मानुराग के कारण शरीर व उपकरणों की शोभा बढ़ाने के लिये कुछ इच्छा रखता है वह बकुश है। जो शरीर तथा उपकरण आदि से पूर्ण विरक्त न हो और मूलगुणों तथा उत्तरगुणों की परिपूर्णता हो परन्तु उत्तरगुण की कदाचित् क्वचित् विराधना होती हो, वे प्रतिसेवना कुशील हैं और जिनके मात्र संज्वलन कषाय शेष हो उसे कषाय कुशील कहते हैं। जिनके मोह कर्म उपशांत अथवा नाश हो गया हो ऐसे ११वें तथा १२वें गुणस्थान वाले मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं। समस्त घातिया कर्मों का नाश करने वाले सयोगी तथा अयोगी केवली स्नातक कहलाते हैं।[1]

मुनि दीक्षा विधि :-

आचार्य अमृतचन्द्र ने स्पष्ट लिखा है कि गृहस्थों को अपने पद तथा शक्ति का विचार करके ही सफल व्रतधारियों (मुनियों) के आचरण को अंगीकार करना चाहिए।[2] उन्हें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धारण करने के बाद ही यथाशीघ्र मुनि पद ग्रहण करना चाहिए।[3] निर्ग्रन्थता को दीक्षा का उत्सव मोक्ष रूपी लक्ष्मी के स्वयम्वर समान है।[4] अतः मुनि धर्म का उपदेश न करके गृहस्थ धर्म का उपदेश दाता तुच्छबुद्धि तथा दण्डनीय है, क्योंकि वह क्रम भंग उपदेश देने वाला है। उसके क्रम भंग उपदेश से अति उत्साही शिष्य भी तुच्छ स्थान में ही संतुष्ट होकर ठगाया जाता है।[5] इस प्रकार महान, महत्वपूर्ण मुनिपद

---

१. तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ सूत्र ४६ पृ. ७४० सं. पं. रामजी भाई।

२. पु. सि. पद्य २००

३. वही, पद्य २१०

४ "मोक्षलक्ष्मी स्वयंवरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षण–"

–प्रवचनसार गाथा 5 टी.।

५. "यो यतिधर्ममकथन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।"
तस्यभगवत्प्रवचने प्रदर्शित निग्रहस्थानम् ॥ १८ ॥
अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥ १६ ॥ पु. सि. ॥

की दीक्षा विधि का उल्लेख भी सविस्तार किया गया है। जो व्यक्ति श्रमण होना चाहता है, वह सर्वप्रथम विदाई लेता है।

१. **विदाई क्रिया** :-वह बंधुवर्ग से विदा मांगता है तथा गुरुजनों अर्थात् बड़ों से (माता-पिता स्त्री पुत्रादि से) अपने को छुड़ाता है और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चरित्राचार, तपाचार तथा वीर्याचार इन पंचाचारों को स्वीकार करता है। वह समस्त बाह्य सम्बन्धों को भिन्न जानकर अपने आत्मा को माता-पिता-पुत्र आदि रूप में देखता है।[1]

२. **पंचाचारों का स्वरूप** :-

ज्ञानाचार :- मुनि स्वाध्याय काल विचारते हैं, अनेक प्रकार विनय आदि करते हैं, शास्त्र भक्ति हेतु दुर्धर उपधान तथा बहुमान करते हैं, उपकार को नहीं भूलते, अर्थ व्यंजन तथा दोनों की शुद्धता में सावधान रहते हैं, यह सभी आचरण ज्ञानाचार है।

दर्शनाचार :- वे प्रशम, संवेग, अनुकम्पा तथा आस्तिक्य भावनाओं का पालन करते हैं तथा शंका, कांक्षा आदि दोषों को टालते हैं उपगूहन, स्थितिकरण आदि अंगों को पालन करते हैं, इसे ही दर्शनाचार कहते हैं।

चारित्राचार :-वे पंच महाव्रतों, तीन गुप्तियों का अवलम्बन करते हैं तथा ५ समितियों की सावधानी रखते हैं, इसे चारित्राचार कहते हैं।

तपाचार :- बारह प्रकार तपों का पालन तपाचार है।

वीर्याचार :- शुभ क्रिया काण्ड में पूर्ण शक्ति के साथ वर्तन करना वीर्याचार है। इस प्रकार वे पंचाचारों को अंगीकार तो करते हैं परन्तु वे यह जानते हैं कि निश्चय से ये समस्त आचार आत्मा के नहीं हैं, पराश्रित हैं, तथापि शुद्धात्मा की प्राप्ति से पूर्व तक इसे धारण करते हैं।

३. **प्रणत तथा अनुगृहीत होने की विधि** :- तत्पश्चात् श्रमण पद का इच्छुक प्रणत तथा अनुगृहीत होता है। वह श्रमण, गुणाढ्य, कुल-विशिष्ट, रूप विशिष्ट, वय विशिष्ट तथा श्रमणों को इष्ट गणी (आचार्य) के समीप जाकर शुद्धात्म तत्त्व की उपलब्धि रूप सिद्धि के लिए आचार्य से प्रार्थना करता है और उनके समक्ष प्रणाम करता है इसे प्रणत विधि

---

१. "यो हि नाम श्रमणो भवितुमिच्छति स पूर्वमेव बन्धुवर्गमापृच्छते, गुरु कलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति। तथाहि ।" -प्रवचनसार, गाथा २०२ की टीका।

कहते हैं। आचार्य उसे अभ्यर्थित अर्थ की सिद्धि का उपदेश देकर अनुगृहीत करते हैं यही अनुगृहीत विधि है।[1]

४ नग्नत्व धारण क्रिया :- तत्पश्चात् वह यथाजात रूप धारण (अर्थात् जन्म के समय जैसा नग्न रूप धारण) करता है। वह विचार करता है कि कोई परद्रव्य उसके नहीं, वह किसी परद्रव्य का नहीं है। वास्तव में आत्मा को समस्त परद्रव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। समस्त लोक में एक आत्मा ही उसका है अन्य कुछ भी नहीं। इस प्रकार इन्द्रिय नोइन्द्रिय को जीतकर जितेन्द्रिय होता है। आत्म द्रव्य का सहज रूप धारण करने से यथाजातरूप धर होता है। यथाजातरूप धर आत्मा के अयथाजातरूप धरत्व के कारण रूप मोह-राग-द्वेषादिभावों का अभाव होता है तथा उनके अभाव के कारण, वस्त्राभूषण धारण, सिर व दाढ़ी के बालों का रक्षण, परिग्रह का लेशमात्रपना, सावद्य (हिंसा-कारक) योग से सहितपना तथा शारीरिक संस्कार करना – इन पांचों का अभाव होता है। इस प्रकार बाह्य लिंग होता है। साथ ही मोह-राग-द्वेषादि के अभाव के कारण ही ममत्व परिणाम, जिम्मेदारी ग्रहण का भाव, शुभाशुभ से रंजित उपयोग की अशुद्धता, तथा परद्रव्यों का सापेक्षपना, इन सभी का अभाव होता है, इसलिए अंतरंग लिंग भी होता है। इस प्रकार दोनों लिंगधारी होकर श्रमणपने को प्राप्त करता है।[2]

५. २८ मूलगुणों का धारण :- २८ मूलगुणों में ५ महाव्रतत ५ समिति, पांच इन्द्रियजय, षट् आवश्यक तथा शेष ७ गुणों का उल्लेख है।

मुनियों के १२ तप :-

इनमें ६ बहिरंग तप हैं तथा छह अंतरंग तप हैं। बहिरंग तपों में अनशन, ऊनोदर (एकाशन), विविक्त शय्यासन अर्थात् जीव रहित स्थान में रहना, रस परित्याग तथा काय-क्लेश, ये छह बताये गये हैं; तथा दर्शन ज्ञान चारित्र-उपचार-रूप विनय करना, अपने गुरु आदि पूज्य पुरुषों की सेवा करने रूप वैयावृत्य, गुरु के समक्ष अपने दोषों को कहना - प्रायश्चित, शरीर में ममत्व रूप व्युत्सर्ग, चारों अनुयोगों के अभ्यास रूप स्वाध्याय

---

१. "ततो श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति। तथाहि.....।"
–प्रवचनसार गाथा २०३ टीका।

२. वही, गाथा २०५, २०६, २०७.

तथा पंच परमेष्ठी और निज आत्मा का ध्यान करना ये ६ अंतरंग तप हैं।[1]

तीन गुप्तियां :-

वे मन गुप्ति, वचन गुप्ति और काय गुप्ति रूप ३ गुप्तियों को पालन करते हैं।[2]

दशधर्म :-

उत्तमक्षमा, उत्तम मार्दव उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य तथा उत्तम ब्रह्मचर्य इन दशधर्मों को मुनि धारण करते हैं।[3]

बारह भावनाएं :-

अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, बोधिदुर्लभ, धर्मानुप्रेक्षा, लोक भावना इन १२ भावनाओं का चिन्तन मुनिराज निरन्तर करते रहते हैं।[4]

बाईस परीषह-जय :-

क्षुधा (भूख सहन करना), तृषा (प्यास सहन करना), शीत (ठंड सहन करना), उष्ण (गर्मी सहन करना), नग्न रहने में दुःख न मानना, याचना नहीं करना, अनिष्टसंयोग में अरति न करना, अलाभपरीषह, (पारणा के दिन निर्दोष आहार का लाभ न होना), दंशमशक (मच्छर आदि के काटने पर सहनशील रहना), अपनी निंदा सुनकर आक्रोश न करना, रोग परीषह (रोग आने पर दुःखी परिणाम नहीं करना), तृण परीषह (शरीर में कांटा आदि लगने पर उसे नहीं निकालना), अज्ञान परीषह (श्रुत का पूर्ण लाभ न होना), अदर्शन परीषह (प्रयोजन सिद्धि न होने पर भी क्लेश न करना), प्रज्ञा परीषह (ज्ञान का गर्व न करना), सत्कार-पुरस्कार परीषह (सत्कार में हर्ष अनादर में विषाद नहीं करना), शय्या परीषह (कोमल शय्या पर सोने का अनुराग छोड़ना), चर्या परीषह (गमन में दुःख

---

१. पु. सि. पद्य १९८, १९९.
२. वही, २०२
३. वही, पद्य २०४
४. वही, पद्य २०५
५. वही, पद्य २०६, २०८

न मानना), वध परीषह (किसी द्वारा सताये, मारे जाने के दुःख सहन करना), निषद्या परीषह (कंचन कांच महल श्मशान में उपसर्ग में धैर्य धारण करना) तथा स्त्रीसंग परित्याग रूप स्त्री परीषह। इन २२ परीषहों को मुनिराज धारण करते हैं।[1]

आचार्य अमृतचन्द्र ने मुनियों के प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान तथा सकल कर्म सन्यास विधि का विस्तृत, गम्भीर, स्पष्ट तथा प्रायोगिक वर्णन प्रस्तुत किया है।[2]

मुनि के निषिद्ध कार्य :-

ज्योतिष मन्त्र तन्त्रादि का निषेध :- आचार्य अमृतचन्द्र ने जहां तहां मुनि पद के अयोग्य कार्यों का संकेत तथा निषेध किया है।[3] वे लिखते है कि परम निर्ग्रन्थता रूप प्रवृज्या की प्रतिज्ञा लेकर संयम तपादि के भार को वहन करने पर भी यदि मुनि मोह की बहुलता के कारण शुद्ध चैतन्य आत्मा के व्यवहार को छोड़कर निरन्तर मनुष्य व्यवहार के चक्कर में पड़कर लौकिक कार्यों से निवृत्त नहीं होता तो वह लौकिक श्रमण है, मोक्षमार्गी श्रमण नहीं है।[4] श्रमण तो शुद्ध आत्मतत्त्व में परिणत होने तथा कषाय रहित होने से वर्तमानकाल में मनुष्यत्व होने पर भी स्वयं समस्त मनुष्य व्यवहार से रहित (बहिर्भूत) निस्पृह होता है।[5] उसकी प्रवृत्ति अलौकिक होती है।[6] आचार्य जयसेन ने लौकिक कार्यों में निश्चय-व्यवहार रत्नत्रय के नाश करने वाले, अपनी प्रसिद्धि, बड़ाई व लाभ आदि के कारणभूत ज्योतिष, मन्त्र-तन्त्र, वैद्यक तथा गृहस्थों के जीवन के उपाय रूप कार्यों को परिगणित किया है।[7] आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवती ने तो स्पष्ट लिखा है कि जो जिनलिंग (मुनिपना) धारणकर कष्ट करते हैं, ज्योतिष, मन्त्र, तन्त्र वैद्यक आदि कार्य करते हैं, धन चाहते हैं, यश, सुख, ऋद्धि आदि चाहते हैं, आहार,

---

१. पु. सि २०७, २०८
२. आत्मख्याति पृ. ५२३ से ५३५ तक
३. जै. सि. कोष भाग ४ पृ. ४०६
४. प्रवचनसार गाथा २६६ की टीका।
५. वही, गाथा २२६ की टीका
६ पु सि. पद्य नं. १६
७. प्रवचनसार गा. २६६ (टीका जयसेन)

भय, मैथुन, परिग्रह आदि से संयुक्त होते हैं, गृहस्थों की विवाह विधि आदि मिलाते हैं वे मुनि कुभोगभूमि में कुमानुष बनते हैं।[1] अतः आचार्य मल्लिषेण ने तो स्पष्ट लिखा है कि हे मुनि! क्या इन वस्त्रों के त्यागने मात्र से मुनि हो जाता है? क्या कांचली छोड़ने मात्र से सर्प निर्विष हो जाता है? अर्थात् कदापि नहीं होता। तप का मूल तो उत्तम क्षमा, इन्द्रियों पर विजय पाना, सत्यवचन बोलना तथा शुद्ध आचरण पालना है। यदि हृदय में रागादि को ही बढ़ाया अर्थात् धन-धान्य, सवारी, चेले, महल, वस्त्राभूषणादि परिग्रह की चाह न मिटी तो मुनिमुद्रा (नग्नता) भेष मात्र ठहरी, अतः मुनि को सर्वप्रथम अंतरंग मिथ्यात्वादि परिग्रह का त्यागी होना योग्य है।[2] पैशून्य, हास्य, ईर्ष्या, माया आदि की बहुलता युक्त श्रमणपने (नग्नपने) से क्या साध्य है। वह तो एकमात्र अपयश का पात्र है।[3]

अन्य निषिद्ध कार्य :-

मुनि को स्वच्छन्द तथा एकल बिहारी होना इस काल में वर्जित है।[4] उसे दुर्जन, लौकिकजन, तरुणजन, स्त्री, पुंश्चली, नपुंसक, पशु आदि की संगति वर्जित है। मुनि को आर्यिका से ७ हाथ दूर रहना चाहिए। पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनियों की संगति नहीं करना चाहिए।[5] जिनलिंग धारण कर नाचना, गाना, बाजा बजाना, अभिमान करना, कलह विवाद करना, महिला वर्ग में राग करना, दूसरे के दोष निकालना, गृहस्थों तथा शिष्यों पर स्नेह करना, स्त्रियों में विश्वास करके उन्हें दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रदान करना ये सभी पार्श्वस्थ आदि भ्रष्ट मुनि के कार्य हैं। इनसे मुनि तिर्यग्योनि तथा नरकगति का पात्र होता है।[6] जो पांच प्रकार के पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अपगतसंज्ञ, तथा मृगचारी मुनि कहे हैं, वे वन्दना प्रशंसा, संगति करने के योग्य नहीं है। इनको शास्त्रादिक विद्या

---

१. त्रिलोकसार गाथा ९२२
२. सज्जनचित्तवल्लभ पद्य नं. ३, पृ. ६.
३. अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़) गाथा ६९ मूल।
४. जै. सि. कोश, ४/४०६.
५. वही, ४/४०६, ४०७
६. वही, पृ ४/४०६

के लोभ से, राग से, भय से भी कभी भी वन्दना-विनय आदि नहीं करे।[1] ऐसा जिनागम का आदेश है।

आहार के ४६ दोषों के त्याग का उपदेश :-

मुनियों को आहार के ४६ दोषों को दूरकर ही आहार लेने का विधान है। उनमें १६ उद्गमदोष, १६ उत्पादन दोष, १० भोजन सम्बन्धी दोष तथा ४ अन्य दोष परिगणित हैं।

१६ उद्गम दोषों के नाम :- अधः कर्म, उद्दिष्टाहार,[2] साधिक, पूर्ति, मिश्र, स्थापित, बलि, प्राभृत, प्रादुष्कर क्रीतनर, ऋण, परावर्त, अभिहृत उद्भिन्न माल्लरोहण आच्छेद्य, अनीशार्थ ये १६ दोष दातार के आधीन हैं।

१६ उत्पादन दोषों के नाम :- धात्री, दूत निमित्त, आजीव, वनीयक, चिकित्सा, क्रोध मान, माया, लोभ, पूर्व संस्तुति, पश्चात् संस्तुति, विद्या, मंत्र, चूर्ण तथा मूल दोष, ये १६ पात्र के आधीन है।

१० भोजन सम्बन्धी दोष :- शंकित, मृक्षित, निक्षिप्त विहित, संव्यवहार, दायक, उन्मिश्र, परिणत, लिप्त, परिजन ये १० भोजन संबंधी दोष हैं।

शेष ४ अन्य दोष :- अंगार, धूप, संयोजन तथा प्रमाण दोष, ये ४ अन्य दोष है। इस तरह ४६ दोषों का निषेध करके ही आहार लेना यथार्थ मुनि का कर्त्तव्य है।

इस प्रकार मुनि-आचार पर प्रकाश डालने के पश्चात् श्रावकाचार पर प्रकाश डाला जाता है।

श्रावकाचार

आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि जो जीव बारबार समझाने पर भी सकल पाप रहित मुनि-वृत्ति को ग्रहण करने में असमर्थ हो, उसे एक देश पाप क्रिया रहित श्रावकचार का उपदेश दिया जाता है।[3] श्रावक भी अपनी शक्ति अनुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप मुक्ति मार्ग का हमेशा सेवन

---

१. मूलाराधना (भगवती अराधना) पृ. १५७

२ साधु को ध्यान में रखकर बनाया गया आहार उद्दिष्टाहार है।

३. पु. सि. १७

करता है। उपरोक्त रत्नत्रय में से सर्वप्रथम समस्त प्रयत्नों द्वारा सम्यग्दर्शन को भलीभांति प्रकट करना चाहिए क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होता है।[1]

सम्यग्दर्शन का स्वरूप :-

जीव अजीवादि तत्त्वार्थों का सदा विपरीत अभिप्राय रहित श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। वह श्रद्धान ही आत्मा का स्वरूप है।[2] उक्त जीवादि तत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई आत्मज्योति शुद्धनय के द्वारा प्रकट होती है। वह आत्मज्योति या आत्मस्वरूप समस्त नैमित्तिक भावों से भिन्न है, एक रूप है, तथा पद पद पर चैतन्य चमत्कार मात्र प्रकाशमान है। उक्त आत्मज्योति की जो अनुभूति है, वही आत्मख्याति है तथा जो आत्मख्याति है, वही सम्यग्दर्शन है।[3] ऐसा सम्यग्दर्शन जिसे प्रकट होता है उसे दूसरों से पूछने की जरूरत नहीं पड़ती, क्योंकि उसके प्रकट होने पर आत्मा की तृप्ति तथा वचन अगोचर सुख की प्राप्ति होती है। वह सुख तत्काल ही स्वयं के अनुभव में आता है।[4]

सम्यग्दर्शन के पोषक आठ अंग :- सम्यग्दर्शन के पोषक आठ अंग माने गये हैं। उनमें सर्वज्ञदेव कथित समस्त जीवादि पदार्थों के अनेकान्तात्मक स्वरूप में शंका न करना प्रथम निशंकित अंग है। इस लोक में ऐश्वर्य-सम्पदा आदि तथा परलोक में चक्रवर्ती, नारायण आदि पदों तथा एकांतवादी अन्य धर्मों की बांछा नहीं करना दूसरा निकांक्षित अंग है। भूख प्यास, सर्दी गर्मी आदि विभिन्न भावों में तथा मलिन पदार्थों में ग्लानि नहीं करना तीसरा निर्विचिकित्सा अंग है। लोक में शास्त्राभास, धर्माभास तथा देवताभास में तत्त्व-रूचिवान् पुरुषों द्वारा सदा मूढ़ता रहित श्रद्धान करना चौथा अमूढदृष्टि अंग हैं। दूसरे के दोषों को ढकना तथा मार्दव, क्षमा, संतोषादि धर्म की अपने में वृद्धि करना पांचवां उपगूहन अंग है। काम क्रोध मद लोभ आदि विकार के कारण न्यायमार्ग से विचलित हुए स्वयं तथा पर को पुनः स्थित करना छठवां स्थिति करण अंग है। मोक्ष सुखसंपदा का कारण धर्म

---

१. पु. सि. २०, २१
२. वही, २२
३. समयसार गा. १३ की आत्मख्याति टीका, तथा कलश क्र ८
४. समयसार गा. २०६ की आत्मख्याति टीका।

अहिंसा तथा साधर्मीजनों में वात्सल्य भाव रखना सातवां वात्सल्य अंग है। निरंतर अपनी आत्मा को रत्नत्रय के तेज से प्रभावना युक्त करना और दान, तप, जिनपूजन एवं ज्ञानातिशय द्वारा जैन धर्म की प्रभावना करना आठवां प्रभावना अंग है।[1] उपरोक्त आठों अंगों में किसी भी अंग की हीनता होने पर सम्यग्दर्शन जन्म मरण की परम्परा को नाश करने में समर्थ नहीं होता, जिस प्रकार अक्षरहीन मंत्र विषवेदना को दूर करने में समर्थ नहीं होता।[2] अतः अष्ट अंगसहित सम्यग्दर्शन धारण करना गृहस्थ का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

सम्यग्ज्ञान की पृथक उपासना का उपदेश :-

यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है तथापि सम्यग्दर्शन के पश्चात् सम्यग्ज्ञान की पृथक् आराधना करना श्रेयस्कर है क्योंकि दोनों में लक्षण भेद से भिन्नता है। सम्यग्दर्शन कारण है तथा सम्यग्ज्ञान कार्य है।[3]

सम्यग्ज्ञान का स्वरूप :- प्रशस्त अनेकांतात्मक पदार्थों का निर्णय करना ही सम्यग्ज्ञान है। वह सम्यग्ज्ञान भी संशय विपर्यय तथा अनध्यवसाय से रहित आत्मा का ही स्वरूप है।[4]

सम्यग्ज्ञान के पोषक आठ अंग :- सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान के पोषक आठ अंग हैं। उनमें मात्र शब्द रूप पाठ को जानना प्रथम व्यंजनाचार है, मात्र अर्थ को जानना, द्वितीय अर्थाचार अंग है, शब्द तथा अर्थ दोनों को जानना उभयाचार नामक तृतीय अंग है, सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्यान्ह तथा मध्यरात्रि को छोड़कर योग्य काल में पठन-पाठनादि करना कालाचार नामक चतुर्थ अंग है, विनयपूर्वक आराधना करना पंचम विनयाचार अंग है, पठितांश को स्मरण (धारणा) में रखना उपधानाचार नामक षष्ठ अंग है, शास्त्र तथा अध्यापक का आदर करना सप्तम बहुमानाचार अंग है तथा ज्ञानप्रदाता गुरु का उपकार लोप

---

१. पु. सि. २३-३०

२. र. क. श्रा. पद्य २१

३. पु. सि. ३१, ३२, ३३

४. वही, ३५

नहीं करना अष्टम अनिह्नवाचार नामक अंग है।[1] इस प्रकार अष्ट अंगसहित सम्यग्ज्ञान की उपासना करनी चाहिए।

सम्यक्चारित्र की आराधना का उपदेश :-

सम्यग्दर्शन द्वारा दर्शनमोह को नाशकर, तथा सम्यग्ज्ञान द्वारा तत्त्वार्थ को जानकर सदाकाल अकम्प सम्यक्चारित्र का अवलंबन करना चाहिए। अज्ञान सहित चारित्र का सेवन सम्यक्चारित्र नाम नहीं पाता अतः सम्यग्ज्ञान के बाद ही सम्यक्चारित्र की आराधना कही गई है।[2]

सम्यक्चारित्र का स्वरूप :-

समस्त पापयुक्त मन-वचन-कायरूप योगों के त्याग से संपूर्ण कषाय रहित, निर्मल परपदार्थों से विरक्तिरूप सम्यक्चारित्र है। वह सम्यक्चारित्र भी आत्मस्वरूप है। वहा पांचों पापों के एक देश त्यागरूप देशव्रत तथा सर्वदेश त्याग रूप महाव्रत ये चारित्र के दो प्रकार है। वास्तव में पांचों पाप हिंसारूप ही हैं अतः एक हिंसा में ही सभी गर्भित हो जाते है तथापि शिष्यों को समझाने के लिए ही उसके ५ भेद उदाहरण स्वरूप कहें हैं।[3]

हिंसा अहिंसा का लक्षण :- कषाय के कारण परिणमित मन-वचन-काय के योग से जो द्रव्य तथा भावरूप दोनों प्रकार के प्राणों का घात है वह निश्चय से हिंसा है। अथवा रागादि भावों की उत्पत्ति ही हिंसा है तथा उनकी उत्पत्ति न होना ही अहिंसा है, यही हिंसा अहिंसा के संबंध में जिनागम का सार है।[4] यद्यपि परवस्तु के कारण थोड़ी भी हिंसा नहीं होती तथापि परिणामों की निर्मलता के लिए हिंसा के स्थानों का परित्याग करना उचित है। द्रव्य तथा भाव हिंसा के विशेषों को समझकर समस्त प्रकार के आभासों का त्याग करना उचित है। हिंसा के अभिप्राय वाला जीव द्रव्यहिंसा न होने पर भी हिंसा के फल को भोगता है जबकि तदाशय रहित को द्रव्यहिंसा होने पर भी हिंसा का फल प्राप्त नहीं होता। तीव्र कषायी जीव को द्रव्यहिंसा कम होने परभी हिंसा का फल बहुत होता है। जैसे

---

१. पु. सि. ३६
२. वही ३७, ३८
३. वही ३९, ४०, ४२
४. पु. सि. ४३, ४४

मछली, हरिण आदि को मारने के अभिप्राय से युक्त ढीमर तथा बहेलिया आदि। तथा मंदकषायवान् को द्रव्यहिंसा अधिक होने पर भी हिंसा का फल कम होता है जैसे किसान आदि।[1] एक साथ कई जनों द्वारा की गई हिंसा का फल परिणामानुसार भिन्न-भिन्न होता है। किसी को हिंसा करने के पूर्व ही हिंसा का फल मिल जाता है, किसी को हिंसा के काल में ही हिंसा का फल मिलता है तथा किसी को हिंसा करने का आरम्भ करके हिंसा न करने पर भी हिंसा का फल मिलता है। जैसे किसी को मारने का घात लगाकर बैठे हुए जन का ही घात हो जाता है तथा मछुएं स्वयं ही समुद्र में तूफानादि से मर जाते हैं। इस तरह स्पष्ट है कि हिंसा कषाय भावों के अनुसार ही फलती है। इसी तरह एक हिंसक के अनेक अनुमोदन कर्त्ताओं को हिंसा का फल होता है। अनेक जनों द्वारा की गई हिंसा का फल एक को ही मिलता है। जैसे सेना हिंसा करती है तथा फल राजा भोगता है। हिंसा किसी को उदय काल में अधिक तो किसी को कम फल देती है। इस प्रकार हिंस्य, हिंसक, हिंसा तथा हिंसाफलों को जानकर यथाशक्ति हिंसा का परित्याग करना चाहिए।[2]

पांच उदुम्बर फलों तथा तीन मकारों के त्याग का उपदेश :- हिंसा के त्याग के इच्छुक जनों को सर्वप्रथम प्रयत्नपूर्वक मद्य, मांस तथा मधु इन तीन मकारों का तथा बड़, पीपल, गूलर, ऊमर, कठूमर इन पांच उदुम्बरों का त्याग करना चाहिए क्योंकि इनसे महान हिंसा होती है।

मद्य का स्वरूप :- मदिरा मन को मोहित करती है। मोहित चित्तवाला पुरुष धर्म को भूल जाता है तथा धर्म को भूला हुआ जीव निश्शंक होकर हिंसा का आचरण करता है। मदिरा रस बहुत से जीवों की उत्पत्ति का स्थान है अतः मद्य सेवन करने वाले को उनकी हिंसा अवश्य होती है। अभिमान, भय, ग्लानि, हास्य, अरति, शोक, काम, क्रोधादि सभी हिंसा के भेद हैं और यह सभी मदिरा के निकटवर्ती है।[3] मद्यत्यागी को इन सभी का त्याग करना चाहिए।

मांस का स्वरूप :- प्राणियों के घात बिना मांसोत्पत्ति नहीं होती इसलिए मांसभक्षी पुरुष को अनिवार्य रूप से हिंसा लगती है। स्वयं मरे

---

१. पु. सि. ४६, ५१, ५२
२. वही ५३ से ६०
३. पु. सि. ६१-६४

हुए प्राणी के मांस में भी उसी जाति के निगोदिया जीव होते हैं, अतः मांस भक्षी को उनकी हिंसा लगती है। कच्ची, पकी या पकती हुई मांस पेशियों में उसी जाति कि सम्मूर्च्छन जीवों की निरंतर उत्पत्ति होती रहती है अतः सर्वप्रकार के मांस भक्षण में हिंसा अनिवार्य रूप से होती है। इसलिए मांस भक्षण का परित्याग करना चाहिए।

मधु का स्वरूप :-मधु की एक बूंद भी मधुमक्खियों की हिंसा रूप होती है। स्वयं पतित मधु में उसी जाति के अनंतजीव उत्पन्न होते हैं अतः उसके खाने से महान् हिंसा होती है। इसी प्रकार मक्खन को भी हिंसा का कारण जानकर त्याग करना चाहिए [1]

पांच उदुम्बरों का स्वरूप :-पांच उदुम्बरों में अनेक त्रस जीवों की उत्पत्ति होती है अतः उनके भक्षण से महान हिंसा होती है इसलिए उनका भी परित्याग करना चाहिए। उपरोक्त आठ पदार्थों का त्यागी अथवा अष्टमूल गुणों का धारी ही जिन देशना श्रवण करने के पात्र है। इस प्रकार अमृतदशा (मोक्ष) की कारण रूप अहिंसारूपी रसायन पाकर के भी अज्ञानी जीवों का असंगत वर्तन देखकर व्याकुल नहीं होना चाहिए।[2]

रात्रिभोजन त्याग का उपदेश :- रात्रि भोजन में भाव हिंसा तथा द्रव्य हिंसा दोनों होती है। रात दिन का भेद किये बिना आहार ग्रहण करने में रागादि की तीव्रता पाई जाती है। जैसे अन्न के ग्रास तथा मांस के ग्रास ग्रहण में मूर्च्छा की न्यूनाधिकता होती है उसी प्रकार दिन के भोजन ग्रहण तथा रात्रि के भोजन ग्रहण में भी मूर्च्छा की न्यूनाधिकता पाई जाती है, अतः रात्रि में भोजन में भाव हिंसा अधिक होती है सूर्य के प्रकाश में सूक्ष्म जीवोत्पत्ति नहीं होती तथा सूक्ष्म जीवों को देखा भी जा सकता है, परंतु रात्रि में दीपक आदि के प्रकाश में जीवों की उत्पत्ति भी विशेष होती है तथा उन्हें देखा भी नहीं जा सकता अतः रात्रि भोजन में द्रव्य हिंसा भी होती है, अतः अहिंसादि पांच व्रतो की सुरक्षा के लिए रात्रि भोजन त्याग अवश्य करना चाहिए।[3]

---

१. पु. सि., ६५-७१
२. वही, ७२-७५ तथा ७८
३. वही, १२९, १३२, १३५

तीन गुण व्रतधारण का उपदेश :-

श्रावकों को पंचाणुव्रतों के उपरांत तीन गुणव्रत धारण करने योग्य कहे हैं। वे तीन हैं – दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थदण्डव्रत।

दिग्व्रत का स्वरूप :- भली भांति प्रसिद्ध ग्राम, नदी, पर्वतादि द्वारा सभी दिशाओं में मर्यादा करके उन दिशाओं में गमन न करने की प्रतिज्ञा करना दिग्व्रत है।

देशव्रत का स्वरूप :- दिग्व्रत की मर्यादाओं के अंतर्गत ग्राम, बाजार मकान, मोहल्ला इत्यादि का परिमाण करके उस मर्यादा से बाहर न जाना देशव्रत है।

अनर्थदण्डव्रत का स्वरूप :- यह पाँच प्रकार का है। इसमें शिकार, जय, पराजय, युद्ध, परस्त्रीगमन चोरी आदि का किसी भी समय चिंतवन नहीं करना, अपध्यान त्याग नामक प्रथम अनर्थदण्डव्रत है। विद्या, व्यापार, लेखन, खेती नौकरी तथा कारीगरी आदि से निर्वाह करने वाले पुरुषों को पाप का उपदेशक वचन कभी नहीं कहना चाहिए। यह पापोपदेश त्याग नाम का दूसरा अनर्थदंडव्रत है। पृथ्वी खोदना, वृक्ष उखाड़ना, अतिशय घासवाली, भूमि रौंदना, पानी सींचना आदि; पत्र, फूल तोड़ना आदि कार्य बिना प्रयोजन नहीं करना प्रमादचर्या त्याग नामक तीसरा अनर्थदण्डव्रत है। छुरी, विष, अग्नि, हल, तलवार, धनुष आदि हिंसा के साधनों को और को देना छोड़ना, हिंसादान त्याग नामक चौथा अनर्थ-दण्डव्रत है। राग-द्वेष मोहादि वर्धक, अधिकांश अज्ञानांश युक्त दुष्ट कथाएं सुनना, धारण करना तथा सीखना इत्यादि का त्याग दुःश्रुति त्याग नामक पांचवाँ अनर्थदण्डव्रत है।

जुआ त्याग का उपदेश :-

सप्त व्यसनों में प्रथम सब अनर्थों में मुख्य संतोष का नाशक, मायाचार का घर, चोरी और असत्य का स्थान स्वरूप जुआ दूर से ही त्यागना चाहिए।[२]

चार शिक्षाव्रतों के धारण का उपदेश :-

तीन गुणव्रतों के बाद चार प्रकार के शिक्षाव्रतों के धारण का भी उपदेश जिनागम में है। वहां राग-द्वेष के त्याग से समस्त पदार्थों में साम्य

---

१. पु. सि. १३७, १३९, १४१, १४५
२. वही १४६

भाव को अंगीकार करके आत्म तत्त्व की प्राप्ति का मूल कारणरूप सामायिक बहुत बार करना चाहिए। सामायिक मुख्यतः रात्रि तथा दिन अंत में अवश्य करना चाहिए; अन्य किसी भी सामायिक करने में दोष नहीं है। सामायिक के समय चारित्रमोह के उदय होने पर भी समस्त पापों का त्याग होने से महाव्रत होता है। यह सामायिक नामक प्रथम शिक्षाव्रत है।

सामायिक की पुष्टि हेतु दोनों पक्षों की अष्टमी चतुर्दशी के दिन उपवास करना चाहिए। उपवास के लिए समस्त आरम्भ से मुक्त होकर, शरीरादि का ममत्व त्याग कर पर्व के पहले दिन में ही उपवास धारण करना चाहिए। पश्चात् संपूर्ण ४८ घंटे का काल धर्मध्यान में ही व्यतीत करना चाहिए।[1] यह द्वितीय प्रोषधोपवास नामक शिक्षाव्रत है। देशव्रती श्रावक भोगोपभोग से होने वाली हिंसा से बचने के लिए भोग तथा उपभोग की वस्तुओं में भी परिमाण कर लेता है, शेष का त्याग कर देता है। इसके अंतर्गत अनंतकाय वाले कंदमूल आदि का त्याग तथा बहुत ही जीवों की उत्पत्ति का स्थान मक्खन आदि का त्याग करना है। यह तीसरा भोगोपभोगपरिमाण नामक शिक्षाव्रत है। गृहस्थ को विधिपूर्वक दातार के सप्तगुण तथा नवधाभक्ति युक्त अपने निमित्त से बनाये हुए शुद्ध भोजन का अंश अर्थात् आहार दान करना चाहिए। दातार के ७ गुण इस प्रकार हैं – इस लोक संबंधी फल की इच्छा न करना, सहनशील होना, निष्कपट होना, ईर्षारहित होना, अखिन्नभाव होना, हर्षभाव होना। नवधा भक्ति में पड़गाहन, उच्चासन प्रदान, पादप्रक्षालन, पूजा करना, नमस्कार करना, मनशुद्धि, कायशुद्धि तथा भोजनशुद्धि ये नव बातें परिगणित हैं। श्रेष्ठ तप तथा स्वाध्याय की वृद्धि में सहायक द्रव्य ही दान करना चाहिए। दान के योग्य पात्र व्यक्ति तीन प्रकार के होते हैं। व्रतरहित सम्यग्दृष्टि, देशव्रतीश्रावक तथा सकलव्रती मुनि ये तीनों पात्र मोक्षमार्गी हैं। इस प्रकार यह वैयावृत्त या अतिथि संविभाग व्रत नामक चौथा गुणव्रत है।[2] इस प्रकार पाँच अणुव्रत, और चार शिक्षाव्रत ये १२ व्रत श्रावकों के धारण योग्य श्रावकाचार है। इनके धारण के पश्चात् मरण के समय सल्लेखना धारण करने का भी विधान है।

---

१. पु. सि. १४८, १५४
२. वही, १६१ से १७१

सल्लेखना का स्वरूप:-

अवश्य होने वाले मरण के समय के पूर्व से ही काय तथा कषाय को क्षीण करना सल्लेखना है । इसमें रागादि विभावों का अभाव होने से आत्मघात का दोष भी नहीं है । आत्मघाती तो वह है जो कषायाविष्ट होकर श्वास निरोध तथा जल, अग्नि, विष शस्त्रादि से अपने प्राणों को पृथक करता है ।[1] जिनोक्त सल्लेखना या समाधिमरण तो कषायों की क्षीणता करने वाली तथा अहिंसा की सिद्धि करने वाली होने से अवश्य धारण करने योग्य है ।

उपर्युक्त सम्यग्दर्शन, १२ व्रत, तथा सल्लेखना में दोष पैदा करने वाले प्रत्येक के पाँच पांच अतिचार भी कहे है । उनके त्याग से निर्दोष परिपूर्ण श्रावकाचार पालन होता है ।

इस प्रकार उपरोक्त समस्त अतिचारों का त्याग करके श्रावकाचार का परिपूर्ण निर्दोष पालन करने वाला आत्मा शीघ्र ही अल्पकाल में पुरुष के प्रयोजन – मोक्ष की सिद्धि करता है । इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा वर्णित मुनि–आचार तथा श्रावकाचार, जैनाचार्य परम्परा में समंतभद्र के बाद सर्वाधिक प्रमाणिक माना गया है, तथा व्यापकता से प्रचलित हुआ है, बाद के सभी श्रावकाचार विषयक निरूपण उपरोक्त विचारों पर ही आधारित है ।

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२४॥

अन्वयार्थः--कृतकृत्य, समस्त पदार्थ जिनके विषय हैं अर्थात् सर्व पदार्थों के ज्ञाता, विषयानन्द से रहित ज्ञानानन्द में अतिशय मग्न, ज्ञानमय ज्योतिरूप मुक्तात्मा सर्वोच्च मोक्षपद में निरन्तर ही आनन्दरूप से विराजमान हैं ।

— **आचार्य अमृतचन्द्र** : पुरुषार्थ सिद्धयुपाय

---

१. पु. सि. १७७–१७९

अष्टम् अध्याय

उपसंहार

१. आचार्य अमृतचन्द्र का वैशिष्टय :-

आचार्य अमृतचन्द्र के विशाल व्यक्तित्व तथा व्यापक कर्तृत्व पर गत अध्यायों में विशद् प्रकाश डाला गया है। उनके कुछ महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य संक्षप में इस प्रकार हैं :-

प्रथम – आचार्य अमृतचन्द्र का समग्र व्यक्तित्व अध्यात्मनिष्ठ, निज शुद्धात्मामृत से परिपूर्ण तथा अलौकिक है। वे अपनी सहस्त्रवर्षीय पूर्वाचार्य परम्परा के उन्नायक एवं सम्प्रसारक हैं। साथ ही अपनी सहस्त्रवर्षीय उत्तरवर्ती शिष्य परम्परा के प्रणेता एवं अध्यात्मधारा के प्रवाहक हैं।

दूसरे – वे चिरस्थायी, परमहितकारी एवं परमानन्दामृत रस भरित साहित्य के असाधारण प्रणेता हैं। उनकी समस्त कृतियाँ उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की अमर स्मारक हैं। वे कृतियाँ मौलिक हों या भाष्यरूप, द्रव्यानुयोग विषयक हों या चरणानुयोग सम्बन्धी, ज्ञानपरक हों या भक्ति-परक, दार्शनिक हों या धार्मिक – सभी में एक अद्वितीय अलौकिक अध्यात्मरस छलकता है।

तीसरे – उन्होंने अपनी समस्त कृतियों के आरम्भ में अनेकांत अथवा स्याद्वाद की महिमा अवश्य प्रदर्शित की है। सर्वत्र ही उन्होंने अनेकांतमयी वस्तुस्वरूप का निदर्शन स्याद्वादमयी निरूपण शैली में ही किया है। निश्चय-व्यवहार नय का समन्वित यथार्थ स्वरूप भी सुस्पष्ट किया है।

चौथे – उन्होंने सभी टीकायें एवं मौलिक रचनायें अत्यंत पटुता, समर्पणता तथा मग्नता के साथ की हैं। उनकी सभी टीकायें - "अथसूत्रावतार" शब्द से प्रारम्भ होती हैं और ग्रंथरचना के अहंकार के विकल्प

का निषेध करती हुई समाप्त होती हैं। टीकाओं के अंत में उन्होंने स्वयं अपने को "स्वरूप गुप्त अमृतचन्द्र" घोषित किया है, ग्रन्थकर्ता अमृतचन्द्र नहीं।

पांचवें – प्रत्येक रचना के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ रचना का उद्देश्य, प्रतिपाद्य वस्तु तथा फल स्पष्ट घोषित किया गया है। प्रतिपाद्य वस्तु की सिद्धि में आप्त, आगम, अनुमान और आत्मानुभव का आधार लिया गया है। तत्व निरूपण में युक्तियों, तर्कों तथा दृष्टांतों को प्रस्तुत किया गया है।

छठवें – उनकी कृतियां आलंकारिक, प्रौढ़, अर्थ-प्रगल्भा, क्लिष्ट तथा विद्वज्जन-मनहारी संस्कृत भाषा में निर्मित हैं। उन्होंने सभी कृतियों में स्वानुभव की मस्ती अध्यात्म रसिकता की छाप छोड़ी है। साथ ही किसी भी कृति में उन्होंने अपने कुल, गुरु, शिष्य तथा स्थानादि का थोड़ा भी संकेत नहीं किया है जो उनकी परम निस्पृहता का श्रेष्ठ प्रमाण है।

सातवें – उनकी कृतियां उनके युग की सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों की झलक भी प्रस्तुत करती हैं। हिंसा, अहिंसा आदि सिद्धांतों का विशद् स्पष्टीकरण इसका प्रमाण है।

आठवें – उत्थानिका या भाव सूचना पूर्वक टीका लिखने की शैली का सूत्रपात भी उन्होंने किया है, जिसका अनुकरण पश्चाद्वर्ती अनेक टीकाकारों ने किया है। संस्कृत गद्यकाव्य, पद्यकाव्य तथा मिश्रकाव्य के प्रणयन में वे सिद्धहस्त एवं लब्ध प्रतिष्ठ थे। विस्तृत भाष्योक्त भावों को साररूप में श्लोक रूप कलश में भरने की उनमें अपूर्व क्षमता थी।

नवमें – समयसार की आत्मख्याति टीका के अंत में स्याद्वाद एवं उपाय-उपेय अधिकार रचकर अद्वितीय कार्य किया है। उक्त अधिकार आत्मख्याति टीका का ऐसा वैशिष्ट्य है जो अन्यत्र सुलभ नहीं है। इसी अधिकार की समाप्ति पर सतालीस आत्मशक्तियों का स्वरूप दर्शन भी जैन अध्यात्म साहित्य में बेजोड़ है। इसी प्रकार प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका के अन्त में सतालीस नयों का सरल, स्पष्ट एवं सोदाहरण वर्णन वास्तव में अवर्णनीय है। पंचास्तिकाय की समय व्याख्या टीका के अन्त में निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी का स्वरूप तथा सम्यग्दृष्टि के यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान, व आचरण का स्पष्टीकरण जैन अध्यात्म

साहित्य में अनुपम निधि है। उक्त वर्णन तत्त्वाभ्यासियों, मोक्षमार्गाभिलाषियों एवं मोक्षमार्गियों - सभी के लिए अत्यन्त हितकारी एवं महत्वपूर्ण है।

दसवें - पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में समस्त प्रकार के रागादि भावों की उत्पत्ति को हिंसा तथा अनुत्पत्ति को अहिंसा और पुण्यास्रव को शुभोपयोग का अपराध घोषित करना अध्यात्म प्रवण आचार्य अमृतचन्द्र की अध्यात्म दृष्टि का अनुपम निस्यंद है। "लघुतत्व स्फोट" नामक स्तोत्र काव्य द्वारा जैन दर्शन, अध्यात्म तथा भक्ति मार्ग को प्रदीप्त किया है। उक्त कृति आचार्य अमृतचन्द्र की सैद्धांतिक विज्ञता, जिनेन्द्रनिष्ठा तथा अध्यात्म-रसिकता के चरमोत्कर्ष की प्रतीक है। संस्कृत वाङ्मय में प्रतीकात्मक नाट्यशैली तथा चम्पू काव्य-शैली का सफल प्रयोग भी अनुपम है। इस प्रकार आचार्य अमृतचन्द्र के कुछ वैशिष्ट्यों का यह संक्षेप है।

२. अध्यात्मवाद के लिए आचार्य अमृतचन्द्र का योगदान :-

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की रचना होने के बाद यद्यपि आचार्य परम्परा में अध्यात्म का पर्याप्त रूप से रसास्वादन हुआ। उसके आधार पर ही समंतभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानंदि, गुणभद्र आदि आचार्यों ने अध्यात्म का रहस्योद्घाटन किया है, तथापि उक्त रहस्योद्घाटन इस तरह सर्वजनग्राह्य तथा सुलभ नहीं हो सका जिससे कि प्रत्येक मुमुक्षु सहज रूप से कुन्दकुन्द के साहित्य में निरूपित अध्यात्म के गहन रहस्य को हृदयंगम कर आत्म-कल्याणोन्मुख हो सके। साहित्यिक क्षेत्र में यह एक बहुत बड़ी कमी थी। आचार्य अमृतचन्द्र ने इस कमी का अनुभव किया तथा 'इस निकृष्ट पंचमकाल में भी प्रत्येक भव्य प्राणी अध्यात्मरस पीकर मोक्षमार्ग का अनुसरण करने में समर्थ हो सके' इस परम उदात्त भावना को ध्यान रखकर ही उन्होंने कुन्दकुन्द प्राभृतत्रय (समयसार, प्रवचनसार तथा पंचास्तिकाय) पर सारगर्भित, मार्मिक टीकायें लिखीं। इसके साथ ही तदनुसंगी और भी मौलिक साहित्य का निर्माण कर अध्यात्मवाद के क्षेत्र में अक्षुण्ण, अपूर्व और असाधारण योगदान दिया।

जहां कलिकाल के प्रभाव से अज्ञानमयी मान्यताओं के मेघों से आच्छादित साहित्य-आकाश में अध्यात्म के उपदेष्टा खद्योतवत् टिमटिमाते थे,[1] वहां आचार्य अमृतचन्द्र अपने चन्द्रोपम व्यक्तित्व के साथ आविर्भूत

---

१. सागर धर्मामृत (पं. आशाधर) अ./१ पद्य नं. ७

हुए तथा उन्होंने अपनी कृतियों द्वारा अध्यात्म की शीतल शांति दायिनी चांदनी बिखेर कर पथ भ्रष्ट पथिकों को परम कल्याण का पथ प्रदर्शित किया। उनका व्यक्तित्व अध्यात्मवाद का ऐसा ह्रद था जिससे उनकी कृतियों रूपी अध्यात्म तरंगिणी प्रवाहित हुई जो चिरकाल तक अध्यात्म-वाद की धारा को इस धरा-धाम पर प्रवाहित करती रहेगी। यह आचार्य अमृतचन्द्र का अध्यात्मवाद के लिए महान् योगदान है।

कुन्दकुन्दार्य ने जिस तत्त्व का प्रतिपादन बड़ी सरल रीति से किया है, आचार्य अमृतचन्द्र ने उसी का विवेचन अपने समय की पाण्डित्य पूर्ण दार्शनिक शैली में किया है। इस प्रकार उन्होंने कुन्दकुन्द द्वारा प्रतिपादित अध्यात्म को दार्शनिक शैली में अवतरित करके कुन्दकुन्द के पश्चात् विकास को प्राप्त हुए दार्शनिक मन्तव्यों को भी उसमें समन्वित करने की चेष्टा की है। इतना ही नहीं, कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में जो तत्त्व निहित थे, किन्तु अस्पष्ट थे, उन्हें भी उन्होंने स्पष्ट करके जैन तत्त्वज्ञान को समृद्ध बनाया है।[1]

अध्यात्मवाद वह निर्विकल्प रसायन है जिसके सेवन से आत्मा अपने स्वानुभव रूप आत्म तेज से चमकने लगता है तथा आत्मा में अमृत धारा बहने लगती है। आत्मा परमानंद सागर में निमग्न होकर परम तृप्ति को प्राप्त करता है। कुन्दकुन्द ने उक्त उद्देश्य से ही अपने आत्मानुभव के वैभव से अध्यात्म रहस्यगर्भित ग्रन्थों का प्रणयन किया है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अध्यात्म रसपूरित, परमानन्द की मस्ती में झूमते हुए अपनी टीकायें रची हैं। उन्होंने कुन्दकुन्द के अध्यात्म तथा आत्मानुभूति विषयक रहस्यों का उद्घाटन करके उसे सर्वसाधारण को भी सुलभ बनाया है[2]

उन्होंने अहिंसा को मोक्ष की कारणभूत परमरसायन लिखा है।[3] साथ ही इस अहिंसा तत्त्व को नयदृष्टि द्वारा समझने की अनोखी दृष्टि प्रदान की है।

इसी तरह आत्मख्याति टीका के अन्त में परिशिष्ट रूप में स्याद्वाद अधिकार तथा उपाय-उपेय अधिकार जोड़ कर जैन अध्यात्म को समझने की कुन्जी प्रदान की है।[4] जिससे अध्यात्म का संदेश घर घर फैला है।

---

१. जै. सा. का इति (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री) पृ. १७६

२. श्री कुन्दकुन्दाचार्य का जीवन परिचय–संग्राहक ब्र. दवाचन्द, पृ. ६ से ९ तक

३. पु. सि. ७८ (कापी नं. २ पृ. ९३)

४. आ. शांतिसागर जन्मशताब्दि स्मृति ग्रन्थ पृ. ३५ (प्रारम्भिक)

प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार में द्रव्य स्वरूप का विश्लेषण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने जो तिर्यक्प्रचय और उर्ध्वप्रचय का निरूपण किया है वह उनकी एक ऐसी देन है जो उनसे पूर्व के साहित्य में नहीं पाई जाती। साथ ही उन्होंने कालद्रव्य को अनुरूप सिद्ध करने में जो उपपत्ति दी है, वह उनके जैन तत्त्वज्ञानविषयक अपूर्व पाण्डित्य की परिचायक है[1] तथा अध्यात्मवाद के लिए अमूल्य योगदान भी है।

३. वर्तमान युग के लिए उनकी देन :-

लोक में अध्यात्म के नाम पर अनेक विचारधारायें प्रचलित हैं। इनमें किसी का ध्यान ब्रह्माद्वैत की प्ररूपणा करने वाले साहित्य की ओर जाता है और बहुतों का ध्यान उपनिषदों की ओर मुड़ता है, परन्तु वे वहां भी अध्यात्म के रहस्य को रहस्यमयी ही पाते हैं। अध्यात्म का मर्म स्पष्ट अनुभव न होने से उसके सम्यक् परिज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण से वंचित ही रहना पड़ता है उसका अनुसरण आत्मकल्याण में साधक नहीं बन पाता है। इन सभी समस्याओं का हल न हो पाना साहित्यिक क्षेत्र की एक बहुत बड़ी कमी थी। उक्त कमी को आचार्य कुन्दकुन्द ने प्राकृत गाथाबद्ध साहित्य रचकर दूर करने की सफल कोशिश की किन्तु कालान्तर में कुन्दकुन्द द्वारा निरूपित अध्यात्मधारा का, वृद्धिगत अर्थहीन क्रियाकाण्ड के घटाटोप में, लोप सा हो गया था। उसे पुनर्प्रवाहित करने, कुन्दकुन्द के सूत्रों का मर्मोद्घाटन करने और जगत् को सच्ची शांति व अविनाशी सुख का मार्गप्रदर्शन करने में आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियां पूर्णतः सफल हुई हैं। उनके द्वारा प्रवाहित अध्यात्मगंगा चिरकाल तक आत्म हितैषीजनों को प्रेरणा एवं शांतिदायिनी बनी रहेगी। यही उनकी वर्तमान युग को अनुपम देन है।

उन्होंने भारतीय धार्मिक संस्कृत वाङ्मय को न केवल अपनी अमूल्य कृतियों की भेंट ही प्रदान की है अपितु उसे भलीभांति प्रौढ़ता और प्रगति भी प्रदान की है। साथ ही उसे विकसित एवं सुसमृद्ध भी किया है। वर्तमान में समग्र भारत एवं विदेशों में आचार्य अमृतचन्द्र की परम आध्यात्मिक कृतियों का समादर हुआ है। उनकी कृतियाँ ताड़पत्रों, कागजों तथा कपड़ों पर सैकड़ों वर्षों से सुरक्षित हैं। अध्याय चतुर्थ में प्रदत्त सूचियाँ इस बात की प्रबल प्रमाण हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द के बाद

---

१ जै. सा. का इतिहास × × ११ × × पृ. ३३२

अध्यात्म के क्षेत्र में आचार्य अमृतचन्द्र के समग्र साहित्य का जितना व्यापक प्रचार व प्रसार भारतवर्ष के कोने-कोने में हुआ है, जितनी अमृतचन्द्र के व्यक्तित्व से अध्यात्मधारा अनुप्राणित रही तथा वर्तमान में है, उतना प्रचार-प्रसार अन्य आचार्य की कृतियों का संभवतः नहीं हुआ और उतनी अन्य आचार्य के व्यक्तित्व से अध्यात्म धारा अनुप्राणित नहीं रही है। आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों का विभिन्न भाषाओं में, विभिन्न प्रकाशनों संस्करणों तथा स्थानों द्वारा लाखों की संख्या में प्रकाश में आना, भारत के कोने कोने में उनकी कृतियों का अनवरत, अध्ययन, मनन, पठन-पाठन, प्रचार एवं प्रसार होना इस बात का प्रमाण है कि अमृतचन्द्र का व्यक्तित्व महत्वपूर्ण वरदान और उनकी कृतियां महत्वपूर्ण देन हैं।

उनका बहुमुखी व्यक्तित्व एक ऐसा सुव्यवस्थित जीवनरूपी गुलदस्ता है, जिसमें व्यक्तित्व के विभिन्न प्रसून प्रफुल्लित, सौरभित एवं सुशोभित हैं। वे अन्तर्मुख कवीन्द्र, प्रौढ़तम साहित्यस्रष्टा, सफलवैयाकरण, लब्धप्रतिष्ठ भाषाविद्, [illegible], प्रतिभाशाली टीकाकार, अद्वितीय, तार्किक, नैयायिक, आपादकण्ठ अध्यात्मरस में निमग्न रहने वाले स्वरूपगुप्त अमृतचन्द्र हैं। वे गम्भीर अध्यात्म रसिक तथा अध्यात्मयुग प्रणेता हैं। उनका कृतित्व भी व्यापक, विमल एवं गम्भीर है। उनके साहित्य से निर्झरित अध्यात्म प्रवाह द्वारा अज्ञान, विषय तथा कषाय में संतप्त जनों को निरन्तर अनुपम शांति, संतुष्टि एवं आनन्द मिलता रहेगा।

उनका व्यक्तित्व भारतीय संस्कृत वाङ्मयाकाश का पूर्णचन्द्र है, जैन अध्यात्मरस का ध्रुवतारा है, दिगम्बर जैन आचार्य परम्परा का महान् रत्न है तथा उनका कर्तृत्व विशाल, गहन एवं सुसमृद्ध है, महान् वैशिष्ट्यों का रत्नाकर और चिन्तामणिरत्नवत् हितकर है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

पाण्डुलिपियाँ (हस्तलिखित) :-

१. **पञ्चास्तिकाय - समयसार** : (पद्यानुवादक-पं. हीरानन्द) रचनाकाल १६४३ ई. लिपिकाल १८३६ ई., दि जैन मन्दिर, आदर्श नगर, जयपुर।

२ **पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय** : पं. टोडरमल कृत टीका, रचनाकाल १७७० ई. लिपिकाल १८८६ ई., लिपिकार-फतेराम व्यास, श्री पार्श्वनाथ दि. जैन बड़ा मन्दिर, हनुमानताल, जबलपुर।

३. **पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय** :पं. भूधर मिश्र कृत टीका, रचनाकाल १८१४ ई., लिपिकाल १८७२ ई., लिपिकार-पंजवार चौबे चंदेरी, श्री दि. जैन मन्दिर चौक-भोपाल।

४ **पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय** : पं भूधर मिश्र कृत टीका, रचनाकाल १८१४ ई. लिपिकाल..., श्री पार्श्वनाथ दि. जैन बड़ा मन्दिर हनुमानताल, जबलपुर।

५. **प्रवचनसार भाषा टीका** : पं जोधराज गोदिका, रचनाकाल, १६८६ ई., लिपिकाल १६७२ ई., दि जैन तेरहपंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर।

६. **प्रवचनसार भाषा टीका** : पं. देवीदास, रचनाकाल १७६७ ई., लिपिकाल १७७१ ई., दि. जैन तेरहपंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर।

७. **प्रवचनसार सटीक** : आचार्य अमृतचन्द्र कृत, लिपिकाल, १७३६ ई. दि. जैन तेरहपंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर।

८. **समयसार - आत्मख्याति कलश टीका** : आचार्य अमृतचन्द्र कृत, लिपिकाल, १३८६ ई., योगिनीपुर (दिल्ली) में प्रतिलिपि की गई, दि. जैन तेरह पंथी बड़ा मन्दिर, जयपुर।

९. **समयसार - आत्मख्याति कलश टीका** : आचार्य अमृतचन्द्र कृत, लिपिकाल १६६५ ई., संग्रामपुर में लिपि की गई, दि. जै. ते ब. मं. जयपुर।

१०. **समयसार कलश टीका** : आचार्य अमृतचन्द्र कृत, कपड़े पर, लिपि सन् १६११ ई., दि. जै. ते. ब. मं., जयपुर।

११. **समयसार कलशा** : आ. अमृतचन्द्र कृत, कागज पर, लिपिकाल १४४३ ई., दि. जै. ते. ब. मं., जयपुर।

१२. **समयसार कलशा** : आ. अमृतचन्द्र कृत, कागज पर, लिपिकाल १६०४ ई., दि. जैन. ते. ब. मन्दिर, जयपुर।

१३. **समयसार तात्पर्यवृत्ति** : आ. जयसेन कृत, कागज पर, लिपिकाल १५७५ ई., (अर्गलपर म. प्र. में लिखी गई) दि. जै. ते. ब. मं., जयपुर।

१४. **समयसार भाषा टीका** : पं. जयचन्द कृत, कागज पर, लिपिकाल १८१८ ई., (लेखक कृत मूल हस्तलिखित प्रति) दि. जै. ते. ब. मं., जयपुर।

१५. **समयसार भाषा टीका** : पं जयचन्द कृत, कागज पर, लिपिकाल १८८१ ई. दि. जै. ते. ब. मं., जयपुर।

सिद्धान्त ग्रन्थ :–

१६. **अष्टसहस्री** : आर्यिका ज्ञानमती जी, प्रकाशक – वीर ज्ञानोदय ग्रंथमाला, (पुष्प प्रथम) दिल्ली, १९७५ प्रथमावृत्ति।

१७. **आप्त परीक्षा** : विद्यानन्द स्वामी कृत, अनुवादक – पं. दरबारी लाल कोठिया, प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर) १९४९ ई. प्रथमावृत्ति।

१८. **आलापपद्धति** : टीकाकार ब्र. रतनचन्द मुख्तार, प्र. - श्री शांति वीर दिगम्बर जैन संस्थान, महावीर जी (राज.) १९७० ई. प्रथमावृत्ति।

१९. **कुन्दकुन्द भारती** : संपादक – पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक– श्रुतभण्डार ग्रंथ प्रकाशन समिति, फलटण। १९७० ई. प्रथमावृत्ति।

२०. **गोम्मटसार कर्मकाण्ड** : टीकाकार – पं. मनोहरलाल, प्रकाशक– रेवा शंकर जगजीवन जौहरी, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२८ ई. द्वितीयावृत्ति।

२१. **जैनतत्त्वमीमांसा** : लेखक – पं. फूलचन्द सिद्धांत शास्त्री, प्रकाशक – अशोक प्रकाशन मन्दिर, वाराणसी, १९७८ ई. द्वितीय संस्करण।

२२. **जैन सिद्धांत प्रवेशिका** : पं. गोपालदास बरैया कृत, प्रकाशक – जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

२३. **तत्त्वप्रदीपिका टीका** : (श्री प्रवचनसार) अनुवादक – पं परमेष्ठीदास प्रकाशक – श्री दि. जै. स्वा. मं. ट्रस्ट, सोनगढ़ १९६४ ई. द्वितियावृत्ति ।

२४. **तत्त्वार्थसार** : संपादक – पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक – श्री गणेश प्रसाद वर्णी ग्रंथमाला, वाराणसी, १९७० ई. प्रथम संस्करण ।

२५. **तत्त्वार्थसूत्र** : सम्पादक व टीकाकार – पं. रामजी मा. दोशी, श्री दि. जै. स्वा. मं ट्रस्ट, सोनगढ़ १९५४, तृतीय संस्करण ।

२६. **तर्कभाषा** : केशवमिश्र कृत, सम्पादक – विश्वेश्वर सिद्धांत शिरोमणि, प्रकाशक – चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६७ ई. तृतीयावृत्ति ।

२७. **तिलोयपण्णत्ति** : यतिवृषभाचार्य, जीवराज ग्रंथमाला, सोलापुर १९४२ ई., प्रथम संस्करण ।

२८. **धवला टीका (षट्खण्डागम)** : टीकाकार – आचार्य वीरसेन, सम्पादक डा. हीरालाल जैन, पुस्तक १, ९, १२ एवं १५, प्रकाशक - जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर–२, ई. १९७३ ।

२९. **नयचक्र माइल्लधवलकृत** : सम्पादक – पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली, १९७१ ई. प्रथमावृत्ति ।

३०. **निमित्त-उपादान संवाद (दोहा)** : पं भैया भगवतीदास जी कृत, प्रकाशक – दि. जै. स्वा मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़, १९६४ ई., प्रथमावृत्ति ।

३१. **पंचाध्यायी** : टीकाकार – पं. देवकीनन्दन शास्त्री, प्रकाशक – श्री गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, बनारस, १९५० ई., प्रथमावृत्ति ।

३२. **पंचास्तिकाय संग्रह** : समयव्याख्या टीका – हिन्दी अनुवादक, श्री मगनलाल जैन, प्रकाशक–दि. जै. स्वा. मं ट्रस्ट, सोनगढ़ । १९६५ ई., द्वितीयावृत्ति ।

३३. **पंचास्तिकाय** : टीकात्रयोपेत : अनुवादक-पं पन्नालाल बाकलीवाल, प्रकाशक–परमश्रुतप्रभावक मण्डल, बम्बई, १९१४ ई. द्वितीयावृत्ति ।

३४. **पंचास्तिकाय** : टीकात्रयोपेतः अनुवादक–पं. पन्नालाल बाकलीवाल, प्रकाशक–परमश्रुत प्रभावक मण्डल, अगास, १९६९ ई. तृतीयावृत्ति ।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

३५. **पंचास्तिकाय-समयसार** : (पद्यानुवादक - पं. हीरानंद) सम्पादक-उदयलाल काशलीवाल, प्रकाशक - हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, १९१६ ई. प्रथमावृत्ति।

३६. **पंचास्तिकायसार (अंग्रेजी)** : प्रो. ए. चक्रवर्ती, प्रकाशक - दी सेन्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, आरा, १९२० ई. प्रथमावृत्ति।

३७. **पंचास्तिकायसार अंग्रेजी)** : प्रो ए. चक्रवर्ती, प्रकाशक - भारतीय ज्ञानपीठ बनारस, १९७५ ई., द्वितीयावृत्ति।

३८. **प्रमेयरत्नमाला** : (अनंतवीर्य आचार्य कृत टीका) वचनिका - पं. जयचंद, प्रकाशक-मुनि अनंतकीर्ति ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, १८०६ ई. रचनाकाल वचनिका, प्रथमावृत्ति।

३९. **प्रवचनसार (अंग्रेजी)** : प्रो. ए. एन. उपाध्ये, प्रकाशक - परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, १९६४ ई. तृतीयावृत्ति।

४०. **प्रवचनसार** : तत्त्वप्रदीपिका - तात्पर्यवृत्ति टीका (द्वयोपेतः) पं. अजित प्रसाद एवं ब्र. रतनचन्द-सम्पादक द्वय, प्रकाशक-श्री शांतिवीर दि. जै. संस्थान, महावीर जी. १९६७ ई.।

४१. **प्रवचनसार टीका** : (तीसरा खण्ड), टीकाकार ब्र. शीतलप्रसाद, प्रकाशक - मूलचंद किशनदास कापड़िया, सूरत, १९२६ ई. प्रथमावृत्ति।

४२. **प्रवचनसार** : (तत्त्वप्रदीपिका टीका), अनुवादक-पं. परमेष्ठीदास, प्रकाशक - दि. जै. स्वा. मं., सोनगढ़, १९६४, द्वितीयावृत्ति।

४३. **प्रवचनसार** : (तत्त्वप्रदीपिका) अनु पं. परमेष्ठीदास, प्रकाशक-श्री बी. स. सा. प्र. ट्र. भावनगर, १९७५ ई. तृतीयावृत्ति।

४४. **प्रवचनसार परमागम** : कविवर वृन्दावन कृत, संशोधक-नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक - जैन हितैषी कार्यालय, बम्बई, १९०८ ई. प्रथमावृत्ति।

४५. **प्रवचनसार परमागम** : कविवर वृन्दावन कृत, संशोधक-नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक-ब्र, दुलीचंद जैन ग्रंथमाला, सोनगढ़ १८४७ ई. द्वितीयावृत्ति।

४६. **भगवद्गीता** : (डा. राधाकृष्णन्) अनुवादक - विराज एम. ए., राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली, १९६९ ई. चतुर्थावृत्ति।

४७. **मोक्षमार्ग प्रकाशक** : (पं. टोडरमल कृत) हिन्दी अनुवादक – पं. भगनलाल, प्रकाशक – आ. क. पं. टोडरमल ग्रन्थमाला, जयपुर, १९६६ ई., प्रथमावृत्ति ।

४८. **राजवार्तिक** : (आ. अकलंक स्वामी कृत) प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९५१ ई. प्रथमावृत्ति ।

४९. **बृहद् द्रव्य संग्रह** : (ब्रह्मदेव सूरिकृत , प्रकाशक – गणेशवर्णी दि. जै. ग्र. मा. खरखरी (बिहार) १९५८ ई. प्रथमावृत्ति ।

५० **सिद्धिविनिश्चय टीका पूर्वार्ध** : अनंतवीर्याचार्य कृत) सम्पादक – पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५९ ई. प्रथमावृत्ति ।

नाटक :–

५१. **उत्तररामचरितम्** : (व्याख्याकार-श्री शेषराज शर्मा) प्रकाशक– चौखम्बा संस्कृत सीरीज, आफिस, वाराणसी, १९६२ ई. चतुर्थावृत्ति ।

अध्यात्म साहित्य :–

५२. **अध्यात्म अमृत कलश** : (आ. अमृतचन्द्र कृत) व्याख्याकार-पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री, प्रकाशक–श्री चन्द्रप्रभु दिगम्बर जैन मन्दिर, कटनी, १९७७ ई. प्रथमावृत्ति ।

५३. **अमृतज्योति** : संपादक – नानकचन्द जैन, एडवोकेट, प्रकाशक – लालचंद जैन एडवोकेट, रोहतक, १९६१ ।

५४. **अर्धकथानक** : (कविवर बनारसीदास), सम्पादक-नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक – यशोधर विद्याधर मोदी, संशोधित साहित्यमाला, बम्बई १९५७ ई. द्वितीयावृत्ति ।

५५. **आत्मख्याति टीका** : (अमृतचन्द्रसूरि कृता) हिन्दी अनुवादक – पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ, प्रकाशक - श्री दि. जै. स्वा. मं. ट्र., सोनगढ़, १९६४ ई. तृतीयावृत्ति ।

५६. **आध्यात्मिक पत्रावली** : (तृतीय भाग) श्री गणेश प्रसाद वर्णी, प्रकाशक – जिज्ञासु मण्डल, कलकत्ता, १९४१ ई. प्रथमावृत्ति ।

५७. **इष्टोपदेश** : आचार्य पूज्यपाद, टीका – पं. आशाधर कृत, प्रकाशक – वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली ।

५८. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा :** (अनुवाद-पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री) टीका-डा. ए. एन. उपाध्ये, प्रकाशक – श्री राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, १९६० ई. प्रथमावृत्ति ।

५९. **कार्तिकेयानुप्रेक्षा :** (मूल), सम्पादक - डा. ए एन. उपाध्ये, प्रकाशक - श्री राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, १९६९ ई. प्रथमावृत्ति ।

६०. **छहढाला :** (सटीक) अनुवादक – मगनलाल जैन, प्रकाशक–दि. जैन स्वा. मन्दिर, ट्रस्ट सोनगढ़, १९६० ई. प्रथमावृत्ति ।

६१. **तत्त्वानुशासन :** (मुनि रामसेन कृत) अनुवादक – पं. जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक – वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट, प्रकाशन, दिल्ली, १९६३ प्रथमावृत्ति ।

६२. **निजानन्द मार्तण्ड :** (श्री समयसार नाटक) सम्पादक - पं. मुन्नालाल इन्दौर, प्रकाशक – सेठ हीरालाल जी इन्दौर, १९४८ ।

६३. **पद्मनंदिपंचविंशति :** सम्पादक – प्रो. ए. एन. उपाध्ये व डा. हीरालाल जैन, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, १९६२ ई. ।

६४. **परमात्म प्रकाश टीका :** (अंग्रेजी प्रस्तावना) डा. ए. एन. उपाध्ये, प्रकाशक – श्रीमद् राजचन्द्र जैन आश्रम, अगास, १९६० ई. प्रथमावृत्ति ।

६५. **परमाध्यात्मरंगिणी :** (शास्त्राकार), पं. गजाधरलाल सम्पादक – प्रकाशक – भा. जै. सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता ।

६६. **परमाध्यात्मरंगिणी :** (पुस्तकाकार) प्रकाशक – शांतिसागर जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, महावीर जी, १९६२ ई. ।

६७ **रहस्यपूर्ण चिट्ठी :** (मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ के साथ) प्रकाशक – पं. टोडरमला ग्रन्थमाला, जयपुर १९६६, प्रथमावृत्ति ।

६८. **समयप्राभृतम् :** (तात्पर्यवृत्ति-आत्मख्याति टीका द्वयोपेतम्) सं. पं. गजाधरलाल, प्रकाशक – भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था काशी । १९१४ ई. प्रथमावृत्ति ।

६९. **समयसार :** (आत्मख्याति), टीकाकार – पं. जयचन्द, प्रकाशक – शांतिसागर जैन सिद्धांत एवं श्रुतभन्डार प्रकाशन संस्था, फलटण । १९५९ ई. प्रथमावृत्ति ।

७०. **समयसार** : (दी नेचर आफ दी सेल्फ) प्रो. ए. चक्रवर्ती, प्रकाशक–भारतीय ज्ञानपीठ काशी। अंग्रेजी सीरीज ग्रंथांक १, १९५० प्रथमावृत्ति।

७१. **समयसार कलश नाटकम्** : सम्पादक – क्षु. आदिसागर, प्रकाशक–रतनचन्द सखाराम शाह, सोलापुर १९७० ई.।

७२. **समयसार कलश टीका** : सं. – ब्र. शीतल प्रसाद, प्र. – मूलचंद किशनदास कापड़िया सूरत, १९२९ प्रथम.।

७३. **समयसार कलश** : सम्पादक–पं. फूलचन्दजी, प्रकाशक – दि. जै. स्वा. मं. ट्रस्ट, सोनगढ़ १९६६ ई. द्वितीयावृत्ति।

७४. **समयसार** : (जयसेनीय टीका) हिन्दी टीकाकार – आ. ज्ञानसागर-जी, प्रकाशक – श्री दि. जै. समाज, अजमेर १९६९ ई. प्रथमावृत्ति।

७५. **समयसार नाटक** : (पं. बनारसीदास कृत) हिन्दी टीका – पं बुद्धिलाल श्रावक, प्रकाशक – दि. जै. स्वा. मं. ट्रस्ट, सोनगढ़, १९७१ ई. प्रथमावृत्ति।

७६. **समयसार नाटक** : (पं. बनारसीदास कृत) हिन्दी टीका–पं. बुद्धिलाल श्रावक, प्रकाशक – श्री वर्धमान पब्लिक लायब्रेरी धर्मपुरा, दिल्ली। १९६२ ई.।

७७. **समयसार नाटक** : (पं. बनारसीदास कृत) हिन्दी, पं. बुद्धिलाल श्रावक, प्रकाशक–जै. ग्र. का; बम्बई १९२९, प्रथमा.।

७८. **समयसार**–(निजानंदीय भाषा टीका) क्षु. निजानंद, प्रकाशक–निजानंद जैन ग्रन्थमाला सहारनपुर, १९५१ प्रथमावृत्ति।

७९. **समयसार** : (मूल) सम्पादक – पं. बलभद्र जैन, प्रकाशक – मन्त्री श्री कुन्दकुन्द भारती दिल्ली १९७७ प्रथमावृत्ति।

८०. **समयसार वैभव** : पं. नाथूराम डोंगरीय, प्रकाशन – दि. जैन धर्म कार्यालय, इन्दौर १९७० द्वितीयावृत्ति।

८१. **समयसार** : (सप्तदशांगी टीका) सहजानन्द वर्णी कृत प्र. भा. वर्णी जैन साहित्य मन्दिर मुजफ्फरनगर, १९७७ ई. प्रथम.।

८२. **सहजसुख साधन** : लेखक – ब्र. शीतल प्रसाद जी, प्रकाशक–अमर-ग्रन्थमाला, इन्दौर, १९७२ ई. द्वितीयावृत्ति।

८३. **ज्ञानार्णव** : (शुभचन्द्राचार्य कृत) अनुवादक पं पन्नालाल बाकलीवाल, प्रकाशक – श्री राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, अगास, १९६१ ई. तृतीयावृत्ति ।

आचार ग्रन्थ :–

८४. **अनगार धर्मामृत** : (पं. आशाधर कृत) सम्पादक – पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई. सन् १९७७, प्रथमावृत्ति ।

८५. **अमितगति श्रावकाचार** : (श्रावकाचार संग्रहान्तर्गत) सं. – पं. हीरालाल शास्त्री, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, १९७६, ई. प्रथमावृत्ति ।

८६. **अष्टपाहुड़** : (टीका) टीकाकार–श्रुतसागर सुरि, प्रकाशक–शांतिवीर दि. जैन, संस्थान महावीरजी, १९६८, प्रथमावृत्ति ।

८७. **अष्टपाहुड़** : (मूल) आचार्य कुन्दकुन्द प्रणीत, टीका–पं जयचन्द कृत, प्रकाशक – श्री सेठी दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई १९७१ प्रथमावृत्ति ।

८८. **नियमसार** : (कुन्दकुन्दाचार्य कृत) अनुवादक – मगनलाल जैन, श्री दि. जैन स्वा. मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, १९६६ ई, द्वितीयावृत्ति ।

८९. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : (अज्ञात टीकाकार) प्रकाशक – मोतीलाल हीराचन्द गांधी उस्मानाबाद, जैन वाङ्मय कुसुममाला–१०, सन् १९६२ ई. ।

९०. **पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय** : सम्पादक – पं. नाथूराम प्रेमी, रेवाशंकर जगजीवन झवेरी प्रकाशक – राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, बम्बई, १९०४ ई. प्रथमावृत्ति ।

९१. **पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय** : सम्पादक एवं टीकाकार – पं. भवनलाल शास्त्री, प्रकाशक – भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता ई. १९१६

९२. **पुरुषार्थसिद्ध्युपाय** : सम्पादक व टीकाकार पं. मुन्नालाल रांधेलीय–प्रकाशक – स्वाधीन ग्रन्थमाला, सागर, १९५९ ई प्रथम. ।

९३. **पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय** : सम्पादक पं. विद्याधर सेठी–प्रकाशक श्री दि. जैन समाज कुचामन सिटी, राजस्थान. ई. १९७८, प्रथमावृत्ति ।

९४. **पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय** : सम्पादक – पं. वैद्य गंभीरमलजी, प्रकाशक – श्री दि. जैन स्वा. मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ १९७४ ई. प्रथमावृत्ति।

९५. **पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय** : संपादक व टीकाकार – श्री कृष्णा नारायण जोशी, प्रकाशक – बालचन्द कस्तूरचन्द धाराशिवकर (बेलगांव, १८९७ ई. प्रथमावृत्ति।

९६. **भगवती आराधना** : (मूलाराधना) शिवकोटी आचार्य कृत, टीका-पं. सदासुखदास कृत, प्रकाशक – [illegible] गोहाटी।

९७ **रत्नकरण्ड श्रावकाचार** : टीकाकार – पं सदासुखदासजी, प्रकाशक – अ. भा केन्द्रीय दि. जैन महासमिति, दिल्ली, १९५१ ई. द्वितीयावृत्ति।

९८. **सागरधर्मामृत सटीक** : (पं. आशाधर कृत) टीकाकार–पं. देवकीनंदन शास्त्री, प्रकाशक – मूलचन्द किशनदास कापड़िया, सूरत, ई. सन् १९४० प्रथमावृत्ति।

९९. **सज्जनचित्तवल्लभ** : आचार्य मल्लिषेण – मुन्शी नाथूराम लमेचू कटनी (जबलपुर) १८८९ ई. प्रथमावृत्ति।

१००. **श्रावकाचार संग्रह** : (भाग १) सम्पादक-अनुवादक – पं. हीरालाल शास्त्री, प्रकाशक – जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, १९७६ ई. प्रथमावृत्ति।

अन्य साहित्य :–

१०१ **आत्मप्रमोद** : ब्र. नंदलाल कृत (पदावलि) प्रकाशक – अमीचंद सखाराम शहा सोलापुर, १९२६ ई.

१०२ **कादम्बरी** : (कथामुख) सम्पादक–कृष्णमोहन ठक्कुर, प्रकाशक–चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी। १९६३ ई. चतुर्थावृत्ति।

१०३. **कादम्बरी** : (पूर्व एवं उत्तर भाग) सम्पादक – पाण्डेय रामतेज शास्त्री प्रकाशक – पण्डित पुस्तकालय, काशी, १९६५ ई.।

१०४. **गद्यचिंतामणि** : (वादीभसिंह आचार्य कृत) सम्पादक – पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९६८, प्रथमावृत्ति ।

१०५. **जैन धर्म आणि वाङ्मय** : लेखक – पी. एल. वैद्य, प्रकाशक – नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर १९४८ ।

१०६. **जैन धर्म** : लेखक पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक – मन्त्री साहित्य विभाग, मथुरा, १९६६ चतुर्थावृत्ति ।

१०७. **जैन निबन्ध रत्नावली** : लेखक मिलापचंद रतनलाल कटारिया प्रकाशक – वीर शासन संघ कलकत्ता, १९६६ प्रथमावृत्ति ।

१०८. **दर्शनसार** : (देवसेनाचार्य कृत) सम्पादक–पं. पन्नालाल जैन, देहली, १०७० ई. (जैन साहित्य प्रकाशन दिल्ली)

१०९. **धर्मरत्नाकर** : (जयसेनाचार्य कृत) सम्पादक – प्रो ए. एन. उपाध्ये, प्रकाशक – जीवराज जैन ग्रंथमाला, सोलापूर १९७४ ई. प्रथमावृत्ति।

११०. **भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान** : (लेखक–डॉ. हीरालाल जैन) प्रकाशक – म. प्र. शासन साहित्य परिषद, भोपाल, १९६० ई. प्रथमावृत्ति ।

१११. **मुनिवंशप्रदीपिका** : (लेखक–पं. नयनसुखदास) प्रकाशक–दुलीचंद परवार, हरीसेन रोड़, कलकत्ता, प्रथमावृत्ति ।

११२. **युगवीर निबन्धावलि** : (प्रथमखण्ड) लेखक - पं. जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर", वीरसेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन, दिल्ली, १९६३ प्रथम ।

११३. **वर्णीवाणी भाग ४** : (संपादक – विद्यार्थी नरेन्द्र) प्रकाशक – गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, काशी । १९५७, प्रथमावृत्ति ।

११४. **संस्कृत मंजरी** : (संकलनकर्ता) मा. शि. मण्डल, भोपाल, प्रकाशक– भैया प्रकाशन, इन्दौर ई. १९७४, चतुर्थवृत्ति ।

११५. **हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन** भाग १ : लेखक पं. – नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, १९५६ प्रथमावृत्ति ।

स्तोत्र काव्य :–

११६. **एकीभाव स्तोत्रम्** : (वादिराज मुनिकृत) ज्ञानपीठ पूजांजलि के अंतर्गत, संपादक – डॉ. ए. एन. उपाध्ये एवं पं. फूलचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, ई. १९६९. द्वितीयवृत्ति ।

११७. **जिनस्तोत्र पूजन संग्रह** : सम्पादक प्रकाशक – हिरालाल छगनलाल काले, सोलापुरी १९५४. ई. ।

११८. **देवागम स्तोत्र (आप्तमीमांसा)** : समंतभद्राचार्य कृत – अनुवादक – पं. जुगलकिशोर मुख्तार, प्रकाशक – वीर सेवा मंदिर ट्रस्ट प्रकाशन दिल्ली, १९६७, प्रथमावृत्ति ।

११९. **लघुतत्त्वस्फोट** : (आचार्य अमृतचन्द्र कृत) सम्पादक प्रो. पद्मनाभ जैनी केलीफोर्निया, प्रकाशक एल. डी. इन्स्टीट्यूट आफ इन्डोलाजी, अहमदाबाद, १९७८, प्रथमावृत्ति ।

१२०. **लघुतत्त्वस्फोट** : (आचार्य अमृतचन्द्र कृत) अनुवादक – सम्पादक – डा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य । प्रकाशक – गणेश प्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी १९८१ प्रथम ।

१२१. **वृहद् जिनवाणी संग्रह** : सम्पादक व प्रकाशक पं. पन्नालाल बाकलीवाल, प्रकाशक – नेमीचंद बाकलीवाल, किशनगढ़ १९७८ ई. ।

१२२. **वृहद् स्वयंभू स्तोत्र** : ((संस्कृत टीका – प्रभाचन्द्राचार्य कृत) हिन्दी टीका – पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रकाशक – शांतिवीर दि. जै. संस्थान महावीरजी, १९६९ ई. प्रथमावृत्ति ।

१२३. **सामायिक स्तोत्र** (पाठ) : आ. अमितगति कृत – (जिनस्तोत्र पूजन संग्रहान्तर्गत) सम्पादक – हिरालाल छगनलाल काले, सोलापुर १९५४ ई. ।

अन्य काव्य ग्रन्थ :–

१२४. **अलंकार मीमांसा** : डा. राजवंश सहाय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी १९७०, प्रथमावृत्ति ।

१२५. **काव्य प्रकाश** : (मम्मटाचार्य कृत) सं. – डॉ. सत्यव्रतसिंह, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९७८ ई. तृतीयावृत्ति ।

१२६. **जैन गीता** : ("समणसुत्तं का आ. विद्यासागर कृत पद्यानुवाद)" मुनिसंघ स्वागत समिति, सागर, १९७८ ई. प्रथमावृत्ति ।

१२७. **दशरूपक** : (कवि धनंजयकृत) सं. – डॉ. भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९५४

१२८. **निजामृतपान** : (आ. विद्या सागर कृत पद्यानुवाद) राजस्थान जैन सभा जयपुर, १९७९ ई. प्रथमावृत्ति।

१२९. **पार्श्वपुराण** : (पद्यरचना, पं. भूधरदास कृत) जैन ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई १९०१ ई. प्रथमावृत्ति।

१३०. **यशस्तिलक चम्पू महाकाव्यम्** : (पूर्वखण्ड) अनुवादक – सम्पादक – पं. सुन्दरलाल शास्त्री, प्रकाशक – श्री महावीर जैन ग्रंथमाला, वाराणसी, १९६०, ई. प्रथमावृत्ति।

१३१. **हिन्दी छंद प्रकाश** : लेखक रघुनंदन शास्त्री, प्रकाशक – राजपाल एण्ड सन्स, काश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथमावृत्ति।

१३२. **सिद्धांत कौमुदी** : (बालमनोरमा टीका – वासुदेव दीक्षित कृत) सम्पादक – श्री गोपाल शास्त्री नेने, प्रकाशक – चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६८ ई. पंचमावृत्ति।

कोश ग्रन्थ :–

१३३ **अभिधान राजेन्द्र कोश** : प्रकाशन स्थान – रतलाम १९३४

१३४. **अमरकोष** : (लिंगानुशासन) सम्पादक – भट्ट विनायक, प्रकाशक – पाण्डुरंग जीवाजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२०, चतुर्थावृत्ति

१३५. **कन्नड़ प्रांतीय ताड़पत्रीय ग्रंथ सूची** : संकलयिता – के. भुजबलि शास्त्री, प्रकाशक – भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४८ प्रथमावृत्ति।

१३६. **जिनरत्नकोष** : (प्रथम भाग) लेखक – हरि दामोदर वेलंकर, प्रकाशक – भाण्डारकर प्राच्यविद्या संस्था, पुणे, १९४४ ई., प्रथमावृत्ति।

१३७. **जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह** : (द्वितीय भाग) पं. परमानन्द जैन शास्त्री, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९६३, प्रथमावृत्ति।

१३८. **जैन शिलालेख संग्रह** : (भाग ५) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७१ प्रथमावृत्ति।

१३९. **जैनेन्द्र सिद्धांत कोष** : (भाग १, २, ३, ४,) लेखक क्षु जिनेन्द्रवर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, १९७० ई. प्रथमावृत्ति।

१४०. **पूर्णार्घ्य** : (जैनज्ञान कोष) संपादिका – पं. सुमतिबाई शहा, भगवान महावीर निर्वाणोत्सव समिति, सोलापुर, १९७८ ई. प्रथमावृत्ति।

१४१. **प्रशस्ति संग्रह** : (सम्पादक – कस्तूरचन्द कासलीवाल) प्रकाशक – जैन ग्रन्थकारिणी समिति, जयपुर १९५० प्रथमावृत्ति।

१४२. **राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की सूची** : (भाग ३, ४, ५,) डा. कस्तूरचन्द एवं पं. अनूपचंद शास्त्री, प्रकाशक श्री दि. जै. अतिशय क्षेत्र, महावीर जी, १९७२, प्रथमावृत्ति।

१४३. **बृहद जैन शब्दार्णव** : (खण्ड एक) संपादक – बी. एल. जैन "चैतन्य", प्रकाशक बाबू शांतिचन्द जैन, बाराबकी, १९२४, ई. प्रथमावृत्ति।

१४४. **बृहद जैन शब्दार्णव** : (खण्ड दो) सम्पादक – ब्र. शीतल प्रसाद जैन, प्रकाशक – मूलचन्द किशनदास कापड़िया, दि. जै. पुस्तकालय, सूरत। १९३४ ई. प्रथमावृत्ति।

शोध प्रबन्ध :–

१४५. **आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार** : लेखक – पं. लाल बहादुर शास्त्री, चांदमल सरावगी चेरिटेबल ट्रस्ट, गोहाटी, १९७६, प्रथमावृत्ति।

१४६. **कविवर बनारसी जीवनी और कृतित्व** : लेखक – डा. रवीन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी, १९६६ प्रथमावृत्ति।

१४७. **जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि** : ले. डॉ. प्रेमसागर जैन, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, ई. १९६३, प्रथमावृत्ति।

१४८. **जैनिज्म इन राजिस्थान** : (Jainism in Rajisthan) कैलाशचन्द्र जैन, पी. एच. डी., डी लिट, प्रकाशक – गुलाबचन्द हीराचन्द दोशी, जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, १९६३ प्रथम।

१४९. **पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व** : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, प्रकाशक –मंत्री, टोडरमल स्मारक ट्रस्ट जयपुर, १९७३ प्रथमावृत्ति।

१५०. **महाकवि दौलतराम कासलीवाल व्यक्तित्व एवं कृतित्व** : डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, दि. जै. अतिशय क्षेत्र प्रबंधकारिणी समिति महावीरजी, १९७३ प्रथमावृत्ति।

१५१. **महाकवि हरीचंद** : एक अनुशीलन – डा. पन्नालाल साहित्याचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, १९७५ ई. प्रथमावृत्ति ।

१५२. **संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान** : डा. नेमिचंद जैन, आरा भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, १९७१, प्रथमावृत्ति ।

१५३. **हिस्ट्री आफ जैन मोनाकिज्म फ्राम इन्सक्रिप्सन्स एण्ड लिटरेचर** : (पार्टवन) डा. एस. बी. देव. बुलेटिन आफ डेक्कन कालेज रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना ।

इतिहास ग्रन्थ :–

१५४. **जैन धर्म का प्राचीन इतिहास** : (भाग – २) लेखक – पं. परमानन्द प्रकाशक – रमेशचन्द्र जैन, मोटरवाले, दिल्ली, १९७५, ई. प्रथमावृत्ति ।

१५५. **जैन साहित्य और इतिहास** : (द्वितीय संस्करण) लेखक – पंडित नाथूराम प्रेमी, दशोधर विद्याधर मोदी, बम्बई १९५६ ।

१५६. **जैन साहित्य और इतिहास** : (प्रथम संस्करण) ले. – पं. नाथूराम प्रेमी, हेमचन्द मोदी, बम्बई १९४६ ।

१५७. **जैन साहित्य का इतिहास** : (भाग दो) ले. – पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रंथमाला, वाराणसी १९७६, प्रथमावृत्ति ।

१५८ **जैन साहित्य का वृहद इतिहास** : (भाग चार) डॉ. मोहनलाल व प्रो. हीरालाल कापड़िया, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान – जैनाश्रम हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६८,

१५९. **तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा** : (भाग १, २, ३,) डॉ नेमीचन्द्र शास्त्री आरा, मंत्री, भा. व. दि. जैन विद्वत्परिषद कार्यालय सागर, १९७४ प्रथमावृत्ति ।

१६०. **दक्षिण भारत में जैन धर्म** : पं. कैलाशचन्द्र सिद्धांताचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली, १९६७ प्रथमावृत्ति ।

१६१. **पुरातन जैन वाक्यसूची** : (की प्रस्तावना) ले. – पं. जुगलकिशोर मुख्तार "युगवीर" वीर सेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर) १९५० प्रथमावृत्ति ।

१६२. **प्राचीन भारत** : (लेखक – डॉ. राजबलि पाण्डेय), प्रकाशक – नन्द-किशोर एण्ड सन्स वाराणसी, ई. १९६८, द्वितीयावृत्ति।

१६३. **भट्टारक समुदाय** : सं विद्याधर जोहरापुरकर, जैन संस्कृति संरक्षक संघ सोलापुर, ई. १९५८, प्रथमावृत्ति।

१६४. **भारतीय इतिहास पर एक दृष्टि** : डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन बनारस, १९६६, द्वितीयावृत्ति।

१६५. **राजस्थान का जैन साहित्य** : "सम्पादक – अगरचंद नाहटा, डॉ. कस्तूरचंद कासलीवाल,.....", सचिव प्राकृत भारती जयपुर १९७७, प्रथमावृत्ति।

१६६. **राजस्थान के जैन संत व्यक्तित्व एवं कृतित्व** : डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल, श्री दि. जै. अतिशय क्षेत्र महावीरजी, १९६७, प्रथमावृत्ति।

१६७. **वीरशासन के प्रभावक आचार्य** : डॉ. विद्याधर एवं डॉ. कस्तूरचन्द जी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन दिल्ली, १९७५, प्रथमावृत्ति।

१६८. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** : ले.– बलदेव प्रसाद उपाध्याय, शारदा मन्दिर बनारस, १९६०, षष्ठ संस्करण।

१६९. **संस्कृत साहित्य का इतिहास** : ले. – वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्या भवन वाराणसी,

१७०. **हिन्दी नाटक उद्भव और विकास** : डॉ. दशरथ ओझा, रीडर, दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय के तत्त्वाधान में, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १९७०, पंचम।

अभिनन्दन ग्रन्थ :–

१७१. **आचार्य शांतिसागर जन्म शताब्दि स्मृति ग्रन्थ** : सम्पादक बालचन्द देवचन्द शहा, शांतिसागर जिनवाणी जीर्णोद्धारक संस्था, फलटण १९७३, प्रथमावृत्ति।

१७२. **श्री गणेश प्रसाद वर्णी स्मृति ग्रन्थ** : डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य व नीरज जैन, प्रकाशक – श्री भारतवर्षीय दि. जैन विद्वत्परिषद् कार्यालय, सागर, १९७४ ई.।

पत्र–पत्रिकाएं :–

१७३. **अनेकांत (मासिक)** : सम्पादक – पं. जुगलकिशोर मुख्तार, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली, जून १९४१, १९४९, १९५३ ।

१७४. **आगमपथ (मासिक)** : (शीतल जन्म शताब्दी विशेषांक) सम्पादक – विनोद कुमार जैन, दिल्ली, नवम्बर १९७८ ।

१७५. **आगमपथ** : संत शिरोमणि गुरुदेव विशेषांक (सं. – विनोद कुमार जैन, दिल्ली (मई १९७६)

१७६. **आत्मधर्म** : (मासिक) सं. – जगजीवन बालचंद दोशी, दि. जै. स्वा. मं. ट्रस्ट सोनगढ़, अप्रेल १९६६, दिसम्बर १९६५, जुलाई १९६४।

१७७. **जैन संदेश** : (साप्ताहिक) शोधांक क्र. ५, १६, २५, २६, सं. पं. जगन्मोहनलाल, – पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रकाशक – भा. दि. जै. संघ मथुरा, १९५९–६३–६७–६८

१७८. **जैन संदेश** : (साप्ताहिक) शोधांक (३१, ३२) सम्पादक पं. कैलाश चन्द्र शास्त्री, ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय दि. जै. संघ, मथुरा १९७२–७३ ।

१७९. **जैन सिद्धांत भास्कर** : (त्रैमासिक) (भाग–४) किरण १, सम्पादक प्रो. हीरालाल, डॉ. ए. एन. उपाध्ये, जैन सिद्धांत भवन – आरा १९३७ ।

१८०. **जैन हितैषी** : सम्पादक – पं. नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक – जै. ग्र. र. कार्यालय, बम्बई, दिसम्बर १९१६ ।

१८१. **तीर्थंकर** : (मासिक) सम्पादक – डॉ. नेमीचन्द्र जैन, हीरा भैया प्रकाशन, इन्दौर, सितम्बर १९७४ ।

१८२. **"वीर" पाक्षिक पत्र** (सम्पादक) – ब्र. शीतल प्रसाद/कामता प्रसाद, प्रकाशक – राजेन्द्र कुमार जैन, बिजनौर १९२६ ई. (वर्ष ३ संख्या १२–१३)

१८३. **सहस्रनाम** : सं. – पं. हीरालाल शास्त्री ।

ENGLISH

1. A History of Indian Literature—By Maurice Winternitz. Translated in English from German by Mrs S Ketkar & Miss H. Kohn. Published by the University of Calcutta 1933. A D.
2. An Epitome of Jainism—By Poorag Chand Nahar Krishna Chandra Ghosh. Published by H. Duby Gulab Kumar Library-Calcutta 1917 A. D.
3. Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute. Vol. LX1 ed. By R N Dandekar, Bhandarkar, Institute Press. Poona, 1981.
4. Catelogue of Sanskrit & Prakrit Monuscripts Jesalmer. Collection by muni Shri Punyavigayaji, ed. By Dalsukh Malvania. Pub. By L. D. Institute of Indology Ahmedabad, 1972 ed. First.
5. Jainism—By Mrs. N. R. Guseva, Translated in English from Russian by Y. S. Redkar, Sindhu Publications Private Ltd. Bombay, 1971, First Ed.
6. The Pravachanasara of kunda-kunda Acharya, together with the Commentary, Tattva Dipika by Amrtachandra Suri-Eng. Tr. By Barend Faddegon, Cambridge University Press London. 1935.
7. Shankeracharya his life and times (Edition-III) by Krishna Swamy Aiyar, Pub—By-A Natsesan & Co. Esplande Madras.
8. The Heart of Jainism or the Religious quest of India—by Miss Sinclair Stevenson. Dublin. Pub. by Oxford University Press London. 1915
9. The Jain Path OR the Path of Conquered (Samayasara)—By Prof. Matthew Mckay, Jain Sahitya Samiti Agra. 1950 First Ed.
10. The Soul Essence (Samayasara) by Shri J. L. Jaini, Pub. by the Central Jain Publishing House, Lucknow. 1930. First Ed.

शोधोपयोगी सामग्री प्राप्ति में सहयोगी ग्रन्थालयों की सूची

१. डेक्कन कालेज, पूना ।
२. भाण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान, पूना ।
३. सन्मति मण्डल पुस्तकालय, बालचन्दनगर ।
४. महावीर ब्रह्मचर्याश्रम, कारंजा ।
५. दिगम्बर जैन मन्दिर, बाहुबलि कुम्भोज ।
६. दिगम्बर जैन सेतवाल मन्दिर, पूना ।
७. दिगम्बर जैन मन्दिर, सांगली ।
८. दिगम्बर जैन मन्दिर, सोलापुर ।
९. दिगम्बर जैन मन्दिर, सीहोर ।
१०. दिगम्बर जैन मन्दिर रामाशाह, इन्दौर ।
११. दिगम्बर जैन मन्दिर हनुमानताल, जबलपुर ।
१२. दिगम्बर जैन मन्दिर चौक, भोपाल ।
१३. दिगम्बर जैन मन्दिर, वारासिवनी ।
१४. शा. उच्च. माध्यमिक विद्यालय, तिरोड़ी (बालाघाट) ।
१५. दिगम्बर जैन चैत्यालय उस्मानपुरा, अहमदाबाद ।
१६. दिगम्बर जैन मन्दिर, मेहसाना ।
१७. दिगम्बर जैन मन्दिर, आदर्शनगर, जयपुर ।
१८ दिगम्बर जन बड़ा मन्दिर तेरहपंथी, जयपुर ।
१९. दिगम्बर जैन मन्दिर सिवाड़, बाकलीवालान जयपुर ।
२०. दिगम्बर जैन मन्दिर नसियाजी, अजमेर ।
२१. दिगम्बर जैन पन्नालाल ऐलक सरस्वती भवन, ब्यावर ।